राजस्थान विश्वविद्यालय भारतीय दर्शन अध्ययन माला : ६

विश्वम्भर पाहि

वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श

दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

विश्वम्भर पाहि

वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श

URSIP
6

विश्वम्भर पाहि

वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श

URSIP
6

ग्रन्थ परिचय

परम्परा के प्रति निष्ठा एवं विचारस्वातन्त्र्य के बीच संवादिता के बिना दार्शनिक तन्त्रों का सहज विकास सम्भव नहीं है। न्यायवैशेषिक इतिहास इस बात का साक्ष्य दे सकता है कि अविचारित निष्ठा की माँग ने भासर्वज्ञ एवं रघुनाथ शिरोमणि जैसे अप्रतिम प्रतिभावान् दार्शनिकों को भी तन्त्र की तत्त्वमीमांसा के आंशिक पुनर्निर्माण के अधिकार से वञ्चित करने का प्रयास किया है। सृजनशीलता के कोमल अङ्कुरों को पददलित करने की दार्शनिक रूढ़िवाद की इस अमङ्गलकारी प्रवृत्ति के समुचित प्रतिरोध तथा उन्मूलन के लिये तन्त्र के आधारभूत पद्धतिमूलक, ज्ञानमीमांसीय, तत्त्वमीमांसीय एवं पुरुषार्थमीमांसीय सिद्धान्तों को सप्रमाण व्यावर्तित करना वाञ्छित विकास की दृष्टि से अपरिहार्य है।

आधारभूत सिद्धान्तों के व्यावर्तन के द्वारा *परम्परा के प्रति वैचारिक निष्ठा* को परिष्कृत व्यावहारिक रूप प्रदान करना, प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम लक्ष्य है। तन्त्र के सहज विकास में प्रतिबन्धक की भूमिका निर्वाह करने वाले कतिपय परम्परागत सिद्धान्तों का समीक्षा के अनुसार यथावश्यक खण्डन अथवा पुनर्निर्माण के द्वारा विकास के मार्गों को प्रशस्त करना, ग्रन्थ का द्वितीय लक्ष्य है। परम्परया प्राप्त शास्त्र एवं अनुशासित सर्जनोन्मुखी धी रूपी प्रज्ञा का परस्पर अनुगमन करने पर ही विद्या ज्योतिष्मती तथा वीर्यवती होती है। आशा है कि तन्त्र के विकास में विचारस्वातन्त्र्य की महत्त्वपूर्ण भूमिकाविषयक आचार्य भासर्वज्ञ एवं रघुनाथ शिरोमणि की अभिलाषाओं को फलाभिमुखी कराने में यह ग्रन्थ सहायक सिद्ध होगा।

ग्रन्थकार परिचय

उत्कल विश्वविद्यालय से दर्शन शास्त्र में बी.ए. (आनर्स) एवं इलाहाबाद से एम.ए. उपाधि प्राप्त कर आसाम में तीन संवत्सर प्राध्यापक के रूप में रहे। अमेरिका के प्रख्यात येल विश्वविद्यालय में गणितीय तर्कशास्त्र का चार संवत्सर के अध्ययन एवं अनुसन्धान द्वारा एम.ए. एवं पी-एच.डी. उपाधियाँ प्राप्त की। अमेरिका के सेन्ट्रल वाशिंगटन स्टेट कॉलेज एवं नोत्रेदेम विश्वविद्यालय में सात संवत्सर तक अध्यापन कार्य करने के उपरान्त राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में 1974 में उपाचार्य पद पर नियुक्त हुए तथा 1979 से 1996 तक अवकाश पर्यन्त तर्कशास्त्र एवं विज्ञान दर्शन के आचार्य पद पर कार्यरत रहे। उसी विभाग में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के विशेष सहायता कार्यक्रम के संयोजक के रूप में 1984 से कार्यरत हैं। गणितीय तर्कशास्त्र में उनके अनेक शोध निबन्ध अन्तरराष्ट्रिय त्रैमासिकों में प्रकाशित हैं। इनका *'स्टडीज इन फॉर्मल लॉजिक'* ग्रन्थ 1993 में प्रकाशित हुआ। न्यायवैशेषिक दर्शन के वैदुष्य के लिये राजस्थान संस्कृत अकादमी द्वारा सम्मानित किये गये। भारतीय दर्शन के पद्धतिमूलक समस्याविषयक एवं विशेष रूप में पाणिनीय व्याकरण निर्माण पद्धतिविषयक अनुसन्धान में इनकी प्रगाढ़ रूचि प्रारम्भ से है।

ISBN 81-86027-10-6 मूल्य : 350.00 रुपये

राजस्थान विश्वविद्यालय भारतीय दर्शन अध्ययन माला: ६

वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श

वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श

विश्वम्भर पाहि

दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

२०००

राजस्थान विश्वविद्यालय भारतीय दर्शन अध्ययन मालाः ६
प्रधान सम्पादकः विश्वम्भर पाहि
समन्वयक, विशेष सहायता कार्यक्रम, दर्शन विभागं

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा राजस्थान सरकार के विशेष सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत दर्शन विभाग के द्वारा २००० ई. में प्रकाशित ग्रन्थ

प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना ग्रन्थ के किसी भी अंश का किसी भी रूप में अन्यत्र प्रस्तुत (पुनः प्रकाशन) न करें।

ISBN 81-86027-10-6

मूल्य– ३५०/- रुपये

शंकर लाल शर्मा, कम्प्यूटर आपरेटर,
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा सङ्गणक टङ्कित

पॉपुलर प्रिन्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित

UNIVERSITY OF RAJASTHAN STUDIES IN INDIAN PHILOSOPHY: 6

VAIŚEṢIKA PADĀRTHAVYAVASTHĀ KĀ PADDHATIMŪLAKA VIMARŚA

Biswambhar Pahi

Department of Philosophy
University of Rajasthan, Jaipur
2000

University of Rajasthan Studies in Indian Philosophy: 6
General Editor: Biswambhar Pahi
Co-ordinator, Special Assistance Programme

Published in 2000 by the Department of Philosophy, University of Rajasthan, Jaipur- 302 004, India, under the Special Assistance Programme of the University Grants Commission and the Government of Rajasthan State-Plan.

No part of this book may be reproduced in any form without the Publisher's permission.

ISBN 81-86027-10-6

Price: Rs. 350/-

Computer typed by: Shankar Lal Sharma, Computer Operator, Department of Philosophy, University of Rajasthan, Jaipur.

Printed by: Popular Printers, Jaipur.

जिन गुरुवर के आशीर्वाद से शास्त्रऋणपरिशोध
करने की अभिलाषा फलाभिमुखी हुई है
उन दिवङ्गत वरेण्य
आचार्य श्री श्यामाकुमार चट्टोपाध्यायजी
को श्रद्धाप्रसूनाञ्जलि के रूप में
समर्पित

विषय सूची

	पृष्ठ संख्या
भूमिका	(१)-(१३)
प्रथम अध्याय: भारतीय दर्शन की तत्त्वमीमांसीय धाराओं में वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का स्थान	१ - ८
१. सन्तानवाद एवं नित्यवाद, नित्यवाद की दो प्रमुख धारायें– याज्ञवल्क्यीय एवं काणादीय	१ - ४
२. दार्शनिक तन्त्रों के विकास में तन्त्र-केन्द्रित तथा विचारक-केन्द्रित विचारस्वातन्त्र्य की अपेक्षित भूमिकायें	५ - ७
३. दार्शनिक तन्त्रों के विकास के लिये उनके आधारभूत सिद्धान्तों को व्यावर्तित करने की आवश्यकता	७ - ८
द्वितीय अध्याय: न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत पद्धतिमूलक एवं ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त	९ - ४४
१. आधारभूत पद्धतिमूलक सिद्धान्त	१० - २४
१.१ लोकप्रतीति एवं शास्त्र	१० - १४
१.१.१ शास्त्रनिर्माण में अबाधित प्रतीति की भूमिका	१० - १३
१.१.२ यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय	१३ - १४
१.१.३ अन्यथा-अनुपपत्तिन्याय	१४ - १४
१.२ बौद्धिकता का स्वरूप	१४ - २०
१.२.१ प्रयोजनवत्ता	१४ - १५
१.२.२ व्याघातशून्यता	१५ - १७
१.२.३ लाघव	१८ - १९
१.२.४ मूलोच्छेदी अनवस्थापरिहार की आवश्यकता	१९ - १९
१.२.५ विनिगमनाविरह	१९ - २०
१.३ शास्त्रनिर्माणपद्धति	२० - २४
२. आधारभूत ज्ञानमीमांसीय मान्यताएँ	२४ - ४४

२.१ ज्ञानानित्यतावाद २४ - २५

२.२ ज्ञानसविषयतावाद २६ - २६

२.३ ज्ञाननिराकारवाद २६ - २९

२.४ ज्ञानपरप्रकाशवाद २९ - ३२

२.५ प्रमाणसम्प्लववाद ३२ - ३५

२.६ भाक्त-प्रधान न्याय ३५ - ३९

२.७ ज्ञानोत्पत्ति का क्रियामीमांसीय विश्लेषण ३९ - ४४

तृतीय अध्याय: न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त ४५ - ५९

१. धर्मधर्मिभेद ४५ - ४७

२. भेदाभेदव्यवस्था ४७ - ५३

३. प्रतीतिभेद की विषयभेदजन्यता ५३ - ५६

४. असत्कार्यवाद (आरम्भवाद) ५६ - ५८

५. पदार्थत्व का स्वरूप ५८ - ५९

चतुर्थ अध्याय: न्यायवैशेषिक दर्शन का पुरुषार्थमीमांसीय मान्यताविषयक विचार ६० - १०१

१. कर्मवाद एवं संसारवाद का स्वरूप ६१ - ७१

१.१ विधि-निषेधव्यवस्थाओं की साधारण पूर्वमान्यतायें ६१ - ६३

१.२ नैतिक विधि-निषेधव्यवस्था के रूप में पुरुषार्थसिद्धान्त से संवलित कर्मवाद ६३ - ६३

१.३ कर्मवाद की आधारभूत मान्यतायें– जगत् की कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृत-अभ्यागमशून्यता ६४ - ६४

१.४ कर्मवाद के अनुसिद्धान्त के रूप में संसारवाद एवं अनर्जित दुःख तथा सुख के असम्भवत्व ६४ - ६५

१.५ कर्मवाद की समीक्षा ६५ - ७१

१.५.१ अनर्जित दुःख एवं सुखों की अबाधित प्रतीति ६५ - ६६

१.५.२ पूर्वजन्मसिद्धि के लिये गौतम एवं वात्स्यायन द्वारा दी गई युक्तियाँ ६६ - ६७

१.५.३ शरीरोत्पत्ति के लिये अदृष्ट की कारणता के पक्ष में गौतम एवं वात्स्यायन द्वारा प्रस्तुत युक्तियाँ ६८ - ६८
१.५.४ शरीर की अदृष्टकार्यता एवं पूर्वजन्म की सिद्धि के लिये प्रस्तुत युक्तियों की समीक्षा ६८ - ६९
१.५.५ आदर्श के रूप में कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृतभ्यागमशून्यता – कर्तव्य, अकर्तव्यों के आधार के रूप में आदर्श ७० - ७१
२. दुःखतत्त्वविषयक विचार ७१ - ७४
२.१ भूतकल्याणकारी पवित्र लोकोत्तर दुःख ७१ - ७२
२.२ धर्माधर्मबोध के लिये चुनौती के रूप में लौकिक दुःख एवं लौकिक दुःखों के स्रोत ७२ - ७४
३. अदृष्टकारणतावादविषयक विचार ७४ - ७६
३.१ अदृष्टकारणतावाद की सिद्धि के लिये परम्परागत युक्तियाँ ७४ - ७५
३.२ अदृष्टकारणतावाद की समीक्षा ७५ - ७६
४. आत्मा का स्वरूपविषयक विचार ७६ - ९७
४.१ आत्मविषयक परम्परागत न्यायवैशेषिक सिद्धान्त ७६ - ८५
४.१.१ प्रतिसन्धान (प्रत्यभिज्ञा) का स्वरूप एवं प्रामाणिकता ७७ - ७८
४.१.२ प्रतिसन्धान की प्रामाणिकता के आधार पर प्रतिसन्धाता रूपी आत्मा के अस्तित्व, अक्षणिकत्व, असङ्घातस्वरूपत्व एवं देहादिव्यतिरिक्तत्वादि की सिद्धि ७९ - ८२
४.१.३ कारकसिद्धान्त के आधार पर आत्मा के अस्तित्व एवं देहादिव्यतिरिक्तत्व की सिद्धि ८२ - ८४
४.१.४ परम्परागतमत के अनुसार आत्मनित्यत्वसिद्धि ८४ - ८५
४.२ मानवव्यक्ति(पुरुष)विषयक न्यायवैशेषिक सिद्धान्त का पुनर्निर्माण ८५ - ९७
४.२.१ स्व-अस्तित्वविषयक ज्ञान की स्वयंसिद्धता ८६ - ८७
४.२.२ कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व के समनियतत्व ८७ - ८८
४.२.३ पुरुषत्व का उत्तरदायित्वमूलकलक्षण ८८ - ९५
४.२.३.१ वाक्शक्ति एवं उत्तरदायित्व ९० - ९३

४.२.३.२ उत्तरदायित्व– ज्ञानमीमांसीय एवं क्रियामीमांसीय ९३ - ९५
४.२.४ पुरुष का तत्त्वमीमांसीय स्वरूप ९५ - ९७
५. ईश्वरविषयक विचार ९७ - ९९
६. पुरुषार्थविषयक विचार ९९ - १०१

पञ्चम अध्याय: वैशेषिकपदार्थव्यवस्था का परिचय **१०२-१२४**

१ घटपटादि अवयवियों के प्रतिसन्धान से उनके तथा प्रतिसन्धाता रूपी ज्ञातृतत्त्व के एकत्व, अक्षणिकत्व तथा असङ्घातस्वरूपत्व की सिद्धि १०२-१०४
२ अवयव-अवयविसम्बन्ध, अवयविसंरचना का तरुप्रारूप एवं प्रथम स्तर के पदार्थ के रूप में द्रव्य १०४-१०५
३. आधार-आधेय एवं धर्मधर्मिभाव– द्वितीय स्तर के पदार्थ के रूप में गुण एवं कर्म १०५-१०८
४. तत्त्वमीमांसीय परतन्त्रता– समवायसम्बन्ध १०८-१०९
५. अनुवृत्तिप्रत्यय के आधार के रूप में सामान्य १०९-११०
६. धर्मों का वर्गीकरण: प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध, एकवृत्तिक-अनेकवृत्तिक, जाति-उपाधि ११०-११५
७. तृतीय स्तर के पदार्थ के रूप में जाति– जाति-उपाधिभेद की आधारविषयक समस्या ११५-११७
८. परम्परागतमत के अनुसार अन्त्यविशेष पदार्थ की तत्त्वमीमांसीय भूमिका ११७-११९
९. अभाव का स्वरूप ११९-१२१
१०. अभावीय विशेषणता सम्बन्ध १२१-१२२
११. चतुर्थ स्तर के पदार्थ के रूप में अभाव– अभाव का वर्गीकरण १२२-१२३
१२. उपसंहार– मानवव्यक्ति की स्वरूपविषयक समस्या १२३-१२४

षष्ठ अध्याय: आकाश, देश एवं कालविषयक विचार **१२५-१५९**

१. शब्दस्वरूपविषयक विचार एवं आकाश पदार्थ का खण्डन १२६-१३४
१.१ शब्द के नित्यपक्ष का खण्डन एवं कार्यपक्ष की स्थापना १२६-१२८
१.२ वीचीसन्तान न्याय से शब्द का सञ्चरण १२८-१२९
१.३ शब्दसन्तान के विनाश की समस्या १३०-१३०

१.४ शब्दसञ्चरण की मूर्तमाध्यम-सापेक्षता १३०-१३२
१.५ शब्द का स्पन्दस्वरूपत्व – आकाशपदार्थखण्डन १३२-१३४
१.६ रघुनाथ शिरोमणि की आकाशखण्डनप्रक्रिया पर टिप्पणी १३४-१३४
२. दिग्विषयक विचार १३४-१४४
२.१ परम्परागत मत के अनुसार दिक् द्रव्य की सिद्धि १३४-१३५
२.२ स्पन्दतत्त्व के पूर्वापेक्षित पदार्थ – दूरत्व एवं परिच्छिन्नपरिमाणवत्ता १३५-१३६
२.३ विचारप्रक्रिया के द्वारा सीमान्तवर्ती पदार्थ के रूप में उद्भूत प्रदेशाणु (बिन्दु), सरल खण्डरेखा एवं दूरत्व १३६-१३७
२.४ गति – दूरत्व और दिशा, अधरेखा एवं पूर्णरेखा और दिशाओं की व्यवस्था १३७-१३९
२.५ दिक् और आकाश – वैशेषिक एवं जैन मत १३९-१४०
२.६ भासर्वज्ञ द्वारा दिक् का द्रव्यत्व खण्डन एवं उसका संसर्गस्वरूपत्व का समर्थन १४०-१४१
२.७ वैशेषिकपदार्थव्यवस्था में रेखा गणित की विषयरूपी दैशिक आकृतियों का स्थान १४१-१४३
२.८ रघुनाथ शिरोमणि द्वारा दिक् के स्वतन्त्रद्रव्यत्व के खण्डन पर टिप्पणी १४३-१४४
३. कालस्वरूपविषयक विचार १४४-१५३
३.१ परम्परागत मत के अनुसार काल की द्रव्यत्वसिद्धि १४४-१४५
३.२ क्रिया एवं काल – वात्स्यायन का विश्लेषण १४५-१४६
३.३ भासर्वज्ञ का कालविषयक सिद्धान्त १४७-१४९
३.४ दैशिक एवं कालिक क्रमों की प्रत्यक्षग्राह्यता १४९-१५०
३.५ खण्डकालों की परिमाणनिरूपणव्यवस्था १५०-१५२
३.६ भासर्वज्ञ के द्वारा दिक् एवं काल की साधारणनिमित्तकारणता का खण्डन १५२-१५२
३.७ रघुनाथ शिरोमणि के द्वारा प्रस्तुत काल के स्वतन्त्रद्रव्यत्वखण्डन पर टिप्पणी १५३-१५३
४. क्षण का स्वतन्त्रपदार्थत्वविषयक विचार १५३-१५९

४.१ भासर्वज्ञ के काल सिद्धान्त में क्षण की पदार्थकोटिविषयक समस्या १५३-१५४
४.२ क्षणं का स्वरूपविषयक परम्परागत मत १५४-१५५
४.३ क्षणों की अनादि एवं अनन्त पङ्क्ति के रूप में काल १५५-१५७
४.४ क्रमनियामक सम्बन्धों का स्वरूप १५७-१५९
४.५ वर्तमानत्व, अतीतत्व एवं अनागतत्व के क्षणसापेक्ष लक्षण १५९-१५९
सप्तम अध्याय: पदार्थव्यवस्था में अवयवी तत्त्व की अपरिहार्यता १६०-२००
१. परमाणुविषयक विचार १६१-१६६
१.१ परम्परागत परमाणुसिद्धि की प्रक्रिया १६१-१६२
१.२ भाट्टमीमांसक एवं रघुनाथ शिरोमणि के त्रसरेणु का न्यूनतमपरिमाणविशिष्टताविषयक मतों की समीक्षा १६२-१६३
१.३ यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय एवं परमाणुओं की नित्यता तथा न्यूनतमपरिमाणविषयक समस्या १६३-१६६
२. कारणता एवं कार्यताविषयक विचार १६६-१९५
२.१ कारणतासिद्धान्त की तत्त्वमीमांसीय अपरिहार्यता १६६-१६७
२.२ अन्वय एवं व्यतिरेक सहचार १६७-१७०
२.३ कार्यता एवं कारणता १७०-१७२
२.४ अवयवी के सजातीयद्रव्यजन्यत्वविषयक परम्परागत मत का खण्डन १७२-१७४
२.५ समवायी, असमवायी एवं निमित्त कारण १७४-१८४
२.५.१ समवायिकारणता १७४-१७५
२.५.२ असमवायिकारणता १७५-१७६
२.५.३ रसायन शास्त्र में स्वीकृत परमाणुओं के समवायी एवं असमवायी कारण १७६-१७७
२.५.४ यौगिकाणुओं के असमवायिकारण के रूप में कोवेलेन्ट एवं आयोनिक रासायनिक बन्धन १७७-१८२
२.५.४.१ कोवेलेन्ट रासायनिक बन्धन १७७-१७९
२.५.४.२ आयनों के स्वरूप, उत्पत्ति एवं विनाश १७९-१८०

२.५.४.३ यौगिकाणुओं के अवयवों के रूप में आयन और असमवायिकारण के रूप में आयोनिक बन्धन १८०-१८२
२.५.५ यौगिकाणुओं के कारणगुणोत्पन्न एवं अकारणगुणोत्पन्न गुण १८२-१८३
२.५.६ निमित्तकारणता एवं अवयविनाश की असमवायिकारणजन्यता १८३-१८४
२.६ कारणता एवं अन्यथासिद्धि १८५-१८९
२.६.१ कारणता का स्वरूप १८५-१८६
२.६.२ अन्यथासिद्धिविषयक विचार १८६-१८८
२.६.३ लाघवन्याय एवं अन्यथासिद्धि १८८-१८९
२.७ न्यायवैशेषिक कारणतासिद्धान्त की समीक्षा – रसायन शास्त्रीय तथ्यों के अनुसार १८९-१९५
२.७.१ कारणसामग्री एवं तज्जन्य कार्यसङ्घात १८९-१९०
२.७.२ सजातीय कार्यों की विजातीयसामग्रीजन्यता १९०-१९१
२.७.३ रासायनिक प्रक्रियाओं में पदार्थों का विघटन एवं संरचना – अवयवी के नाश से अवयव की प्राप्ति एवं समवायिकारणों से अवयव की उत्पत्ति १९१-१९४
२.७.४ सजातीय कार्यों की विजातीयसमवायिकारणजन्यता १९४-१९५
३. अवयवितत्त्व की तत्त्वमीमांसीय अपरिहार्यता १९५-२००
३.१ परम्परागत मत के अनुसार अवयविसिद्धिप्रक्रिया १९५-१९६
३.२ शुद्ध एवं द्रव्यारम्भकव्यूहबद्ध सङ्घात १९६-१९६
३.३ रसायनशास्त्रीय आइसोमेरिज़्मविषयक तथ्यों के आधार पर सङ्घातवाद का खण्डन एवं अवयव-अवयविसिद्धान्त की स्थापना १९६-२००

अष्टम अध्याय: सङ्ख्या, परिमाण एवं समुच्चयविषयक विचार २०१-२५२

१. सङ्ख्या की पदार्थत्वसिद्धि २०२-२०४
२. सङ्ख्या के गुणत्वविषयक मत का खण्डन २०५-२०८
३. गणना प्रक्रिया एवं सङ्ख्याविषयक ज्ञान २०९-२१४
४. सङ्ख्या का अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वविषयक मत का खण्डन २१४-२१७

५. गणनाव्यवहार का भासर्वज्ञकृत विश्लेषण २१८-२२०
६. सङ्ख्यातन्त्रों का तत्त्वमीमांसीय आधार एवं समुच्चय तत्त्व २२०-२२३
७. न्यायवैशेषिक दर्शन में समुच्चय तत्त्व की भूमिका २२३-२२५
८. लोकव्यवहार एवं शास्त्रीय विचारों में समुच्चय तत्त्व की भूमिका २२५-२२८
९. समुच्चयनिरूपण २२८-२३५
१०. सङ्ख्याओं के न्यूनतरत्व एवं बृहत्तरत्व सम्बन्ध २३५-२३७
११. परिमाण एवं सङ्ख्या २३७-२४४
१२. परिमाणविषयक परम्परागत विचार की समीक्षा– परिमाण का गुणत्वखण्डन तथा स्वतन्त्रपदार्थत्वसिद्धि २४४-२५२

नवम अध्याय : समवायनानात्व एवं अन्त्यविशेषविषयक विचार २५३-२८३

१. समवायपदार्थविषयक विचार २५४-२७१
१.१ सम्बन्ध का स्वरूप २५४-२५४
१.२ आधार-आधेयभाव एवं उसका नियामक सम्बन्ध २५५-२५६
१.३ युतसिद्धता एवं अयुतसिद्धता २५६-२५९
१.४ समवाय का स्वरूप २५९-२६३
१.५ समवाय एवं भेदाभेदसम्बन्ध २६३-२६४
१.६ विरोध के कारण भेदाभेदसम्बन्ध की अस्वीकार्यता २६४-२६६
१.७ प्राभाकर मीमांसक एवं रघुनाथ शिरोमणि के द्वारा समवाय की नानात्वसिद्धि २६६-२७०
१.८ समवाय का नित्यत्व-अनित्यत्वविषयक विचार और उपाधि के रूप में समवायत्व २७०-२७१
२. अन्त्यविशेषपदार्थविषयक विमर्श २७१-२८३
२.१ सादृश्य एवं अभेद २७१-२७२
२.२ पदार्थों की व्यावर्तनप्रक्रिया २७२-२७४
२.३ पारम्परिक मत में अन्त्यविशेष का स्वरूप एवं आवश्यकता २७४-२७७
२.४ अन्त्यविशेष पदार्थ का खण्डन २७७-२८२
२.५ स्वतोव्यावर्तकधर्म-कल्पना की तत्त्वमीमांसीय विसङ्गतता २८२-२८३

दशम अध्याय: प्रकरणसङ्ग्रह २८४-३४६

१. वैशिष्ट्य का पदार्थान्तरत्वविषयक विचार २८५-२९४

१.१ बाह्येन्द्रियों की प्राप्यकारिता २८५-२८६

१.२ इन्द्रियार्थसन्निकर्षों के प्रकार २८६-२८७

१.३ विशेषणविशेष्यभाव(वैशिष्ट्य) रूपी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष २८७-२८८

१.४ श्रीवल्लभाचार्य एवं गङ्गेशोपाध्याय के द्वारा वैशिष्ट्य के स्वतन्त्रपदार्थत्वविषयक मत का खण्डन २८९-२९३

१.५ वैशिष्ट्य के पदार्थान्तरत्वविषयक रघुनाथ शिरोमणि मत की समीक्षा २९३-२९४

२. विषयता, विषयिता, आधारता एवं आधेयता आदि का स्वतन्त्रपदार्थत्वविषयक विचार २९४-३०४

२.१ परम्परानुसार स्वरूपसम्बन्ध के रूप में विषयता, विषयितादि पदार्थ २९४-२९९

२.२ रघुनाथ एवं गदाधर समर्थित विषयतादि का स्वतन्त्रपदार्थत्वविषयक मत २९९-३०२

२.३ विषयता, विषयतादि के अतिरिक्तपदार्थत्वविषयक मत की समीक्षा ३०२-३०४

३. व्याप्यवृत्तित्व-अव्याप्यवृत्तित्वविषयक विचार ३०४-३१८

३.१ व्याप्यवृत्ति एवं अव्याप्यवृत्ति धर्मों का भेद ३०४-३०७

३.२ कालिक अव्याप्यवृत्तित्व एवं व्याप्यवृत्तित्व– अवयविसन्तानों की प्रत्यभिज्ञाविषयक समस्या ३०७-३०९

३.३ दैशिक एवं कालिक अवच्छेदकों पर अनाश्रित व्याप्यवृत्ति एवं अव्याप्यवृत्ति धर्म ३०९-३१०

३.४ अवयविसिद्धि के लिये रूपरसादि के व्याप्यवृत्तित्व एवं चित्ररूपरसादि की आवश्यकता ३१०-३११

३.५ पार्थसारथी एवं रघुनाथ द्वारा रूपरसादि के अव्याप्यवृत्तित्व की सिद्धि एवं चित्ररूप का खण्डन ३११-३१५

३.६ भासर्वज्ञ एवं रघुनाथ के द्वारा कर्म की अव्याप्यवृत्तित्वसिद्धि ३१५-३१८

४. पृथक्त्व का भेदस्वरूपत्वविषयक विचार ३१८-३२५

४.१ परम्परानुसार पृथक्त्व की स्वतन्त्रगुणत्वसिद्धि ३१८-३१९

४.२ भासर्वज्ञ के मत में पृथक्त्व का भेदस्वरूपत्व ३१९-३२०

४.३ भासर्वज्ञ मत की परम्परागत समालोचना ३२०-३२३

४.४ शब्दों की अर्थगत समानता एवं असमानता– तत्त्वमीमांसीय व्यवस्थानिर्माण में एक पद्धतिमूलक समस्या ३२३-३२५

५. परत्व एवं अपरत्व के स्वतन्त्र गुणत्वविषयक विचार ३२५-३३३

५.१ परम्परागतमतानुसार स्वतन्त्र गुणों के रूप में परत्व एवं अपरत्व की सिद्धि ३२५-३२७

५.२ भासर्वज्ञ एवं रघुनाथ के द्वारा परत्व एवं अपरत्व के स्वतन्त्रगुणत्व का खण्डन ३२८-३२८

५.३ दैशिक परत्व एवं अपरत्व की वस्तुनिष्ठता– अपेक्षाबुद्धिजन्यधर्मकल्पना की विसङ्गतता ३२९-३३०

५.४ परत्व एवं अपरत्व के गुणत्वखण्डनपक्ष में कतिपय अतिरिक्त युक्तियाँ ३३०-३३३

६. सत्ता, अनुभवत्व एवं गुणत्व जातिविषयक विचार ३३३-३४६

६.१ जाति का स्वरूप एवं जाति-उपाधिभेद ३३४-३३५

६.२ साक्षाद्व्याप्यत्वसम्बन्ध से व्यूहबद्ध जातिसङ्घात का वंशावलीतरुस्वरूप ३३५-३३८

६.३ सत्ताजातिखण्डन की समीक्षा ३३८-३४३

६.४ परम्परासम्मत अनुभवत्व जाति का खण्डन ३४३-३४४

६.५ रघुनाथ के गुणत्वजातिखण्डन की समीक्षा ३४५-३४६

ग्रन्थ सूची ३४७-३५४

विशिष्टविषयों की अनुक्रमणिका ३५५-३५८

विशिष्टग्रन्थकारों की नामानुक्रमणिका ३५९-३६०

***

भूमिका

अनुभव में प्रतिष्ठित एवं युक्तियों से परीक्षित पूर्वाचार्यसम्मत आधारभूत सिद्धान्तों के प्रति वैचारिक निष्ठा तथा सर्जनशीलता के लिये अपेक्षित विचारस्वातन्त्र्य के बिना दार्शनिक परम्पराओं का सहज विकास सम्भव नहीं होता है। विचार के क्षेत्रविशेष में व्यवस्थित प्रगति के लिये अपनाये गये मार्ग के अनुसरण से परम्परया सिद्धान्तित व्यूहबद्ध प्रतिपाद्यसमूह 'विद्या', 'शास्त्र' अथवा 'तन्त्र' नाम से अभिहित होता है। अनुभवपरिपुष्ट तर्कानुशासित भूतकल्याणकारी सर्जनोन्मुखी बुद्धि 'प्रज्ञा' नाम से अभिहित की जा सकती है। जब प्रज्ञा शास्त्र का अनुगमन करती है एवं शास्त्र भी प्रज्ञा का अनुगमन करता है तब परम्परा वीर्यवती विद्या को धारण करती हुई दिगन्ताभिमुखी विजययात्रा पर चलती है।

भारतीय वैचारिक परम्परा ने बौद्धिकता का जो प्रारूप अपनाया है उसमें श्रवण एवं मनन के आधार पर व्यक्ति को तन्त्रचयन एवं विशेष परिस्थिति में तन्त्रसृष्टि का स्वातन्त्र्य सिद्धान्ततः स्वीकृत है। व्यक्ति के तन्त्रचयन-स्वातन्त्र्य को 'तन्त्रकेन्द्रित-विचारस्वातन्त्र्य' कहा जा सकता है। तन्त्रचयन-अधिकार के साथ-साथ अनुबन्ध के रूप में तन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के प्रति व्यक्ति की वैचारिक निष्ठा के उत्तरदायित्व को भी स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा वैचारिक चिन्तन के इतिहास में परम्परा स्थापना के लिये कोई अवकाश नहीं रह जाता है। तन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के साथ सङ्गत रहकर परीक्षा के आधार पर अन्य सिद्धान्तों के परिष्कार, पुनर्निर्माण अथवा अगत्या प्रत्याख्यान का स्वातन्त्र्य भी दार्शनिकों का प्रास्रव्य

है, अन्यथा रूढ़िवाद के दासत्व में सर्जनशीलचिन्तनपरम्परा की प्राणशक्ति क्षीण से क्षीणतर होकर अन्ततः विलुप्त हो जाती है। परम्परा के इस पवित्र यज्ञ में सर्जनशीलता की आहुति प्रदान करने के व्यक्ति के अधिकार को 'विचारककेन्द्रित-विचारस्वातन्त्र्य' नाम से अभिहित किया जा सकता है।

धर्मधर्मिभेदमूलक विश्लेषण पर आधारित वैदिक नित्यवाद की काणादीय धारा में न्यायवैशेषिक दर्शन को स्वभावतः प्रमुखता प्राप्त है। न्यायवैशेषिक दर्शन के पद्धतिमूलक, ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय आधार सुदृढ़ अवश्य हैं, परन्तु परम्परा के द्वारा अविचारित निष्ठा की अदूरदर्शी माँग के कारण विचारककेन्द्रित-विचारस्वातन्त्र्य को अपनी रचनात्मक भूमिका निभाने का पर्याप्त अवसर उपलब्ध नहीं हुआ है। परिणामस्वरूप न्यायवैशेषिक दर्शन का स्वाभाविक सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं हो पाया है।

परम्परा के प्रति वैचारिक निष्ठा के नाम पर पूर्वाचार्यों के द्वारा अपनाये गये सभी मतों को वैचारिक संरक्षण प्रदान करने की नीति की अदूरदर्शिता के प्रति आचार्य भासर्वज्ञ एवं रघुनाथ शिरोमणि ने परम्परा का ध्यान आकृष्ट करने के लिये प्रयत्न किया है। तन्त्र के विकास के लिये विचारककेन्द्रित-विचारस्वातन्त्र्य की अपरिहार्यताविषयक भासर्वज्ञ एवं रघुनाथ की दूरदर्शी नीति रूढ़िवाद के अवाञ्छनीय दबाव के कारण न्यायवैशेषिक परम्परा में अवहेलित रही है।

न्यायवैशेषिक दर्शन के सन्दर्भ में तन्त्रकेन्द्रित एवं विचारककेन्द्रित विचारस्वातन्त्र्यों में वाञ्छित समन्वय के लिये तन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के व्यावर्तन के द्वारा परम्परा के प्रति वैचारिक निष्ठा को परिभाषित करना, प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम लक्ष्य है। दार्शनिक चिन्तन की स्वाभाविक विकासप्रक्रिया में प्रतिबन्धक की भूमिका निभाने वाले कतिपय परम्परागत सिद्धान्तों की समीक्षा के अनुसार उनके पुनर्निर्माण अथवा खण्डन के द्वारा व्यवस्थित विकास के मार्गों को प्रशस्त करना, ग्रन्थ का द्वितीय लक्ष्य है।

ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में तन्त्र के विकास में विचारककेन्द्रित-विचारस्वातन्त्र्यविषयक भासर्वज्ञ के दूरदर्शितापूर्ण दृष्टिकोण तथा तन्त्र के विकास के लिये परम्परा के प्रति वैचारिक निष्ठा एवं विचारककेन्द्रित-विचारस्वातन्त्र्य में समन्वय की आवश्यकता विचार के विषय रहे हैं। इस वाञ्छित समन्वय के लिये तन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के व्यावर्तन की समस्या को मुख्य दार्शनिक चुनौती के रूप में रेखाङ्कित किया गया है। इसी अध्याय में

भारतीय दर्शन के तत्त्वमीमांसीय तन्त्रों के एक विशेष वर्गीकरण से वैशेषिक पदार्थव्यवस्था के स्थान को निर्दिष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस वर्गीकरण को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

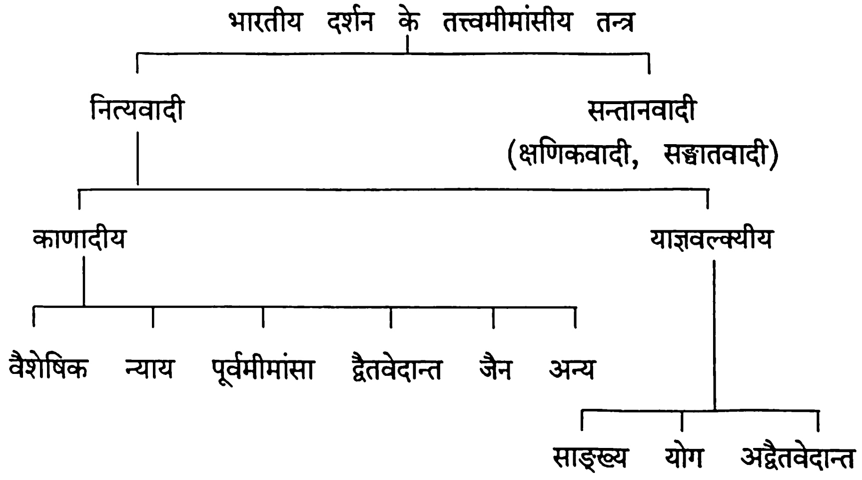

द्वितीय एवं तृतीय अध्यायों में न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत पद्धतिमूलक, ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के व्यावर्तनरूपी दार्शनिक चुनौती का सामना करने हेतु प्रयत्न किया गया है। तन्त्र के सिद्धान्तों को सर्वमान्य एवं एकदेशी मत रूपी दो मुख्य कोटियों में रखा जा सकता है। सर्वमान्य सिद्धान्त भी आगन्तुक एवं अनागन्तुक भेद से दो कोटियों में विभक्त हैं। तन्त्र के अनागन्तुक (स्वरूपनिरूपक) सिद्धान्त, आधारभूत एवं तदाश्रित भेद से स्वभावतः दो कोटियों के होते हैं। आधारभूत सिद्धान्त पद्धतिमूलक, ज्ञानमीमांसीय, तत्त्वमीमांसीय एवं पुरुषार्थमीमांसीय सिद्धान्त भेद से चार कोटियों के हैं। सिद्धान्तों की आधारभूतता स्वयंसिद्ध नहीं होती है, अपितु अनुभवप्रतिष्ठितता, तर्कानुगमनीयता, शास्त्र निर्माण में उपादेयता एवं परस्पर सङ्गति के द्वारा ही सिद्ध होती है। आधारभूत सिद्धान्तों की परस्पर अनुकूलता के कारण वे परस्पर आश्रित नहीं हो जाते हैं। न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों पर आश्रित सिद्धान्तों के उदाहरणस्वरूप सविकल्पक प्रत्यक्ष एवं प्रत्यभिज्ञा की प्रामाणिकता, अवयव-अवयवी सिद्धान्त एवं सामान्य के सिद्धान्तों को लिया जा सकता है। ये सभी सिद्धान्त आधारभूत न होने पर भी न्यायवैशेषिक दर्शन के अनागन्तुक अर्थात् स्वरूपनिरूपक सिद्धान्त

हैं। आधारभूत सिद्धान्तों के व्यावर्तन के लिये तन्त्र के सिद्धान्तों का पूर्वोक्त वर्गीकरण सहायक सिद्ध होता है। स्पष्टता के लिये इस वर्गीकरण को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

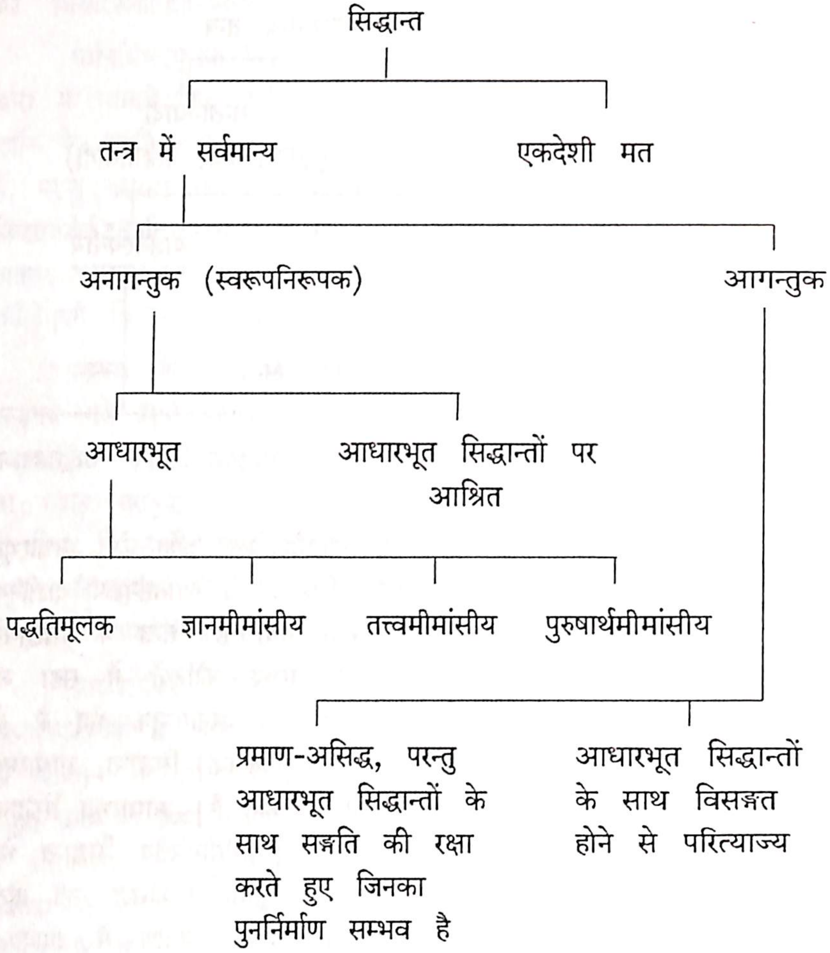

सङ्ख्या, परत्व एवं अपरत्व आदि का अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वविषयक परम्परागत मत न्यायवैशेषिक दर्शन के प्रमेयस्वातन्त्र्यवाद (बाह्यार्थवाद) के साथ विसङ्गत है, क्योंकि ज्ञान अपने प्रमातृरूपी आश्रय से भिन्न धर्मियों में आश्रित धर्मों को केवल प्रकाशित कर सकता है, परन्तु उनको उत्पन्न करने की योग्यता नहीं रखता है। उसी प्रकार परम्परागत अन्त्यविशेषपदार्थ के स्वतोव्यावर्तकत्व रूपी धर्म की कल्पना न्यायवैशेषिक दर्शन की आधारभूत भेदाभेदव्यवस्था

के साथ विसङ्गत है, क्योंकि धर्मभेद के बिना धर्मिभेद असम्भव है। अपेक्षाबुद्धिजन्य धर्मों की कल्पना तथा स्वतोव्यावर्तकधर्मिकल्पना परम्परा में सर्वमान्यता प्राप्त करने पर भी तन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के साथ विसङ्गत होने के कारण आगन्तुक एवं सर्वथा परित्याज्य सिद्धान्त हैं। चार प्रकार के परमाणुविषयक परम्परागत सिद्धान्त आधारभूत सिद्धान्तों के साथ विसङ्गत न होने पर भी भौतिक एवं रसायन शास्त्रीय प्रयोगमूलक उपलब्धियों द्वारा बाधित होने से उसके पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। भौतिकशास्त्रीय प्रयोगमूलक उपलब्धियों द्वारा शब्द का वायु, जल आदि आकुञ्चन प्रसारणशील मूर्तद्रव्याश्रितत्व तथा तरङ्गाकृतिविशिष्ट-स्पन्दस्वरूपत्व सिद्ध होने से न्यायवैशेषिक परम्परागत शब्दविषयक सिद्धान्त का पुनर्निर्माण भी अपरिहार्य हो जाता है।

द्वितीय एवं तृतीय अध्यायों में किये गये आधारभूत सिद्धान्तों के परिगणन के पर्याप्तता की प्रतिज्ञा वस्तुस्थिति के अनुरूप नहीं होगी। उदाहरणस्वरूप आधारभूत पद्धतिमूलक सिद्धान्त के रूप में न्यायसूत्रकार का *व्यवस्था-अनुपपत्तिन्याय* को स्वीकार किया जा सकता है। सर्वनित्यत्व प्रकरण के सूत्र ४.१.३३ में गौतम उपर्युक्त पद्धतिमूलक न्याय का उपयोग करते हैं। जिस अभिकथन को स्वीकार करने पर लोक एवं शास्त्रों में प्रसिद्ध अबाधित व्यवस्थायें अनुपपन्न हो जाती हैं वह अभिकथन तन्त्र में सिद्धान्त के रूप में अस्वीकार्य होता है। सभी पदार्थों को नित्य मान लेने पर अतीत अनागत एवं वर्तमान आदि कालव्यवस्था तथा उत्पत्ति एवं विनाश विषयक व्यवस्था अनुपपन्न हो जाती हैं। अतः तत्त्वमीमांसा में केवल नित्य पदार्थों को स्थान देने पर लोक तथा शास्त्रप्रसिद्ध व्यवस्थाओं की अनुपपत्ति के कारण सर्वनित्यत्वविषयक मत अस्वीकार्य है। जिस अभिकथन को मान लेने पर परस्पर विरोधी निष्कर्ष निगमित होते हैं वह अभिकथन अवश्य असत्य है– इस तर्कशास्त्रीय सिद्धान्त पर आश्रित प्रतिपादन विधि *व्याघातारूढ प्रमाणप्रक्रिया* नाम से अभिहित की जा सकती है। न्यायसूत्रकार का व्यवस्था-अनुपपत्तिन्याय व्याघातारूढ़ प्रमाणप्रक्रिया की अवान्तर जाति के रूप में स्वीकार्य है। वस्तुतः न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत पद्धतिमूलक, ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के सूक्ष्मतर एवं व्यवस्थित अनुसन्धान की आवश्यकता है। इन अध्यायों में किया गया विचार मुख्य रूप में आधारभूत सिद्धान्तों के व्यावर्तनविषयक समस्या को न्यायवैशेषिक दार्शनिक विचारमञ्च के केन्द्र स्थल पर लाने के लिये ही है।

चतुर्थ अध्याय में परम्परा के सर्वमान्य पुरुषार्थविषयक तथा कतिपय आनुषङ्गिक तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इस समीक्षा से कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों की अस्वीकार्यता तथा अन्य कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों के पुनर्निर्माण की आवश्यकता स्पष्ट होती है। कर्मवाद जगत् की कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृताभ्यागमशून्यता रूपी आधारभूत मान्यताओं पर आश्रित है। जगत् के वस्तुनिष्ठ धर्म के रूप में कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृताभ्यागमशून्यता प्रमाणसिद्ध नहीं हैं। परन्तु तथ्य के रूप में अस्वीकार्य होने पर भी धर्माधर्मभेदव्यवस्था के द्वारा पूर्वापेक्षित आदर्श के रूप में वे अवश्य वरणीय हैं। ये दो आदर्श पुरुषार्थतन्त्र में कुछ विशेष साधारण धर्मों के आधार की भूमिका निभाते हैं। इसी अध्याय में प्रस्तुत दुःखतत्त्व का विश्लेषण एवं वर्गीकरण तथा अदृष्टकारणतावाद का खण्डन कर्मवाद के पुनर्निर्माण के अविभाज्य अङ्ग के रूप में देखे जा सकते हैं। अध्याय के चतुर्थ परिच्छेद में न्यायवैशेषिक दर्शन के आत्मसिद्धान्त का खण्डन किया गया है तथा पुरुषार्थमीमांसा को ध्यान में रखकर मानवव्यक्ति (पुरुष) के स्वरूपविषयक पुनर्निर्मित सिद्धान्त को प्रस्तुत किया गया है। इस पुनर्निर्मित सिद्धान्त में तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से पुरुष शरीररूपी अवयवी का निरन्तर परिवर्तनशील कारणकार्यस्रोतापन्न सन्तान स्वरूप है। जिस प्रकार अवयवों से अतिरिक्त अवयवी स्वीकार करना आवश्यक है, उसी प्रकार सन्तानियों से भिन्न सन्तान को भी स्वीकार करना आवश्यक है। एक नृत्याङ्गना द्वारा नृत्यक्रियान्तर्गत किये गये भ्रूविक्षेप एवं मुद्राविशेष से उसकी नृत्यक्रिया अवश्य भिन्न है। अबाधित प्रतीति के विषय के रूप में भासित सन्तानियों से भिन्न सन्तान, धान्यराशि की तरह पिण्डीभूत पदार्थ न होने पर भी वर्णानुक्रम रूपी पद एवं पदानुक्रम रूपी वाक्य की तरह अवश्य प्रमेय के रूप में स्वीकार्य है। सन्तानिघटित परन्तु सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान स्वीकृत होने के कारण यहाँ पर प्रस्तुत पुरुष का तत्त्वमीमांसीय स्वरूपविषयक सिद्धान्त बौद्धसम्मत सन्तानवादी सिद्धान्त से भिन्न है।

पुरुषार्थमीमांसा की दृष्टि से जिस अधिकरण में कर्तृत्व, ज्ञातृत्व एवं भोक्तृत्व वाक्शक्ति के साथ समानाधिकरण होते हैं वह अधिकरण रूपी धर्मी ही पुरुष है। अन्य शब्दों में कर्तृत्व, ज्ञातृत्व एवं भोक्तृत्व का वाक्शक्ति के साथ सामानाधिकरण्य ही पुरुषत्व का लक्षण है। वाक्शक्ति अर्थात् भाषा को आयत्त करने की योग्यता में ही पुरुष की विलक्षणता

निहित है। पुरुष वस्तुतः सन्तानरूपी तत्त्व है जो मूर्त तथा अमूर्त उभय धर्मों से विशिष्ट है। इसी अध्याय के अन्त में न्यायवैशेषिक दर्शन के निःश्रेयस सिद्धान्त में अन्तर्निहित गम्भीर विसङ्गतियों का सङ्क्षिप्त विचार किया गया है। कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व पुरुष के स्वरूपनिरूपक अनागन्तुक धर्म हैं, न कि आगन्तुक धर्म। कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व से रहित मुक्त पुरुष की कल्पना विसङ्गत है। प्रवृत्ति मात्र को दोषजन्य मानने पर निष्कामकर्मयोग के लिये कोई अवकाश नहीं रहता है। संसार की अज्ञानमूलकता को स्वीकार करने का अर्थ मानव जीवन में अन्तर्निहित ऊर्ध्वोन्मुखी दैवी सृजनशीलता की सम्भावना को नकारना ही है।

घट, पट, वृक्ष आदि स्थूल इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं के एकत्व, महत्त्व एवं तद्व्यक्तित्व तथा देवदत्त, यज्ञदत्तादि मानवव्यक्तियों के सातत्य, कर्तृत्व, ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व तथा तद्व्यक्तित्व की उपपत्ति के लिये व्यवस्थानिर्माण, ग्रन्थकार के मत में न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा की मुख्य दार्शनिक चुनौती रही है। इस दृष्टि से पञ्चम अध्याय में वैशेषिक पदार्थव्यवस्था निर्माण को अनुप्राणित करने वाली विचारधारा की सहज प्रवाहशीलता के साथ पाठक को परिचित कराने का प्रयास किया गया है।

षष्ठ अध्याय के प्रथम परिच्छेद में शब्द की स्पन्दत्वसिद्धि के द्वारा आकाश पदार्थ का खण्डन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में भासर्वज्ञ के दिग्विषयक दृष्टिकोण को व्यवस्थित रूप प्रदान करने के साथ-साथ वैशेषिक पदार्थव्यवस्था में रेखागणित के लिये तत्त्वमीमांसीय आधार प्रस्तुत किया गया है। तृतीय परिच्छेद में भासर्वज्ञ द्वारा काल का द्रव्यत्व एवं एकत्व का खण्डन तथा उनके द्वारा सिद्धान्तित काल का क्रियाश्रितत्वविषयक मत का प्रतिपादन किया गया है। चतुर्थ परिच्छेद में रघुनाथ शिरोमणि द्वारा सिद्धान्तित क्षण के स्वतन्त्रपदार्थत्वविषयक मत को भासर्वज्ञ के कालविषयक सिद्धान्त के परिपूरक के रूप में देखा गया है एवं भासर्वज्ञ तथा रघुनाथ के द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलते हुये परम्परागत वैशेषिक कालसिद्धान्त के पुनर्निर्माण का प्रयत्न किया गया है।

सप्तम अध्याय में न्यायवैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद, कारणतासिद्धान्त एवं अवयव-अवयवी सिद्धान्त, भौतिक तथा रसायन शास्त्रीय तथ्यों के सन्दर्भ में उपस्थापित किये गये हैं। भौतिक एवं रसायन शास्त्रीय प्रयोगमूलक उपलब्धियों से बाधित होने से परमाणुओं के प्रकार एवं नित्यत्वविषयक परम्परागत

वैशेषिक मत का प्रत्याख्यान अपरिहार्य हुआ है। पद्धतिमूलक युक्ति के द्वारा भाट्टमीमांसक एवं रघुनाथ शिरोमणि के त्रसरेणु का न्यूनतमपरिमाणविशिष्टत्व एवं नित्यत्वविषयक मत का खण्डन भी किया गया है। रसायन शास्त्रीय तथ्यों के सन्दर्भ में न्यायवैशेषिक कारणतासिद्धान्त को देखने पर उस सिद्धान्त में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता स्पष्ट रूप में उभर कर आती है। उदाहरणस्वरूप अवयवियों का सजातीयद्रव्यजन्यत्वविषयक मत तथा सजातीय कार्यों की विजातीयसामग्री-अजन्यत्वविषयक परम्परागत मत अस्वीकार्य सिद्ध होते हैं। वस्तुतः विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के तथ्यों के आधार पर न्यायवैशेषिक कारणतासिद्धान्त के परिष्कार के लिये गहन अनुसन्धान अपेक्षित है। अध्याय के अन्तिम परिच्छेद में रसायनशास्त्रीय आइसोमेरिज्मविषयक तथ्यों के आधार पर सङ्घातवाद का खण्डन तथा साथ-साथ अवयव-अवयविसिद्धान्त की तत्त्वमीमांसीय अपरिहार्यता की सिद्धि की गयी है।

अष्टम अध्याय में अवयव-अवयविसिद्धान्त तथा दैशिक आकृतियों के स्वरूपविषयक सिद्धान्तों के द्वारा पूर्वापेक्षित तत्त्व के रूप में समुच्चय (समुदाय, सङ्घात) स्वीकृत हुआ है एवं उसका स्वतन्त्रपदार्थत्व सिद्ध किया गया है। समुच्चय के आधार पर परम्परागत सङ्ख्या तथा परिमाण सिद्धान्तों का पुनर्निर्माण किया गया है। समुदायघटक समुदायियों के स्वरूप पर अनाश्रित समुदायनिष्ठ उपादाननिरपेक्ष (शुद्ध) परिमाण के रूप में धनात्मक पूर्ण सङ्ख्यायें स्वीकृत हुई हैं। गुरुत्व, दैर्घ्य, क्षेत्रफल, घनफल, ताप आदि मूर्तद्रव्यनिष्ठ परिमेय धर्म एवं तीव्रत्व, मन्दत्व, तारत्व, वेग एवं वेगपरिवर्तन आदि शब्द तथा गति रूपी अमूर्तपदार्थनिष्ठ परिमेय धर्म, उपादानसापेक्ष परिमाण के रूप में गृहीत हुये हैं। इस अध्याय में सङ्ख्या एवं परिमाण तत्त्वों के सम्बन्ध, क्रम का स्वरूप तथा गणित शास्त्र में स्वीकृत विभिन्न सङ्ख्यातन्त्रों के समुच्चयशास्त्रीय आधार विषय पर भी सङ्क्षिप्त विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

नवम अध्याय के प्रथम परिच्छेद में परम्परागत समवाय का एकत्व एवं नित्यत्वविषयक मत की अनुपपत्तिग्रस्तता की सिद्धि के साथ-साथ प्राभाकरमीमांसक एवं रघुनाथ शिरोमणि के समवायनानात्ववाद प्रस्तुत किया गया है। इस परिच्छेद में आधार-आधेयभावनिरपेक्षरूप में अयुतसिद्धता को परिभाषित करने की समस्या पर विचार किया गया है। अवयव-अवयविसम्बन्ध के स्वरूप एवं अवयव-अवयविधारा की परिमितसङ्ख्यकसोपान में विश्रान्ति के आधार पर नाना सजातीय परमाणुओं के अस्तित्व सिद्ध होने से,

ग्रन्थकार के मत में परम्परागत अन्त्यविशेष पदार्थ की तत्त्वमीमांसीय आवश्यकता नहीं रहती है। स्वतोव्यावर्तकधर्मकल्पना की तत्त्वमीमांसीय विसङ्गतता के आधार पर भी परम्परागत अन्त्यविशेष पदार्थ का असम्भवत्व सिद्ध होता है।

ग्रन्थ के दशम तथा अन्तिम अध्याय में कतिपय विशेष तत्त्वमीमांसीय प्रकरणों पर विचार प्रस्तुत किया गया है। प्रथम परिच्छेद में वैशिष्ट्य (विशेषण-विशेष्यभाव) के स्वतन्त्रपदार्थत्वविषयक मत की समीक्षा की गयी है एवं वैशिष्ट्य के स्वरूपसम्बन्धत्वविषयक परम्परागत मत के समर्थन में युक्ति प्रस्तुत की गयी है। द्वितीय परिच्छेद में विषयता, विषयिता, आधारता, आधेयता आदि के स्वतन्त्रपदार्थत्वविषयक रघुनाथ शिरोमणि आदि के मत की सङ्क्षिप्त समीक्षा की गयी है। 'देवदत्त पशुधनवान् है'– इस अभिकथन को सत्य स्वीकार करने का अर्थ देवदत्त को पशुविशेषनिष्ठस्वत्वनिरूपितस्वामित्ववान् के रूप में तथा उस पशु (उन पशुओं) को देवदत्तनिष्ठस्वामित्वविशेषनिरूपितस्वत्व से विशिष्ट होने के रूप में स्वीकार करना है। ज्ञान को सविषय पुरुषधर्म के रूप में स्वीकार करने का अर्थ, ज्ञान एवं उसके विषय में यथाक्रम परस्पर निरूप्यनिरूपकभावान्वित विषयिता एवं विषयता रूपी सांसर्गिक धर्म युगल को भी स्वीकार करना है। ये धर्म धर्मियों से अतिरिक्त पदार्थ है या नहीं यह विवाद का विषय है। परम्परागत मत के अनुसार इनके स्वरूपसम्बन्धत्व स्वीकृत है। रघुनाथ, गदाधर आदि के द्वारा उद्भावित परम्परागत मत में अनुपपत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण तथा मूल्याङ्कन करना इस ग्रन्थ में सम्भव नहीं हुआ है। अध्याय के चतुर्थ परिच्छेद में भासर्वज्ञ के मतानुसार पृथक्त्व की भेदस्वरूपत्वसिद्धि के द्वारा उसके स्वतन्त्रगुणत्वविषयक परम्परागत मत का खण्डन किया गया है। पञ्चम परिच्छेद में भासर्वज्ञ के मतानुसार परत्व एवं अपरत्व के स्वतन्त्रगुणत्वविषयक परम्परागत मत का खण्डन किया गया है। अध्याय के अन्तिम परिच्छेद में प्राभाकरमीमांसक एवं रघुनाथ के सत्ताजातिखण्डन की समीक्षा की गयी है। उसी परिच्छेद में रघुनाथ कृत गुणत्व एवं अनुभवत्व के जातित्वखण्डन की भी समीक्षा की गयी है।

दशम अध्याय के तृतीय परिच्छेद में वृक्ष, लता एवं प्राणिशरीरादि रूपी कारणकार्यस्रोतापन्न अवयविसन्तानों की भेदाभेदव्यवस्था तथा उनकी प्रत्यभिज्ञा की प्रामाणिकता रक्षा की दृष्टि से अव्याप्यवृत्ति-व्याप्यवृत्तिधर्मभेद को रेखाङ्कित किया गया है। कारणकार्यस्रोतापन्न निरन्तर परिवर्तनशील अवयवियों के सन्तान

के एकत्व एवं प्रमेयत्व को स्वीकार न करने पर लोकव्यवहार एवं शास्त्रीय व्यवस्थाओं की उपपत्ति नहीं होती है। चलचित्रपट्ट पर वस्तु एवं व्यक्तियों की गतिविषयक प्रतीति भ्रमात्मक होने पर भी बाह्यजगत् में गति का प्रत्यक्ष प्रमात्मक है। एक ही वृन्त में दो पुष्पों के कलिकावस्था से प्रस्फुटितावस्था तक परस्पर भेदविषयक प्रमात्मक ज्ञान होता है। दो यमज भ्राताओं के शैशवावस्था से वार्धक्यावस्था तक शरीरभेदविषयक ज्ञान को भ्रमात्मक नहीं कहा जा सकता है। अवयविसन्तान के एकत्व को आरोपित एकत्व कहना युक्तिसङ्गत नहीं है। अवयविसन्तान रूपी प्रवाहात्मक तत्त्व के घटकीभूत भिन्न-भिन्न क्षणावच्छिन्न अवयवी रूपी सन्तानियों की केवल आरोपित प्रत्यभिज्ञा ही होती है। परन्तु सन्तानविषयक भ्रमात्मक प्रत्यभिज्ञा एवं एकत्वज्ञान, सन्तानविषयक यथार्थ प्रत्यभिज्ञा एवं एकत्वज्ञान के बिना सम्भव नहीं होते हैं। सन्तानविषयक यथार्थ प्रत्यभिज्ञा एवं एकत्वज्ञान सन्तानविषयक भेदाभेदव्यवस्था की अपेक्षा रखते हैं। 'मन्द' एवं 'द्रुत' गति के विशेषण हैं, न कि गतिमान् मूर्तपदार्थ के। क्रियासन्तानों की भेदाभेदव्यवस्था के बिना भौतिक शास्त्र के गतिविज्ञान का तत्त्वमीमांसीय आधार प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। अवयविसन्तानों की भेदाभेदव्यवस्था के निर्माण में आगन्तुक-अनागन्तुक तथा अव्याप्यवृत्ति-व्याप्यवृत्तिधर्मभेदों की भूमिका स्पष्ट है। समुच्चय का स्वतन्त्रपदार्थत्व स्वीकृत होने पर सन्तानघटकसन्तानियों से सन्तान का अतिरिक्तत्व सिद्ध करना सम्भव होता है।

बौद्ध सन्तानवाद के प्रति सहानुभूतिशील धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के मतानुसार धर्मधर्मिभेद पर आधारित तत्त्वमीमांसा वस्तुतः अन्तर्विरोधपूर्ण एवं विसङ्गत है।* इस ग्रन्थ के संरचनात्मक लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुये शास्त्रीजी के आक्षेपों एवं शङ्काओं के व्यवस्थित प्रत्युत्तर एवं समाधान प्रस्तुत करना सम्भव नहीं था। आशा की जाती है कि इस ग्रन्थ को अनुप्राणित करने वाला दृष्टिकोण तथा ग्रन्थ में प्रस्तुत सम्बन्धित विचार, शास्त्री महोदय के शङ्काओं के समाधान एवं आक्षेपों के निराकरण में सहायक सिद्ध होंगे।

न्यायवैशेषिक दर्शन के कारणतासिद्धान्त तथा अवयव-अवयविसिद्धान्त-विषयक उनकी आपत्तियों के समाधान इस ग्रन्थ के सप्तम अध्याय में

---

* *क्रिटिक् ऑफ इण्डियन रियलिज्म*, के पृ. १७-२७, १४१-१४६, २०१-२२९, २५६-२६१, २७७-२७९, २९२-२९४, ३१८-३१९ एवं ४९३ द्रष्टव्य हैं।

प्रस्तुत विचारों से सम्भव है। शास्त्रीमहोदय के मत में न्यायवैशेषिक कारणतासिद्धान्त तर्कतः बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद में ही पूर्णता प्राप्त करता है। उनकी इस मत की सिद्धि इन्द्रजाल विद्या के बिना सम्भव नहीं है। प्रत्यभिज्ञा की प्रामाणिकता सिद्धि तथा क्षणिकवाद के खण्डन के लिये पूर्वाचार्यों द्वारा उद्भावित युक्तियाँ सुपर्याप्त हैं। बलवत्तर प्रमाण के अभाव में स्थिरत्वविषयक अबाधित लोकप्रतीति का प्रत्याख्यान पद्धतिमूलक दृष्टि से अदूरदर्शी एवं दोषावह है। शालग्राम शिला को भी प्राणिशरीर के सदृश निरन्तर परिवर्तनशील अवयविसन्तान के रूप में स्वीकार करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। स्थिरत्वविषयक भ्रम भी स्थिरत्वविषयक प्रमा के बिना सम्भव नहीं है। अवयवी की उत्पत्ति के हेतु से उसके विनाश के हेतु को भिन्न न मानने पर तत्त्वमीमांसीय विसङ्गति अपरिहार्य हो जाती है। वस्तु का अवस्थाओं में परिवर्तन सहकारी कारणसापेक्ष होता है न कि वस्तुस्वभावमात्र से सम्भव होता है। रसायनशास्त्र में स्वीकृत हाइड्रोजन परमाणु का इलेक्ट्रान अपने कक्षा में निरन्तर गतिमान् होने पर भी हाइड्रोजन परमाणु अपने से भिन्न नहीं हो जाता है। सङ्कुचित हस्तपाद देवदत्त प्रसारितहस्तपाद देवदत्त से भिन्न नहीं होता है।

अपेक्षाबुद्धिजन्यधर्मविषयक अन्त्यविशेष तथा निःश्रेयसविषयक शास्त्री महोदय की आपत्तियाँ तर्कसङ्गत हैं। उन आपत्तियों के प्रति प्रस्तुत ग्रन्थ में विशेष ध्यान दिया गया है।* आपाततः शास्त्रीजी के मत में वृक्षलताप्राणिशरीरादि निरन्तर परिवर्तनशील अवयविसन्तानों का अस्तित्व धर्मधर्मिभेदमूलक तत्त्वमीमांसा के आधार पर उपपन्न नहीं होता है। परन्तु उनका यह निष्कर्ष स्वीकार्य नहीं है। वस्तुतः निरन्तर परिवर्तनशील अवयविसन्तान धर्मधर्मिभेदमूलक तत्त्वमीमांसा की विसङ्गतता सिद्ध नहीं करता है, अपितु अवयविसन्तानविषयक लोकव्यवहार एवं शास्त्रीय व्यवस्थाओं की उपपत्ति के लिये अनुभव एवं तर्कसङ्गत भेदाभेदव्यवस्था की माँग करता है। सन्तानवादी दार्शनिकों के द्वारा इस माँग को पूरा करना उतना ही आवश्यक है जितना कि काणादीय परम्परा के दार्शनिकों के द्वारा।

प्रतिपक्षियों के द्वारा उद्भावित अनुपपत्तियाँ युक्तिसङ्गत पाये जाने पर तन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के साथ सङ्गति की रक्षा करते हुये आवश्यक

---

* पृ. ९९-१०१, २१४-२१७, ३२९-३३० एवं २७७-२८३ द्रष्टव्य हैं।

पुनर्निर्माण करना, तन्त्रपरम्परा के वैचारिकसामर्थ्याभाव का परिचायक नहीं है, अपितु उसकी दृढ़ सङ्कल्पशक्ति का परिचायक है।

"निन्दामेव प्रथयतु जनः किन्तु दोषान्निरूप्य।
प्रेक्षांस्तथ्यस्खलितकथनं प्रीणयेदेव भूयः॥" (*आत्मतत्त्वविवेक* का उपसंहार)

आचार्य उदयन की यह चिरन्तन उक्ति न केवल उनके एक ग्रन्थविशेष के लिये अथवा प्रस्तुत ग्रन्थ के लिये, अपितु प्रत्येक वैचारिक परम्परा के लिये भी प्रासङ्गिक है।

पदार्थतत्त्वनिरूपण के हिन्दी संस्करण की भूमिका लिखने के सन्दर्भ में प्रस्तुत ग्रन्थ में विवेचित दार्शनिक समस्याओं पर सार्धसंवत्सर से अधिक कालावधि तक अत्वरित विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ था। इस कालावधि में मेरे पूर्वतन विद्यार्थी एवं वर्तमान राजस्थान सरकार के महाविद्यालय शिक्षा विभाग में दर्शन विषय के प्राध्यापक पद पर कार्यरत डॉक्टर घनश्याम शर्मा नियमित रूप में कुछ प्रकरणों पर मेरे विचारों को लिपिबद्ध करते थे तथा कुछ स्थलों पर वाक्यविन्यास को बोधानुकूल करते थे। उनका सहज विद्याप्रेम तथा जिज्ञासु स्वभाव विचार में स्पष्टता प्राप्त करने में सहायक सिद्ध हुआ। इस हेतु घनश्यामजी मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

जयनारायणव्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉक्टर श्रीकृष्ण शर्मा एवं मेरे पूर्वतन शोधविद्यार्थी एवं सम्प्रति राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में सहायक आचार्य पद पर कार्यरत डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सङ्गणक यन्त्रटङ्कित पाण्डुलिपि के टङ्कणमूलक अशुद्धियों का निराकरण तथा आवश्यक भाषागत सम्पादन किये गये हैं। गम्भीर शास्त्रानुराग तथा मेरे प्रति स्नेह, सौहार्द्य एवं श्रद्धाभाव के बिना श्रीकृष्णजी एवं राजेन्द्रप्रसादजी के द्वारा यह अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता। इस हेतु मैं प्रथम श्रीकृष्णजी को एवं तदनन्तर राजेन्द्रजी को अपना स्वतःस्फूर्त हार्दिक धन्यवाद अर्पण करता हूँ।

सङ्गणकयन्त्रटङ्कित पाण्डुलिपि के कुछ अंशों में टङ्कणगत तथा भाषागत अशुद्धियों के निराकरण में सहायता प्रदान करने के लिये मेरी पूर्वतन शोधछात्रा एवं वर्तमान में इस विभाग में उपाचार्य तथा विभागाध्यक्ष पद पर कार्यरत डॉक्टर श्रीमती कुसुम जैन डांगी एवं मेरी पूर्वतन शोधछात्रा एवं वर्तमान में जयपुरनगरस्थ सत्यसाई महिला महाविद्यालय में दर्शन विषय के प्राध्यापक पद पर कार्यरत कुमारी शोभा बारहठ धन्यवादार्ह हैं। विद्याप्रेम

एवं जिज्ञासु स्वभाव से इस ग्रन्थरचना कार्य के लिये प्रोत्साहित करने, समय-समय पर मेरे विचारों को लिपिबद्ध करने तथा सङ्गणक यन्त्र टङ्कित पाण्डुलिपि के कुछ अंशों के टङ्कणगत अशुद्धियों का निराकरण में सहायता प्रदान करने के लिये मेरे पूर्वतन छात्र एवं वर्तमान हिमाचल प्रदेश के राजकीय महाविद्यालय शिक्षा विभाग में दर्शन विषय के प्राध्यापक पद पर कार्यरत श्री पङ्कज बासोतिया को भी धन्यवाद।

तीन संवत्सर से अधिक समय तक चले आ रहे इस ग्रन्थ के रचनावधि में अनेक निराशा एवं हतोत्साह के क्षण आये हैं। उन अन्धकारमय क्षणों में विभाग की वरिष्ठतम उपाचार्या एवं निवर्तमान अध्यक्षा डॉक्टर शर्ली जेठमलानी के मित्रभाव एवं सौहार्दजन्य सहानुभूतिपूर्ण प्रेरणा मेरी सङ्कल्प शक्ति में पुनः प्राणसञ्चारित की है। इस हेतु शर्लीजी को स्वतःस्फूर्त हार्दिक धन्यवाद। राजेन्द्रप्रसाद शर्माजी के निरन्तर प्रोत्साहन एवं विभिन्न स्तर पर सहयोग के बिना इस ग्रन्थ का प्रकाशन कार्य सम्भव नहीं होता, इसलिये वे मेरे विशेष धन्यवाद के अधिकारी हैं।

अत्यन्त धैर्य एवं निपुणता के साथ पाण्डुलिपि के सङ्गणकटङ्कण का कार्य सम्पन्न करने हेतु विभाग के सङ्गणकप्रकोष्ठ में ऑपरेटर पद पर कार्यरत श्री शङ्करलाल शर्माजी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ आवश्यक औपचारिकताओं की पूर्ति, मुद्रणालय के साथ समन्वय स्थापन तथा मुद्रण कार्य की प्रगति पर निरन्तर ध्यान देने के लिये विशेष सहायता कार्यक्रम कार्यालय के प्रभारी श्री पवन श्रीवास्तव को धन्यवाद। ग्रन्थ का मुद्रण दायित्व वहन करने के लिये पॉपुलर प्रिन्टर्स, जयपुर के अधिकारी भी धन्यवादार्ह हैं।

विशेष सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रन्थ प्रकाशन के लिये आर्थिक सहायता उपलब्ध कराने हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा राजस्थान सरकार को विशेष धन्यवाद।

अन्त में अनवधानतः रह गयी अशुद्धियों के लिये विद्वान् पाठकों से सहनशीलता की अपेक्षा रखते हुये क्षमा याचना कर रहा हूँ।

जयपुर

विश्वम्भर पाहि

प्रथम अध्याय

भारतीय दर्शन की तत्त्वमीमांसीय धाराओं में वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का स्थान

---

१. सन्तानवाद एवं नित्यवाद, नित्यवाद की दो प्रमुख धारायें– याज्ञवल्क्यीय एवं काणादीय

वैदिक नित्यवाद और आत्मवाद तथा वेदेतर श्रमण-परम्परा के उच्छेदवाद आदि की वैचारिक कमजोरियों को उजागर करते हुए शाक्यमुनि गौतम बुद्ध ने, प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के आधार पर भारतीय दर्शन की सन्तानवादी तत्त्वमीमांसीय परम्परा का शिलान्यास किया। उनके अनुसार अनात्मवाद, अद्रव्यवाद, अनित्यवाद (अर्थात् सत् की सन्तानरूपता) प्रतीत्यसमुत्पाद के अपरिहार्य अनुसिद्धान्त हैं। शाक्यमुनि के तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण को सन्तानवादी (प्रवाहवादी) तथा सङ्घातवादी कहा जा सकता है। उनके विचार में नित्यवाद, आत्मवाद एवं द्रव्यवाद के धरातल पर कर्मवाद, संसारवाद एवं ज्ञानमोक्षवाद खड़े नहीं किये जा सकते हैं। तथागत बुद्ध की इस अभूतपूर्व वैचारिक चुनौती की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वैदिक परम्परा में जो विचारमन्थन प्रारम्भ हुआ, उसी के कारण नित्यवादी तत्त्वमीमांसा की दो मुख्य धारायें प्रवाहित होने लगीं एवं सूत्रकाल के प्रारम्भ का मार्ग प्रशस्त हुआ। उपर्युक्त दो नित्यवादी धाराओं में से एक का स्रोत है– विषयी तथा विषय

(आत्म-अनात्म) भेद की आधारभूतता। नित्यवाद की इस धारा के दर्शनों के अनुसार विषयी (आत्म) एवं विषय (अनात्म) परस्पर अत्यन्त भिन्न एवं विरुद्ध स्वभाव के तत्त्व हैं, अतः एक ही प्रारूप (ढाँचा) से उनका स्वरूपनिरूपण करना सम्भव नहीं है। अनादि, अनन्त, नित्यपरिणामी, प्रवाहशील मूलप्रकृति के आधार पर ही निखिल विषयतत्त्वों का स्वरूपनिरूपण सम्भव है। विषयतत्त्व से अत्यन्त भिन्न, परिणामरहित कूटस्थ नित्य तथा प्रकाशशील तत्त्व के रूप में ही, विषयी का स्वरूपनिरूपण सम्भव है। नित्यवाद की इस धारा को *याज्ञवल्क्यीय* कहना युक्तिसङ्गत होगा।[१] वेदान्त का अद्वैत-प्रस्थान[२], कपिल का सांख्य[३] एवं पतञ्जलि का योग-प्रस्थान[४] इस याज्ञवल्क्यीय धारा के प्रमुख दर्शन हैं। इस परम्परा में सामान्य (जाति) अस्वीकार्य तत्त्व है। विषयी तत्त्व का एकत्व-अनेकत्व, विषय तत्त्व की तत्त्वमीमांसीय परतन्त्रता, विषयी एवं विषय के सम्बन्ध आदि की समस्यायें इस याज्ञवल्क्यीय परम्परा के अन्तर्विवाद के विषय रहे हैं।

याज्ञवल्क्यीय परम्परा से अत्यन्त भिन्न नित्यवाद की द्वितीय परम्परा[५], जिसे नामकरण की सरलता की दृष्टि से *काणादीय* कहना युक्तिसङ्गत होगा,

---

१. विषयी-विषय-भेद की आधारभूतता एवं तत्त्वमीमांसीय महत्त्व के प्रति ध्यान दिलाते हुए शुक्लयजुर्वेदीय *शतपथब्राह्मण* के *बृहदारण्यक उपनिषद्* में याज्ञवल्क्य कहते हैं– "....येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्, स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो, न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयात्..." *बृहदारण्यक उपनिषद्* ४.५.१५, सानुवाद शाङ्कर भाष्य सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०५०, पृ. ११४१.

२. शङ्कराचार्यकृत *ब्रह्मसूत्रभाष्य* का उपोद्घातरूपी अध्यासभाष्य द्रष्टव्य है।

३. ईश्वरकृष्णकृत *साङ्ख्यकारिका* की दशम एवं एकादश कारिकायें द्रष्टव्य हैं।

४. पतञ्जलिकृत *योगसूत्र* के समाधिपाद के सूत्र ३ एवं ४ द्रष्टव्य हैं।

५. वैदिक नित्यवाद की काणादीय परम्परा में धर्मधर्मिभेद की आधारभूत भूमिका धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री कृत *क्रिटिक ऑफ इण्डियन रियलिज़्म,* भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६४ के तृतीय अध्याय परिच्छेद १९ में सुस्पष्ट है। इस विषय पर प्रकाश डालने के लिये शास्त्रीजी का मैं आभारी हूँ। प्रस्तुत इस निबन्ध में दिया गया भारतीय तत्त्वमीमांसीय तन्त्रों के वर्गीकरण का आधार शास्त्रीजी के उक्त ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में किये गये वर्गीकरण के आधार से किञ्चित् भिन्न है।

धर्मधर्मिभेदमूलक तत्त्वमीमांसीय विश्लेषण पर आधारित है। इस परम्परा में आत्म एवं अनात्म (विषयी एवं विषय) तत्त्वों का स्वरूपनिरूपण एक ही पद्धतिपरक धर्म-धर्मी के प्रारूप से किया जाना आवश्यक है। कणाद का वैशेषिक, अक्षपाद गौतम का न्याय एवं जैमिनि की मीमांसा, इस परम्परा के प्रमुख दर्शन हैं। इसके अतिरिक्त जैन तथा अद्वैतेतर वेदान्त-परम्परायें भी इसी वर्ग में समाहित की जा सकती हैं। न्यायदर्शन प्रमाणमीमांसाकेन्द्रित है। तत्त्वमीमांसीय समस्याविषयक विचार में नैयायिक समानतन्त्र सिद्धान्त के रूप में वैशेषिक सिद्धान्तों का सयुक्तिक समर्थन करते हैं। जैमिनीय मीमांसा मुख्यतया वेदार्थविचारविषयक वाक्यशास्त्र है। अभाव, शक्ति, सादृश्य एवं अन्त्यविशेष आदि तत्त्वमीमांसीय विषयों पर वैशेषिकों के साथ प्रभाकर के अनुयायियों का मतैक्य न रहने पर भी प्रभाकर की तत्त्वमीमांसा धर्मधर्मिभेद की मौलिकता पर आधारित होने से काणादीय परम्परा में है। गुणकर्मादि की तत्त्वमीमांसीय परतन्त्रता की व्यवस्था के लिये समवाय के स्थान पर नाममात्र से भिन्न भेदाभेद सम्बन्ध का उपयोग करने पर भी तथा पदार्थकोटियों के विषय में वैशेषिकों के साथ मतभेद रहने पर भी कुमारिल का मीमांसा-प्रस्थान, आत्म एवं अनात्म तत्त्वों के स्वरूपनिरूपण-पद्धति की दृष्टि से, निर्विवादरूप में काणादीय परम्परा में परिपुष्ट हुआ है। काणादीय परम्परा के विकास में उक्त मीमांसा-प्रस्थान ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। याज्ञवल्क्यीय परम्परा के विपरीत इस परम्परा में सामान्य, दिक् एवं काल वस्तुसत् (प्रमेय) के रूप में अङ्गीकृत हुए हैं।

वैदिक नित्यवाद की काणादीय परम्परा के दार्शनिकों को बौद्धसन्तानवादी परम्परा में विकसित क्षणिकवाद, अनात्मवाद, अद्रव्यवाद, सङ्घातवाद एवं अपोहवाद के विरोध में सहस्र संवत्सर से अधिक काल तक वैचारिक सङ्घर्ष करना पड़ा था। इसी दीर्घ वैचारिक सङ्घर्ष प्रक्रिया में काणादीय परम्परा के सविकल्पकप्रत्यक्षवाद, द्रव्यवाद, आत्मवाद, अवयविवाद तथा सामान्य के सिद्धान्त विकसित एवं परिष्कृत रूप प्राप्त कर पाये।

दशाध्यायी *वैशेषिकसूत्र* ग्रन्थ में महर्षि कणाद ने धर्मधर्मिभेद तथा कार्यकारण सम्बन्ध की आधारभूतता को स्वीकार करते हुए आत्म एवं अनात्म तत्त्वों के स्वरूपनिरूपण के लिये एक ही सामान्य पद्धतिपरक प्रारूप अपनाया। पदार्थों के स्तरीकरण की आवश्यकता की दृष्टि से उन्होंने

प्रथम स्तर के अधोभाग में नित्य द्रव्यों को, प्रथम स्तर के ऊर्ध्व भाग में आरम्भवाद के आधार पर घटपटादि उत्पन्नविनाशशील जन्य द्रव्यों को स्थान दिया तथा द्रव्याश्रित गुण एवं कर्मकोटि के पदार्थों को द्वितीय स्तर में रखा। अनुवृत्तिप्रत्यय के हेतु के रूप में द्रव्यगुणकर्मों से भिन्न तथा द्रव्यगुणकर्मनिष्ठ सामान्यधर्मरूपी पदार्थों के बिना तत्त्वमीमांसीय व्यवस्था सम्भव न होने से सामान्यों का पदार्थत्व स्वीकार करना आवश्यक था। महर्षि कणाद की दृष्टि से, केवल अनेकवृत्तिक धर्मों के द्वारा सजातीय नित्यद्रव्यों की कोटि में अनेकत्व की व्यवस्था सम्भव नहीं है। अनेक सजातीय नित्यद्रव्य स्वीकार करना भी आवश्यक है। अतः कणाद के लिये अन्त्यविशेष कोटि के पदार्थों को तन्त्र में स्थान देना आवश्यक था। भाव कार्य की उत्पत्ति आश्रय के बिना सम्भव नहीं है। अतः गुण, कर्म आदि आधेयभूत कार्यों का अपने आधारभूत धर्मियों के साथ अनागन्तुक सम्बन्ध के रूप में 'समवाय' पदार्थ को तन्त्र में स्थान देना भी आवश्यक था। *पदार्थधर्मसङ्ग्रह* (*प्रशस्तपादभाष्य*) ग्रन्थ में प्रशस्तपादाचार्य ने कणाद के तन्त्र को सुव्यवस्थित एवं विकसित रूप प्रदान किया। वैशेषिक तत्त्वमीमांसा का उत्तरोत्तर परिष्कार एवं विकास *पदार्थधर्मसङ्ग्रह* के टीकाकार व्योमशिवाचार्य, उदयन, श्रीधर एवं जगदीश के द्वारा यथाक्रम *व्योमवती*, *किरणावली*, *न्यायकन्दली* एवं *सूक्ति* ग्रन्थों में परिलक्षित होता है। वैशेषिक सिद्धान्तों के परिष्कार एवं विकास में *किरणावली* की टीका-परम्परा का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। श्रीवल्लभाचार्य की *न्यायलीलावती*, उस पर वर्धमानोपाध्याय का *प्रकाश*, शङ्करमिश्र का *कण्ठाभरण* तथा *प्रकाश* पर भगीरथ ठक्कुर की *विवृति* भी इस परिष्कार एवं विकास-प्रक्रिया में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। *वैशेषिकसूत्र* पर चन्द्रानन्दविरचित *वृत्ति*, शङ्करमिश्र की *उपस्कार* टीका तथा अज्ञातव्यक्तिकृत *व्याख्या* भी महत्त्वपूर्ण वैशेषिक ग्रन्थ हैं।

समृद्ध वैशेषिक-ग्रन्थपरम्परा में खण्डनमण्डनपरक विचारों में धीरे-धीरे परिष्कार, स्पष्टता और प्रौढता आने पर भी दार्शनिक चिन्तन का वातावरण पूर्णतया उन्मुक्त प्रतीत नहीं होता है। परम्परागत सिद्धान्तों की स्थापना की व्यग्रता तथा स्वसिद्धान्तहानि-दोष से बचने की आवश्यकता के कारण, वैशेषिक दार्शनिक, पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों को अनुभव एवं युक्ति की कसौटी पर परखने में कुछ सङ्कोच करते प्रतीत होते हैं।

२. दार्शनिक तन्त्रों के विकास में तन्त्र-केन्द्रित तथा विचारक-केन्द्रित विचारस्वातन्त्र्य की अपेक्षित भूमिकायें

सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन में विचारस्वातन्त्र्य तन्त्र-केन्द्रित है, न कि विचारक-केन्द्रित। प्रकरणों पर विचार के समय पूर्वपक्ष का खण्डन एवं स्वसिद्धान्तस्थापना की प्रक्रिया के अविभाज्य अङ्ग के रूप में नवीन शङ्काओं के उद्भावन, उनके समाधान, विषय तथा युक्तियों के निरन्तर परिष्कार के द्वारा दार्शनिक तन्त्रों का विकास होना दिखाई देता है। कुछ प्रकरणों पर विचार के समय एक ही तन्त्र अथवा समान तन्त्रों के विचारकों के मध्य मतभेद उभरकर आते हैं। तन्त्र की शाखाओं में मतभेदविषयक प्रकरणों का गाम्भीर्य एवं बहुलता विभाजन के लिये आधार प्रस्तुत करते हैं।

समान तन्त्र न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों के मध्य घनिष्ठ वैचारिक सम्बन्ध रहने पर भी, शब्द एवं उपमान प्रमाणों की स्वतन्त्रता आदि के विषय में मतभेद प्रारम्भ से ही रहा है। परवर्ती वैशेषिक दार्शनिक कणाद एवं प्रशस्तपाद द्वारा दी गयी पदार्थ-व्यवस्था को अपनाते हुए विचारों को आगे बढाते हैं। इसीलिये वैशेषिक दार्शनिक नियतपदार्थवादी कहलाते हैं। परन्तु आवश्यक होने पर नैयायिक वैशेषिक-तत्त्वमीमांसा में परिवर्तन करने में सङ्कोच नहीं करते हैं। उदाहरणस्वरूप वैशेषिकपरम्परा में अभाव के स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकृत होने से बहुत पहले ही गौतम एवं वात्स्यायन द्वारा उसकी वस्तुरूपता सिद्ध की जा चुकी थी।[६]

न्यायवैशेषिक परम्परा में भासर्वज्ञ ने पहली बार दृढ़ता के साथ विचारस्वातन्त्र्य के अधिकार की माँग की तथा उसका उपयोग किया।

---

६. "लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धिः" *न्यायसूत्र* २.२.८। इस सूत्र पर *भाष्य* में वात्स्यायन लिखते हैं– "तस्याभावस्य सिध्यति प्रमेयम्। कथम्? लक्षितेषु वासःसु अनुपादेयेषु, उपादेयानामलक्षितानामलक्षण-लक्षितत्वाल्लक्षणाभावेन लक्षितत्वात्। उभयसंनिधावलक्षितानि वासांस्यानयेति प्रयुक्तो येषु वासःसु लक्षणानि न भवन्ति तानि लक्षणाभावेन प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य चाऽऽनयति।" गौतममुनिप्रणीत *न्यायसूत्र*, वात्स्यायनकृत *भाष्य*, विश्वनाथभट्टाचार्यकृत *वृत्ति* सहित, आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावलिः ९१, पुणे, १९२३, पृ. १५३-१५४

अक्षपाद गौतम के प्रत्यक्षलक्षण सूत्र में 'अव्यपदेश्य' पद के प्रयोजन पर विचार करते हुए भासर्वज्ञ लिखते हैं कि "यह मानना आवश्यक है कि सूत्रकार के आदेश के भय से पदार्थ अपने-अपने धर्म नहीं छोड़ सकते हैं। बिना विचार किये यदि सूत्रकार के कथन को प्रमाण के रूप में मान लिया जाये तो परीक्षा-सूत्रों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है।"[७] उसी प्रकार, वेग की क्रियारूपता की सिद्धि के सन्दर्भ में वैशेषिक सूत्र-विरोध रूप शङ्का के उत्तर में उनका कहना है कि वचनमात्र के विरोध से वस्तुतः विरोध सिद्ध नहीं हो जाता है। इसलिये यथाश्रुत वाक्यों से जो अनुभव एवं युक्ति की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं, उनको अप्रमाण मानना दोषावह नहीं है।[८] विचारस्वातन्त्र्यविषयक भासर्वज्ञ के मत का यह स्वाभाविक निष्कर्ष है कि उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा रूपी सोपानत्रययुक्त शास्त्र की निर्माण-प्रक्रिया के परीक्षास्तर में अपने तन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के साथ विसङ्गत न होने की स्थिति में अनुभव तथा युक्ति के आधार पर अन्य तन्त्र के सिद्धान्त को भी अपनाया जा सकता है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा ने अपने सुदीर्घ इतिहास में दार्शनिकों के द्वारा तन्त्र-केन्द्रित विचारस्वातन्त्र्य के माध्यम से पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों का आदर तथा उनके वैचारिक संरक्षण के उत्तरदायित्व की माँग करते हुए, अनुशासित एवं सर्जनशील विचारों को प्रोत्साहित किया है। इस परम्परा ने श्रवण तथा मनन के आधार पर व्यक्ति के तन्त्र-चयन अधिकार का भी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप में सम्मान किया है।

सुविचारित रूप में वरण की गई दार्शनिक परम्परा के मञ्च पर वैचारिक निष्ठा के साथ, अनुशासित रूप में विचारों को आगे बढाने के ज्ञानमीमांसीय उत्तरदायित्व के बिना दार्शनिक और वैतण्डिक में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। अपने तन्त्र के पूर्वाचार्यों द्वारा सिद्धान्तित दार्शनिक

---

७. "...न खलु वै सूत्रकारनियोगभयात्पदार्थाः स्वधर्मं हातुमर्हन्ति। यदि चाविचारितमेव सूत्रकारवचः प्रमाणं परीक्षासूत्राणां तर्हि वैयर्थ्यं स्यात्।" भासर्वज्ञ, *न्यायभूषण*, स्वामी योगीन्द्रानन्द द्वारा सम्पादित, षड्दर्शनप्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९६८, पृ. ९८

८. "तस्माद् यथाश्रुतार्थानामेव येषां न्यायविरुद्धत्वं प्रतिभाति, तेषां वेदवाक्यानामिव केषाञ्चिद् वचनमात्रत्वेनाप्रामाण्यमुक्तमिति (न) दोषः।" *वही*, पृ. १६३

समस्याओं के समाधानों का परिष्कार एवं प्रतिपाद्यता की सभी सम्भावनाओं के मार्ग तय करने से पूर्व, प्रतिपक्षियों के विचार-चातुर्य एवं आडम्बर के दबाव में आकर अपने सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान करना, परम्परा के प्रति निष्ठाहीनता का परिचय देने के साथ-साथ अनुशासित विचार के उत्तरदायित्व को नकारना भी होगा। परन्तु, पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों का संरक्षण जब केवल आग्रहप्रेरित येन केन प्रकारेण स्थापना की औपचारिकता में सीमित होकर रह जाता है तब वह तन्त्र-विकास के मार्ग में अवरोधक का काम करने लगता है।

३. दार्शनिक तन्त्रों के व्यवस्थित विकास के लिये उनके आधारभूत सिद्धान्तों को व्यावर्तित करने की आवश्यकता

वस्तुतः, दार्शनिक तन्त्रों के व्यवस्थित विकास के लिये तन्त्र-केन्द्रित तथा विचारक-केन्द्रित विचार-स्वातन्त्र्य का समन्वय आवश्यक है। इस समन्वय के लिये दार्शनिकों द्वारा, अपने-अपने तन्त्र की आधारभूत पद्धतिमूलक, ज्ञानमीमांसीय, तत्त्वमीमांसीय एवं मूल्यमीमांसीय मान्यताओं को गौण सिद्धान्तों से व्यावर्तित करते हुए, उनके परस्पर सम्बन्धविषयक परिष्कृत विचारों की आधारभूमि को प्रस्तुत करना अपेक्षित है। किसी भी दार्शनिक तन्त्र की आधारभूत मान्यताओं का व्यावर्तनविषयक चिन्तन, उस तन्त्र की ग्रन्थपरम्परा के साथ घनिष्ठ परिचय के साथ-साथ उसके सिद्धान्तों के तन्त्र के निर्माण एवं विकास में ज्ञानमीमांसीय भूमिकाओं के प्रति वैचारिक संवेदनशीलता की अपेक्षा रखता है। आधारभूत सिद्धान्तों के विषय में स्पष्टता न रहने पर दार्शनिक चिन्तन व्यक्ति का अवदान मात्र रहकर तन्त्र की विकास-धारा से विच्छिन्न हो जाता है।

परम्परा के सभी विचारकों के द्वारा अङ्गीकृत होने मात्र से कोई सिद्धान्त आधारभूत सिद्धान्तकोटि में स्थान प्राप्त करने का दावेदार नहीं बन जाता है। आधारभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत होने के लिये तन्त्र में सर्वमान्यता आवश्यक होने पर भी पर्याप्त नहीं है। उदाहरणस्वरूप, ईश्वर का अस्तित्व न्यायवैशेषिक परम्परा में सर्वमान्य होने पर भी उसकी सैद्धान्तिक अपरिहार्यता तथा आधारभूतता विवादास्पद है। उसी प्रकार कर्मवाद, संसारवाद एवं नित्य द्रव्यों की तत्त्वमीमांसीय अपरिहार्यता सर्वमान्य होने पर भी उनकी आधारभूतता स्पष्ट नहीं है। कुछ विशेष स्थलों में सिद्धान्तों की आधारभूतता के विषय में विचारकों का मतभेद स्वाभाविक है।

दार्शनिक तन्त्रों का अपनी परिपोषक आध्यात्मिक परम्पराओं से अप्रभावित रहना व्यावहारिक नहीं है। अपनी परिपोषक आध्यात्मिक परम्पराओं की मूलभूत मान्यताओं को अपनाते हुए उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयास भी उनके लिये स्वाभाविक है। अतः किसी दार्शनिक तन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों को व्यावर्तित करते समय उस तन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों एवं उसकी परिपोषक आध्यात्मिक परम्परा के प्रभाव से उस तन्त्र में स्वीकृत सिद्धान्तों में अन्तर करना आवश्यक है।

सिद्धान्तों की आधारभूततविषयक निर्णय कुछ विशेष स्थलों में विवादास्पद होने पर भी अनेक स्थलों में निर्विवाद एवं सुस्पष्ट हैं। उदाहरणस्वरूप न्यायवैशेषिक दर्शन के दो सहस्र संवत्सर से अधिक इतिहास के सिंहावलोकन मात्र से उस तन्त्र के विकास में सविकल्पक प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता, प्रत्यभिज्ञा की प्रामाणिकता, सामान्य का पदार्थत्व एवं अवयव-अवयविभेदविषयक सिद्धान्तों की आधारभूत भूमिका स्पष्ट हो जाती है। इन सिद्धान्तों में से किसी एक के प्रत्याख्यान से तन्त्र की विलक्षणता नष्ट हो जाती है। इन चारों सिद्धान्तों की प्रामाणिकता अन्य आधारभूत सिद्धान्तों की अपेक्षा रखती है। दार्शनिक तन्त्रों के आधारभूत सिद्धान्तों के व्यावर्तन एवं व्यवस्थापन में, उनके स्तरीकरण की आवश्यकता होती है। न्यायवैशेषिक दर्शन के प्रथमस्तरीय आधारभूत सिद्धान्तों को प्रस्तुत ग्रन्थ के अगले दो अध्यायों में व्यवस्थित किया गया है।

***

द्वितीय अध्याय

न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत पद्धतिमूलक एवं ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त

न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत पद्धतिमूलक एवं ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों को पहचान कर उनकी अनुभवमूलकता तथा युक्तिसङ्गतता प्रतिपादित करने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है। किसी दार्शनिक तन्त्र की आधारभूत-सिद्धान्तविषयक समस्या, रेखागणित, सङ्ख्या अथवा समुच्चय शास्त्र आदि गणितशास्त्रीय शाखाओं के अनुरूप समस्याओं के सदृश होने पर भी विलक्षण है। दर्शन शास्त्र का सर्वतोमुखित्व ही इस विलक्षणता का स्रोत है। मानव जीवन के बौद्धिक, पुरुषार्थ एवं कर्ममीमांसीय पक्षों की परस्पर संवादिता तथा मानव व्यक्तित्व की एकात्मकता के लिये वैचारिक आधार प्रस्तुत करना दर्शन शास्त्र का विलक्षण उत्तरदायित्व है। मानव की अभिलाषा, प्रयोजन या पूर्वाग्रह के द्वारा जगत् के तथ्यातथ्य नियन्त्रित नहीं होते हैं। प्रत्येक शास्त्र का प्रारम्भ मानव जीवन अथवा विचार के क्षेत्र में कुछ विशेष प्रयोजनों से ही होता है। परन्तु शास्त्र का प्रयोजनविषयक विचार एवं शास्त्र में स्वीकार्य सिद्धान्तों की प्रामाणिकताविषयक विचार स्पष्टतया भिन्न प्रकार के हैं। वस्तुतः इस भेद के बिना शास्त्र निर्माण रूपी व्यापार, अपनी वैचारिक सार्थकता खो बैठता है। भारतीय वैचारिक परम्परा में

उपर्युक्त भेद का महत्त्व प्रारम्भ से ही पहचाना गया है। उदाहरणस्वरूप, महाभाष्यकार पतञ्जलि के व्याकरण शास्त्र की उपादेयताविषयक विचार एवं पाणिनीय व्याकरण में किसी विधि अथवा निषेध सूत्र का आवश्यकताविषयक विचार पूर्णतया भिन्न प्रकार के तथ्यों पर आश्रित रहते हैं। व्याकरण के विधि-निषेधादि नियमों की स्वीकार्यता, शिष्टप्रयोग, शास्त्र की आन्तरिक सङ्गति एवं लाघव आदि पर आश्रित रहती है। परन्तु व्याकरण शास्त्र के उपादेयताविषयक विचार, वेद को शुद्ध रूप में संरक्षित रखने की सांस्कृतिक आवश्यकता जैसे तथ्य का भी उपयोग करता है। पद्धतिमूलक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उपर्युक्त भेद को स्वीकार करने का अर्थ, दर्शन शास्त्र को मानव-जीवन के विभिन्न आयामों के सामञ्जस्य की रक्षा के प्रति निरन्तर संवेदनशील रहने के उत्तरदायित्व से मुक्त करना नहीं है। प्रस्तुत चर्चा में न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों की प्रामाणिकतासिद्धि की समस्या को इस दृष्टि से देखना आवश्यक है।

१. आधारभूत पद्धतिमूलक सिद्धान्त

१.१ लोकप्रतीति एवं शास्त्र

१.१.१ शास्त्रनिर्माण में अबाधित प्रतीति की भूमिका

शास्त्रकार लोक के अन्तर्गत होते हैं। अपने शास्त्र के निर्माण एवं विकास के समय उनको लोकप्रतीति के प्रति अपना ज्ञानमीमांसीय उत्तरदायित्व निभाना चाहिये। सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध तथ्यों का प्रत्याख्यान शास्त्रकार केवल प्रबल बाधक प्रमाण के आधार पर कर सकता है। उदाहरणस्वरूप पृथिवी सभी को समतल दिखाई देने पर भी बलवत्तर बाधक प्रमाण एवं युक्तियों के आधार पर खगोलशास्त्रियों के लिये सर्वलोकप्रतीति की भ्रमात्मकता स्वीकार करते हुए पृथिवी का वर्तुलाकारत्व सिद्ध करना आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः लोकप्रतीति की दासता में शास्त्रों का निर्माण एवं विकास सम्भव नहीं है। शास्त्रकार के ज्ञानमीमांसीय स्वातन्त्र्य के बिना वैचारिक विकास अवरुद्ध होना अवश्यम्भावी है, परन्तु शास्त्रकार का विचारस्वातन्त्र्य उसे लोकप्रतीति का अनादर करने की अनुमति नहीं देता है। लोकप्रतीति के अनावश्यक अनादर से शास्त्रकार धरती पर खड़े होने का स्थान ही खो बैठता है। सभी शास्त्रों के लिये लोकप्रतीति साधारण धरातल है, क्योंकि इसी धरातल पर सभी शास्त्रों का निर्माण प्रारम्भ होता है एवं उनके

बीच वैचारिक संवाद सम्भव होता है। वस्तुतः लोकप्रतीति कोई अविनश्वर तत्त्व नहीं है, क्योंकि शास्त्रों के विकास से वह प्रभावित एवं परिवर्तित होती रहती है।

न्यायवैशेषिक दार्शनिकों ने सर्वदा लोकप्रतीति का समादर करते हुए उसके प्रति अपनी संवेदनशीलता दिखाई है।[१] तन्त्र निर्माण में अनुभव की निर्णायक भूमिका को उन्होंने प्रारम्भ से ही स्वीकार किया है। इन्द्रियपरीक्षा प्रकरण में रश्मियों की प्रतिघात-अप्रतिघात विषयक चर्चा के प्रसङ्ग में न्यायसूत्रकार कहते हैं कि दृष्ट एवं अनुमित अर्थ अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा सिद्ध तथ्यों को शास्त्रकार अपने आदेश अथवा प्रतिषेध से अन्यथा नहीं कर सकता है।[२] न्यायभाष्यकार स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि रश्मियाँ किन वस्तुओं द्वारा प्रतिहत होती हैं एवं किनके द्वारा नहीं होती हैं– यह केवल उनके द्वारा व्यवहित पदार्थों के दिखाई न देने अथवा दिखाई देने के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है।[३]

पदार्थविषयक ज्ञान ही पदार्थ व्यवस्था का अन्तिम आधार है। अवयविपरीक्षा प्रकरण में वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि पदार्थ की तत्त्वमीमांसीय स्वीकार्यता

---

१. (क) 'यह वही आदमी है' इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञा रूपी अनुभव का मिथ्यात्व खण्डन करते हुए वाचस्पतिमिश्र लिखते हैं– "नासति बलवति बाधके प्रमाणे प्रत्यभिज्ञानस्य शक्यं मिथ्यात्वं, ज्वालादिषु तु तदस्तीत्यर्थः।" वाचस्पतिमिश्र, *न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका*, राजेश्वर शास्त्री द्राविड़ द्वारा सम्पादित, काशी, १९२५, पृ. ३६६

(ख) अवयविखण्डन का प्रत्युत्तर देते हुए भासर्वज्ञ लिखते हैं "सर्वलोक-व्यवहाराविसंवादिनी खलु एषा मम प्रतीतिः– बहुभिस्तन्तुभिरेकः पटो निष्पादित इति, कथं भ्रान्तिः स्यात्?" *न्यायभूषण*, पृ. १२२

२. "दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः।" *न्यायसूत्र*, ३.१.५०। इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए भाष्यकार लिखते हैं– "न खलु भोः परीक्षमाणेन दृष्टानुमिता अर्थाः शक्या नियोक्तुमेवं भवतेति। नापि प्रतिषेद्धुमेवं न भवतेति।" *वात्स्यायनभाष्य*, आनन्दाश्रम संस्करण, पृ. २१९

३. "प्रतिघाताप्रतिघातयोः हि उपलब्ध्यनुपलब्धी व्यवस्थापिके। व्यवहितानुपलब्ध्याऽनुमीयते कुड्यादिभिः प्रतिघातो। व्यवहितोपलब्ध्याऽनुमीयते काचाभ्रपटलादिभिरप्रतिघात इति।" *न्यायसूत्र* ३.१.५० पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. २२०

तद्विषयक ज्ञान पर ही आश्रित रहती है।[४] अवयविसिद्धि प्रसङ्ग में प्राभाकर मीमांसकों के पद्धतिमूलक पक्ष को स्पष्ट करते हुए शालिकनाथ कहते हैं कि अयौक्तिक अनुपपत्तियों के आधार पर अबाधितप्रत्यक्षविषय के वस्तुत्व को नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि कार्य की प्रतीति कारण की कल्पना की माँग करती है, न कि स्पष्ट रूप में प्रतीत कार्यपदार्थ कारण के निरूपण के अभाव में वस्तुत्व खो देता है।[५] न्यायवार्त्तिककार उद्द्योतकर सङ्घातवादी के अवयवी खण्डन के प्रत्युत्तर में कहते हैं कि घट पटादि स्थूल अवयवी द्रव्यों को, उनके कारण कपाल एवं तन्तु आदि से अर्थान्तर रूप में स्वीकार न करने पर, एकत्व के साथ-साथ द्वित्व, त्रित्व आदि अनेकत्व के अवान्तर भेद भी आधाररहित हो जाते हैं।[६] सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध एकत्व, द्वित्वादि का पदार्थत्व मर्यादारहित होकर अस्वीकार करने पर, समुच्चय प्रत्यय के लिये कोई भी स्थान नहीं रहता है।[७] संशयरूपी ज्ञान की

---

४. (क) "...संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्..." *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका*, पृ. ३९९।
इस प्रसङ्ग में प्रभाकर के अनुयायी शालिकनाथ का निम्नोद्धृत कथन भी समान आशय का है।
(ख) "संविदेव हि भगवती विषयसत्त्वोपगमे शरणम्। गवादिषु च स्थूलाकारावलम्बिनी संविदुदीयत इति निर्विवादम्।" शालिकनाथ, *प्रकरणपञ्चिका*, जयपुरीनारायणभट्टकृत *न्यायसिद्धि* संवलित, पण्डित अ. सुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा सम्पादित, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६१, पृ.७७
(ग) "तथाहि– "संविन्निष्ठा विषयव्यवस्थितयः" इति स्थितिरियमविवादा सर्ववादिनाम्। तदियमपि क्षणिकता भावस्य स्वभावभूता सती संवित्तिमधिरोहन्ती तदव्यतिरेकेण व्यवतिष्ठते, नाऽन्यथा।" *प्रकरणपञ्चिका*, पृ. ३६५

५. "न दृष्टे काचिदनुपपत्तिः। ननूक्ताऽवयविनोऽनुपपत्तिः आरम्भकाभावात्। अनुपपन्नेयमनुपपत्तिः; कार्यं प्रतीतं कारणकल्पनायां प्रमाणम्। न पुनः स्फुटावभासिकार्यं कारणाऽनिरूपणेऽपह्नवमर्हति, तेनावयवा एव समासादितसंयोगलक्षणसाधारणगुणा अवयविन उत्पादका भविष्यन्ति।" *प्रकरणपञ्चिका*, पृ. ७७-७८

६. "योऽवयविनमर्थान्तरं न प्रतिपद्यते तस्य यथैकप्रत्ययोऽनुपपन्नस्तथानेकप्रत्यया अपि न प्राप्नुवन्ति।" उद्द्योतकर, *न्यायवार्त्तिक*, विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित, ईष्टर्न बुक लिङ्कर्स पुनर्मुद्रण, नई दिल्ली, १९८६, पृ. २४७

७. "यः पुनरेकत्वं द्वित्वादीन् च न प्रतिपद्यते तस्य न समुच्चयो न समुच्चयनिवृत्तिः, अनभ्युपगतैकत्वस्य समुच्चयः कस्य? अनभ्युपगतद्वित्वस्य कस्य प्रतिषेधः?

सम्भावना को नकारने के पक्ष में दी गयी युक्तियों के उत्तर में भासर्वज्ञ कहते हैं कि अनध्यवसायरूपी ज्ञान का अनुभव सभी को होता है। संशय धर्मिविषयक है अथवा धर्मविषयक, संशय एक ज्ञान है अथवा अनेक ज्ञान, तात्त्विकविषयक है अथवा अतात्त्विकविषयक; इन सब विकल्पों से संशय की वास्तविकता को नकारा नहीं जा सकता है। प्रत्यक्षसिद्धभेद को अस्वीकार करने पर सुख एवं दुःख के भेद के लिये भी स्थान नहीं रहता है।[८]

१.१.२ यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय

तन्त्र के निर्माण एवं विकास में अनुभव की निर्णायक भूमिकाविषयक विचार प्रसङ्ग में महर्षि गौतम के *यथादर्शनन्याय* (*यथादर्शनमभ्यनुज्ञान्याय* या *यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय*) का उल्लेख एवं सङ्क्षिप्त विचार उपयोगी हैं। प्रमाणसामान्यपरीक्षा प्रकरण में ज्ञान के कारण एवं ज्ञान के विषयों के कालिक पूर्वापरत्व सम्बन्धविषयक पूर्वपक्षी की शङ्का के समाधान में न्यायभाष्यकार कहते हैं कि उपलब्धि के हेतु अर्थात् प्रमाण एवं उपलब्धि के विषय अर्थात् प्रमेय का पूर्वापर अथवा सहभावरूपी कोई सामान्य नियम न होने से अनुभव में जैसा देखा जाता है तद्नुसार विभाग की व्यवस्था करना आवश्यक है।[९] क्षणिकवादी के अनुसार, जिस प्रकार दीपशिखा एवं शरीर में निरन्तर उत्पत्ति एवं विनाश प्रक्रिया चलती रहती है उसी प्रकार स्फटिक में भी निरन्तर उत्पत्ति तथा विनाश होता रहता है। क्षणभङ्ग प्रकरण में न्यायसूत्रकार इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि शरीर की भाँति सभी द्रव्यों में धारावाहिक वृद्धि एवं ह्रास का प्रवाह होता है– ऐसा सामान्य नियम स्वीकार करने के लिये वस्तुतः कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसलिये

एकद्वित्वादीन् च अर्थान्तरभूताननभ्युपगच्छत एकं शतं एकं द्वित्वमिति एकप्रत्ययो न स्यात्।" *न्यायवार्त्तिक*, पृ. २४७

८. "सन्देहः खलु सर्वप्राणिनामनवधारणप्रत्ययात्मकत्वेन स्वात्मसंवेद्यः, स धर्मिविषयो वास्तु, धर्मविषयो वा, एकं वा ज्ञानं भवतु अनेकं वा, तात्त्विकातात्त्विकार्थविषयो वा, किमेभिर्विकल्पैरस्य वालाग्रमपि खण्डयितुं शक्यते? प्रत्यक्षसिद्धभेदस्य अपह्नवे हि सुखदुःखभेदस्य अपह्नवः स्यात्।" *न्यायभूषण*, पृ. २४

९. "उपलब्धिहेतोरुपलब्धिविषयस्य चार्थस्य पूर्वापरसहभावानियमाद् यथादर्शनं विभागवचनम्।" *न्यायसूत्र*, २.१.११ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. ९३

भिन्न-भिन्न स्थलों पर अनुभव के अनुसार क्षणिकत्व एवं अक्षणिकत्व धर्म स्वीकार करना आवश्यक है।[१०] सर्वानित्यत्वनिराकरण प्रकरण में भी न्यायसूत्रकार एवं भाष्यकार कहते हैं कि तत्त्वमीमांसा में नित्य पदार्थों को स्वीकार न करना युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि इस विषय में प्रमाणसिद्ध तथ्यों के अनुसार व्यवस्था करना आवश्यक है। जिसकी उत्पत्ति एवं विनाश अनुभवसिद्ध हैं उसका अनित्यत्व अवश्य स्वीकार्य है, परन्तु जिसकी उत्पत्ति एवं विनाश अनुभवसिद्ध नहीं हैं उसका नित्यत्व स्वीकार करना आवश्यक है।[११]

१.१.३ अन्यथा-अनुपपत्तिन्याय

जब अनुभव के क्षेत्रविशेष में किसी तथ्य की उपपत्ति, अनुभव के अन्य किसी क्षेत्र में प्रसिद्धतथ्यमूलक प्रारूप को अपनाने के बिना सम्भव नहीं होती है, तब अगत्या उस प्रारूप को स्वीकार करना आवश्यक होता है। उक्त पद्धतिमूलक नियम को *अन्यथा-अनुपपत्तिन्याय* नाम से अभिहित किया जा सकता है। न्यायवैशेषिक दार्शनिकों ने शब्दसञ्चरण की उपपत्ति के लिये उक्त न्याय का प्रयोग किया है। जलह्रदादि में उत्पत्तिस्थल से तटप्रदेश तक जलतरङ्गों का सञ्चरण वीचीसन्तान द्वारा सम्भव होता है। उत्पत्तिस्थल से श्रवणेन्द्रियप्रदेश तक शब्द का सञ्चरण अन्यथा अनुपपन्न होने के कारण वीचीसन्तान प्रारूप को अगत्या स्वीकार करना पड़ता है।

१.२ बौद्धिकता का स्वरूप

१.२.१ प्रयोजनवत्ता

न्यायवैशेषिक परम्परा में, क्रिया मात्र की एवं विशेष रूप से तन्त्र निर्माण एवं विकासरूपी वैचारिक क्रिया की प्रयोजनवत्ता, प्रारम्भ से ही

---

१०. "नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा।" *न्यायसूत्र* ३.२.१२ भाष्यकार उसको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं– "यत्र यत्रोपचयापचयप्रबन्धो दृश्यते तत्र तत्र व्यक्तीनामपरापरोत्पत्तिरुपचयापचयप्रबन्धदर्शनेनाभ्यनुज्ञायते यथा शरीरादिषु। यत्र यत्र न दृश्यते तत्र तत्र प्रत्याख्यायते यथा ग्रावप्रभृतिषु। स्फटिकेऽपि उपचयापचयप्रबन्धो न दृश्यते।" *वात्स्यायनभाष्य,* पृ. २४०

११. "नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धि व्यवस्थानात्।" *न्यायसूत्र,* ४.१.२८। उपर्युक्त सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए भाष्यकार लिखते हैं– "...नित्यस्य च प्रत्याख्यानमनुपपन्नम्। कस्मात्? यथोपलब्धि व्यवस्थानात्। यस्योत्पत्ति-विनाशधर्मकत्वमुपलभ्यते प्रमाणतस्तदनित्यम्। यस्य नोपलभ्यते तद्विपरीतम्।" *वात्स्यायनभाष्य,* पृ. २९७

स्वीकृत है। वस्तुतः यह एक सर्वतन्त्रस्वीकृत सिद्धान्त है। महर्षि गौतम का पदार्थ-परिगणन, कणाद के पदार्थ-परिगणन से भिन्न होने पर भी उसके प्रत्याख्यान पर आधारित नहीं है। गौतम का पदार्थ-विभाजन, प्रमाणशास्त्र की विशेष आवश्यकता की दृष्टि से किया गया है, जबकि कणाद का पदार्थ-विभाजन तत्त्वमीमांसा की आवश्यकता की दृष्टि से किया गया है। पुनश्च महर्षि गौतम का प्रमेय-विभाजन, मोक्षरूपी परम पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए अपरिहार्य सम्यक् ज्ञान के विषयों को ध्यान में रखकर किया गया है।[१२]

शास्त्रविशेषों के प्रयोजनविशेष एवं प्रकरणविशेष में विचारक के शास्त्रीय प्रयोजन को ध्यान में रखना आवश्यक है, अन्यथा शास्त्रीय विचार-प्रक्रिया, जीवन से विच्छिन्न होकर अपनी बौद्धिकता का आधार खो बैठती है। मानव के कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व के बीच सामञ्जस्य के आधार के रूप में बौद्धिकतारूपी तत्त्व को मानना आवश्यक है। प्रयोजनवत्ता इस आधार का एक अपरिहार्य घटक तत्त्व है।

१.२.२ व्याघातशून्यता

विसङ्गति का अभाव, बौद्धिकता का एक अन्य अपरिहार्य घटक तत्त्व है। न्यायवैशेषिक परम्परा में व्याघातशून्यता के तीन पक्ष स्वीकृत हुए परिलक्षित होते हैं– विरोधाभाव, स्ववचनव्याघाताभाव एवं स्वक्रियाव्याघाताभाव।

विरोधाभाव को औपचारिक अर्थात् *आकारमूलक-व्याघातशून्यता* कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप जब एक विचारक स्वयं के द्वारा अङ्गीकृत किसी एक सिद्धान्त के प्रतिषेध को भी अङ्गीकार कर लेता है, अथवा उसके साथ तर्कतः विसङ्गत किसी अन्य अभिकथन या सिद्धान्त को स्वीकार

---

१२. (क) "ज्ञातं सम्यगसम्यग् वा यन्मोक्षाय भवाय वा।
तत् प्रमेयमिहाभीष्टं न प्रमाणार्थमात्रकम्॥"
जयन्तभट्ट, *न्यायमञ्जरी,* चक्रधरविरचित *ग्रन्थिभङ्ग* व्याख्या सहित, तीन भाग में, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, वाराणसी, १९८२-१९८४, द्वितीय भाग, पृ. २००

(ख) "न प्रमेयपदं प्रमेयमात्रे वर्तते, किं तु यत्तत्त्वतो ज्ञायमानमपवर्गसाधनं तस्मिन्, तच्चात्माद्येव नान्यदिति..."
न्यायसूत्र १.१.९ का वार्त्तिक पर *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका,* पृ. २०८-२०९

करता है, तब उसका पक्ष परस्पर विरोध के कारण दोषग्रस्त हो जाता है।[१३] यदि कोई कहे कि 'मैं इस समय यहाँ पर नहीं हूँ' तब यह अभिकथन, *स्ववचनव्याघाती* है। परन्तु आकारपरक रूप में यह व्याघाती नहीं है, क्योंकि 'मैं' के स्थान पर 'वह' प्रतिस्थापित करके, 'हूँ' के स्थान पर 'है' रखने पर जो वाक्य प्राप्त होता है, वह अनिवार्य रूप में असत्य नहीं है। परन्तु तर्कतः व्याघाती वाक्य के सारे प्रतिस्थापन-उदाहरण भी व्याघाती होने से स्वतः असत्य होते हैं।[१४]

व्याघातशून्यता की अन्य एक अपरिहार्य माँग यह है कि शास्त्रकार अपने सैद्धान्तिक पक्ष एवं व्यावहारिक पक्ष में विरोध न आने दे। उदाहरणस्वरूप

---

१३. (क) "प्रतिषेधविध्योरेकत्रासम्भवात्" उदयनाचार्य, *न्यायकुसुमाञ्जलि,* हिन्दी व्याख्या सहित दुर्गाधर झा द्वारा सम्पादित, वाराणसी, १९७३, कारिका ३.८ की उदयनकृत व्याख्या, पृ. ३२४

(ख) प्रतिज्ञाविरोध तथा अपसिद्धान्त रूपी निग्रह स्थानों के लक्षण के लिये देखिये, *न्यायमञ्जरी,* तृतीय भाग, पृ. १८१, २००

(ग) भासर्वज्ञ प्रतिज्ञाविरोध का उदाहरण देते हुये लिखते हैं– "नास्त्येको भावः समूहे भावशब्दप्रयोगात्। न हि एकाभावे समूहः सम्भवति एकसमुच्चयो हि समूह इति" *न्यायभूषण,* पृ. ३६१

१४. (क) "अयं च व्याहतः कथमिति प्रत्यक्षादीनि च नार्थं साधयन्ति च यथेदं वस्तु नोपलभ्यते इति इदं च नोपलभ्यत इति व्याघातः।" *न्यायसूत्र,* २.१.११-१२ पर *न्यायवार्त्तिक,* पृ. १८९

(ख) वस्तुतः आकारमूलक व्याघात तथा स्ववचनव्याघात में भेद के प्रति न्यायवैशेषिक दार्शनिकों ने ध्यान नहीं दिया है। उदाहरणस्वरूप भासर्वज्ञ का निम्न कथन लिया जा सकता है– "परमाणोः षडंशतेति स्ववचनविरोधादयुक्तम्, माता मे वन्ध्येति यथा। यतो ह्यणुतरं नास्ति स परमाणुरुच्यते, तस्य कुतः षडंशता?" *न्यायभूषण,* पृ. १३१। उद्द्योतकर एवं भासर्वज्ञ के उदाहरणों को शब्दार्थपरक रूप में असत्य कहा जा सकता है। भासर्वज्ञ के दोनों उदाहरण एवं उद्द्योतकर का प्रत्यक्षविषयक उदाहरण आकारपरक रूप में भी व्याघाती हैं। परन्तु 'इदं नोपलभ्यते'– यह वाक्य स्ववचनविरोधी होने पर भी आकारपरक रूप में व्याघाती नहीं है। जब कोई व्यक्ति कहता है कि 'मैं पूर्णतया मूक हूँ' अथवा 'मैं केवल असत्य भाषण करता हूँ', तब स्ववचनव्याघात अवश्य होता है।

जो दार्शनिक औपचारिक रूप में, अनुमान प्रमाण को अस्वीकार करते हुए, दूसरों को समझाने हेतु निबन्ध एवं ग्रन्थ आदि की रचना करता है एवं शास्त्रीय संवाद आदि में भाग लेता है, वह स्वक्रियाव्याघात का दोषी है, क्योंकि अनुमानप्रमाण के बिना स्व से इतर व्यक्तियों का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। पर के सुख, दुःख एवं अभिप्राय आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं है। अतः जब भी कोई व्यक्ति अन्य किसी के दुःख निवारण के लिये, सुख के लिये अथवा अन्य किसी की इच्छा के अनुसार कार्य करता है, तो उसका वह व्यवहार स्पष्टतया अनुमान के प्रामाण्यनिषेध के साथ विसङ्गत है।[१५] यह विसङ्गति न तो स्ववचनव्याघातमूलक है, न हि आकारपरकव्याघातमूलक। इसे *स्वक्रियाव्याघात* कहा जा सकता है। जब कोई विचारक सभी प्रकार के प्रमाणों का प्रतिषेध करना चाहता है, तब उस प्रतिषेध को सिद्ध करने के लिए प्रमाण प्रस्तुत करते हुए अपनी वैचारिक क्रिया के द्वारा, वह विचारक अपनी ही प्रतिज्ञा का विरोध करने हेतु बाध्य हो जाता है।[१६]

---

१५ (क) "... शङ्काया व्याघातावधित्वात्। तदेव ह्याशङ्क्यते, यस्मिन्नाशङ्क्यमाने स्वक्रियाव्याघातादयो दोषा नावतरन्ति इति लोकमर्यादा।" *न्यायकुसुमाञ्जलि*, ३.६, पृ. ३११

(ख) "नाप्रत्यक्षं प्रमाणमस्तीत्यभ्युपगम्य परप्रत्यायनार्थं शास्त्रं प्रणयन् वाक्यं वोच्चारयन् स्वामेव प्रवृत्तिं स्ववाचा विडम्बयतीति अहो भद्रं पाण्डित्यमात्मनः प्रकटितवानिति।" *न्यायभूषण*, पृ. ८०

१६. (क) "सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः।" *न्यायसूत्र*, २.१.१३, पृ.९५

(ख) बाह्यार्थभङ्गनिराकरण प्रकरण में पूर्वपक्ष में स्वक्रियाव्याघात दोष दिखाते हुए भाष्यकार लिखते हैं– "यदि सर्वं नास्तीति प्रमाणमुपपद्यते सर्वं नास्तीति एतद्व्याहन्यते।" *न्यायसूत्र*, ४.२.२८ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ.३४१

(ग) भेद खण्डन के प्रत्युत्तर में भासर्वज्ञ उस खण्डन में निहित स्वक्रियाव्याघात स्पष्ट करते हुए लिखते हैं– "अविद्यानिबन्धनः सर्वोऽयं भेदप्रतिभास इत्यत्रापि प्रमाणं वक्तव्यम्। न हि वाङ्मात्रेण कस्यचिदर्थस्य सिद्धिः सर्ववादसिद्धिप्रसङ्गादित्युक्तम्। प्रमाणाभिधानेन च प्रतिपाद्यप्रतिपादकादि-भेदसिद्धिरपरिहार्येति।" *न्यायभूषण*, पृ. ५८०

१.२.३ लाघव

लोकव्यवहार तथा शास्त्र में गौरव का परिहार एवं लाघव का वरण, बौद्धिकता की दृष्टि से वाञ्छनीय है। जितने कम तत्त्वों से शास्त्रकार, शास्त्र प्रक्रिया का निर्वाह कर सके, उतना उत्तम है। जहाँ कम तत्त्वों के आधार पर प्रक्रियानिर्वाह सम्भव है, वहाँ अधिक तत्त्वों का आश्रय लेना पद्धतिमूलक दृष्टि से दोषावह है। उक्त पद्धतिमूलक आदर्श *लाघवन्याय* नाम से प्रसिद्ध है। लाघवन्याय की अनदेखी करते हुए सिद्धान्त निर्माण करने का अर्थ उसे गौरवदोषग्रस्त कराना है। वस्तुतः भारतीय दर्शन के सारे तन्त्र लाघव को पद्धतिमूलक आदर्श के रूप में स्वीकार करते हैं।[१७] उदाहरणस्वरूप प्रमाणों के प्रकारविषयक विवाद, मूलरूप में लाघव एवं पर्याप्तताविषयक विवाद हैं। पदार्थों का प्रकारविषयक विवाद भी, इसी प्रकार का विवाद है। एक निगमनात्मक तन्त्र, गौरवदोषग्रस्त होता है यदि उसके आधारभूत सिद्धान्त एवं न्याय, निगमनपरक आवश्यकता से अधिक होते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि शास्त्रनिर्माण प्रक्रिया के भिन्न-भिन्न स्तर होते हैं। अतः लाघवन्याय का उल्लङ्घन, जितने गहरे स्तर पर होता है, गौरवदोष की गम्भीरता उतनी ही अधिक होती हैं।

इस प्रसङ्ग में 'गौरवदोषाभास' का उल्लेख आवश्यक है। जहाँ पर आपाततः आवश्यकता से अधिक तत्त्वों को स्वीकार करना, शास्त्रप्रक्रिया निर्वाह की दृष्टि से, बाद में अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है, वहाँ वस्तुतः गौरवदोष नहीं होता है अपितु केवल उसका आभास ही होता है। उदाहरणस्वरूप कालिक पूर्वापरभाव तथा यौगपद्य का अनुभव न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में काल रूपी द्रव्यसिद्धि का आधार है। वर्णों का अनुक्रम विशेष पद है तथा पदों का अनुक्रम विशेष वाक्य है। क्रम का ज्ञान बाह्य इन्द्रिय से भी होता है। क्रिया के स्वरूप विवेचन में क्रम महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वस्तुतः कालिक पूर्वापरभाव क्रम का एक विशेष उदाहरण है। सङ्ख्याविषयक सिद्धान्तनिर्माण भी क्रमपदार्थ के बिना सम्भव नहीं है।

---

१७. "कल्पनालाघवं यत्र तं पक्षं रोचयामहे।
कल्पनागौरवं यत्र तं पक्षं न सहामहे॥"
नारायणद्वयीप्रणीत, *मानमेयोदय,* योगीन्द्रानन्दकृत हिन्दी व्याख्या संवलित, वाराणसी, १९७८, का प्रमेय खण्ड पृ. १५२ पर उद्धृत।

दर्शन तथा विज्ञान के भिन्न-भिन्न क्षेत्र में क्रमपदार्थ शास्त्रीय महत्त्व रखता है। क्रम का स्वरूप क्या है एवं क्रम स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार्य है या नहीं, यह विचारणीय है। यदि क्रम को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करने पर अथवा समुच्चय को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में लेकर क्रम को परिभाषित तत्त्व के रूप में प्राप्त करने से शास्त्र प्रक्रिया में सरलता लायी जा सकती है, तो इस प्रकार के अतिरिक्त पदार्थ को तन्त्र में स्थान देने पर केवल गौरवाभास होता है, गौरवदोष नहीं, क्योंकि एतादृश अतिरिक्त पदार्थविषयक मान्यता शास्त्र के निर्माण तथा विकास की दृष्टि से फलदायिका है।

१.२.४ मूलोच्छेदी अनवस्थापरिहार की आवश्यकता

निर्हेतुक उत्पत्ति तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से विसङ्गत है। अतः बीजाङ्कुरन्याय से उत्पन्न अनवस्था दोषावह नहीं होता है। परन्तु समवाय सम्बन्ध को उसके अनुयोगी एवं प्रतियोगी के साथ संसृष्ट करने के लिये अन्य दो सम्बन्धों की कल्पना करने पर जो अनवस्था उत्पन्न होती है वह व्यवस्था को नष्ट करने वाली अर्थात् मूलोच्छेदी होती है। अतः वहाँ पर समवाय को अपने सम्बन्धियों के साथ संसृष्ट करने के लिये स्वरूप सम्बन्ध स्वीकृत होते हैं। ज्ञान की ज्ञानान्तरवेद्यता के कारण उत्पन्न अनवस्था भी दोषावह नहीं होता है, क्योंकि ज्ञानान्तर से अविदित रह जाने पर ज्ञान अपने प्रमितित्व अथवा प्रमेयत्व को खो नहीं देता है।

१.२.५ विनिगमनाविरह

जहाँ दो तत्त्वों में से किसी एक को स्वीकार करने पर शास्त्रप्रक्रिया का निर्वाह हो जाता है परन्तु उन दोनों में से किसी एक को स्वीकार करने के पक्ष में अथवा एक को किसी विशेष पदार्थकोटि में अन्तर्भूत करने के लिये बलवत्तर युक्ति उपलब्ध नहीं है, वहाँ एक को छोड़कर दूसरे को स्वीकार करना अथवा उस विशेष पदार्थकोटि में अन्तर्भूत करना शास्त्रीय पक्षपात है। विनिगमना का अर्थ है– किसी एक पक्ष को स्वीकार करने के लिये युक्ति का उपलब्ध होना। जब ऐसी युक्ति उपलब्ध नहीं है, अर्थात् जब विनिगमना का अभाव है, तब दोनों ही तत्त्व समान रूप में ग्राह्य अथवा अग्राह्य हो जाते हैं। दो धर्म जब किसी एक धर्मी में रहते हैं तब वे *समानाधिकरण* कहलाते हैं। दो

समानाधिकरण धर्मों का परस्पर अत्यन्ताभाव के साथ समानाधिकरण होना *सङ्कर* कहलाता है। साङ्कर्य जातिबाधक रूप में अङ्गीकृत हुआ है, अर्थात् जब दो धर्मों का सङ्कर होता है तब उभय को जाति कोटि में नहीं रखा जा सकता है, परन्तु विनिगमना रहने पर उनमें से एक जाति के रूप में स्वीकृत होता है। साङ्कर्य के कारण तथा विनिगमना न रहने से भूतत्व एवं मूर्तत्व जाति के रूप में अस्वीकार्य हैं। साङ्कर्य रहने पर भी गन्धसमवायिकारणता-अवच्छेदकत्व रूपी विनिगमना के कारण पृथिवीत्व एवं इन्द्रियत्व धर्मों में से केवल पृथिवीत्व, जाति के रूप में स्वीकृत हुआ है। विनिगमनाविरह के अन्य एक उदाहरण के लिये *पदार्थतत्त्वनिरूपण* के कारणत्व प्रकरण में रघुनाथ शिरोमणि की, कारणत्व एवं कार्यत्व उभय को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करने के लिए, दी गई युक्ति द्रष्टव्य है।[१८]

१.३ शास्त्रनिर्माणपद्धति

प्रत्येक शास्त्र का अपना स्वकीय विषय होता है। स्वीय विषयभूत तत्त्वों के स्वरूप तथा उन तत्त्वों के परस्पर अनागन्तुक सम्बन्धों का निरूपण करना शास्त्र का ज्ञानमीमांसीय लक्ष्य होता है। प्रत्येक शास्त्र का ज्ञानमीमांसीय लक्ष्य उसके पुरुषार्थमीमांसीय लक्ष्य अर्थात् उसके प्रयोजन से भिन्न है। महर्षि गौतम न्यायदर्शन का निर्माण करते समय शास्त्र के ज्ञानमीमांसीय लक्ष्य की सिद्धि के लिए उद्देश, लक्षण एवं परीक्षारूपी तीन सोपान विशिष्ट पद्धति को अपनाते हैं।[१९] यद्यपि वात्स्यायन इस पद्धति को न्यायदर्शन

---

१८. (क) गोपीनाथ कविराज एवं पण्डित ढुण्डिराज शास्त्री द्वारा सम्पादित, प्रशस्तपादकृत *प्रशस्तपादभाष्य*, व्योमशिवाचार्यकृत *व्योमवती,* जगदीशकृत *सूक्ति* तथा पद्मनाभमिश्रकृत *सेतु,* चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९८३ का पृष्ठ १५६ पर *सेतु* द्रष्टव्य है।

(ख) रघुनाथशिरोमणि, *पदार्थतत्त्वनिरूपण,* विश्वम्भर पाहि एवं कुसुम जैन कृत हिन्दी भावानुवाद एवं रामभद्रसार्वभौमकृत *पदार्थतत्त्वविवेचनप्रकाश* नामक संस्कृत टीका सहित, राजस्थान विश्वविद्यालय भारतीय दर्शन अध्ययन माला का पञ्चम पुष्प, जयपुर, १९९७, पृ. ४१-४२

१९. "त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः, उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः। तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा।" *वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र,* १.१.३ का सम्बन्ध भाष्य, पृ. १४

के निर्माण के सन्दर्भ में ही स्पष्ट करते हैं, तथापि इसकी उपादेयता सभी शास्त्रों के लिये है।

पद्धति के '*उद्देश*' नामक प्रथम सोपान में शास्त्रकार अपने शास्त्र के विषयरूपी तत्त्वों से कुछ विशिष्ट तत्त्वों को चुनता है, एवं उन्हें परिगणित करता है। इस परिगणन के पीछे, शास्त्रकार का मूल उद्देश्य यह आश्वासन देना है कि परिगणित तत्त्वों के सम्यक् स्वरूपनिरूपण, वर्गीकरण तथा वर्गीकरण से प्राप्त तत्त्वों के स्वरूपनिरूपण के द्वारा शास्त्र के विषयभूत समस्त तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है।

शास्त्रनिर्माण पद्धति का द्वितीय सोपान '*लक्षण*' नाम से प्रसिद्ध है। इस सोपान में प्रथम सोपान के परिगणित तत्त्वों का स्वरूपनिरूपण किया जाता है। व्यावर्तक (व्यवच्छेदक) धर्म के द्वारा ही तत्त्वों का स्वरूपनिरूपण सम्भव है। विजातीय तथा सजातीय पदार्थों से व्यावर्तित करना ही व्यवच्छेदक धर्म का काम है। जिस पदार्थ का लक्षण दिया जाता है, वह *लक्ष्य* कहलाता है। जिस धर्म के द्वारा लक्ष्य की प्रारम्भिक पहचान होती है, वह *लक्ष्यता-अवच्छेदक धर्म*[२०] कहलाता है। उदाहरणस्वरूप वृत्ताकार का लक्षण देने से पहले हमें वृत्ताकारत्व का ज्ञान रहता है। वृत्तों को, खण्ड रेखाओं द्वारा आवृत्त त्रिभुज, चतुर्भुज, पञ्चभुज आदि आकार तथा वक्र रेखा द्वारा आवृत्त अण्डाकृति आदि वृत्तेतर रेखागणितीय आकारों से भिन्न रूप में पहचानने का हमारा व्यवहार जिस अव्याकृत वृत्ताकारत्व धर्म पर आश्रित रहता है, वह '*लक्ष्यता-अवच्छेदक धर्म*' है। किसी एक तल के एक स्थिर बिन्दु से उस तल पर समदूरवर्ती समस्त बिन्दुओं का सङ्घात वृत्त का शास्त्रीय लक्षण है। लक्ष्यता-अवच्छेदक धर्म के साथ समनियत (अन्योन्यव्याप्त) होना ही लक्षण का व्यवच्छेदक धर्म है।[२१]

लक्षण देने के साथ-साथ पदार्थ का विभाजन (प्रकार-भेद) करना भी शास्त्रकार के लिए आवश्यक होता है। उदाहरणस्वरूप प्रमाण का लक्षण

---

२०. "यद्धर्मावच्छिन्नं लक्ष्यं स धर्मो लक्ष्यतावच्छेदकः। यो धर्मो यस्यामवच्छेदकः सा तद्धर्मावच्छिन्नेति न्यायात्।" अन्नम्भट्ट *तर्कसङ्ग्रह*, गोवर्धन मिश्र की *न्यायबोधिनी*, *तर्कसङ्ग्रह दीपिका* तथा अन्य टीकाओं के साथ, चौखम्बा, वाराणसी, १९७६, देखिये *न्यायबोधिनी*, पृ. ८-१०

२१. (क) "लक्षणस्य लक्षणं तु लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वम्।" भीमाचार्य झलकिकर एवं वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, *न्यायकोश*, पुणे, १९२८, पृ.६९६

देने के साथ-साथ प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि में उसका प्रकार-भेद (विभाजन) करना पड़ता है। अतः यहाँ प्रमाणों के भिन्न-भिन्न प्रकारों का लक्षण देना भी आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार यह लक्षण एवं विभाजन की प्रक्रिया, निरन्तर रूप में चलती हुई परिमितसङ्ख्यक स्तर में एक वंशावली-तरु का रूप धारण करके समाप्त होती है।

उद्देश सोपान में परिगणित पदार्थों के लक्षण देने एवं प्रकारभेद करने की प्रक्रिया में शास्त्रकार को कुछ आनुषङ्गिक पदार्थों की सहायता लेनी पड़ती है। उदाहरणस्वरूप प्रमाण का लक्षण है– प्रमा का करण। अतः शास्त्रकार के लिए प्रमाण का लक्षण देने एवं विभाजन करने के उपरान्त, प्रमा एवं करण आदि आनुषङ्गिक पदार्थों का लक्षण तथा विभाजन करना पड़ता है। व्यापारवत्-असाधारण कारण होना ही करण का लक्षण है। अतः कारण एवं व्यापार आदि पदार्थों का लक्षण तथा प्रकारभेद करना भी आवश्यक होता है। अन्ततः यह प्रक्रिया परिमितसङ्ख्यक परस्परसंपृक्त परिमित वंशावली-तरु का रूप धारण करती है।

उपर्युक्त प्रक्रिया से प्राप्त मूल अथवा आनुषङ्गिक वंशावली-तरु की प्रत्येक ग्रन्थि (पर्वसन्धि) शास्त्र में स्वीकृत एक पदार्थ विशेष तथा उसके लक्षण का प्रतिनिधित्व करती है। स्वीय विषय क्षेत्र के सामान्यभूत तत्त्वों को पहचानना तथा उनके स्वरूप एवं परस्पर सम्बन्धों का निरूपण करना प्रत्येक शास्त्र का वैचारिक लक्ष्य होता है। शास्त्रनिर्माणपद्धति के लक्षण एवं विभाजनरूपी द्वितीय सोपान में प्राप्त विभिन्न पदार्थों तथा उनके लक्षणों के वंशावली-तरुओं के द्वारा शास्त्र के विषयभूत तत्त्वों के परस्पर घटक-घटित, व्याप्य-व्यापकत्वादि, सम्बन्ध निरूपित होते हैं।

शास्त्र निर्माण पद्धति का तृतीय सोपान '*परीक्षा*' नाम से जाना जाता है। यह सोपान शास्त्र के विकास की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण है। इस सोपान में शास्त्रकार के सामने दो मुख्य चुनौतियाँ होती हैं। प्रथमतः, शास्त्र के ज्ञानमीमांसीय लक्ष्य की दृष्टि से उद्देश सोपान के पदार्थ

(ख) "अत्र लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वं लक्ष्यतावच्छेदकव्याप्यत्वे सति लक्ष्यतावच्छेदकव्यापकत्वम्।" *तर्कसङ्ग्रहदीपिका* पर रायनरसिंह शास्त्री की *नृसिंहप्रकाशिका* टीका, *तर्कसङ्ग्रह* का पूर्वोक्त संस्करण, पृ. १२३। वहीं पर रामरुद्र के *रामरुद्रीय* पृ. १२२ पर भी द्रष्टव्य है।

परिगणन की पर्याप्तता तथा गौरवदोषशून्यता सिद्ध करना आवश्यक होता है। द्वितीयतः, प्रत्येक लक्षण की सर्वविधदोषशून्यता तथा भिन्न-भिन्न स्तर पर किये गये प्रकारभेद या विभाजनों की युक्तिसङ्गतता सिद्ध करना भी आवश्यक होता है। लक्षण को निर्दुष्ट सिद्ध करने का अर्थ उसे लक्ष्यतावच्छेदक धर्म के साथ समनियत सिद्ध करना है। जब लक्षण कुछ लक्ष्यों में रहने पर भी अन्य कुछ लक्ष्यों में नहीं रहता है, तब वह अव्याप्ति दोष से ग्रस्त होता है। अन्य शब्दों में, जब लक्षण तथा उसका अत्यन्ताभाव दोनों लक्ष्यतावच्छेदक धर्म के साथ समानाधिकरण होते हैं तब लक्षण में *अव्याप्ति दोष* होता है। जब लक्षण लक्ष्यतावच्छेदक धर्म के साथ समानाधिकरण होते हुए लक्ष्येतर पदार्थ में भी रहता है तब वह *अतिव्याप्ति दोष* से ग्रस्त होता है। लक्षण जब लक्ष्यतावच्छेदक धर्म के साथ असमानाधिकरण होता है तब वह *असम्भव दोष* से ग्रस्त कहलाता है।[२२] किसी पदार्थ के विभाग अर्थात् प्रकारभेद की परीक्षा में उसमें न्यूनता तथा गौरव का अभाव सिद्ध करना होता है। उदाहरणस्वरूप प्रमाणविभागविषयक शास्त्रीय विवाद में नैयायिकों के लिये, भाट्टमीमांसकों के द्वारा अङ्गीकृत अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि का स्वतन्त्र प्रमाणत्व खण्डन करना आवश्यक होता है। पुनश्च अपने प्रमाण विभाग में गौरवदोष नहीं है– यह सिद्ध करने के लिये अनुमान, शब्द तथा उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में सिद्ध करना उनके लिये आवश्यक हो जाता है।

परीक्षा रूपी तृतीय तथा चरम सोपान में तन्त्र की अन्तर्विरोधशून्यता सिद्ध करना शास्त्रकार का उत्तरदायित्व होता है। उदाहरणस्वरूप, धर्मधर्मिविश्लेषण पर आधारित न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा को विसङ्गत सिद्ध करने का अद्वैत वेदान्तियों का प्रयास तथा विशेष रूप से समवाय सम्बन्ध पर उनके प्रहारों को लिया जा सकता है। उसके प्रत्युत्तर में न्यायवैशेषिक दार्शनिकों के द्वारा धर्मधर्मिविषयक प्रतीतियों की प्रामाणिकता को सिद्ध करना तथा भेद के मिथ्यात्व खण्डन करना अपरिहार्य हो जाते हैं।

---

२२. "अतिव्याप्त्यव्याप्त्यसम्भवानां निष्कृष्टलक्षणन्तु– लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणत्वे सति लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदसामानाधिकरण्यमतिव्याप्तिः। लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणत्वे सति लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमव्याप्तिः। लक्ष्यतावच्छेदव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वमसम्भव इति।" गोवर्धनमिश्र, *न्यायबोधिनी*, पृ. १७

परीक्षा-सोपान का अनुभव ही शास्त्रविकास के दिशानिरूपण में निर्णायक भूमिका निभाता है। उद्देश-सोपान में प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर शास्त्रकार के द्वारा किया गया पदार्थपरिगणन अपर्याप्त सिद्ध होने पर परिगणन में परिवर्तन की आवश्यकता होती है। उदाहरणस्वरूप, वैशेषिक पदार्थव्यवस्था में सप्तम पदार्थ के रूप में अभाव का अन्ततः अङ्गीकृत होना। पदार्थ-विभाजन में अपर्याप्तता दूर करना भी स्थल विशेष में आवश्यक होता है। उदाहरणस्वरूप, महर्षि कणाद का गुण-विभाजन अपर्याप्त पाये जाने पर, प्रशस्तपाद के लिये सात अन्य गुणों को भी तन्त्र में स्थान देना आवश्यक हुआ। परीक्षा स्तर पर उभर कर आये दोषों के निराकरण के लिये ही लक्षणों का उत्तरोतर परिष्कार आवश्यक होता है।

२. आधारभूत ज्ञानमीमांसीय मान्यताएँ

२.१ ज्ञानानित्यतावाद

न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में ज्ञान को एक गुण के रूप में स्वीकार किया गया है। यह आत्मारूपी द्रव्य के नौ विशेष गुणों में से एक है। एक गुण को किसी द्रव्य का विशेष गुण कहने का आशय है कि वह केवल उस द्रव्य के सजातीय द्रव्य में रहता है एवं किसी विजातीय द्रव्य में नहीं रहता है। जो गुण केवल आत्मा में रहता है परन्तु आत्मेतर द्रव्यों में कभी नहीं रहता है वह आत्मा का विशेष गुण कहलाता है। ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार, सुख, दुःख, धर्म एवं अधर्म- ये नौ आत्मा के विशेष गुण हैं। जीवात्मानिष्ठ ज्ञानरूपी विशेष गुण अनित्य एवं केवल तीन क्षण स्थायी होता है।

ज्ञानानित्यताप्रकरण में भाष्यकार वात्स्यायन बुद्धि की अनित्यता सिद्ध करते हुए लिखते हैं कि बुद्धि की अनित्यता का अनुभव सभी व्यक्तियों को स्वात्म-संवेदन से होता है। 'मुझे अमुक विषय का ज्ञान हो रहा है, होगा या हुआ था' इस प्रकार का ज्ञान तो सभी को होता है। जिस पदार्थ की उत्पत्ति और विनाश नहीं होते हैं, उसके बारे में अतीत, अनागत एवं वर्तमान-विषयक (भोजनादि क्रिया जैसे) क्रिया का प्रयोग सम्भव नहीं है। अतः 'जानना' धातु के अतीत, वर्तमान एवं अनागत कालिक प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानरूपी भावकार्य वस्तुतः अनित्य है। घटपटादि इन्द्रियग्राह्य पदार्थविषयक ज्ञानों की उत्पत्ति क्रम से होती है- यह अनुभवसिद्ध है। शब्दसन्तान की तरह ही बुद्धिसन्तान भी ज्ञान का

विषय होता है।[२३] पुनश्च, सामग्रीविशेष से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। उदाहरणस्वरूप इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि से प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है एवं सभी भावकार्य विनाशी होते हैं। भिन्न-भिन्न ज्ञानों का विषय एक एवं साधारण हो सकता है, परन्तु विषयभेद रहने पर ज्ञानभेद अवश्यम्भावी है। धनुष से चलाये गये तीर के भूमि पर आपतन का प्रत्यक्ष अथवा सामान्य रूप में किसी भी क्रिया-सन्तान का प्रत्यक्ष, ज्ञान को मात्र त्रिक्षणस्थायी तत्त्व मानने के बिना उपपन्न नहीं होता है। क्षणिक क्रियाओं का अनुक्रमविशेष ही क्रिया-सन्तान है एवं अनुक्रमघटक क्रिया-व्यक्तियों के भेद से उनके प्रकाशक क्षणिक ज्ञानों का अनुक्रम रूपी ज्ञान-सन्तान स्वीकार करना भी आवश्यक है।[२४]

इस सन्दर्भ में यह भी द्रष्टव्य है कि न्यायवैशेषिक परम्परा में ज्ञान की फलस्वरूपता स्वीकृत हुई है। ज्ञान स्वयं क्रियास्वरूप नहीं है अपितु प्रमाण-व्यापार के फल के रूप में इसकी उत्पत्ति होती है। वैयाकरण एवं भाट्टमीमांसकों के मत में क्रिया प्रत्यक्षग्राह्य नहीं होती है, वह केवल अनुमान एवं शब्दादि प्रमाण से ही सिद्ध होती है। भाट्टमीमांसकों के मत में ज्ञान स्वयं क्रियास्वरूप है, न कि फलस्वरूप; यह मत न्यायवैशेषिक के दार्शनिकों को सर्वथा अस्वीकार्य है।[२५]

---

२३. (क) "सर्वशरीरिणां हि प्रत्यात्मवेदनीयाऽनित्या बुद्धिः सुखादिवत्। भवति च संविित्तिर्ज्ञास्यामि जानामि अज्ञासिषमिति। न चोपजनापायमन्तरेण त्रैकाल्यव्यक्तिः। ततश्च त्रैकाल्यव्यक्तेरनित्या बुद्धिरित्येतत् सिद्धम्।" *न्यायसूत्र*, ३.२.१ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. २३३-२३४

(ख) "क्रमेण हि इन्द्रियार्थेषु ज्ञानान्युपजायन्ते चापयन्ति चेति दृश्यते।" *न्यायसूत्र* ३.२.१० पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. २३९

(ग) "गृह्यते च बुद्धिसन्तानस्तत्र बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरं विरोधी गुण इत्यनुमीयते, यथा शब्दसन्ताने शब्दः शब्दान्तरविरोधीति।" *न्यायसूत्र* ३.२.२५ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. २४६

२४. "क्षिप्तस्येषोरापतनात् क्रियासन्तानो गृह्यते। प्रत्यर्थनियमाच्च बुद्धीनां क्रियासन्तानवद्बुद्धिसन्तानोपपत्तिरिति।" *न्यायसूत्र* ३.२.४३ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ.२६१

२५. "न हि क्रियास्वभावं ज्ञानमपि तु फलस्वभावमेव। अपि च क्रियाऽपि प्रत्यक्षद्रव्यवर्तिनी प्रत्यक्षैव।" *न्यायमञ्जरी*, प्रथम भाग, पृ. २८

२.२ ज्ञानसविषयतावाद

आत्मा के विशेष गुणों को दो कोटियों में बाँटा जा सकता है– सविषय एवं निर्विषय। आत्मा के कुछ विशेष गुणों का स्वरूप ही ऐसा है कि वे किसी न किसी पदार्थ को विषय के रूप में ग्रहण करके ही उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरणस्वरूप इच्छा का अवश्य कोई न कोई विषय होता है। भोजन की इच्छा स्वरूपतः शयन की इच्छा से विषयभेद के कारण भिन्न है। उसी प्रकार द्वेष, प्रयत्न एवं संस्कार भी सविषयक होते हैं। प्रथमतः ज्ञान का कोई न कोई विषय अवश्य होता है। घटज्ञान, पटज्ञान से विषयभेद के कारण भिन्न है। न्यायवैशेषिक दर्शन में निर्विषय ज्ञान सर्वथा अस्वीकार्य है। ज्ञान, स्वभाव से ही सविषय होता है।[२६] सुख, दुःख, धर्म व अधर्म आत्मा के विशेष गुण होने पर भी सविषय नहीं हैं। सुख, दुःख आदि के कारण अवश्य होते हैं किन्तु विषय नहीं होते। ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न एवं संस्काररूपी आत्मा के पाँच सविषयक गुणों में से ज्ञान की सविषयता मौलिक है, क्योंकि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न एवं संस्कार की सविषयता अन्तिम रूप में ज्ञान की सविषयता पर आश्रित होती है। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न एवं चेष्टा में क्रमशः कारण-कार्य सम्बन्ध रहता है। तद्विषयक इच्छा के प्रति तद्विषयक ज्ञान की कारणता अवश्य रहती है। संस्कार भी अनुभव से उत्पन्न होता है, जो सविषयक है। संस्कार को सविषयक न मानने पर उसके कार्य स्मृतिरूपी ज्ञान की सविषयता सम्बन्धी व्यवस्था नहीं हो पाती है।

२.३ ज्ञाननिराकारवाद

ज्ञान को साकार अथवा निराकार कहने पर तत्काल यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान की आकृति का स्वरूप क्या है? स्पष्टतया ज्ञान का आकार दैशिक आकृतियों से भिन्न है। शब्दों के द्वारा अभिलपित होने की योग्यता ज्ञान के स्वरूप में ही निहित है। ज्ञान का आकार, उसको अभिव्यक्त

---

२६. (क) "न चोपलम्भो निर्विषयोऽस्ति।" *न्यायसूत्र* २.१.३१ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. ११३

(ख) "न चाविषया काचिदुपलब्धिः। उपलब्धिसामर्थ्यात् कारणेन समानगुणं कार्यमुत्पद्यत इत्यनुमीयते स खलूपलब्धेर्विषय इति।" *न्यायसूत्र* ४.१.३२ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. २९८

करने वाले वाक्यरूपी शब्द के आकार द्वारा निरूपित होता है। अतः ज्ञान की आकार-विषयक समस्या वस्तुतः वाक्याकार की स्वरूप-विषयक समस्या ही है। सविकल्पक ज्ञान के विषय *विशेष्य, प्रकार* (*विशेषण*) एवं *संसर्ग* भेद से तीन कोटि के होते हैं। 'दण्डी पुरुषः' वाक्य द्वारा अभिव्यक्त विशिष्ट ज्ञान में पुरुष विशेष्य है, दण्ड प्रकार है, पुरुष एवं दण्ड के बीच एक विशेष प्रकार का संयोग ही सम्बन्ध है। दण्डनिष्ठ प्रकारता, दण्डत्व धर्म से अवच्छिन्न है। इसका आशय केवल इतना ही है कि चाहे वस्तुतः वह दण्ड बेंत का बना हो, बाँस, लकड़ी या लोहे का हो परन्तु दण्ड इस प्रकार के किसी धर्म से व्यावर्तित होकर ज्ञान में भासित नहीं हो रहा है। उसी प्रकार पुरुषनिष्ठ विशेष्यता केवल पुरुषत्व धर्म से ही अवच्छिन्न है, चाहे वास्तव में वह पुरुष वृद्ध हो या युवा, काला हो या गोरा। प्रकारता के दो अवच्छेदक होते हैं– एक धर्मविधया, दूसरा सम्बन्धविधया। दण्डनिष्ठ प्रकारता का धर्मविधया अवच्छेदक है, दण्डत्व एवं सम्बन्धविधया अवच्छेदक है, संयोग सम्बन्धविशेष। नव्यन्याय शैली में उपर्युक्त विशिष्ट ज्ञान का वर्णन करने के लिये इन सभी बातों को सङ्क्षेप में निम्न प्रकार से बताया जाता है– संयोगसम्बन्धावच्छिन्नदण्डत्वावच्छिन्नदण्डनिष्ठप्रकारतानिरूपितपुरुषत्वावच्छिन्नपुरुषनिष्ठविशेष्यताशालिज्ञानम्।

'रक्तदण्डवान् पुरुषः' वाक्य द्वारा अभिव्यक्त विशिष्ट ज्ञान में उपर्युक्त विशेष्य विशेषण भावों के अतिरिक्त रक्तरूप, दण्ड के प्रकार के रूप में भी भासित होता है। रक्तरूपनिष्ठ प्रकारता समवाय सम्बन्ध तथा रक्तत्व धर्म से अवच्छिन्न है एवं इस प्रकारता द्वारा दण्ड में एक विशेष्यता भी निरूपित होती है। दण्डनिष्ठ वह विशेष्यता पुरुषनिष्ठ विशेष्यता की अपेक्षा से गौण है एवं पुरुषनिष्ठ विशेष्यता मुख्य विशेष्यता है। उसी प्रकार दण्डनिष्ठ प्रकारता मुख्य प्रकारता है एवं रक्तरूपनिष्ठ प्रकारता गौण प्रकारता है। सविकल्पक ज्ञान का विशेष्य-संसर्ग-प्रकारमूलक विश्लेषण परिमितसङ्ख्यक सोपान में एक वंशावली तरु का रूप धारण करके समाप्त होता है। उपर्युक्त विशिष्ट ज्ञानों के विषय के रूप में दण्डत्व भासित होने पर भी दण्डत्व अन्य किसी धर्म से अवच्छिन्न होकर भासित नहीं होता है। दण्डत्व का यह भान *निरवच्छिन्न भान* कहा जाता है।

नव्यन्याय में केवल जाति एवं अखण्ड उपाधि का ही निरवच्छिन्न भान अङ्गीकृत है। निरवच्छिन्न भान स्वीकार न करने पर सविकल्पक विशिष्ट

ज्ञान के विशेष्य-संसर्ग-प्रकारमूलक विश्लेषण से प्राप्त वंशावलीतरु के अपरिमित होने की सम्भावना उपस्थित होती है, जो कि ज्ञानमीमांसा में अभीष्ट नहीं है। न्यायवैशेषिक दर्शन में ज्ञान स्वरूपतः एक निराकार पदार्थ के रूप में स्वीकृत है।[२७] स्वभावतः सविषयक होने पर भी ज्ञान स्वयं निराकार है। वह विषय के आकार को ही धारण कर लेता है। जिस प्रकार जल का स्वयं कोई आकार न होने पर भी घटस्थ जलपिण्ड घटाकार को धारण कर लेता है, उसी प्रकार ज्ञान स्वयं निराकार होने पर भी स्वविषय के आकार के कारण साकार भासित होता है। ज्ञान को अभिलपित करने वाले वाक्य का आकार, ज्ञान के विषय का ही आकार है, क्योंकि पदार्थ का स्वरूप धर्म, धर्मी एवं सम्बन्धरूपी तत्त्व-त्रय से निरूपित होता है। अन्य शब्दों में, ज्ञान का आकार जगन्निष्ठ ही है। अद्वैतवादी शङ्कर भी व्यावहारिक जगत् के व्यवस्था निर्माण के लिए, कर्म को पुरुषतन्त्र एवं ज्ञान को वस्तुतन्त्र तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। ज्ञान को वस्तुतन्त्र कहने का आशय है कि ज्ञान अपने विषय को निरूपित नहीं करता अपितु केवल प्रकाशित करता है।

ज्ञान को स्वरूपतः साकार मानने का अर्थ यह स्वीकार करना होगा कि ज्ञान ही जगत् के वैचित्र्य का स्रोत है। ज्ञान साकारवाद, ज्ञान की वस्तुतन्त्रता को नकारते हुए उसके स्वयंभूत्व एवं स्वातन्त्र्य के लिए आधार प्रस्तुत करता है। ज्ञान-साकारवाद को स्वीकार करने पर ज्ञान केवल स्वनिष्ठ धर्मों का ही प्रकाशक रह जायेगा। यह स्थिति ऐसे ही होगी जैसे कि जो गायक है, केवल वही श्रोता है।

---

२७. (क) "तस्मान्निराकारं ज्ञानमर्थमात्मनो भिन्नं गोचरयतीति वाच्यम्।" वाचस्पतिमिश्र, *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका*, राजेश्वरशास्त्री द्राविड द्वारा सम्पादित, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला - २४, वाराणसी, १९२५, पृ. १५३

(ख) "तदेवं शाक्योक्तयुक्तिकौशलदौर्बल्यात् सर्वत्र विच्छेदप्रतिभासात् स्वच्छात्मनश्च ज्ञानस्य स्वतो विचित्रत्वानुपपत्तेरर्थस्यैवायमाकार इति सिद्धम्।" *न्यायमञ्जरी*, तृतीय भाग, पृ. ५७

(ग) "निराकारत्वाद्बुद्धीनां विषयकृत एव विशेषः।" भगीरथ ठक्कुर, *आत्मतत्त्वविवेकप्रकाशिका*, पृ. ५२३। देखिये उदयनाचार्य, *आत्मतत्त्वविवेक*, एसियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९८६

ज्ञान स्वयं एक प्रमेय होने से उसके धर्म, घट, पट आदि के धर्मों के समान ज्ञान के द्वारा ही प्रकाशित होते हैं। अन्य शब्दों में, एक ज्ञान भी अन्य ज्ञान का विषय होने की योग्यता रखता है। ज्ञान-साकारवाद यदि केवल यह दावा करता कि 'प्रत्येक ज्ञान स्वयं के सारे धर्मों को प्रकाशित करता है' तब वह दावा असत्य होने पर भी इतना आपत्तिजनक नहीं होता जितना कि इस दावे से कि ज्ञान में ज्ञानेतर एवं ज्ञानधर्मेतर पदार्थों को प्रकाशित करने की योग्यता का अभाव है। ज्ञान-साकारवाद वस्तुतः ज्ञानेतर पदार्थों के लिए तत्त्वमीमांसा में स्थान प्राप्त करने के लिए कोई सम्भावना नहीं रहने देता है।

२.४ ज्ञानपरप्रकाशवाद

ज्ञान सदैव अपने विषय को प्रकाशित करता है। अब विचार का विषय यह है कि ज्ञान का विषय, उस ज्ञान से भिन्न एवं स्वतन्त्र है अथवा ज्ञान केवल स्वयं को या स्वयं के धर्मों को ही विषय के रूप में प्रकाशित करता है। ज्ञान परप्रकाशवाद के अनुसार ज्ञान का स्वविषय के साथ सर्वदा भेद सम्बन्ध ही होता है। उदाहरणस्वरूप, सूर्योदयदर्शनरूपी चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय सूर्योदय, उक्त चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत अर्थात् प्रकाशित होने पर भी स्पष्टतः उससे भिन्न है। ज्ञानस्वप्रकाशवाद के अनुसार जिस प्रकार एक दीपक घट आदि विषयों को प्रकाशित करने के साथ-साथ अपने को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान स्वविषय को प्रकाशित करने के साथ-साथ स्वयं को भी प्रकाशित करता है। जिस प्रकार एक दीपक स्वयं प्रकाशित होने के लिए अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं रखता है, उसी प्रकार ज्ञान स्वयं को प्रकाशित करने के लिए ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रखता है। अन्य शब्दों में, ज्ञान सर्वदा स्वसंवेद्य है। ज्ञानस्वप्रकाशवाद के अनुसार ज्ञान की स्वसंवेद्यता स्वीकार न करने पर अर्थात् ज्ञान को नियमतः ज्ञानान्तरवेद्य मानने पर, द्वितीय ज्ञान भी ज्ञानान्तरवेद्य होने के कारण अनवस्थादोष का प्रसङ्ग उठता है, फलतः ज्ञान अन्ततः अज्ञेय रह जाता है। परन्तु ज्ञान का अपरोक्षत्व सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है।

ज्ञान स्वप्रकाशत्व का वस्तुतः अर्थ क्या है? मान लिया जाये कि प्रत्येक ज्ञान स्वयं के सारे धर्मों को विषय के रूप में प्रकाशित करता है। परन्तु ज्ञान अपने विषय को ही प्रकाशित करता है, न कि स्व

के विषयताविशिष्ट होने के धर्म को अथवा अपनी जनकसामग्री को। श्रावणप्रत्यक्ष में शब्द प्रकाशित होता है, न कि श्रवणेन्द्रिय अथवा श्रवणेन्द्रिय एवं शब्द के सन्निकर्ष रूपी व्यापार भी। कोई भी ज्ञान स्वयं के सारे धर्मों को प्रकाशित करने में सक्षम नहीं है। घटविषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष, घट को विषय के रूप में प्रकाशित करता है, न कि स्वयं के चाक्षुष प्रत्यक्षत्व को।[२८] ज्ञान कभी स्वयं को उत्पन्न करने वाली कारण सामग्री को प्रकाशित नहीं करता है, केवल अपने विषय को ही प्रकाशित करता है। प्रत्येक ज्ञान की कारणसामग्री ज्ञानान्तर से ही वेद्य होती है। उसी प्रकार ज्ञान की अनित्यता, सविषयता एवं निराकारत्वादि धर्म ज्ञानान्तरवेद्य होते हैं। ज्ञाननिष्ठ प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व एवं शाब्दत्वादि धर्मों का ज्ञानान्तरवेद्यत्व लोकप्रतीतिसिद्ध है।[२९]

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन, कारक सिद्धान्त के आधार पर आत्मा की प्रमातृत्व एवं प्रमेयत्व भूमिकाओं में भेद करते हैं। उसी प्रकार ज्ञान की करण तथा कर्मरूपी भूमिका के आधार पर भाष्यकार उसे यथाक्रम प्रमाण एवं प्रमेय के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जब ज्ञान अन्य ज्ञान के साधन अथवा कर्म की भूमिका नहीं अपनाता है, तब वह केवल प्रकाशक रह जाता है, एवं प्रमिति नाम से अभिहित होता है।[३०]

---

२८. ''चक्षुर्जन्यः प्रकाशो नाम ज्ञानमुच्यते, स तु प्रकाशो रूपादिविषयप्रकाशो न प्रकाशप्रकाशः। न हि चक्षुषा प्रकाशः प्रकाश्यतेऽपि तु रूपं प्रकाश्यते। तत्र यद्रूपमित्युच्यते स विषयो ग्राह्यः। यत् तत् प्रकाशते इत्युच्यते स प्रकाशो ज्ञानं ग्राहकम्। तदुत्पत्तिमात्रेण च रूपं प्रकाशितं भवति न प्रकाशो ग्रहणमपेक्षते।'' *न्यायमञ्जरी,* तृतीय भाग, पृ. ५०

२९. ''प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि उपलब्धिहेतुत्वात्, प्रमेयं चोपलब्धिविषयत्वात्। संवेद्यानि च प्रत्यक्षादीनि प्रत्यक्षेणोपलभेऽनुमानेनोपलभ उपमानेनोपलभ आगमेनोपलभे प्रत्यक्षं मे ज्ञानमानुमानिकं मे ज्ञानमौपमानिकं मे ज्ञानमागमिकं मे ज्ञानमिति विशेषा गृह्यन्ते।'' *न्यायसूत्र* २.१.१६ पर *वात्स्यायनभाष्य,* पृ.१०१

३०. ''आत्मा तावदुपलब्धिविषयत्वात् प्रमेये परिपठितः। उपलब्धौ स्वातन्त्र्यात् प्रमाता। बुद्धिरुपलब्धिसाधनत्वात् प्रमाणम्। उपलब्धिविषयत्वात् प्रमेयम्। उभयाभावात्तु प्रमितिः। एवमर्थविशेषे समाख्यासमावेशो योज्यः।'' *न्यायसूत्र* २.१.१६ पर *वात्स्यायनभाष्य,* पृ. ९८

लोकव्यवहार तथा प्रमाणमीमांसीय व्यवस्था के लिए एक व्यक्ति में अपरव्यक्तिनिष्ठ इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख एवं ज्ञानादिविषयक ज्ञान को स्वीकार करना आवश्यक है। अपरनिष्ठ ज्ञान, इच्छा आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं है, अतः वहाँ पर ज्ञान के ज्ञानान्तरवेद्यत्व को स्वीकार करना अपरिहार्य है। ज्ञान स्वप्रकाशवादी की यह शङ्का कि ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य स्वीकार करने पर प्रकाशस्वभाव ज्ञान एवं घट, पट आदि जड़ वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा, वस्तुतः निराधार है, क्योंकि स्वप्रकाशवादी के लिये भी परनिष्ठज्ञान की ज्ञानान्तरवेद्यता स्वीकार करना आवश्यक है।[३१] अब यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान को स्वसंवेद्य स्वीकार करने पर शास्त्रीय व्यवस्था निर्माण की दृष्टि से क्या लाभ अथवा क्षति होती है?[३२] ज्ञान यदि स्वयं को प्रकाशित करता है तब वह स्वयं के कौनसे धर्मों को प्रकाशित करता है जो प्रमाणमीमांसा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं?

ज्ञानमीमांसा के निर्माण की दृष्टि से ज्ञान के उत्पत्ति पक्ष एवं विषय पक्ष ही महत्त्वपूर्ण हैं। यह स्पष्ट है कि ज्ञानजनक सामग्रियों (प्रत्यक्ष, अनुमानादि) की भेदव्यवस्था तथा ज्ञानाकार-भेद की व्यवस्था, ज्ञान परप्रकाशत्ववाद के बिना सम्भव नहीं है। 'पुरुष एवं दण्ड' तथा 'दण्डी पुरुष' इन दोनों ज्ञानों में आकारभेदविषयक ज्ञान उन दोनों ज्ञानों से स्पष्टतया भिन्न है। वाक्य का आकार, वाक्य के विषयरूपी पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञापक है, परन्तु वह आकार स्वयं उस वाक्य का विषय नहीं होता है। विशेष्य, प्रकार एवं संसर्ग के शृङ्खलारूपी एक ज्ञानविशेष का आकार स्वयं उस ज्ञान के विषय के रूप में भासित नहीं होता है। ज्ञान का आकार केवल उस ज्ञान में भासित विषयरूपी पदार्थों के परस्पर विशेष्य-विशेषणभावापन्नता को ज्ञापित कराता है। अतः यह स्पष्ट है कि ज्ञान की स्वप्रकाशता स्वीकार करने पर भी ज्ञान के आकारादि धर्मों की ज्ञानान्तरवेद्यता की अपरिहार्यता बनी रहती है।

---

३१. "ननु ज्ञेयत्वे विज्ञानस्य घटादिवज्जडत्वं प्रसज्येत इति चेत्, न स्वप्रकाशपक्षेऽपि परगतस्य ज्ञानस्य चेष्टालिङ्गकानुमानगम्यत्वेन जडत्वप्रसङ्गस्य तादवस्थ्यात्। ततो न धीकर्मत्वमात्रेण जडत्वसिद्धिर्ज्ञानस्यान्यस्य वा।" *मानमेयोदय*, पृ. २३६-२३७

३२. भासर्वज्ञ यहाँ पर सावधान करते हुए लिखते हैं– "तदेवं ग्राह्यग्राहकयोर्भेदं निराकुर्वाणेनाद्वैतमेवाभ्युपगन्तव्यम्" *न्यायभूषण*, पृ. १४२

उपर्युक्त विचार से यह सिद्ध होता है कि शास्त्रीय व्यवस्था निर्माण की दृष्टि से ज्ञान स्वप्रकाशवाद की उपयोगिता नगण्य है। प्रत्येक ज्ञान में केवल उसका विषय ही भासित होता है, न कि वह ज्ञान स्वयं। ज्ञानस्वप्रकाशवादियों की यह शङ्का कि ज्ञान की स्वसंवेद्यता स्वीकार न करने का अर्थ उसकी विलक्षणता को नकारना है वस्तुतः निराधार है। काणादीय परम्परा में ज्ञान तथा ज्ञानेतर पदार्थों का स्वरूप निरूपण धर्मधर्मिभेदमूलक एक ही प्रारूप के द्वारा करना आवश्यक है। परन्तु इसका अर्थ ज्ञान का ज्ञानेतर पदार्थों से भेद अथवा ज्ञान की विलक्षणता को नकारना नहीं है। ज्ञान की सविषयता को स्वीकारने एवं इच्छा, प्रयत्नादि की अपेक्षा से उसकी विषयता की मुख्यता को स्वीकार करने तथा उसके परप्रकाशत्व को स्वीकार करने का अर्थ ज्ञान की विलक्षणता के शास्त्रीय महत्त्व को स्वीकार करना ही है।

२.५ प्रमाणसम्प्लववाद

एकाधिक प्रमाणों के द्वारा एक ही विषय के ज्ञान की सम्भावना को स्वीकार करना *प्रमाण-सम्प्लव* नाम से प्रसिद्ध है।[३३] न्यायवैशेषिक दर्शन में प्रारम्भ से ही प्रमाणसम्प्लव अङ्गीकृत हुआ है। भाष्यकार वात्स्यायन[३४] कहते हैं कि जब कोई व्यक्ति आप्त वाक्य से देश विशेष में अग्नि होने के ज्ञान के अनन्तर उस देश के प्रति अग्रसर होता है एवं धूम दर्शन से 'वहाँ पर अग्नि है' यह अनुमान से जानता है तथा तदनन्तर वहाँ पहुँचकर प्रत्यक्ष से अग्नि होने का ज्ञान प्राप्त करता है, तब तीन भिन्न-भिन्न प्रमाणों से एक ही वह्नि का ज्ञान होता है। प्रमाण भेद से वह्निपिण्ड भिन्न नहीं हो जाता है। जब कोई व्यक्ति छात्रावस्था में प्रामाणिक ग्रन्थों से 'पूर्वी समुद्र तट पर कोणार्क में सूर्यमन्दिर है'– यह जानता है एवं कुछ वर्षों के बाद प्रत्यक्ष से कोणार्क में सूर्यमन्दिर देखता है, तब एक ही सूर्यमन्दिर दोनों ज्ञानों के साधारण विषय के रूप में रहता है– यह स्वीकार करना आवश्यक है। पृथिवी वर्तुलाकार है यह

---

३३. "एकस्मिन् विषयेऽनेकप्रमाणप्रवृत्तिः सम्प्लवः।" *न्यायमञ्जरी,* प्रथम भाग, पृ.४५

३४. "अग्निराप्तोपदेशात् प्रतीयते 'अत्राग्निः' इति। प्रत्यासीदता धूमदर्शनेनानुमीयते, प्रत्यासन्नेन च प्रत्यक्षत उपलभ्यते।" *न्यायसूत्र* १.१.३ पर *वात्स्यायनभाष्य,* पृ. १५

ज्ञान भिन्न-भिन्न अनुमान प्रमाणों से प्राप्त करने के बाद जब एक व्यक्ति अन्तःखगोलपिण्डीय यान से प्रत्यक्ष से पृथिवी का वर्तुलाकार होना देखता है तब दोनों प्रकारों के ज्ञानों में एक ही पृथिवी, धर्मी के रूप में ज्ञात होती है। यह अवश्य सत्य है कि पर्वत में धूम दर्शन से वहाँ पर जो वह्नि का ज्ञान होता है वह केवल वह्नित्व धर्म से अवच्छिन्न वह्निपिण्ड मात्र का ज्ञान है, न कि उस वह्निपिण्ड के विशेष प्रकार के इन्धनजन्यत्वादि धर्मों से विशिष्ट होने का ज्ञान, जो प्रत्यक्ष से सम्भव होता है। धर्मिनिष्ठ विषयता की अपेक्षा से ही प्रमाण-सम्प्लव अभिप्रेत है।[३५] एक ही वृक्ष को दूर से देखकर केवल वृक्ष के रूप में ज्ञान होता है एवं पास आने पर वह आम का पेड़ है यह पता लगता है। परन्तु उपर्युक्त दो प्रत्यक्ष ज्ञान का विशेष्य 'न हि विशिष्टः शुद्धादतिरिच्यते' न्याय से एक है, यह अस्वीकार करना सर्वलोकप्रतीतिविरुद्ध होगा। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रमाणजन्य ज्ञानों में धर्मी (विशेष्य) स्थलविशेष में अभिन्न होते हैं यह स्वीकार करना आवश्यक है।

प्रमाण-सम्प्लववाद का प्रतिपक्ष *प्रमाण-व्यवस्थावाद* नाम से जाना जाता है। बौद्ध परम्परा में इस मत को स्वलक्षण, सामान्यलक्षण भेद से दो प्रकार के प्रमेयविषयक सिद्धान्त से प्रबल समर्थन प्राप्त हुआ है। इस मत में प्रमेय-द्वैविध्य से प्रमाण-द्वैविध्य तथा प्रमाण-व्यवस्था सिद्ध होते हैं। स्वलक्षण केवल प्रत्यक्ष का विषय होने से तथा सामान्यलक्षण केवल अनुमान का विषय होने से वहाँ प्रमाणसम्प्लव सम्भव नहीं है।

न्यायवैशेषिक परम्परा में सामान्य धर्म से, विशेष धर्म से तथा सामान्य विशेष धर्म से विशिष्ट धर्मिभेद से तीन प्रकार के प्रमेय स्वीकृत हैं।[३६] वृक्षत्वरूपी सामान्य तथा शिंशपात्वरूपी विशेष धर्मों को निर्विकल्पक प्रत्यक्षग्राह्य तत्त्वों से विच्छिन्न करके विकल्प मात्र कोटि में रखना अनुभव एवं युक्ति विरोधी है। प्रमाण-व्यवस्थावाद के पक्ष से यह युक्ति दी जाती है कि यदि प्रत्यक्ष का विषय अनुमान एवं शब्द का भी विषय होता

---

३५. "कथं तर्हि तेषां सम्प्लवः, सर्वत्र विषयभेदस्य दर्शितत्वात्? सत्यम्, धर्म्यभिप्रायेण सम्प्लवः कथ्यते।" *न्यायमञ्जरी,* प्रथम भाग, पृ. ५२

३६. "प्रमाणानि तावच्चत्वारि, विषयः सामान्यविशेषतद्वद्भेदात् त्रेधा।" *न्यायवार्त्तिक,* उपोद्घात, पृ. ५

तो अनुमिति एवं शाब्दज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान सदृश होते। परन्तु प्रत्यक्ष से शहद का मधुररसानुभव एवं 'शहद मधुर है' यह वाक्य सुनने पर जो ज्ञान होता है वे परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं। वस्तुतः यह युक्ति 'विषय' शब्द के परिष्कार के अभाव से ही अकाट्य प्रतीत होती है। दोनों ज्ञान 'शहद' शब्द से अभिहित पदार्थविशेष्यक हैं अन्यथा वे घट पट विषयक प्रतीति जैसे भिन्न विशेष्यक होते। 'मधुर' शब्द के श्रवण से केवल मधुरत्वरूपी शक्यतावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न मधुर रसरूपी धर्म का शाब्दबोध होता है। शाब्दज्ञान की कारणसामग्री प्रत्यक्ष की कारणसामग्री से भिन्न है। शहद एवं रसनेन्द्रिय के सन्निकर्ष से जो मधुररसानुभव होता है वह गुड़ आदि के मधुररसानुभव से भिन्न तथा विलक्षण है। परन्तु इससे यह फलित नहीं होता है कि रसनेन्द्रिय ग्राह्य शहद का विलक्षण मधुर रस मधुरशब्दवाच्य नहीं है। वृक्ष शब्द के द्वारा शिंशपा तथा विजातीय सभी वृक्ष अभिहित होते हैं। न्यायवार्त्तिककार उद्द्योतकर स्वीकार करते हैं[३७] कि प्रत्यक्ष द्वारा अर्थ की प्रतीति जिन विशेष्यताओं के साथ होती है ऐसी प्रतीति अनुमान अथवा शब्द से नहीं होती है। परन्तु प्रत्यक्ष में जो वह्नि पिण्डरूपी धर्मी बहुविध विशेषताओं से मण्डित होकर भासित होता है वह शब्द एवं अनुमान के द्वारा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के अभाव में केवल वह्नित्वरूपी सामान्य धर्म से अवच्छिन्न होकर भासित होता है।

न्यायवैशेषिक दार्शनिक कुछ विशेष प्रमेय के स्थलों में– जैसा कि अग्निहोत्रादि के स्वर्गसाधनत्वविषयक ज्ञानादिविषय में प्रमाणव्यवस्था स्वीकार करते हैं। सम्भवतः प्रमाण-सम्प्लववाद को सङ्कुचित करके आंशिक रूप में प्रमाणव्यवस्था को अपनाने की आवश्यकता शुद्ध प्रमाणमीमांसीय कारणों से न होकर वेद की प्रामाण्यरक्षा के लिये हुई है। अतः प्रमाण-सम्प्लववाद ही न्यायवैशेषिक दर्शन की आधारभूत मान्यताओं में परिगणनीय है, न कि उसका अपवाद रूपी प्रमाण-व्यवस्था।

प्रमाणव्यवस्थावाद को स्वीकार करने पर प्रत्येक प्रमाण के विषयों को एक कोटि में रखना आवश्यक होता है तथा भिन्न-भिन्न प्रमाणों के

---

३७. "न ब्रूमो यथा प्रत्यक्षेणार्थोऽधिगम्यते तथानुमानादिभिरपीति। अन्यथा प्रत्यक्षेणेन्द्रियसम्बद्धः। इन्द्रियासम्बद्धोऽनुमानेन। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानेन। शब्दोल्लेखेनागमेनेति।" *न्यायवार्त्तिक*, उपोद्घात, पृ. ५

विषयों के मध्य भेद सम्बन्ध स्वीकार करना अपरिहार्य होता है। परन्तु सम्बन्धज्ञान सम्बन्धिज्ञान की अपेक्षा रखता है, जबकि प्रमाण-व्यवस्थावाद के अनुसार किसी भी प्रमाण से दो भिन्न कोटियों के विषयों का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः एकाधिक प्रमाणों के साथ प्रमाण-व्यवस्थावाद को स्वीकार करने पर अन्तर्विरोध उत्पन्न होता है।

रूप, रस, स्पर्श, गन्ध आदि बाह्येन्द्रिय-ग्राह्य गुणरूपी विषयों के स्थल में इन्द्रियसङ्कर सम्भव न होने से इन्द्रिय-व्यवस्था स्वीकार करना आवश्यक है। बाह्येन्द्रिय-ग्राह्य सभी विषय अन्तरिन्द्रिय मन से भी गृहीत होते हैं। लोकप्रतीति के अनुरूप घट पटादि अवयवियों की एकात्मकता तथा प्रत्यक्षविषयता सिद्ध करने के लिये अवयवियों में इन्द्रिय-सम्प्लव तथा रूप, रस, स्पर्श एवं गन्धादि गुणों का यथाक्रम चक्षु, रसना, स्पर्श एवं घ्राणेन्द्रिय द्वारा संयुक्त-समवायरूपी सन्निकर्ष द्वारा ग्रहण स्वीकार करना आवश्यक है। जो घट चक्षु से गृहीत होता है वही पुनः स्पर्शेन्द्रिय से भी गृहीत होता है। उपर्युक्त प्रकार के प्रतिसन्धान की प्रमात्मकता की सिद्धि के लिये अवयवियों के क्षेत्र में इन्द्रिय-सम्प्लव स्वीकार करना अपरिहार्य है। निरङ्कुश इन्द्रिय-व्यवस्थावाद सङ्घातवाद के लिये आधार प्रस्तुत करता है। धर्मधर्मिभेदमूलक तत्त्वमीमांसा के निर्माण के लिये प्रमाण-व्यवस्थावाद का तथा निरङ्कुश इन्द्रिय-व्यवस्थावाद का खण्डन करना काणादीय परम्परा के दार्शनिकों के लिये अपनी प्राणरक्षा का प्रश्न है।

२.६ भाक्त-प्रधान न्याय

लोक व्यवहार में शब्दों के प्रधान तथा भाक्त (मुख्य एवं उपचार, शक्ति एवं लक्षणा) भेद से दो प्रकार का प्रयोग प्रसिद्ध है।[३८] सिंह शब्द का प्रधान प्रयोग पशु जाति विशेष के सन्दर्भ में किया जाता है एवं शौर्य, प्रताप, प्रभुत्वादि गुणों के आधार के सन्दर्भ में मनुष्य व्यक्ति के लिये इस शब्द का प्रयोग भाक्त प्रयोग कहा जाता है। पशुराज, पक्षिराज इत्यादि समस्त पदों में राजा शब्द का प्रयोग भाक्त है। शब्द के प्रधान अर्थ में प्रयोग से वक्ता की तात्पर्यानुपपत्ति अर्थात् विवक्षित

३८. "प्रधानभूतस्य शब्दस्य भाक्तस्य च गुणभूतस्य प्रयोग उभयोर्लोकसिद्धः। सिद्धे प्रयोगे यथा वक्तुरभिप्रायस्तथा शब्दार्थावनुज्ञेयौ प्रतिषेध्यौ वा न च्छन्दतः।" *न्यायसूत्र*, १.२.१४ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. ८१

अर्थ का बोध न होने की स्थिति में भाक्त प्रयोग स्वीकार करना आवश्यक होता है। परन्तु शब्द का भाक्तप्रयोग सर्वत्र प्रधानप्रयोग की अपेक्षा रखता है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने भाषा की अर्थमीमांसा में इस प्रसिद्ध भाक्त-प्रधान भेद के ज्ञानमीमांसीय महत्त्व को पहचान कर उसके उपयोग से काणादीय परम्परा की तत्त्वमीमांसा के आधार को सुदृढ़ किया है। शुक्ति में रजत का भ्रम रजतविषयक प्रमात्मक प्रतीति की अपेक्षा रखता है। भाष्यकार कहते हैं–

"अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययस्य प्रधानापेक्षितत्वात् प्रधानसिद्धिः। स्थाणौ पुरुष इति प्रत्ययस्य किं प्रधानम्? योऽसौ पुरुषे पुरुषप्रत्ययः, तस्मिन् सति पुरुषसामान्यग्रहणात् स्थाणौ पुरुषोऽयमिति" (*वात्स्यायनभाष्य*, पृ. १२०)। [एक पदार्थ में उससे भिन्न अपर एक पदार्थ का ज्ञान उस आरोपित अपर पदार्थ की प्रमात्मक प्रतीति की अपेक्षा रखता है। इससे आरोपित पदार्थ की वस्तुनिष्ठता सिद्ध होती है। स्थाणु में 'यह पुरुष है' इस भ्रमात्मक प्रतीति का प्रधान क्या है? वस्तुतः जो पुरुष है उसमें 'यह पुरुष है' इस प्रकार का ज्ञान ही वहाँ प्रधान है। ऐसा यथार्थ ज्ञान रहने पर ही स्थाणु में, पुरुष एवं स्थाणु के सामान्य धर्म मात्रों के ग्रहण के कारण 'यह पुरुष है'– इस प्रकार की भ्रमात्मक प्रतीति होती है।]

वात्स्यायन के उपर्युक्त न्याय को '*भाक्त-प्रधान न्याय*' नाम से अभिहित किया जा सकता है। अवयविपरीक्षाप्रकरण में 'सेनावनवद्ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम्' (न्यायसूत्र २.१.३६) के भाष्य में घटपटादि अवयविविषयक एकत्व, महत्त्व आदि प्रत्ययों की प्रमात्मकता की सिद्धि के लिये भाष्यकार इस न्याय का उपयोग करते हैं। सर्वत्र एकत्वबुद्धि भ्रमात्मक नहीं हो सकती है। शब्दनिष्ठ एकत्वबुद्धि को प्रमात्मक प्रधान के रूप में स्वीकार करके उसके आधार पर घटपटादि में एकत्वबुद्धि को भ्रमात्मक नहीं कहा जा सकता है। एक ही घटरूपी अवयवी एकत्व एवं महत् प्रत्ययों के धर्मी के रूप में ज्ञान में भासित होता है एवं त्रितलीय दैशिक विस्ताररूपी महत्परिमाण की प्रतीति की प्रमात्मक प्रधानप्रतीति अवयवियों से भिन्न पदार्थों में सम्भव नहीं है।[३९] बाह्यार्थभङ्गनिराकरण प्रकरण में भाष्यकार कहते हैं–

---

३९. (क) "एकमिदं महच्चेति एकविषयौ प्रत्ययौ समानाधिकरणौ भवतस्तेन विज्ञायते यन्महत्तदेकमिति।" *न्यायसूत्र* २.१.३६ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ.१२१

"अतस्मिंस्तदिति च व्यवसायः प्रधानाश्रयः। अपुरुषे स्थाणौ पुरुष इति व्यवसायः स प्रधानाश्रयः। न खलु पुरुषेऽनुपलब्धे पुरुष इति अपुरुषे व्यवसायो भवति। एवं स्वप्नविषयस्य व्यवसायो हस्तिनमद्राक्षं पर्वतमद्राक्षमिति प्रधानाश्रयो भवितुमर्हति"। (*वात्स्यायनभाष्य*, *न्यायसूत्र* ४.२.३२, पृ. ३४४)
[एक पदार्थ में तदितर पदार्थ का ज्ञान प्रधानाश्रित होता है। पुरुषेतर स्थाणु रूपी पदार्थ में पुरुष का ज्ञान प्रधानाश्रित है। पुरुषविषयक पूर्वकालीन यथार्थानुभव प्रमाता में न रहने पर पुरुषेतर पदार्थ में पुरुषभ्रम सम्भव नहीं होता है। उसी प्रकार स्वप्न के सन्दर्भ में 'एक हाथी देखा', 'एक पर्वत देखा' इत्यादि में द्रव्यादि विषयों का ज्ञान, हाथी एवं पर्वतादिविषयक प्रधानभूत प्रमात्मक प्रतीति (स्वप्न देखने वाले में पहले से) रहने पर ही सम्भव होता है।]

प्रत्यक्षपरीक्षा प्रकरण में न्यायवार्त्तिककार उद्द्योतकर, 'अवयवी का प्रत्यक्ष वस्तुतः अनुमान है'– प्रतिपक्ष के इस मत का खण्डन करने के लिये भाक्त-प्रधान न्याय का उपयोग निम्नोद्धृत वार्त्तिक भाग में करते हैं–

"अर्वाग्भागपरभागयोश्च अवृक्षभूतयोर्या वृक्षबुद्धिः सा अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो नानुमानाद् भवितुमर्हति, प्रमाणस्य यथाभूतार्थस्य परिच्छेदकत्वात्। यश्चायमतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः स प्रधानानुकारेण भवतीति वृक्षबुद्धिः प्रधानं वक्तव्यम्। न हि अगृहीतसामान्यस्यानाध्यारोपिततद्विपरीतधर्मस्य वा अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो भवति, प्रधानं च नास्ति वृक्षस्यानभ्युपगमात्।" (*न्यायवार्त्तिक*, *न्यायसूत्र* २.१.२८, पृ. २१३)
[वृक्ष का पूर्व भाग एवं परभाग वस्तुतः वृक्ष नहीं है। अनुमान प्रमाण से उन वृक्षेतर पदार्थों में वृक्षबुद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रमाण वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ही प्रकाशित करता है। एक पदार्थ में तदितर पदार्थ का ज्ञान प्रधानाश्रित होता है। अवृक्ष में वृक्षबुद्धि का प्रधान बताना आवश्यक है। दो परस्पर

(ख) "अणु शब्दो महानिति च व्यवसायात् प्रधानसिद्धिरिति चेत्, न मन्दतीव्रताग्रहणमियत्तानवधारणात् यथा द्रव्ये। अणु शब्दः 'अल्पो मन्दः' इत्येतस्य ग्रहणम्। महाञ्छब्दः 'पटुस्तीव्रः' इत्येतस्य ग्रहणम्। कस्मात्? इयत्तानवधारणात्। न हि अयं महाञ्छब्द इति व्यवस्यन्नियानयमित्यवधारयति यथा बदरामलकबिल्वादीनि।" *वही*, पृ. १२२

भिन्न पदार्थों के सामान्य धर्मों के ग्रहण के बिना, एक पदार्थ में उसमें न रहने वाले धर्म के आरोप के बिना, एक में अपर का भ्रम सम्भव नहीं होता है। वृक्ष रूपी वस्तु को स्वीकार न करने पर प्रधानभूत प्रमात्मक वृक्षप्रतीति के लिये कोई अवकाश नहीं रहता है।]

अवयविपरीक्षा प्रकरण में वार्त्तिककार अवयविसिद्धि के लिये जिन युक्तियों की सहायता लेते हैं उनमें भाक्त-प्रधान न्याय मुख्य है। निश्चल वस्तु में चलने की, असंयुक्त वस्तुओं में संयुक्त होने की, अविभक्त वस्तु में विभक्त होने की भ्रमात्मक प्रतीतियाँ गति, संयोग तथा विभाग की प्रधानभूत प्रमात्मक प्रतीतियों के बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि भाक्त कभी प्रधानरहित नहीं होता है।[४०] समवायसिद्धि प्रकरण में न्यायलीलावतीकार गुण, कर्म, जात्यादि समवायसम्बन्ध के प्रतियोगियों के साथ उनके अधिकरणों के समवायसम्बन्ध तथा गुणकर्म जात्यादि के समवाय के उसके अधिकरणों के साथ विशेष्य-विशेष्यण भावरूपी सम्बन्ध में भेद करने के प्रसङ्ग में भाक्त-प्रधान न्याय का आश्रय लेते हुए लिखते हैं कि आरोप्य सम्बन्ध की वस्तुनिष्ठता स्वीकार न करने पर प्रधान के अभाव में केवल भाक्तरूपी आरोप सम्भव नहीं हो पायेगा।[४१]

कुछ विचारक मानते हैं कि संसारावस्था में सुखानुभव वस्तुतः केवल दुःखाभाव का अनुभव है एवं इसलिये भ्रमात्मक है। इस मत का खण्डन करने के लिये न्यायमञ्जरीकार कहते हैं कि यह अवश्य सत्य है कि स्थल विशेष में ऐसा होता है। उदाहरणस्वरूप दीर्घकाल से ज्वराक्रान्त दुःखार्त व्यक्ति के ज्वरोपशम पर सुखानुभव वस्तुतः दुःखाभाव में सुखोपचार है। ऐसे स्थलों में सुख शब्द का प्रयोग केवल भाक्त है। उसके आधार

---

४०. "या चेयमचलति चलतीति बुद्धिर्यासंयुक्ते संयुक्तमिति अविभक्ते विभक्तमिति च सार्वप्रधानमन्तरेण न भवति। सर्वा एता मिथ्याबुद्धयः प्रधानानुकारेण भवन्तीति प्रधानं वक्तव्यम्, न हि निष्प्रधानं भाक्तं दृष्टं स्थाणुपुरुषवदिति। यथा स्थाणौ सति पुरुषे स्थाणुरिति बुद्धिः पुरुषे वा सति स्थाणौ पुरुषबुद्धिरिति।" *न्यायसूत्र* २.१.३१ ("साध्यत्वादवयविनि सन्देहः।") पर *न्यायवार्त्तिक*, पृ.२२४-२२५

४१. "सर्वत्र चारोपे आरोपानुपपत्तेः, आरोप्यस्य सम्बन्धस्याभावात्।" श्रीवल्लभाचार्य, *न्यायलीलावती*, वर्धमानोपाध्यायकृत *प्रकाश*, शङ्करमिश्रकृत *कण्ठाभरण* एवं भगीरथठक्कुरकृत *प्रकाशविवृति* सहित, चौखम्बा, वाराणसी, १९९१, पृ.७१९

पर प्रधानभूत प्रमात्मक सर्वलोकसाक्षिक सुखसंवेदन के विषयभूत सुख का पदार्थत्व सिद्ध होता है, न कि उसका अलीकत्व।[४२]

२.७ ज्ञानोत्पत्ति का क्रियामीमांसीय विश्लेषण

जन्य पदार्थ की उत्पत्ति कारणसामग्री विशेष की अपेक्षा रखती है। आत्मा के सारे विशेष गुण उत्पन्नविनाशशील होने से उनकी उत्पत्ति कारणसामग्री के अधीन होती है। इस बिन्दु पर सुख, दुःख, धर्म एवं अधर्म तथा ज्ञानादि आत्मा के पाँच सविषय गुणों में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु सुख दुःखादि का केवल कारण होता है, जबकि ज्ञानादि पाँच सविषय गुणों का कारण से अतिरिक्त विषय भी होता है। तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से आश्रय भेद अथवा ज्ञानोत्पत्ति के देश एवं कालादि भेद से ज्ञानभेद सम्भव है। उदाहरणस्वरूप, यदि चैत्र अपने भ्राता मैत्र के साथ सूर्योदयदर्शन करता है तब दर्शन का विषय एक होने पर भी तथा चैत्र एवं मैत्र के सूर्योदयदर्शन की कारणसामग्री सजातीय होने पर भी आश्रय भेद के कारण चैत्रनिष्ठज्ञान से मैत्रनिष्ठज्ञान का भेद स्वीकार करना आवश्यक है। पुनश्च चैत्र के कोणार्क मन्दिर से सूर्योदयदर्शन एवं पुरी के समुद्र तट से सूर्योदयदर्शन, विषय, आश्रय एवं ज्ञानजनक कारणसामग्री के प्रकारभेद के न रहने पर भी ज्ञानोत्पत्ति के देशभेद के कारण परस्पर भिन्न हैं। उसी प्रकार चैत्र का माघशुक्लसप्तमी को सूर्योदयदर्शन, उसके महाविषुव सङ्क्रान्ति को सूर्योदय दर्शन से केवल ज्ञानोत्पत्तिकाल भेद के कारण भिन्न है। उपर्युक्त प्रकार का ज्ञानभेद तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से प्रामाणिक होने पर भी ज्ञानमीमांसीयव्यवस्थानिर्माण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रमाणमीमांसीय व्यवस्था की दृष्टि से कारण तथा विषयरूपी ज्ञान के दो पक्षों को स्वीकार करना आवश्यक है। जिस प्रकार की कारणसामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उससे ज्ञान का कारणपक्ष निरूपित होता है। उदाहरणस्वरूप 'पर्वत वह्निमान् है' यह ज्ञान जब पर्वत पर अवस्थित चैत्र को इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से होता है, तब वह प्रत्यक्ष कहलाता है। यदि चैत्र पर्वत से दूर अवस्थित है एवं पर्वत पर धुआँ देखकर धूम एवं वह्नि के व्याप्ति सम्बन्ध

---

४२. "यस्तु दुःखाभावे क्वचित् सुखमित्यपि व्यपदेशः प्रशान्तरोगाणामिव पूर्वदर्शितः, स भाक्त इति न तावता स्वसंवेदनसाक्षिकसुखापह्नवः कर्तुमुचितः।" *न्यायमञ्जरी*, तृतीय भाग, पृ.६

के स्मरण से चैत्र में 'पर्वत वह्निमान् है' यह ज्ञान उत्पन्न होता है, तब वह अनुमिति कहलाता है। यदि मैत्र चैत्र को पर्वत पर वह्नि होने की बात बताता है एवं चैत्र में 'पर्वत वह्निमान् है' यह शाब्दबोध उत्पन्न होता है, तब वह शाब्द ज्ञान कहलाता है। चैत्र के उपर्युक्त तीन ज्ञानों का विषय एक होने पर भी उनकी कारणसामग्री भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। ज्ञानजनक सामग्री के विश्लेषण द्वारा कुल कितने भिन्न-भिन्न प्रकार के करण अर्थात् व्यापारयुक्त असाधारण कारण स्वीकार करने पर सभी यथार्थ ज्ञान परिगृहीत होते हैं, यह तय करना प्रमाणमीमांसीयव्यवस्थानिर्माण के लिये आवश्यक है। वस्तुतः भारतीय दार्शनिक परम्परा में प्रमाणों की सङ्ख्याविषय में मतभेद, उपर्युक्त समस्या के भिन्न-भिन्न तन्त्रों में अपनाये गये भिन्न-भिन्न समाधानों के कारण ही है। इन समाधानों के बलाबल का निर्धारण पर्याप्तता तथा लाघव के विचार द्वारा ही सम्भव है।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न एवं संस्कार विषयोन्मुखी होने पर भी विषयप्रकाशक नहीं होते हैं। केवल ज्ञान ही विषयप्रकाशक है। विशेष्य-प्रकार-संसर्गमूलक विश्लेषण के बिना अर्थात् विशेष्यता, प्रकारता एवं संसर्गता रूपी ज्ञान के त्रिविध विषयताभेद के बिना इच्छा प्रयत्नादि का क्रियामीमांसोपयोगी स्वरूपनिरूपण सम्भव नहीं है। इसीलिये इच्छादि की विषयता की अपेक्षा से ज्ञान की विषयता की मुख्यता स्वीकार की जाती है। ज्ञान साक्षात् रूप में इच्छा एवं द्वेष का कारण होता है। इच्छा एवं द्वेष में प्रयत्न की कारणता रहती है। प्रयत्न चेष्टा का कारण होता है।

ज्ञान की चरितार्थता केवल स्वविषय को प्रकाशित करने तक सीमित रहती है। ज्ञान विषयप्रकाशक होने से उसके लिये यथार्थत्व एवं अयथार्थत्व का प्रश्न प्रासङ्गिक होता है। विषय निरपेक्ष रूप में ज्ञान के यथार्थत्व एवं अयथार्थत्व का प्रश्न निराधार हो जाता है। इच्छा के लिये यौक्तिक, अयौक्तिक, उचित एवं अनुचितादि विशेषण प्रासङ्गिक होते हैं, न कि यथार्थता अथवा अयथार्थता। उसी प्रकार प्रयत्न सफल अथवा असफल होता है, न कि यथार्थ या अयथार्थ। स्मृतिभिन्न ज्ञान न्यायवैशेषिक परम्परा में अनुभव नाम से जाना जाता है। ज्ञान में भासित विषय जब वस्तुस्थिति के अनुरूप होता है तब ज्ञान यथार्थ कहलाता है। यथार्थ अनुभव प्रमा नाम से जाना जाता है। 'तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमा' एवं 'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानमप्रमा' अर्थात् जिस पदार्थ में जो धर्म जिस सम्बन्ध से रहता है उस पदार्थ का उस सम्बन्ध से उस धर्मवान् के रूप में ज्ञान *प्रमा*

या यथार्थ ज्ञान है, अन्यथा ज्ञान *अप्रमा* है। स्मृति संस्कारजन्य है एवं संस्कार अनुभवजन्य है। इसीलिये स्मृति के यथार्थत्व एवं अयथार्थत्व पर स्वतन्त्र रूप में विचार करने की आवश्यकता नहीं होती है।

ज्ञानजनक सामग्री के प्रकार एवं ज्ञान के विषयरूपी तत्त्वयुगल से ज्ञान का प्रमाणमीमांसीय स्वरूप निरूपित होता है। परन्तु ज्ञान का उत्पत्ति पक्ष एवं विषय पक्ष परस्पर असम्बद्ध नहीं होते हैं। ज्ञानजनक सामग्री की विकलता एवं अविकलता यथाक्रम ज्ञान की अयथार्थता एवं यथार्थता का स्रोत है, क्योंकि सामान्य रूप से कारणगतगुण से कार्य निर्दुष्ट होता है, कारणगतदोष से कार्य दोषयुक्त होता है एवं ज्ञानरूपी कार्य पदार्थ की चरितार्थता अपने विषय के स्वरूप को अविकल रूप में प्रकाशित करने में ही निहित रहती है। ज्ञान की उत्पत्ति एवं विषय पक्षों के परस्पर सम्बन्ध के स्वरूप निरूपण के लिये न्यायवैशेषिक दार्शनिकों ने क्रिया की उत्पत्ति प्रक्रिया के प्रारूप में ज्ञानोत्पत्ति की विश्लेषण पद्धति अपनाई है। ज्ञान स्वयं क्रिया स्वरूप नहीं है अपितु फलस्वरूप है। परन्तु उसकी उत्पत्तिप्रक्रिया का विश्लेषण कारकसिद्धान्त के आधार पर करना आवश्यक है। उपर्युक्त पद्धतिमूलक नियम से न्यायवैशेषिक प्रमाणमीमांसा मूलभूत रूप में प्रभावित हुई है।

जब चैत्र कुल्हाड़ी से पेड़ काटता है तब चैत्र कर्त्ता है, कुल्हाड़ी करण[४३] है, बारम्बार ऊपर उठना एवं पेड़ पर गिरना करणनिष्ठ व्यापार[४४]

---

४३. "व्यापारवदसाधारणकारणं करणम्। असाधारणत्वं च कार्यत्वावच्छिन्नातिरिक्तधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताशालित्वम्।" *तर्कसङ्ग्रह* टीका *न्यायबोधिनी*, पृ.३६ कार्यमात्र के प्रति दिक्, कालादि रूपी कारणों से अतिरिक्त पेड़ का कटना रूपी कार्य के कुल्हाड़ी एवं पेड़ आदि असाधारण कारण हैं। उद्गमननिपतनरूपीव्यापारयुक्त होने से कुल्हाड़ी करण कहलाता है। उसी प्रकार लिखना क्रिया में लेखनी करण है एवं तन्निष्ठ गतिविशेष व्यापार है। कुछ विचारकों के मत में करण का स्वरूप है–'फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्'। परन्तु इस मत में व्यापार एवं करण का भेद सम्भव नहीं है।

४४. "व्यापारवत्त्वं च तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्।" *न्यायबोधिनी*, पृ. ४७ जो करण से उत्पन्न होकर करणजन्य फल को उत्पन्न करता है वह व्यापार कहलाता है। उदाहरणस्वरूप, लेखनी तन्निष्ठ गति का कारण है एवं वह गति पुनश्च अक्षरों के लेखन रूपी लेखनी के कार्य को भी उत्पन्न करती है।

है एवं पेड़ का कटना फल है। प्रत्येक क्रिया का विश्लेषण कर्त्ता, करण, करणनिष्ठ व्यापार तथा फल, इन चार तत्त्वों के द्वारा किया जा सकता है। ज्ञानोत्पत्ति में ज्ञान स्वयं फल है, ज्ञान का आश्रय प्रमाता कर्त्ता के अनुरूप है, ज्ञानजनक सामग्री में अन्तर्भूत व्यापारयुक्त प्रमाणरूपी असाधारण कारण करण के अनुरूप है एवं तन्निष्ठ व्यापार करणनिष्ठ व्यापार के अनुरूप है। कारकसिद्धान्त के अनुसार सकर्मक क्रिया पकाना, धोना, काटना, पकड़ना आदि का फल कर्म में आश्रित रहता है एवं नहाना, सोना, बैठना आदि अकर्मक क्रियाओं का फल कर्त्ता में आश्रित होता है। परन्तु 'जानना' क्रिया औपचारिक रूप में सकर्मक होने पर भी उसका प्रमाता ही ज्ञान के आश्रय के रूप में भासित होता है न कि जानना क्रिया का विषयरूपी कर्म। ज्ञान का विषय केवल वर्तमानकालिक न होकर अतीत एवं अनागत कालिक भी होता है।

भाट्टमीमांसकों के मत में ज्ञान क्रियास्वरूप है एवं क्रिया प्रत्यक्ष से अग्राह्य एवं अनुमानसिद्ध है। उनके अनुसार आत्मनिष्ठ ज्ञानरूपी व्यापार घट पटादि ज्ञानक्रिया के विषयरूपी कर्मों में ज्ञातता (प्राकट्य) रूपी धर्म को उत्पन्न करता है। विषयनिष्ठ ज्ञातताधर्म ज्ञान के अनुमान में हेतु की भूमिका निभाता है। परन्तु प्राकट्यरूपी गुण न्यायवैशेषिक दर्शन में स्वीकृत नहीं हुआ है क्योंकि ज्ञान केवल विषय को प्रकाशित कर सकता है, उसमें नये धर्मों को उत्पन्न नहीं कर सकता है।[४५]

प्रत्यक्ष के स्थल में इन्द्रिय करण के रूप में एवं इन्द्रियार्थसन्निकर्ष व्यापार के रूप में स्वीकृत हैं। अनुमान में व्याप्तिज्ञान एवं व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान (लिङ्गपरामर्श) यथाक्रम करण एवं व्यापार के रूप में स्वीकृत हैं। उपमान में सादृश्य ज्ञान करण है; 'गो सदृश गवय' इत्यादि अतिदेश-वाक्यार्थ का स्मरण व्यापार है एवं संज्ञा-सज्ञी का सम्बन्ध-ज्ञान उपमिति रूपी फल

---

४५. ज्ञान के द्वारा अपने विषय में ज्ञातता धर्म की उत्पत्ति, विषय के ज्ञानसमकालिक होने पर ही सम्भव है। परन्तु ज्ञान के विषय के लिये ज्ञानसमकालिक होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि विनष्ट एवं अनुत्पन्न पदार्थविषयक यथार्थ ज्ञान स्वीकार करना आवश्यक है। आने वाले चन्द्रग्रहण एवं विगत चन्द्रग्रहणविषयक वर्तमानकालिक ज्ञान से उन चन्द्रग्रहण रूपी पदार्थों में ज्ञातता धर्म की उत्पत्ति असम्भव है।

है। शाब्दबोध के स्थल पर वाक्यघटक पदों का ज्ञान करण है, शक्ति अथवा लक्षणा वृत्ति से पदजन्य पदार्थस्मरण व्यापार है एवं वाक्यार्थ का ज्ञान फल है। स्मृति के प्रति अनुभव करण है एवं संस्कार व्यापार है।[४६]

ज्ञान की उत्पत्ति प्रक्रिया के विश्लेषण में क्रियामीमांसीय प्रारूप की सीमायें तथा प्रारूप के परिष्कार की सम्भावना विचार के विषय होने पर भी न्यायवैशेषिक प्रमाणमीमांसा में उक्त प्रारूप की आधारभूत भूमिका निर्विवाद है।

प्रारूप की सीमाओं के रूप में कुछ अतिरिक्त बिन्दुओं का स्मरण दिलाना आवश्यक है। क्रिया के सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण कारकों का ज्ञानोत्पत्ति प्रक्रिया के विश्लेषण में ज्ञानमीमांसीय महत्त्व नहीं है, यद्यपि ज्ञान के स्रोत, प्रयोजन तथा ज्ञानोत्पत्ति के देश एवं कालादिविषयक तथ्य अन्य दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। स्नान, पाक, भोजनादि क्रियायें कर्त्ता के प्रयत्न की अपेक्षा रखती हैं। परन्तु ज्ञानोत्पत्ति सर्वत्र प्रमाता के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखती है। जब हम बिस्तर पर लेटते हुए मेघ का गर्जन सुनते हैं तब हमारी तरफ से किसी प्रयत्न के बिना श्रावणप्रत्यक्ष से ध्वनि विशेष का ज्ञान होता है। परन्तु जब हम किताबों की एक आलमारी में एक विशेष किताब है या नहीं अथवा एक ग्रन्थागार को एक दिन विशेष में कुल कितनी पुस्तकें पाठकों ने वापस की हैं– यह जानना चाहते हैं, तब विशेष प्रकार के प्रयत्नों की आवश्यकता अवश्य होती है। गायों के एक बड़े झुण्ड में कुल कितनी गाये हैं? चावल की एक बोरी में कुल कितने चावल हैं? एक भूखण्ड विशेष का क्षेत्रफल कितना है?– इत्यादि प्रश्नों का उत्तर एवं सामान्य रूप में सङ्ख्या दैर्घ्य, क्षेत्रफल एवं घनफलादि परिमाणविषयक ज्ञान प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं होता है। उक्त प्रकार का ज्ञान गणनकलनादि प्रक्रिया पर आश्रित अनुमान द्वारा प्राप्त होता है। उपर्युक्त स्थलों में व्याप्तिज्ञान तथा

---

४६. (क) देखिये *तर्कसङ्ग्रह* एवं *न्यायबोधिनी*, पृ. ४२, ४७, ६३

(ख) देखिये, विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य, *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*, महादेवभट्ट एवं दिनकरभट्टकृत *दिनकरी* तथा रामरुद्रभट्टाचार्य एवं राजेश्वरशास्त्रीकृत *रामरुद्री* सहित, चौखम्बा, वाराणसी, १९७२, कारिका ६६, पृ. २०९; कारिका ७९-८१, पृ. २६१-२६५

लिङ्गपरामर्शादि का स्वरूपनिरूपण सूक्ष्म ज्ञानमीमांसीय विश्लेषण के बिना सम्भव नहीं होता है। धूमदर्शन से वह्निज्ञान की तरह अनुमिति सर्वत्र सहजसाध्य नहीं होती है। अतः प्रमातृनिष्ठप्रयत्नसापेक्ष ज्ञानोत्पत्ति एवं प्रमातृनिष्ठप्रयत्ननिरपेक्ष ज्ञानोत्पत्ति का भेद ज्ञानमीमांसीय महत्त्वरहित नहीं है। क्रियामीमांसा में साध्य एवं साधन का भेद तथा सिद्ध एवं साध्य का भेद प्रसिद्ध हैं। केवल सिद्ध पदार्थ ही साधन की भूमिका निभा सकता है। शास्त्रीय समस्याओं के समाधान के सन्दर्भ में साध्य तथा साधन उभय ज्ञानात्मक तत्त्व होते हैं। उदाहरणस्वरूप गणितशास्त्रीय अनुसन्धान के समय एक महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्यविशेष की सिद्धि के लिये प्रायशः आनुषङ्गिक साधनात्मक प्रतिपाद्यों को सिद्ध करना पड़ता है। अतः शास्त्रीय अनुसन्धान के सन्दर्भ में प्रमातृनिष्ठप्रयत्ननिरपेक्षज्ञानोत्पत्ति वस्तुतः प्रासङ्गिक नहीं है।

व्यक्ति के ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व पक्षों को समाविष्ट करते हुए उसकी एकात्मकता के स्वरूप निरूपण के लिये विश्लेषण का प्रारूप आवश्यक है। इस अपेक्षित व्यापक प्रारूप के निर्माण में ज्ञानोत्पत्ति प्रक्रिया के विश्लेषण के लिये अपनाये गये क्रियामीमांसीय प्रारूप की कितनी उपादेयता है यह विचार का विषय है। न्यायवैशेषिक दार्शनिकों ने कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व पक्षों के समावेश एवं समन्वय में व्यक्ति की एकात्मकता को देखा है एवं इसीलिये उनकी कृतियों में बौद्धिकता की जो अवधारणा परिलक्षित होती है वह सर्वथा असङ्कीर्ण एवं जीवन के सर्वतोमुखत्व पर आधारित है।

***

तृतीय अध्याय
न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त

न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों की भूमिका केवल वैशेषिक पदार्थव्यवस्था तक सीमित नहीं है। पूर्वमीमांसा के भाट्ट एवं प्राभाकर प्रस्थानों की पदार्थव्यवस्थाओं में भी उनकी भूमिका स्पष्ट है। प्रस्तुत अध्याय में आधारभूत तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तविषयक विचार किया गया है।

१. धर्मधर्मिभेद

पहले बताया जा चुका है कि काणादीय परम्परा की तत्त्वमीमांसाओं में धर्म एवं धर्मी का भेद आधारशिला स्वरूप है। 'धर्म' एवं 'धर्मी' शब्द पदार्थकोटि के वाचक नहीं हैं। पदार्थ चाहे किसी भी कोटि का हो वह धर्म अथवा धर्मी की तत्त्वमीमांसीय भूमिका का निर्वाह करने में समर्थ है। न्यायकन्दलीकार कहते हैं कि 'वस्तुतः कोई भी धर्म छह प्रकार के पदार्थों से अतिरिक्त नहीं होता है, वे द्रव्य, गुण आदि पदार्थ परस्पर की अपेक्षा से धर्मी एवं धर्म पद से अभिहित होते हैं'।[१] जब

---

१. "यद्यपि धर्माः षट्पदार्थेभ्य न व्यतिरिच्यन्ते, किन्तु त एव अन्योन्यापेक्षया धर्मा धर्मिणश्च भवन्तीति।" *न्यायकन्दली*, पृ. ४१

घड़े में पानी रहता है तब घड़ा आधार है एवं पानी विशेष प्रकार के संयोग सम्बन्ध से उसका आधेय है। आधार-आधेयभाव सर्वत्र एक नियामक सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है। धर्मी सामान्यतया आधार की भूमिका निभाता है एवं धर्म आधेय की। 'चैत्र चश्मावाला है', 'चैत्र गणितज्ञ है', 'चैत्र निर्धन है'– इनमें चैत्र धर्मी है; चश्मा, गणित का ज्ञान एवं धनाभाव यथाक्रम धर्म हैं। स्पष्टतया चैत्र अपने धर्मों से भिन्न है। 'नीलकमल हिल रहा है'– यहाँ पर धर्मीरूपी पुष्पविशेष में नीलरूप, कमलत्व जाति तथा गति, ये तीन धर्म भासित होते हैं। 'क्रिया केवल मूर्तद्रव्यों में ही रहती है'– यहाँ पर क्रिया धर्मी है एवं मूर्तद्रव्यमात्रवृत्तित्व धर्म है। एक टोकरी में रखे हुये फलों को टोकरी से अलग करके अन्यत्र रखा जा सकता है। परन्तु जब गुण, क्रिया, जाति अथवा अभाव आदि पदार्थ धर्म की भूमिका निभाते हैं तब उनको अपने आधारों से अलग नहीं किया जा सकता है। केवल विचार में ही उन्हें अपने आधाररूपी धर्मियों से भिन्न करके देखा जा सकता है। परन्तु 'भिन्न' एवं 'पृथक्सिद्ध' अथवा 'परस्पर से स्वतन्त्र' समानार्थक नहीं है। गुण एवं क्रियारूपी धर्म अपने आधारों से भिन्न होने पर भी उनसे स्वतन्त्र नहीं हैं।

आचार्य उदयन धर्मधर्मिभेद की सिद्धि के लिए निम्न आशय की युक्ति[२] प्रस्तुत करते हैं। यदि धर्म, अपने धर्मी से वस्तुतः अभिन्न होते, तब एक वृक्ष को दूर से देखने पर उसका प्रत्यक्ष अस्पष्ट नहीं होता एवं निकट से देखने से प्रत्यक्ष स्पष्ट नहीं होता। दोनों प्रत्यक्षों में धर्मी एक है– यह नकारा नहीं जा सकता है। दूर से देखने से वृक्ष के कुछ विशेष धर्म प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं होते हैं, जैसे कि उसका नीम

---

२. (क) ''अभेदे च धर्मधर्मिणोर्दूरादूरतया ग्रहणे पद्वपटुनी कुतः ?'' उदयनाचार्य, *आत्मतत्त्वविवेक*, शङ्करमिश्र, भगीरथठक्कुर एवं रघुनाथशिरोमणिकृत टीकाओं के सहित, विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित, एसियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९८६, पृ. ७३०

(ख) ''धर्मिग्रहे च तदभिन्नानां सर्वेषामेव ग्रहात् तथात्वासम्भवः।'' रघुनाथशिरोमणिकृत *आत्मतत्त्वविवेकदीधिति*, *वही*, पृ. ७३१

(ग) ''अन्य एक प्रसङ्ग में धर्मधर्मिभेद की प्रामाणिकता के आधार पर श्रीधर भट्ट लिखते हैं– ''नावश्यं धर्मिणि ज्ञाते धर्मा ज्ञायन्त इति।'' *न्यायकन्दली*, पृ. २०

का होना एवं तीन मुख्य शाखा विशिष्ट होना आदि। परन्तु निकट से देखने पर वृक्ष के वे विशेष धर्म भी गृहीत होते हैं। धर्मी यदि अपने धर्मों से अभिन्न होता, तो धर्मी के ग्रहण से उसके सारे विशेष धर्म भी गृहीत हो जाते। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता है।

धर्म वस्तुतः धर्मी से भिन्न है यह स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि अभिन्न पदार्थों में धर्मधर्मिभाव सम्भव नहीं है।[3] ज्ञेयत्व, भावत्व, घटाभावादि स्ववृत्ति धर्म सामान्य नियम के अपवाद के रूप में स्वीकार्य हैं। हरा रङ्ग पत्ते का धर्म हो सकता है, न कि स्वयं का। जिस प्रकार दण्ड चक्रादि घट से अत्यन्त भिन्न होने पर भी घट का कारण होते हैं, उसी प्रकार कुछ परस्पर भिन्न पदार्थों में धर्मधर्मिभाव सम्भव है।

२. भेदाभेदव्यवस्था

भेदाभेद के परिष्कृत लक्षण के बिना तत्त्वमीमांसा का निर्माण सम्भव नहीं है। आम के पत्ते का हरा रङ्ग उस पत्ते में आश्रित होने पर भी उससे भिन्न है। आम के रूप, रस तथा गन्ध परस्पर भिन्न होने के साथ-साथ उस आम से भी भिन्न हैं। पेड़ से गिरते हुए आम की पतन क्रिया उस आम से अवश्य भिन्न है। पुनश्च आम में रहने

---

३. (क) "जनकत्वं नाम न वस्तुस्वभावोऽपि तु तद्धर्मः। धर्मश्च धर्मिणो वस्तुतो भिद्यते।" *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका*, *न्यायसूत्र* ३.२.१४, पृ.५६०

(ख) "नाप्यात्यन्तिकेऽभेदे धर्मधर्मिभावः तस्माद्यथाऽऽत्यन्तिकभेदेऽपि केषाञ्चिदेव कार्यकारणभावः तथा केषाञ्चिदेव धर्मधर्मिभाव इत्येषितव्यम्।" *वही*, *न्यायसूत्र* ४.२.१०, पृ.६४३

(ग) "धर्मश्च धर्मिणो भिन्नो न तु धर्मिस्वभावः। यथा च भेदाविशेषे सत्यपि वह्निधूमयोरेव कार्यकारणभावो न वह्निक्रमेलकयोर्वस्तुस्वभावनियमात्। एवं भेदाविशेषेऽपि आत्मनो पुण्यपापयोरेव धर्मधर्मिभावो न आत्माकाशयोः पुण्याकाशयोर्वेति,....", *वही*, *न्यायसूत्र* ३.१.५ के वार्त्तिक पर *तात्पर्यटीका*, पृ.५०८

(घ) "न हि धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यम्, तथा सति धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः। न हि घटः स्वात्मना झटिति प्रतीतिपथमवतरति, विशिष्टज्ञानस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गाच्च भिन्नयोरभेदावगाहित्वात्।" *किरणावली*, पृ.१३०

वाली आम्रत्व, फलत्वादि जातियाँ परस्पर भिन्न हैं तथा उनके आश्रयभूत आमरूपी व्यक्ति से भी भिन्न हैं। आधार-आधेयभाव सामान्यतया आधार एवं आधेय के बीच 'भेद' सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है। परन्तु काणादीय परम्परा के सभी दार्शनिकों को गुण एवं कर्म के साथ द्रव्य का तथा जाति के साथ उसके आश्रय का भेदसम्बन्ध मान्य नहीं है। यह निर्विवाद है कि घट पट से भिन्न है। घोड़ा एवं हाथी भिन्न प्रजाति के प्राणी होने से परस्पर भिन्न हैं। व्यक्तिनिष्ठ व्यावर्तक धर्मों के द्वारा ही दो घटों में भेद एवं एक ही प्रजाति के दो प्राणियों में भेद सिद्ध करना सम्भव होता है। परन्तु, पट को उसके तन्तुओं से भिन्न कहा जाना चाहिये या नहीं एवं आम को उसके रूप एवं रसों से भिन्न कहा जाना चाहिये या नहीं– इन विषयों में हमारा अन्तर्बोध इतना स्पष्ट नहीं है। अन्तर्बोध लोकप्रतीति द्वारा परिपुष्ट होता है एवं शास्त्रादि के अभ्यास के बिना असंस्कृत रहता है। लोकव्यवहार में काम में लिये जाने वाले भेदाभेद के स्थूल मानदण्ड के परिवर्तन एवं परिष्कार के बिना तत्त्वमीमांसीय व्यवस्था का निर्माण सम्भव नहीं हो पाता है। समवायलक्षणविचार के सन्दर्भ में श्रीधर भेदाभेद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–

> "विलक्षणाकारबुद्धिवेद्यत्वस्यैव भेदलक्षणत्वात्, अन्यथा भेदाभेद-व्यवस्थानुपपत्तेः।" (*न्यायकन्दली*, पृ. ३९)[४]
> [भिन्न रूप में विशेष्यविशेषणभावापन्न होकर ज्ञान में भासित होने की योग्यता से विशिष्ट होना ही भेद का लक्षण है। इसको स्वीकृत न करने पर भेदाभेद व्यवस्था सम्भव नहीं हो पाती है।]

शालिकनाथ लिखते हैं–

> "अभिन्नाकारबुद्धिबोध्यं हि वस्तु अभिन्नमिति लौकिकाः मन्यन्ते, विलक्षणाकारबोधविषयश्च भिन्नमिति।" (*प्रकरणपञ्चिका*, पृ. ७१)
> [लोक व्यवहार के अनुसार जो पदार्थ ज्ञान में भिन्नाकार से विशिष्ट होकर भासित होते हैं वे भिन्न हैं एवं जो अभिन्नाकार विशिष्ट होकर ज्ञान में विषय के रूप में भासित होने की योग्यता रखते हैं वे अभिन्न स्वीकृत होते हैं।]

---

४. जाति एवं व्यक्ति के भेदाभेद सम्बन्ध के खण्डनप्रसङ्ग में भी श्रीधर भट्ट लिखते हैं– "...अविलक्षणाकारबुद्धिवेद्यत्वस्याभेदलक्षणत्वात्। ...विलक्षणाकारसंवित्तिरेव हि भेदसंवित्तिः।" देखिये *न्यायकन्दली*, पृ. ७५१

श्रीधर एवं शालिकनाथ के भेदाभेदस्वरूपविषयक स्पष्टीकरणों से यह प्रतीत होता है कि उनके अनुसार पदार्थों के भेद एवं अभेद ज्ञान में भासित आकारों के भेद एवं अभेद पर आश्रित हैं। ज्ञाननिष्ठ आकारभेद का अर्थ वस्तुतः क्या है? एक ही ज्ञान के विषय के रूप में नील एवं पीत भासित होने में कोई विरोध नहीं है। परन्तु ज्ञान में साथ-साथ भासित होने पर भी नीलरूप नीलत्व धर्म से अवच्छिन्न होकर भासित होता है एवं पीतरूप पीतत्व धर्म से अवच्छिन्न होकर भासित होता है। जो नीलत्व से अवच्छिन्न होकर भासित होता है वह पीत नहीं है एवं जो पीतत्व धर्म से अवच्छिन्न होकर भासित होता है वह नील नहीं है। नीलप्रतिभास पीतप्रतिभासाभावव्याप्य है एवं पीतप्रतिभास नीलप्रतिभासाभावव्याप्य है।[५] यह ठीक उसी तरह है जिस तरह गजत्व अश्वत्व के अभाव से व्याप्य है एवं अश्वत्व गजत्व के अभाव से व्याप्य है। परस्पर अभाव की व्याप्यता ही विरोध का स्वरूप है।

प्रत्यभिज्ञा के आधार पर स्थैर्यसिद्धि करते हुए उदयनाचार्य कहते हैं—

"..विरुद्धधर्मसंसर्गानास्कन्दितस्य एकत्वप्रत्ययस्य व्यभिचारे सर्वत्रैकत्वोच्छेद-प्रसङ्गात् तथा च अनेकत्वमपि न स्यादिति भव निष्किञ्चनः। तस्माद् भेदप्रवृत्तौ अवश्यं विरुद्धधर्मसंसर्गः, तदसंसर्गे वा अवश्यं भेदव्यावृत्तिरिति भेदाभेदव्यवहारमर्यादा।" (*आत्मतत्त्वविवेक*, क्षणभङ्गवाद, पृ.२६७-२६८)[६]

[क्योंकि परस्पर विरोधी धर्म न होने पर भी (खण्डकाल विशेष में) यदि (स्फटिक शालग्रामादि पदार्थों के) एकत्वों को स्वीकृत नहीं किया जाये तो एकत्व पदार्थ के लिये कोई स्थान रह नहीं जायेगा, अर्थात् एकत्व का उच्छेद ही हो जायेगा। उस स्थिति में प्रतिपक्षी को एकत्व के साथ-साथ उसके अभाव रूपी अनेकत्व से भी हाथ धोना पड़ जायेगा। अतः जहाँ भेद है वहाँ अवश्य परस्पर विरोधी धर्मों का संसर्ग है। विरुद्ध धर्म संसर्ग के अभाव में भेद का अभाव अर्थात् अभेद सिद्ध होता है। भेद एवं अभेदविषयक व्यवहार इसी से नियन्त्रित होता है।]

---

५. "...न सहानुपलम्भमसाङ्कर्यं ब्रूमः, किन्तु नीलस्यैव पीतत्वेन पीतस्यैव नीलत्वेनानुपलम्भम्। स एव मूलं सर्वविरोधानाम्", *आत्मतत्त्वविवेक* बाह्यार्थभङ्गवाद, पृ. ४४३

६. इस प्रसङ्ग में *आत्मतत्त्वविवेक* पृ. १४७ भी द्रष्टव्य है।

शालिकनाथ की भेदाभेदविषयक अवधारणा को स्पष्ट करते हुए न्यायसिद्धिकार नारायणभट्ट कहते हैं[७] कि विलक्षणाकार एवं अभिन्नाकार रूपी ज्ञानविशेष के आधार पर ही पदार्थों की भेदाभेदव्यवस्था सम्भव है। कुछ पदार्थ स्वभाव से ही भिन्नाकार ज्ञान के विषय के रूप में भासित होते हैं। उदाहरणस्वरूप, द्रव्यों में से घटपटादियों को एवं गुणों में से रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श आदि को लिया जा सकता है। अन्य कुछ पदार्थ, जैसे कि आम के दो पत्तों के रङ्ग अथवा तिल के दो दाने, स्वरूप से भिन्न होने पर भी विरुद्ध धर्मों का स्पष्टतर ग्रहण न होने से विलक्षणाकार ज्ञान के विषय के रूप में भासित नहीं होते हैं। परन्तु विलक्षणाकार बुद्धि द्वारा गृहीत होने की योग्यता उनमें अवश्य स्वीकार्य है।

उदयनाचार्य अन्त्यविशेषविषयक विचार में कहते हैं[८] कि सजातीय समान गुणकर्मादि से विशिष्ट आश्रयरहित नित्यद्रव्य परस्पर से व्यावृत्त होने से उनमें परस्पर व्यावर्तन के आधार के रूप में व्यावर्तक धर्म को स्वीकार करना आवश्यक है। अन्य शब्दों में, तत्त्वमीमांसा में धर्मभेद के बिना धर्मिभेद की कल्पना सम्भव नहीं है।

सङ्क्षेप में कह सकते हैं कि सविकल्पक ज्ञान में पदार्थ, विशेष्य-प्रकार-संसर्गभावापन्न होकर ही भासित होते हैं। विरुद्धधर्मसंसर्ग ही ज्ञान में भासित पदार्थों के परस्परभेद का आधार है। विरुद्धधर्मसंसर्ग का अभाव ही अभेदसिद्धि का आधार है। देशकाल आदि अवच्छेदकों के भेद के अभाव में एक धर्म एवं उसका अभाव अवश्य परस्परविरोधी होते हैं।

उदयन एवं श्रीधर द्वारा प्रतिपादित तथा शालिकनाथ द्वारा समर्थित भेद के लक्षण को धर्म एवं धर्मी सम्प्रत्ययों के द्वारा निम्न रूप में उपस्थापित किया जा सकता है– दो पदार्थ परस्पर से भिन्न होते हैं उसी एवं केवल उसी स्थिति में, जब उन दोनों का कम से कम एक व्यावर्तक धर्म होता है, अर्थात् जब कम से कम एक ऐसा धर्म होता

---

७. *न्यायसिद्धि*, *प्रकरणपञ्चिका*, पृ. ५०

८. "नित्येषु च द्रव्येषु आश्रयरहितेषु समानजातीयेषु समानगुणकर्मसु च भवितव्यं व्यावर्तकेन धर्मेण, व्यावृत्तत्वात्।" उदयनाचार्य, *किरणावली, प्रशस्तपादभाष्य* सहित, जितेन्द्र एस. जेटली द्वारा सम्पादित, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज– १५४, बड़ौदा, १९७१, पृ.१७

है जो उनमें से किसी एक में रहता है परन्तु अपर में नहीं रहता है। भेद के उपर्युक्त लक्षण से अभेद का लक्षण निषेधमुख से प्राप्त होता है। व्यावर्तक धर्म के अभाव में पदार्थ अभिन्न होते हैं। अन्य शब्दों में दो पदार्थ उसी एवं केवल उसी स्थिति में अभिन्न होते हैं जब एक भी ऐसा धर्म नहीं हो जो उनमें से एक में रहते हुए अपर में नहीं रहता है, अर्थात् चाहे जिस धर्म को लिया जाये यदि वह उनमें से एक में है तो अपर में भी रहता है एवं अपर में रहता है तो उसमें भी रहता है।

एक प्रतिमा को एक आसन से लेकर अन्य एक आसन पर रखने से वह प्रतिमा अपने से भिन्न नहीं हो जाती है यद्यपि कालभेद से प्रतिमा में स्थानभेद रूपी धर्मभेद अवश्य रहता है। एक घड़े के निम्न भाग में भूतल का संयोग रहने पर भी शेष भागों में उसी समय भूतलसंयोग का अभाव भी रहता है। परन्तु उससे घड़ा अपने से भिन्न नहीं कहलाता है। जब रासायनिक एवं जैविक प्रक्रियाओं से अवयवी में निरन्तर उपचय अपचय आदि होते हैं तब परस्पर सदृश अवयवियों का कारणकार्यस्रोतापन्न सन्तान ही एकत्वप्रतीति का विषय होता है। सन्तानों की भेदाभेदव्यवस्था के लिये धर्मों के दैशिक एवं कालिक अवच्छेदकविषयक विचारों की आवश्यकता होती है।

देश एवं काल के भेद से धर्मी में धर्म के रहने एवं न रहने के आधार पर धर्मों को *व्याप्यवृत्तिक* एवं *अव्याप्यवृत्तिक* रूपी दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। माता-पिता रूपी मनुष्य-विशेषों की सन्तान होना, स्थानविशेष में जन्म ग्रहण करना आदि धर्म, व्यक्तिशरीर के प्रदेश भेद से अथवा बाल्य, यौवन बार्धक्यादि अवस्था भेद से परिवर्तित नहीं होते हैं। गोव्यक्ति के शरीरावयव के भेद से गोत्व जाति के रहने न रहने का प्रश्न प्रासङ्गिक नहीं है। एक आम एक काल में हरा रहता है एवं कालान्तर में पीला होता है, परन्तु वह फलत्व जाति के बिना नहीं रह सकता है। एक व्यक्ति अध्यापनवृत्ति छोड़कर गोपालन, कृषिकर्म अथवा पत्रकारिता आदि अपना सकता है, एक अधिवासी एक ग्राम अथवा नगर का अधिवासित्व छोड़कर अन्य एक ग्राम अथवा नगर का अधिवासित्व प्राप्त कर सकता है, परन्तु मनुष्यत्व धर्म कभी नहीं छोड़ सकता है।

जो धर्म अवच्छेदकभेद से अपने अत्यन्ताभाव के साथ एक ही अधिकरण में रहता है वह *अव्याप्यवृत्ति* कहलाता है। जो धर्म अवच्छेदकभेद से भी कभी अपने अत्यन्ताभाव के साथ एक अधिकरण में नहीं रहता है वह *व्याप्यवृत्ति* कहलाता है।[१] घटत्व पटत्व, गोत्व अश्वत्वादि सभी जाति एवं पशुत्वादि उपाधियाँ व्याप्यवृत्ति हैं परन्तु घटपटादि मूर्त द्रव्यों में भूतल शरीरादि का संयोग अव्याप्यवृत्ति है।

प्रत्यभिज्ञा के आधार पर प्रतिमा, शालग्राम एवं रत्नविशेष आदि अवयवियों की स्थिरसिद्धि के लिये *अनागन्तुक* (*स्वरूपनिरूपक*) एवं *आगन्तुक* धर्मों में अन्तर करना आवश्यक है। अन्यथा सभी प्रत्यभिज्ञाओं को भ्रमात्मक स्वीकार करना पड़ता है एवं फलतः लोकव्यवहारविलोप का प्रसङ्ग भी उपस्थित होता है। पाँचरुपये के एक सिक्के के ग्राहक के हाथ से दुकानदार के हाथ में चले जाने पर सिक्का भिन्न नहीं हो जाता है, यद्यपि उसके आगन्तुक धर्म अवश्य परिवर्तित होते हैं।

एक अङ्कुर वृक्ष बनने तक, एक फल प्रारम्भ से पकने तक एवं एक फूल कलिका की अवस्था से प्रस्फुटित होने तक निरन्तर रासायनिक एवं जैविक प्रक्रिया से अवयवों के उपचय-अपचय के कारण परिवर्तित होते रहते हैं। वस्तुतः वे पदार्थ दीपशिखा की तरह क्षणस्थायी परस्परसदृश अवयवियों के सन्तान के रूप में देखे जा सकते हैं। प्राणी का शरीर भी जन्म से मृत्यु तक रासायनिक एवं जैविक प्रक्रिया से परिवर्तित होने से वस्तुतः सदृश अवयवियों की सन्तानस्वरूप है। इन सभी उदाहरणों में यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय के आधार पर प्रत्यभिज्ञा को भ्रमात्मक एवं स्थिरत्वप्रतीति को आरोपित कहना आवश्यक है। परन्तु इससे न तो क्षणभङ्गवाद की प्रामाणिकता और न काणादीय परम्परा की द्रव्यवाद एवं अवयविसिद्धान्त आदि की अन्तर्विरोधग्रस्तता सिद्ध होती है, यद्यपि कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं। भाक्त-प्रधान न्याय से आरोपित स्थिरत्व, मुख्य प्रमात्मक स्थिरत्वप्रतीति की अपेक्षा रखता है। अवयवित्व क्षणिकत्वव्याप्य नहीं है, अर्थात् कुछ अवयवी अक्षणिक होते हैं। भावकार्य विनाशशील होने पर भी उसके विनाश

---

१. वैशेषिक पदार्थ व्यवस्था में व्याप्यवृत्ति एवं अव्याप्यवृत्ति धर्म भेद के महत्त्व पर विचार आगे दशम अध्याय के तृतीय परिच्छेद में किया गया है। पृ. ३०४–३१० द्रष्टव्य हैं।

की कारणसामग्री उसकी उत्पत्ति की कारणसामग्री से भिन्न होती है।[१०] निर्हेतुक उत्पत्ति की तरह निर्हेतुक विनाश भी असम्भव है। निर्हेतुक विनाश की कल्पना करने पर आकस्मिकत्व का प्रसङ्ग पुनरुपस्थित होता है।

३. प्रतीतिभेद की विषयभेदजन्यता

जगत् में यदि नीलपीतादिभेद नहीं होता तो ज्ञान में नीलपीतादि का भासित भेद निमित्तशून्य अर्थात् कारणरहित हो जाता। ज्ञान के विषयरूपी तत्त्वों में भेद के बिना ज्ञान में भासित भेद सम्भव नहीं है।[११] अवयविसिद्धि प्रकरण में वार्त्तिककार उद्द्योतकर उपर्युक्त आधारभूत मान्यता द्वारा संयोग सम्बन्ध की वस्तुनिष्ठता सिद्ध करते हैं। जब देवदत्त कान में कुण्डल पहनता है तब 'कुण्डली देवदत्तः' इस प्रकार की प्रमात्मक प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं। इस विशिष्ट प्रतीति के कारण के रूप में केवल देवदत्त, केवल कुण्डल अथवा केवल देवदत्त एवं कुण्डल रूपी उभय पर्याप्त नहीं हैं। इस विशिष्ट प्रतीति के कारण के रूप में देवदत्त एवं कुण्डल से अतिरिक्त उनके बीच एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार न करने पर जब देवदत्त घर पर बिना कुण्डल के रहता है एवं कुण्डल स्वर्णकार के पास रहता है, तब भी यह प्रतीति सम्भव हो जानी चाहिये, जो कि वस्तुतः नहीं होती है।[१२] उसी प्रकार केवल कटोरा, केवल बेर अथवा

---

१०. (क) *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका*, न्यायसूत्र ३.२.१४ का वार्त्तिक पर, पृ. ५४८ पर द्रष्टव्य है।
(ख) "न च निर्हेतुको विनाशः कस्यचिद् विद्यते।" *न्यायकन्दली*, पृ.६६४
(ग) "सामग्र्यधीनः प्रध्वंसो भावानामात्मलाभवत्॥
मुद्गरादिसामग्र्या घटस्य किं क्रियते? मृत्पिण्डदण्डसामग्र्या किमस्य क्रियते? आत्मलाभ इति चेत्, अनयाप्यात्महानं करिष्यते।" *न्यायमञ्जरी*, द्वितीय भाग, पृ. २४४

११. "न हि निमित्तभेदमन्तरेण बुद्धीनां भेदो दृष्टो रूपादिवदिति।" *न्यायसूत्र* २.१.३१ पर *न्यायवार्त्तिक*, पृ. २२४

१२. "यदि चार्थान्तरं संयोगो न स्यात्। कुण्डलीति अस्या बुद्धेः किञ्चिन्निमित्तमवश्यं विधीयमानं प्रतिषिध्यमानं वा निमित्तान्तरमुपादेयम्। न तावत् कुण्डलनिमित्ता नापि देवदत्तनिमित्ता न भवता निमित्तान्तरं प्रतिपाद्यते। निमित्तान्तरमन्तरेण यथा कथञ्चिद्व्यवस्थिताभ्यां देवदत्तकुण्डलाभ्यां कुण्डलीति बुद्ध्या भवितव्यम्।" *न्यायसूत्र* २.१.३१ पर *न्यायवार्त्तिक*, पृ.२२५

विशेष प्रकार के सम्बन्ध के बिना केवल कटोरा एवं बेर रूपी उभय के रहने पर भी 'कटोरा में बेर है' यह प्रतीति नहीं होती है। सामान्यतया आधार-आधेयभाव की प्रतीति के विषयरूपी कारणकोटि में आधार एवं आधेय के बीच किसी एक नियामक सम्बन्ध को स्वीकार करना आवश्यक है।[१३]

ज्ञानजनकता रूपी सामान्य धर्म के आधार पर प्रतिपक्षी भाव एवं अभाव के भेद को नकारने का प्रयास करता है। अभाव के विकल्पमात्रत्व-विषयक पक्ष का खण्डन एवं उसकी वस्तुरूपता सिद्धि के सन्दर्भ में जयन्त भट्ट कहते हैं–

> ननु भाववदेष ज्ञानजनकः सन्नभावो न भावाद् विशिष्यते। अहो निपुणदर्शी देवानां प्रियः। प्रतीतिभेदश्चास्ति। तत्र प्रतीयमानौ भावाभावौ न भिद्येते इति कथं भवेत्? अपि रे मूढ़! ज्ञानजनकत्वाविशेषेऽपि रूपरसौ कथं भिद्येते, प्रतीतिभेदादिति चेत्? भावाभावावपि जनकत्वधर्मसामान्येऽपि प्रतीतिभेदादेव भिद्येयाताम्। न हि प्रतिभास्यभेदमन्तरेण प्रतिभासभेदो भवतीति भवतापि अभ्युपगतम्। (*न्यायमञ्जरी*, प्रथम भाग, पृ. ९३)
>
> [यह प्रश्न का विषय है कि अभाव भाव की तरह ज्ञानजनक होने से उससे भिन्न कैसे हो सकता है? अर्थात् भाव की तरह ज्ञानजनक होने से अभाव वस्तुतः भाव से भिन्न नहीं है। तुम्हारी सूक्ष्मदर्शिता अवश्य प्रशंसा के योग्य है। प्रतीतिभेद तो है। ज्ञान में भिन्न रूप में भासित भाव एवं अभाव परस्पर से भिन्न नहीं हैं– यह कैसे हो सकता है? हे मन्दबुद्धि! यह तो सोचो कि रूप एवं रस समान रूप में ज्ञानजनक होने पर भी कैसे परस्पर से भिन्न होते हैं? यदि कहो कि प्रतीतिभेद के कारण रूप एवं रस को परस्पर से भिन्न स्वीकार करना आवश्यक है, तब भाव एवं अभाव उभय ज्ञानजनक होने पर भी ज्ञान में भासमान भेद के कारण परस्पर से भिन्न हैं। आपके द्वारा भी तो यह सिद्धान्त स्वीकृत है कि प्रतिभास्यभेद के बिना प्रतिभासभेद सम्भव नहीं है।]

---

१३. "इयमिहबुद्धिः प्रवर्तमाना नर्ते सम्बन्धात् प्रवर्तते यथेह कुण्डे बदराणीति। नेयं बदरमात्रनिमित्ता न कुण्डमात्रनिमित्तेति यदस्या निमित्तं स संयोग इति।" *वही,* पृ. २२५

वाक्यार्थ स्वरूप विचार के सन्दर्भ में जयन्त भट्ट प्रतीतिभेद की विषयभेदजन्यताविषयक नियम को अत्यन्त स्पष्ट रूप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं–

> वैलक्षण्ये तु प्रतीत्योर्विषयवैलक्षण्यमपि बलादुपनतम्, असति विषयभेदे प्रतीतिभेदानुपपत्तेः। (*न्यायमञ्जरी*, द्वितीय भाग, पृ. ४८)[१४]
>
> [ज्ञान में भासमान असमानाकारता के आधार पर ज्ञान के विषयों के परस्पर भेद को अगत्या स्वीकार करना पड़ता है, क्योंकि विषयों में भेद के बिना भासमान आकारभेद सम्भव नहीं है।]

न्यायकन्दलीकार उपर्युक्त नियम का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि विषय वैलक्षण्य के बिना ज्ञान में भासित आकारों की विलक्षणता सम्भव नहीं है।[१५]

वस्तुतः प्रतीतिभेद का विषयभेदजन्यताविषयक सिद्धान्त, न्यायवैशेषिक परम्परा में प्रारम्भ से ही भिन्न-भिन्न प्रकार की पदार्थसिद्धि के लिये आधार की भूमिका निभाता रहा है। जहाँ पर भी विशिष्ट ज्ञान की प्रमात्मकता स्वीकार करना अनिवार्य है परन्तु ज्ञान के प्रकार अथवा संसर्गरूपी विषय की भूमिका निभाने के लिये तन्त्र में स्वीकृत कोई भी पदार्थ उपयुक्त सिद्ध नहीं होता है वहाँ उपर्युक्त नियम के आधार पर एक नूतन प्रकार के पदार्थ को स्वीकार किया जाता है। पदार्थों की सिद्धि में उपर्युक्त नियम की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणस्वरूप सङ्ख्यारूपी पदार्थ की वस्तुनिष्ठता की सिद्धि के लिये न्यायकन्दलीकार की निम्न आशय की युक्ति को लिया जा सकता है– दण्ड रूपी विशेषण पदार्थ के बिना दण्डज्ञान सम्भव नहीं होता है एवं दण्डज्ञान के बिना 'दण्डी पुरुषः' इस प्रकार का विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। उसी प्रकार एक वृक्ष, दो वृक्ष, तीन वृक्ष इत्यादि विशिष्ट ज्ञान एकत्व, द्वित्व, त्रित्व इत्यादि सङ्ख्यारूपी विशेषण पदार्थों के बिना सम्भव नहीं हो सकता है।[१६]

---

१४. अन्यत्र भी जयन्त भट्ट इस नियम का उल्लेख करते हैं– "...विषयातिशयव्यतिरेकेण प्रत्ययातिशयानुपपत्तेः..." *न्यायमञ्जरी*, द्वितीय भाग, पृ. २६

१५. "...विषयवैलक्षण्यमन्तरेण विलक्षणाया बुद्धेरनुत्पादात्..." *न्यायकन्दली*, पृ.५८

१६. देखिये, *न्यायकन्दली*, पृ. २६७-२६८

वस्तुतः प्रतीतिभेद की विषयभेदजन्यता को स्वीकार न करने पर ज्ञान के वस्तुतन्त्रत्व के साथ-साथ कार्यकारणसिद्धान्त की सार्वभौमिकता भी बाधित होती है एवं जगत् में आकस्मिकता है– यह स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है। जगत् में आकस्मिकता को स्थान देने का अर्थ तन्त्रनिर्माणरूपी व्यवस्थित वैचारिक क्रिया के आधार को ही नष्ट करना हैं।

४. असत्कार्यवाद (आरम्भवाद)

न्याय वैशेषिक दर्शन में कारणता एक केवलान्वयिधर्म के रूप में अङ्गीकृत है।[१७] वस्तुतः कारणता एवं पदार्थत्व समनियत धर्म हैं। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ समवायी, असमवायी अथवा निमित्त कारण की भूमिका अवश्य निभाता है। कारण की भूमिका के बिना पदार्थव्यवस्था में स्थान प्राप्ति सम्भव नहीं है। जो जिसका नियत पूर्ववर्ती है परन्तु जिसके प्रति अन्यथासिद्ध नहीं है वह उसका *कारण* है एवं अपर *कार्य* है। जो एक काल में न होते हुए कालान्तर में होता है अर्थात् जो प्रागभाव का प्रतियोगी है वह *कार्य* है। परम्परागत मत में कार्य पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म अथवा अभाव कोटि के ही हो सकते हैं। चार प्रकार के अभावों में केवल ध्वंसाभाव ही कार्य पदार्थ होता है। समवायी, असमवायी और निमित्त कारण के भेद से कारण तीन प्रकार के होते हैं।[१८] सभी भावरूपी कार्य पदार्थों के ये तीन प्रकार के कारण होते हैं एवं ध्वंसाभाव का केवल निमित्त कारण होता है। द्रव्यकोटि के कार्य पदार्थ *अवयवी* कहलाते हैं। धर्मधर्मिभेद पर आधारित तत्त्वमीमांसा के अवयविसिद्धान्त, आरम्भवादरूपी असत्कार्यवाद तथा सामान्य का सिद्धान्त सन्तानवादी तथा याज्ञवल्क्यीय परम्परा

---

१७. (क) "अस्मत्पितृचरणास्तु, जनकत्वस्य केवलान्वयित्वेन व्यतिरेकाप्रसिद्ध्या नान्वयव्यतिरेकित्वम्।" वर्धमानोपाध्याय, *न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश*, लक्ष्मण शास्त्री द्राविड़ द्वारा सम्पादित, चौखम्बा, वाराणसी, १९१२, कारिका १.१०, पृ.५१

(ख) "कारणत्वं जनकत्वं सकलपदार्थनिष्ठो धर्मः।" कणादकृत *वैशेषिकदर्शनम्* पर अज्ञातकर्तृक व्याख्या, मिथिलाविद्यापीठ, दरभङ्गा, १९५७, सूत्र १.१.४ की व्याख्या, पृ.४

१८. "सर्वं हि कार्यं प्रादुर्भवत् समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेभ्यो भवतीति।" *न्यायवार्त्तिक*, पृ.७३

के दार्शनिकों के लिये मुख्य चुनौतीपूर्ण सिद्धान्त रहे हैं। किसी भी दार्शनिक तन्त्र का कार्यकारणविषयक सिद्धान्त उस तन्त्र की तत्त्वमीमांसा को मूलभूत रूप में प्रभावित करता है तथा उसका स्वरूपनिरूपण करता है– यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है। कार्यकारणविषयक सिद्धान्त की वैचारिक अपरिहार्यता भारतीय दर्शन में सर्ववादिसम्मत है। जगत् की नियमनियन्त्रितता एवं आकस्मिकत्व की अभावविषयक मूलभूत पूर्वमान्यता के बिना विचारप्रक्रिया एवं शास्त्रनिर्माण सम्भव नहीं है।

प्रत्यभिज्ञा के स्वरूपविचार के प्रसङ्ग में जयन्त भट्ट कहते हैं कि कारण के बिना कार्य सम्भव नहीं है, अन्यथा कार्य का कार्यत्व बाधित हो जाता है।[१९] पदार्थों की उत्पत्तिविनाशविषयक विविधता के अनुभव को व्यवस्थित करने के लिये कारणकार्यसम्बन्ध का परिष्कृत लक्षण देना आवश्यक होता है। कारण की कार्यजनकता सहकारियों की अपेक्षा रखती है। कारणसामग्री के प्रकारभेद ही कार्यों में प्रकारभेद का आधार है। वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि कारण अभिन्न रहने पर कार्य में भेद उपपन्न नहीं होता है, अन्यथा जगत् में आकस्मिकत्व है– यह स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है।[२०] आचार्य उदयन के अनुसार कार्य में प्रकारभेद के बिना कारणसामग्री में प्रकारभेद सम्भव नहीं है[२१], अर्थात् कारणसामग्री का प्रकारभेद कार्यवैजात्य का प्रयोजक होता है। परन्तु यहाँ पर कार्य के प्रकारभेद के विषय में स्पष्टता की आवश्यकता है अन्यथा भिन्न-भिन्न रासायनिक प्रक्रियाओं से एक प्रकार के यौगिकाणु की उत्पत्ति की व्यवस्था नहीं हो पाती है। रासायनिक प्रक्रियाओं में उत्पादकसामग्री के अनुरूप उत्पाद्य पदार्थों

---

१९. "न च कार्यमकारणं भवितुमर्हति कार्यत्वस्यानुपपत्तेरिति भवितव्यमेव तत्र कारणेन।" *न्यायमञ्जरी*, द्वितीय भाग, पृ.२४५

२०. (क) "न हि अभिन्नात् कारणात् कार्यवैचित्र्यमुपपद्यते, तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्।" *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, न्यायसूत्र* १.१.१ का वार्त्तिक पर, पृ.६२

(ख) "न खलु भवतां कारणाभेदे भेदवत्कार्यं भवितुमर्हति। कार्यभेदस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्।" *वही*, न्यायसूत्र ३.२.१४ का वार्त्तिक पर टीका, पृ.५५७

(ग) "किञ्चित्कारणभेदेऽपि कार्यभेदस्यानाकस्मिकत्वोपपत्तेः। तदर्थत्वाच्च कारणभेदानुसरणप्रयासस्य।" *वही, न्यायसूत्र* १.१.४ का वार्त्तिक पर टीका, पृ.१२३

२१. "न च साध्यस्यावैचित्र्ये साधनवैचित्र्यमुपपद्यते।" *किरणावली*, पृ.९

के सङ्घात को लेने पर ही आचार्य उदयन के अभिप्रेत नियम की रक्षा सम्भव हो पाती है। कारणसामग्री की अविकलता से कार्य अविकल रहता है एवं कारणसामग्री की विकलता से कार्य भी विकल रहता है। अन्य शब्दों में, कारणदोष से कार्य दोषयुक्त एवं कारण गुण से ही कार्य गुणवान् होता है।[२२]

५. पदार्थत्व का स्वरूप

न्याय वैशेषिक दर्शन में पदार्थत्व एक केवलान्वयी धर्म के रूप में अङ्गीकृत है। प्रमितिविषयत्व अर्थात् यथार्थ ज्ञान का विषय होना ही प्रमेयत्व या *पदार्थत्व* का लक्षण है। पुरुषार्थमीमांसा की दृष्टि से प्रमेयों की उपादेयता भिन्न-भिन्न होने पर भी यथार्थ ज्ञान के विषय होने की दृष्टि से उनके स्तरीकरण की सैद्धान्तिक आवश्यकता नहीं है।

यह सत्य है कि कणाद एवं प्रशस्तपाद की पदार्थव्यवस्था में द्रव्य, गुण एवं कर्म कोटि के पदार्थों को सामान्य, विशेष एवं समवाय की अपेक्षा से विशिष्ट स्थान प्राप्त है। द्रव्य, गुण एवं कर्म कोटि के पदार्थ व्यवहारसिद्ध हैं एवं केवल उन्हीं में ही पर सामान्य रूपी सत्ता जाति तथा द्रव्यत्वादि अन्य अपर सामान्य रहती हैं। शेष तीन प्रकार के पदार्थों की आवश्यकता धर्मधर्मिभेदमूलक तत्त्वमीमांसा की शास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाह के लिये होती है। एक फल, उसका रूप, रस, गन्ध एवं उसमें आश्रित स्पन्द तथा एक फूल, उसका रूप, गन्ध एवं उसमें आश्रित स्पन्द प्रत्यक्षग्राह्य होते हैं। लोकव्यवहार की दृष्टि से उनका ज्ञाननिरपेक्ष अस्तित्व एवं बाह्यार्थत्व निर्विवाद हैं। परन्तु लोकव्यवहारसिद्ध फल, पुष्पादि पदार्थों के एकत्व एवं अस्तित्व को बोधगम्य कराने के लिये आवश्यक द्रव्यत्व, फलत्व, पुष्पत्व, गुणत्व, रूपत्वादि जाति तथा फल एवं उसके रूप, रस एवं गन्धादि के विशेष प्रकार के आश्रय-आश्रयिभाव के नियामक सम्बन्ध आदि पदार्थ प्रथमोक्त प्रकार से लोकव्यवहारसिद्ध नहीं माने जा सकते हैं।

---

२२. सङ्घातवाद का खण्डन एवं अवयविसिद्धान्त की स्थापना के सन्दर्भ में आगे सप्तम अध्याय में कारणताविषयक विचार विस्तार से किया गया है। पृ. १६६–२०० द्रष्टव्य हैं।

अन्तर्बोधगम्य एवं प्रथम दृष्टिपात से स्पष्ट उपर्युक्त भेद को शास्त्र में स्वीकार योग्य परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करना वैशेषिक तत्त्वमीमांसा के लिये एक चुनौती रही है। प्रत्यक्ष-अग्राह्य परन्तु अनुमानप्रमाणसिद्ध आकाश एवं परमाणु आदि द्रव्य कोटि के पदार्थ तथा धर्म, अधर्म एवं संस्कार आदि गुण कोटि के पदार्थों को तन्त्र में स्थान देना भी परम्परागतमतानुसार आवश्यक है। इस आवश्यकता के कारण लोकव्यवहारसिद्ध पदार्थ तथा पदार्थव्यवस्थानिर्माण के लिये आवश्यक शास्त्रीयपदार्थों के भेद को परिष्कृत रूप प्रदान करने की समस्या अधिक जटिल हो जाती है। वैशेषिक तत्त्वमीमांसा की इस परम्परागत समस्या के प्रति ध्यान दिलाने के साथ-साथ यह कहना प्रासङ्गिक है कि याज्ञवल्क्यीय धारा की अद्वैत परम्परा में स्वीकृत परमार्थसत् एवं व्यावहारिकसत् जैसा भेद काणादीय परम्परा में सर्वथा अस्वीकार्य है। परवर्ती काल में अभाव एक स्वतन्त्र कोटि के पदार्थ के रूप में स्वीकृत होने से भाव एवं अभाव रूपी दो मुख्य पदार्थकोटियाँ अङ्गीकृत हुयी हैं। पदार्थत्व, भावत्व एवं अभावत्व आदि धर्म जाति से भिन्न उपाधि रूपी सामान्य के रूप में स्वीकृत हुये हैं। कणाद एवं प्रशस्तपाद के द्वारा स्वीकृत छः प्रकार के पदार्थ भाव कोटि में अन्तर्भूत हैं। अभावविषयक ज्ञान की भावस्वरूपता निर्विवाद होने पर भी अभाव का स्वतन्त्रपदार्थत्व काणादीय परम्परा में विवाद का विषय रहा है। प्राभाकर मीमांसकों एवं रघुनाथशिरोमणि के द्वारा किये गये सत्ताजाति के खण्डन का प्रयास[२३], वस्तुतः लोकव्यवहारसिद्ध एवं शास्त्रप्रक्रियानिर्वाहार्थ अङ्गीकृत पदार्थों में कणाद एवं प्रशस्तपाद के द्वारा किये गये भेद के खण्डन के लिये प्रयास के रूप में देखा जा सकता है।

***

---

२३. दशम अध्याय के षष्ठ परिच्छेद में सत्ताजाति का खण्डनविषयक विचार पृ. ३३८–३४३ पर द्रष्टव्य हैं।

चतुर्थ अध्याय

न्यायवैशेषिक दर्शन का पुरुषार्थमीमांसीय-मान्यताविषयक विचार

कर्मवाद, संसारवाद एवं पुनर्जन्मवाद जैसी भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की साधारण मान्यताओं को सांस्कृतिक प्रभाव के कारण ही न्यायवैशेषिक दर्शन में सर्वमान्यता प्राप्त है, न कि प्रमाणसिद्ध स्वतन्त्र आधारभूत पुरुषार्थमीमांसीय सिद्धान्त के रूप में। औपनिषदिक आत्मवाद एवं ईश्वरवाद के प्रभाव से तथा बौद्ध एवं वैदिक परम्पराओं के मध्य सीमा को सुस्पष्ट करने की आवश्यकता से ही आत्मा की नित्यता एवं ईश्वरविषयक मान्यताएँ न्यायवैशेषिक दर्शन में स्वीकृत हुई हैं, न कि परम्परा के आधारभूत पद्धतिमूलक, ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों से निष्कृष्ट होने के कारण। प्रस्तुत अध्याय में इन विवादास्पद पुरुषार्थमीमांसीय विषयों पर विचार किया गया है।

कर्मवाद, संसारवाद, प्रवृत्ति-निवृत्ति भेद एवं ज्ञानमोक्षवाद भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की आधारभूत मान्यतायें हैं। न्यायवैशेषिक दार्शनिक सूत्रकाल से ही इन मान्यताओं की सिद्धि के लिये प्रयासरत रहे हैं। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूपी पुरुषार्थचतुष्टयविषयक वैदिक परम्परा का सर्वमान्य चतुर्वर्गसिद्धान्त न्यायवैशेषिक दर्शन में विवादरहित विषय के रूप में स्वीकृत हुआ है। वेदेतर बौद्ध, जैन तथा वैदिक विचारधारा के साङ्ख्य

एवं पूर्वमीमांसा दर्शनों के निरीश्वरवाद के विरोध में ईश्वरवाद के आधार को व्यवस्थित करने के लिये न्यायवैशेषिक दार्शनिक निरन्तर प्रयास करते आये हैं। वैदिक नित्यवाद की काणादीय धारा के दर्शन अर्थात् पूर्वमीमांसा, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन धर्मधर्मिभेदवादी एवं द्रव्यवादी हैं। न्यायवैशेषिक दर्शन की पुरुषार्थमीमांसीय मान्यताओं के मूल्याङ्कन के लिये सम्बन्धित तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यताओं का विचार अपरिहार्य है। प्रस्तुत अध्याय में व्यक्त किये गये विचार, परम्परा की आधारभूत पद्धतिमूलक, ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं के साथ सङ्गति की रक्षा करते हुये उसकी पुरुषार्थ मीमांसा के पुनर्निर्माण के लिये दिग्दर्शन के एक प्रारम्भिक प्रयास के रूप में देखे जा सकते है।

१. कर्मवाद एवं संसारवाद का स्वरूप

१.१ विधि-निषेधव्यवस्थाओं की साधारण पूर्वमान्यतायें

भारतीय आध्यात्मिक परम्परा के सर्वमान्य सिद्धान्त कर्मवाद एवं संसारवाद के स्वरूपनिरूपण के लिये विधि-निषेध (कर्तव्य-अकर्तव्य, कार्य-अकार्य) व्यवस्थाओं की साधारण पूर्वमान्यताओं पर ध्यान देना आवश्यक है। भारतीय धर्मशास्त्र परम्परा में व्यवहार नाम से परिचित व्यवस्था, आधुनिक राष्ट्रों की विधि-व्यवस्थायें, नैतिक एवं सामाजिक कर्तव्य-अकर्तव्यव्यवस्थायें इत्यादि सभी विधिनिषेधव्यवस्था के उदाहरण हैं। 'सत्य भाषण करना चाहिये', 'प्राणी मात्र के प्रति दयाभाव रखना चाहिये', 'प्रतिश्रुत वचन का पालन करना चाहिये' आदि विधि के उदाहरण हैं। 'परस्व का अपहरण नहीं करना चाहिये', 'दूसरों की दुर्दशा का लाभ नहीं उठाना चाहिये', 'मिथ्याचार से निवृत्त रहना चाहिये', 'दुर्बल एवं निःसहाय का शोषण नहीं करना चाहिये' निषेध के उदाहरण हैं। विधि एवं निषेध के अनुसार व्यक्ति (कर्ता) के द्वारा किये गये कार्य, उसके द्वारा नियमों का अनुपालन है एवं उनसे विपरीत आचरण उसके द्वारा नियमों का उल्लङ्घन है। विशेष परिस्थितियों में विधि एवं निषेधों का अपवाद अपरिहार्य होता है। उदाहरणस्वरूप अपने अथवा अन्य के प्राणसङ्कट की स्थिति में मौनालम्बन अथवा असत्यभाषण करना कर्तव्य हो जाता है।

विधिनिषेधव्यवस्था, विधि एवं निषेध रूपी नियम, नियमों के स्रोत एवं उनकी प्रामाणिकता के निरूपण के लिये मानदण्ड, नियमों का अनुपालन, नियमों का उल्लङ्घन, अनुपालन एवं उल्लङ्घन की योग्यताविशिष्ट व्यक्तियों (कर्ताओं)

के समाज (कर्तृवर्ग) आदि की अपेक्षा रखती है। व्यक्ति में अपने एवं अन्य के इष्टानिष्ट(हिताहित)विषयक ज्ञान की योग्यता तथा स्व एवं पर के कर्तव्याकर्तव्यज्ञान की योग्यता के बिना विधिनिषेधव्यवस्था निराधार हो जाती है। किन विशेष परिस्थितियों में नियमों का अपवाद अपरिहार्य है इस ज्ञान की योग्यता भी कर्ताओं से अपेक्षित है। नियमों के अनुपालन से कर्ता को इष्ट प्राप्य होना एवं नियमों के उल्लङ्घन से कर्ता को अनिष्ट प्राप्य होना विधिनिषेधव्यवस्था की अन्य अपरिहार्य पूर्वमान्यतायें हैं। दण्ड, कर्ता का अनिष्ट एवं पुरस्कार उसका इष्ट होना चाहिये। विशेष परिस्थितियों में कर्ता के द्वारा अपने इष्ट का परिहार एवं अनिष्ट का वरण भी सम्भव होना आवश्यक है, अन्यथा उसका सङ्कल्पस्वातन्त्र्य बाधित हो जाता है। विधिनिषेधव्यवस्था के अपरिहार्य घटक के रूप में एक विशेष दण्ड-पुरस्कार की व्यवस्था समाहित रहती है। जब दण्ड का विधान नियम के उल्लङ्घन की गम्भीरता के अनुपात में किया जाता है तथा पुरस्कार का विधान अनुपालन की चुनौती के अनुपात से किया जाता है तब दण्ड-पुरस्कार की व्यवस्था युक्तिसङ्गत होती है, अन्यथा नहीं। राष्ट्रों की औपचारिक विधि-व्यवस्थाओं में सामान्यतया केवल दण्ड का ही विधान किया जाता है। ऐसी व्यवस्था में दण्ड से निस्तार ही पुरस्कार के रूप में देखा जा सकता है। कार्य-अकार्यव्यवस्था के लिये उसके अङ्ग के रूप में दण्ड-पुरस्कार की व्यवस्था का केवल समाहित होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु दण्ड-पुरस्कार की व्यवस्था के अनुसार दण्ड एवं पुरस्कार प्रदान करने के प्रावधान का रहना भी आवश्यक है। राष्ट्रों की औपचारिक विधिव्यवस्थाओं में न्यायपालिका एवं दण्डानुशासक आदि इस भूमिका को निभाते हैं।

विधिनिषेधव्यवस्था की एक आधारभूत पूर्वमान्यता यह है कि कर्ता को अपने किये हुये कर्म का फल अवश्य प्राप्त होना चाहिये, चाहे वह फल कर्ता का इष्ट अथवा अनिष्ट हो। अन्य शब्दों में, विधिनिषेधव्यवस्था यह मानकर चलती है कि *कृत का प्रणाश (कृतहानि) नहीं होना चाहिये।* उसी प्रकार कर्ता को अपने द्वारा न किये गये कर्म का इष्टानिष्टरूपी फल कभी प्राप्त नहीं होना चाहिये। अन्य शब्दों में, विधिनिषेधव्यवस्था यह मानकर चलती है कि *अकृत का अभ्यागम नहीं होना चाहिये*। निर्दोष व्यक्ति दण्डित नहीं होना चाहिये। दोषी अदण्डित नहीं रह जाना चाहिये। कर्ता के द्वारा प्राप्य की अप्राप्ति कृतप्रणाश है। अप्राप्य की

प्राप्ति अकृत का अभ्यागम है। आदर्श विधिनिषेधव्यवस्था में कृत का प्रणाश तथा अकृत का अभ्यागम– ये दोनों असम्भव हैं, क्योंकि वे व्यवस्था की विश्वसनीयता को नकार कर उसकी आदर्शरूपता को बाधित करते हैं।

उपर्युक्त घटक तत्त्व तथा पूर्वमान्यतायें, समाज की अनौपचारिक कर्तव्य-अकर्तव्यव्यवस्थाओं, राष्ट्रों की औपचारिक विधिव्यवस्थाओं एवं नैतिक कर्तव्य-अकर्तव्य की व्यवस्थाओं के साधारण घटक तत्त्व एवं पूर्वमान्यताओं के रूप में स्वीकार्य हैं। वस्तुतः व्यक्ति को एक साथ अनेक विधिनिषेधव्यवस्थाओं में कर्ता की भूमिका निभानी पड़ती है। व्यक्ति परिवार एवं समाज विशेष का सदस्य होता है, एक राष्ट्र का नागरिक, संस्था विशेष का कर्मचारी एवं समग्र मानव समाज का सदस्य भी होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से धर्म एवं अधर्म, न्याय एवं अन्याय, उचित एवं अनुचित में भेद करने वाली नैतिक कर्तव्य-अकर्तव्य की व्यवस्था, अन्य विधिनिषेधव्यवस्थाओं से उत्तरकालीन होने पर भी पुरुषार्थ मीमांसा की दृष्टि से आधारभूत है, क्योंकि समाज एवं राज्यों की विधिनिषेधव्यवस्थाओं का मूल्याङ्कन उनके प्रयोजन एवं नैतिक व्यवस्था के आधार पर ही किया जा सकता है।

१.२ नैतिक विधि-निषेधव्यवस्था के रूप में पुरुषार्थ सिद्धान्त से संवलित कर्मवाद

कर्मवाद अपने में एक आचारसंहिता को समाहित करने पर ही एक नैतिक विधिनिषेधव्यवस्था का रूप धारण करता है। वैदिक परम्परा में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूपी पुरुषार्थतन्त्र, कर्मवाद के द्वारा अपेक्षित आचारसंहिता के लिये आधार प्रस्तुत करता है। कर्मवाद, प्रवृत्ति-निवृत्तिभेद एवं ज्ञानमोक्षवाद, भारतीय संस्कृति की आचारसंहिताओं को एकरूपता प्रदान करते हैं। ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्नादि धर्मों से विशिष्ट कर्ता, कर्तृकृत कर्म, कर्मफल, कर्ता के द्वारा स्वकृत कर्मफल के रूप में सुख अथवा दुःख के भोग एवं कार्य-कारणसम्बन्ध आदि लोकानुभवसिद्ध तत्त्वों को मानकर चलने पर भी, कर्मवाद नित्यवादी एवं सन्तानवादी परम्पराओं के उन तत्त्वविषयक परिष्कृत सिद्धान्तों पर आश्रित नहीं है। वस्तुतः कर्मवाद, संसारवाद एवं ज्ञानमोक्षवाद के साथ सङ्गत तत्त्वमीमांसीय व्यवस्थानिर्माण करने की समस्या ही भारतीय दर्शन में विभिन्नता का स्रोत है। दर्शनशास्त्रीय पद्धति की दृष्टि से तत्त्वमीमांसा का निर्माण पुरुषार्थमीमांसा से प्रेरित न होकर तत्त्वमीमांसा ही पुरुषार्थमीमांसा का आधार होनी चाहिये।

१.३ कर्मवाद की आधारभूत मान्यतायें– जगत् की कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृत-अभ्यागमशून्यता

कर्मवाद जगत् की कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृत-अभ्यागम-शून्यता रूपी दो आधारभूत तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यताओं पर प्रतिष्ठित है। कर्ता के द्वारा किये गये कर्म के सुख अथवा दुःख रूपी फल उसको अवश्यम्भावी रूप में प्राप्त होता है। अन्य शब्दों में, जगत् में कृत का प्रणाश असम्भव है। उसी प्रकार जगत् में कर्ता के द्वारा न किये गए कर्म का फल कभी उसे प्राप्त नहीं होता है, अर्थात् वास्तविक जगत् में अकृत का अभ्यागम असम्भव है। कर्मवाद के अनुसार कर्ता का कर्मविषयक उत्तरदायित्व एवं उसके द्वारा कर्मफल भोग की दृष्टि से चार प्रकार के जगतों की कल्पना की जा सकती है–

(१) जहाँ पर कृत का प्रणाश एवं अकृत का अभ्यागम उभय घटित होते हैं।

(२) जहाँ पर कृत का प्रणाश होने पर भी अकृत का अभ्यागम कभी नहीं होता है।

(३) जहाँ पर कृत का प्रणाश कभी न होने पर भी अकृत का अभ्यागम होता है।

(४) जहाँ पर न तो कृत का प्रणाश और न अकृत का अभ्यागम होता है।

कर्मवाद के अनुसार प्रथम तीन सम्भावनाओं में मानव के अध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन के लिये कोई स्थान नहीं है, क्योंकि कृतप्रणाश एवं अकृत के अभ्यागम की सम्भावनायें विधि-निषेधव्यवस्था की मूलोच्छेदी होती हैं। विधि-निषेधव्यवस्था के बिना मानव का आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन आधाररहित हो जाता है। अतः मानव के आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन की उपपत्ति के लिये जगत् की कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृत-अभ्यागमशून्यता स्वीकार्य हैं। सम्भवतः उपर्युक्त प्रकार की नैतिक युक्ति के आधार पर ही कर्मवाद को भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में सर्वमान्यता प्राप्त हुई है।

१.४ कर्मवाद के अनुसिद्धान्त के रूप में संसारवाद एवं अनर्जित दुःख तथा सुख के असम्भवत्व

भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में सुख एवं दुःख के अनुभव कर्म

के फल के रूप में स्वीकृत हुए हैं। कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृत-अभ्यागम-शून्यता जगद्विषयक तथ्यों के रूप में स्वीकृत होने पर जगत् में अनर्जित दुःख अथवा अनर्जित सुख के लिये कोई स्थान नहीं रहता है। अनर्जित सुख एवं अनर्जित दुःख असम्भव हैं। कर्मवाद को स्वीकार करने पर पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्मों को स्वीकार करना भी आवश्यक हो जाता है, क्योंकि मानवजीवन में सुख-दुःख भोग के वैचित्र्य को व्यक्तियों के केवल वर्तमान जीवनों में किये गये कर्मों के आधार पर समझना सम्भव नहीं है। अतः संसारवाद को कर्मवाद के अनुसिद्धान्त के रूप में देखा जा सकता है।

१.५ कर्मवाद की समीक्षा

१.५.१ अनर्जित दुःख एवं सुखों की अबाधित प्रतीति

न्यायवैशेषिक दर्शन की आधारभूत पद्धतिमूलक मान्यताओं के साथ सङ्गत रहते हुए जगत् की कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृत-अभ्यागम-शून्यता को सिद्ध करना सम्भव प्रतीत नहीं होता है। बलवत्तर प्रमाण के अभाव में शास्त्रकार के द्वारा लोकप्रतीति का प्रत्याख्यान करना पद्धतिमूलक दृष्टि से दोषावह है। जिस प्रकार अर्जित सुख एवं दुःख सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध हैं उसी प्रकार मानव तथा मानवेतर प्राणियों द्वारा अनर्जित सुख-दुःख के भोग भी सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध हैं। भूकम्प, चक्रवात, महामारी आदि प्राकृतिक घटनाओं से उत्पन्न दुःख तथा विभिन्न प्रकार की दुर्घटनाओं, आतङ्कवाद एवं युद्ध आदि से उत्पन्न दुःख, भोक्ताओं के द्वारा किये गये कर्मों के फल ही हैं– यह सिद्ध करना न तो प्रत्यक्ष से न अनुमान से सम्भव है। दर्शनशास्त्र के निर्माण के लिये योगज प्रत्यक्ष का उपयोग पद्धतिमूलक दृष्टि से स्वीकार्य नहीं है। सहसा धन अथवा अन्य प्रकार के सौभाग्य लाभ तथा जन्मजात सौभाग्य के कारण से प्राप्त सुख को पूर्वकर्मार्जित कहना भी प्रमाणसिद्ध नहीं है। जगत् की कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृत-अभ्यागम-शून्यता के आधार पर उपर्युक्त प्रकार के सुखदुःखादि का पूर्वजन्मकृतकर्मार्जितत्व सिद्ध करने पर स्वयं कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृत-अभ्यागम-शून्यता सिद्ध नहीं हो जाते है।

पुरुष अपने प्रयत्न से उत्पन्न भौतिक व्यापार द्वारा स्वयं में तथा जगत् में परिवर्तन ला सकता है– यह सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है। सुख दुःखादि के भोग की उत्पत्ति एवं सामान्य रूप में किसी भी कार्य की उत्पत्ति कारणसामग्री की अपेक्षा रखती है। निर्हेतुक उत्पत्ति एवं निरन्वय विनाश

सम्भव नहीं हैं। परन्तु अकृत के अभ्यागम को स्वीकार करने पर अर्थात् अनर्जित दुःख या सुख को तन्त्र में स्थान देने पर निर्हेतुक उत्पत्ति की सम्भावना के लिये तन्त्र में स्थान स्वतः उपलब्ध नहीं हो जाता है। आतङ्ककारियों द्वारा मारे गये व्यक्तियों के मरणपूर्वकालीन दुःख एवं मारे गये व्यक्तियों के जीवित प्रियजनों के दुःख स्वकृतकर्मजन्य न होने पर भी निर्हेतुक नहीं है। इस प्रकार के दुःख, आतङ्ककारियों द्वारा किये गये साक्षात् नरसंहार अथवा उनके द्वारा किये गये अन्य प्रकार के विघटनात्मक कृत्यों के परिणाम हैं। वाल्मीकि रामायण में सीता का निर्वासनजन्य दुःख, स्वकृत कर्मजन्य नहीं है अपितु अयोध्या राजसिंहासन पर आसीन श्रीराम द्वारा सामाजिक मर्यादा की रक्षा के नाम पर किये गये एक प्रशासनिक निर्णय के क्रियान्वयन के कारण है। जब एक व्यक्ति अपने जीवन का बलिदान देकर अन्य की प्राण रक्षा करता है तब समाज में प्रशंसा का पात्र होने पर भी उसके लिये अपने त्याग के फल को प्राप्त करना स्वभावतः असम्भव होता है। अतः कृत का प्रणाश भी होता है।

१.५.२ पूर्वजन्मसिद्धि के लिये गौतम एवं वात्स्यायन द्वारा दी गई युक्तियाँ

न्यायवैशेषिक परम्परा में अनुमान प्रमाण द्वारा पूर्वजन्म की सिद्धि के लिये प्रयास किया गया है। न्यायसूत्रकार गौतम एवं भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार प्राणियों के हर्ष, भय एवं शोक, पूर्वानुभूत अथवा पूर्वश्रुत हर्ष, भय शोकादि के कारणविषयक स्मरण के बिना सम्भव नहीं होते हैं। किशोर, यौवनादि अवस्था में ईषद् हास्य, कम्प एवं रोदनादि से यथाक्रम हर्ष, भय एवं शोकादि का अनुमान होता है। शिशु में भी स्मित, कम्पन एवं रोदन से यथाक्रम हर्ष, भय एवं शोक का अनुमान युक्तिसङ्गत है।[१] अभिलषित विषय प्राप्त होने के कारण उत्पन्न सुख का अनुभव ही हर्ष है। ईप्सित व्यक्ति अथवा वस्तु के विनाश या अप्राप्ति से उत्पन्न दुःख का अनुभव ही शोक है। इष्टविषय का वियोग होने

---

१. वाचस्पतिमिश्र नवजात शिशु में भय का एक मनोरम उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं– "दृष्टो हि निरालम्बनो बालः स्खलन्मातुरङ्कात् पतनस्यानिष्टसाधनत्वमनुस्मृत्येदं च पतनमिति परामृश्य तस्यानिष्टसाधनत्वमनुमाय रुदन्मातुर्मङ्गल्यमुरःसूत्रं विक्षिप्य हस्तौ वेपमान उपाददानः तस्यानया चेष्टया भयशोकावनुमीयेते इत्यर्थः" *न्यायसूत्र* ३.१.१९ मूलक *तात्पर्यटीका* पृ. ५१६

पर उसकी प्राप्ति की अक्षमता बोध से शोक उत्पन्न होता है। आसन्न अनिष्टविषयक ज्ञान से उत्पन्न दुःख भय है। अनिष्टविषयसाधन के सन्निहित होने पर उसके परिहार की अशक्यता बोध से भय उत्पन्न होता है। परन्तु पूर्वज्ञात अथवा प्रत्यक्ष से अनुभूत हर्ष भयादि के कारणविषयक स्मृति के बिना हर्ष, भय एवं शोकादि की उपपत्ति नहीं होती है। नवजात शिशु के हर्ष, शोक एवं भय तथा वर्तमान जीवन में अपेक्षित पूर्वज्ञान या प्रत्यक्षानुभव के अभाव से शिशु के पूर्वजन्म में हर्ष शोकादि का कारणविषयक ज्ञान या प्रत्यक्षानुभव अनुमित होता है। उपर्युक्त अनुमान से पूर्वजन्म सिद्ध होता है।[२] पुनश्च प्राणी कभी जन्म से वीतराग नहीं होता है अर्थात् सभी प्राणी विषय के प्रति अनुराग के साथ ही जन्म लेते हैं। ईप्सित विषयों को बार-बार भोगने की इच्छा ही राग है। पूर्वानुभूत सुखसाधनविषयक अनुचिन्तन ही राग का कारण है। नवजात शिशु की स्तनपानादि की अभिलाषा एवं प्रवृत्ति तथा विभिन्न प्रजाति के प्राणियों के नवजातों में भिन्न-भिन्न विषयों के प्रति अनुराग, पूर्वजन्म के अनुभवजन्य संस्कार एवं तज्जन्य सुखसाधनविषयक स्मृति के बिना उपपन्न नहीं होते हैं। अतः पूर्वजन्म अवश्य स्वीकार्य है।[३]

---

२. (क) "पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः।" *न्यायसूत्र* ३.१.१९, पृ.२०१

(ख) "जातः खल्वयं कुमारकोऽस्मिञ्जन्मनि अगृहीतेषु हर्षभयशोकहेतुषु हर्षभय-शोकान्प्रतिपद्यते लिङ्गानुमेयान्। ते च स्मृत्यनुबन्धादुत्पद्यन्ते नान्यथा। स्मृत्य-नुबन्धश्च पूर्वाभ्यासमन्तरेण न भवति। पूर्वाभ्यासश्च पूर्वजन्मनि सति भवति नान्यथेति...", *न्यायसूत्र* ३.१.१९ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ.२०१-२०२

(ग) "एवं हर्षादयोऽपि विकारा निमित्ताद् भवितुमर्हन्ति न निमित्तमन्तरेण। न चान्यत्पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धान्निमित्तमस्तीति।" *न्यायसूत्र* ३.१.२१ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. २०३

(घ) "वीतरागजन्मादर्शनात्।" *न्यायसूत्र* ३.१.२५, पृ.२०५

३. (क) "पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः।" *न्यायसूत्र* ३.२.६१, पृ. २७१

(ख) "यदधिष्ठानोऽयमात्माऽयमहमिति मन्यमानो यत्राभियुक्तो यत्रोपभोगतृष्णया विषयानुपलभमानो धर्माधर्मौ संस्करोति तदस्य शरीरम्। तेन संस्कारेण धर्माधर्मलक्षणेन भूतसहितेन पतितेऽस्मिन् शरीरे उत्तरं निष्पद्यते।" उपर्युक्त सूत्र पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. २७१

१.५.३ शरीरोत्पत्ति के लिये अदृष्ट की कारणता के पक्ष में गौतम एवं वात्स्यायन द्वारा प्रस्तुत युक्तियाँ

न्यायसूत्रकार एवं भाष्यकार वात्स्यायन के मत में अदृष्ट की निमित्तकारणता के बिना केवल भौतिक कारणों से शरीर जैसे अत्यन्त विशिष्ट अवयवी की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। उनके अनुसार पुरुष द्वारा पूर्वशरीरकृतकर्मजन्य धर्माधर्म रूपी संस्कार, उत्तरजन्म में पुरुष के पिता-माताओं के धर्माधर्म रूपी संस्कार एवं भौतिक तत्त्वों से मातृगर्भ में शरीरोत्पत्ति सम्भव होती है।[४] प्राणिशरीरोत्पत्ति मानवकृत मूर्ति आदि की उत्पत्ति से अत्यन्त भिन्न एवं विलक्षण है। जरायुज एवं अण्डज पशुपक्षियों की उत्पत्ति में शुक्रशोणित के जरिये पिता-माताओं की निमित्तकारणता स्पष्ट है। माता के गर्भाशय में भ्रूण का आहारादि के द्वारा परिपोषण एवं क्रमिक विकास, विशुद्ध भौतिक प्रक्रियाओं से भिन्न एवं विलक्षण है, क्योंकि आहारतत्त्व का उक्त प्रकार का रूपान्तरण अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता है। पुनश्च सहवास रहने पर भी सभी दम्पतियों से सन्तानोत्पत्ति नहीं होती है। इससे अन्य किसी निमित्तकारण की आवश्यकता सिद्ध होती है। पुरुषप्रयोजनसिद्धि के लिये रथ एवं परशु आदि उपकरणों की उत्पत्ति पुरुषप्रयत्न से सम्भव होती है। पुरुष के भोगायतन शरीर रूपी उपकरण की उत्पत्ति में उसका प्रयत्न अनपेक्षित रहने पर भी पुरुषनिष्ठ धर्माधर्म रूपी संस्कार की निमित्तकारणता अनुमेय है। पुनश्च अदृष्टनिरपेक्ष रूप में केवल भौतिक तत्त्वों से प्राणी शरीर की उत्पत्ति स्वीकार करने पर पुरुषों के जन्मजात वैचित्र्य की उपपत्ति नहीं हो पाती है।

१.५.४ शरीर की अदृष्टकार्यता एवं पूर्वजन्म की सिद्धि के लिये प्रस्तुत युक्तियों की समीक्षा

शरीर की अदृष्टनिष्पाद्यता-प्रकरण में दी गई उपर्युक्त युक्तियों[५] के मूल्याङ्कन के लिये जीवविज्ञान एवं विशेष करके उसकी वंशानुगतधर्मविषयक

---

४. "तत्र सत्त्वस्य गर्भवासानुभवनीयं कर्म पित्रोश्च पुत्रफलानुभवनीये कर्मणी मातुर्गर्भाशये शरीरोत्पत्तिं भूतेभ्यः प्रयोजयन्तीति उपपन्नं बीजानुविधानमिति।" *न्यायसूत्र* ३.२.६४ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. २७३

५. देखिये *न्यायसूत्र* ३.२.६०-३.२.७३, इन सूत्रों पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. २७१-२८० तथा *न्यायमञ्जरी*, द्वितीय भाग, पृ. २६२-२६३

शाखा पर आश्रित रहना आवश्यक है। जीवविज्ञान के विषयों की भौतिक, रसायन शास्त्रादि के विषयों से विलक्षणता निर्विवाद है। परन्तु उक्त विलक्षणता, अदृष्टकारणता स्वीकार कर लेने पर बोधगम्य नहीं हो जाती है, अपितु समस्यायें यथावत् बनी रहती हैं। यदि नवजात शिशु के हर्ष, भय, शोकादियों की उपपत्ति केवल पूर्वजन्म के अनुभव से उत्पन्न संस्कार को स्वीकार करने पर ही होती है, तब जन्म से दृष्टिशक्तिविहीन व्यक्ति को पूर्वजन्म के रूपानुभवजन्य संस्कार से इस जन्म में स्पर्शानुभव रहने पर रूप का स्मरण हो जाना चाहिये, जो कि वस्तुतः नहीं होता है। उसी प्रकार पूर्वजन्म के शब्दश्रवणजन्य संस्कार के द्वारा जन्म से बधिर व्यक्ति को भी मृदङ्ग-वीणादि वाद्ययन्त्रों को देखने पर उनकी विलक्षण ध्वनियों का स्मरण हो जाना चाहिये, जो कि वस्तुतः नहीं होता है। जब एक शिशु एक मोमबत्ती की शिखा से आकृष्ट होकर उसको हाथ से पकड़ने के लिये प्रवृत्त होता है तब जन्मान्तरवादी के लिये यह स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है कि उस शिशु के पूर्वजन्म में वह्निशिखा का अनिष्टसाधनत्वविषयक संस्कार सम्पूर्ण रूप में विलुप्त हुआ है। पूर्वजन्म के किस प्रकार के संस्कार उद्बोधक रहने पर स्मृति एवं प्रवृत्ति निवृत्ति रूपी कार्य उत्पन्न करते हैं एवं किस प्रकार के संस्कार पूर्व शरीर के विनष्ट होने पर विलुप्त हो जाते हैं– यह बताना पूर्वजन्मवादी के लिये आवश्यक परन्तु असम्भव है। यह सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है कि प्रातःकाल में देखे गये सभी विषयों का स्मरण सायंकाल में नहीं हो पाता है। जन्मान्तरवादी सर्वत्र स्मृतिरूपी कार्य के लिये अदृष्टपरिपाक से उद्बुद्ध संस्कार की निमित्तकारणता स्वीकार करता है।[६] *यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय* से सङ्गत रहते हुये गर्भधारण, गर्भाशय में भ्रूण का अन्नतत्त्व आदि के द्वारा क्रमिक विकास, जन्मजात वैचित्र्यादि की उपपत्ति प्राणिशास्त्रीय एवं वंशानुगतधर्मविषयक तथ्यों के द्वारा सिद्ध करना सम्भव है। अतः जन्मान्तरवाद एवं अदृष्टकारणतावाद पद्धतिमूलक दृष्टि से न्यायवैशेषिक दर्शन में स्थान प्राप्त करने के अधिकारी नहीं हैं।

---

६. "न च य एकं स्मरति तेनापरमपि स्मर्तव्यमिति कश्चिन्नियमहेतुरस्ति येन जात्यन्धबधिरादयो रूपादिभेदान् व्याचक्षीरन् अदृष्टपरिपाकोद्बोधितस्य संस्कारस्य तन्नियमेन नियमोपपत्तेः। अद्यत्वेऽपि चानुभूतेषु कस्यचिदेव स्मरत्यात्मा न सर्वस्येति।" *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका*, *न्यायसूत्र* ३.१.२३ का वार्त्तिक पर, पृ. ५१७

१.५.५ आदर्श के रूप में कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृत-अभ्यागमशून्यता– कर्तव्य, अकर्तव्यों के आधार के रूप में आदर्श

धर्मरूपी पुरुषार्थ द्वारा परिपुष्ट एवं सुसंस्कृत नैतिक संवेदनशीलता, कृत के प्रणाश एवं अकृत के अभ्यागम द्वारा आन्दोलित एवं आहत होती है। मानव का स्वाभिमान एवं धर्माधर्मबोध उसे ऐसी व्यवस्था को आदर्श के रूप में वरण करने के लिये अनुमति नहीं देता है जहाँ कृतप्रणाश अथवा अकृताभ्यागम की सम्भावना रहती है। धर्माधर्मबोध अनर्जित दुःख अथवा सुख को भूतकल्याणकारी तत्त्व के रूप में ग्रहण नहीं कर सकता है। धर्माधर्मबोध से प्रेरित मानवहृदय की अन्तरतम अभिलाषा के विषय, कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृताभ्यागमशून्यता रूपी आदर्श, भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में जगत् के वस्तुनिष्ठ धर्म के रूप में गृहीत हुये हैं। आदर्श के रूप में कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृत-अभ्यागम-शून्यता अवश्य स्वीकार्य हैं। इस आदर्श के बिना धर्म रूपी पुरुषार्थ की कल्पना सम्भव नहीं है। आदर्श स्वरूपतः कर्तव्य-अकर्तव्यविषयक विधि एवं निषेध के आधार होते हैं, अन्यथा आदर्शों का आदर्शत्व बाधित होता है। सत्य भाषण को आदर्श के रूप में स्वीकार करने का अर्थ 'सत्य बोलना चाहिये' एवं 'असत्य भाषण नहीं करना चाहिये' इन विधि एवं निषेधों की प्रामाणिकता को स्वीकार करना है। इतिहास केवल धर्म की विजय का साक्षी है– यह कहना न केवल विवादास्पद अपितु सत्य का अपलाप भी है। परन्तु 'केवल धर्म की ही विजय होनी चाहिये'– यह निर्विवाद रूप में स्वीकार्य है। जिस प्रकार धर्म को आदर्श के रूप में स्वीकार करने का अर्थ धर्म की विजय के लिये यथासाध्य प्रयत्न करने को कर्तव्य के रूप में तथा अधर्म का साथ देना अकर्तव्य एवं निषिद्ध के रूप में स्वीकार करना है, उसी प्रकार कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृत-अभ्यागम-शून्यता को आदर्श के रूप में स्वीकार करने का अर्थ जगत् में कृत का प्रणाश एवं अकृत का अभ्यागम न हो इसके लिये यथासाध्य प्रयत्न करते रहने को कर्तव्य के रूप में स्वीकार करना है। जानबूझकर कृतप्रणाश एवं अकृत के अभ्यागम में साक्षात् अथवा परोक्ष रूप में सहायक होने से निवृत्त होना मानव का साधारण धर्म है– यह अवश्य स्वीकार्य है। धर्म की विजय को मानव के इतिहासविषयक तथ्य के रूप में स्वीकार करने पर एवं कृतप्रणाशशून्यता तथा अकृत-अभ्यागम-शून्यता को जगद्विषयक तथ्यों

के रूप में मान लेने पर पुरुषार्थमीमांसा की दृष्टि से मानवप्रयत्न की सार्थकता का आधार स्वतः नष्ट हो जाता है।

२. दुःखतत्त्वविषयक विचार

२.१ भूतकल्याणकारी पवित्र लोकोत्तर दुःख

भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में दुःख को अवाञ्छनीय तत्त्व के रूप में देखा गया है। दार्शनिकों ने भी सम्प्रदाय निरपेक्ष रूप से इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है। न्यायवैशेषिक परम्परा में सुख का प्रमाणसिद्धत्व एवं सुखानुभव का यथार्थत्व स्वीकृत होने पर भी सुख की दुःखानुविद्धता के आधार पर जीवन का दुःखमयत्व स्वीकृत हुआ है।[७] परन्तु भूतकल्याणकारी वाञ्छनीय दुःखतत्त्व का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक प्रतीत होता है। संस्कृति की प्रगति एवं विकास, असाधारण प्रतिभा एवं व्यक्तित्वविशिष्ट महापुरुषों के निःस्वार्थ आत्मोत्सर्ग एवं तपस्या की अपेक्षा रखते हैं। जिस प्रकार जननी की गर्भवेदना के बिना नवजात शिशु एवं वात्सल्य प्रेम जैसी अमूल्य सृष्टि असम्भव है उसी प्रकार स्रष्टा की साधना रूपी घनीभूत वेदना के बिना संस्कृति को प्रगाढ़ आत्मविश्वास के साथ प्रगतिशीलता प्रदान करने वाले मानवीय मूल्य रूपी तत्त्वों की सृष्टि भी असम्भव है। शाक्यमुनि गौतम एवं तीर्थङ्कर महावीर के साधना रूपी होमानल से करुणा एवं अहिंसा रूपी मूल्यों की सृष्टि हुई है। वाल्मीकि रामायण में गाधी पुत्र विश्वामित्र के स्वीय मानवीय दुर्बलताओं के विरुद्ध सङ्घर्ष एवं तपस्या के बिना आसुरी सम्प्रभुता के मूलोच्छेद के लिये मानवीय शक्ति का दृढ़ सङ्कल्प अङ्कुरित एवं पल्लवित नहीं हो पाता। उसी प्रकार राजवधू सीता की मानरक्षा के लिये गृध्रराज जटायु के द्वारा अपने प्राणों

---

७. (क) "विविधबाधनायोगाद्दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः"। *न्यायसूत्र* ४.१.५५, पृ.३१४

(ख) "दुःखानुषङ्गाद्दुःखं जन्मेति न सुखस्याभावात्।"
"न दुःखं जन्म स्वरूपतः किन्तु दुःखोपचारात्।"
न्यायसूत्र ४.१.५८ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ.३१५-३१६

(ग) "न वै सर्वलोकसाक्षिकं सुखं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। अयं तु जन्ममरणप्रबन्धानुभवनिमित्ताद्दुःखान्निर्विण्णस्य दुःखं जिहासतो दुःखसंज्ञाभावनोपदेशो दुःखहानार्थ इति।" *वात्स्यायनभाष्य*, दुःखपरीक्षाप्रकरण का उपोद्घात, पृ. ३१३

के बलिदान के बिना निःस्वार्थत्याग रूपी मानवीय मूल्य की सृष्टि नहीं होती। मूल्य की सृष्टि स्रष्टा से शोणित एवं अश्रु के अर्घ्य की अपेक्षा रखती है। मूल्यस्रष्टा की वेदना भूतकल्याणकारी तत्त्वों की जननी होने से स्वतः पवित्र है। स्वकृत कर्म के फल के रूप में प्राप्त न होने से इस विलक्षण प्रकार के दुःख को अर्जित नहीं कहा जा सकता है। मानवीय धर्माधर्मबोध को अपने अमृतमय स्पर्श से अधिक संवेदनशील, संस्कृत एवं उत्प्रेरित करने से धर्माधर्मबोध को आहत करने वाले अनर्जित अमङ्गलस्वरूप दुःख से यह दुःख निश्चित रूप में भिन्न है। लौकिक अर्जित-अनर्जित भेदातीत यह कल्याणकारी दुःख *लोकोत्तर* या *अलौकिक* कहा जा सकता है।

२.२ धर्माधर्मबोध के लिये चुनौती के रूप में लौकिक दुःख एवं लौकिक दुःखों के स्रोत

लौकिक मानवीय दुःख का स्रोत या तो मानव स्वयं होता है या प्रकृति उसका स्रोत होती है। मानवकृत दुःख व्यक्ति विशेष द्वारा कृत कर्मजन्य अथवा समाज राष्ट्र आदि संस्थागत व्यवस्था विशेष जन्य होता है। व्यक्तिविशेष द्वारा कृत कर्मजन्य दुःख जब दुःख भोग करने वाले के स्वकृत कर्म के कारण ही होता है तब वह दुःख *अर्जित* कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप जब एक रोगी चिकित्सक के द्वारा निर्दिष्ट औषधियों का सेवन जानबूझकर नहीं करता है तथा पथ्यापथ्य विवेचन के बिना आहार ग्रहण करता है एवं इस कारण उसकी व्याधि में वृद्धि होती है, तब व्याधिबुद्धिजन्य उसके शारीरिक दुःख के लिये रोगी स्वयं उत्तरदायी होने से वह दुःख अर्जित है। विद्यार्थी के आलस्यजन्य अपेक्षित अध्ययन के अभाव के कारण परीक्षा में असफलता से उत्पन्न उसका दुःख अर्जित है। सामान्य रूप में समर्थ कर्ता द्वारा अपेक्षित प्रयास की शिथिलता के कारण हुई कर्म की अकृतकार्यता से उत्पन्न कर्ता का दुःख अर्जित होता है। जब व्यक्ति को प्राप्त दुःख अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्तियों द्वारा किये गये कर्म के कारण होता है तब वह व्यक्तिकृत *अनर्जित* दुःख कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप जब एक मोटरवाहनचालक की असावधानी से एक व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तब उस व्यक्ति का मरण पूर्वकालीन दुःख तथा मृत्यु के कारण उस पर आश्रित व्यक्तियों एवं उसके प्रियजनों का दुःख स्पष्टतया अनर्जित हैं।

धर्म भूतकल्याणकारी होने से स्वरूपतः अहिंसात्मक है। प्राप्तव्य इष्ट की अप्राप्ति एवं अप्राप्तव्य अनिष्ट की प्राप्ति *अधर्म* (अन्याय) या हिंसा है। केवल शारीरिक या मानसिक पीड़ा होने पर ही हिंसा होती है यह बात सही नहीं है। जिसके प्रति अन्याय होता है वह हिंसा का शिकार है। अन्याय घटित होने के लिये पीड़ित व्यक्ति में उसके प्रति हुए अन्याय का ज्ञान रहना आवश्यक नहीं है। बन्धुआ मजदूर, बालश्रम तथा अन्य शोषणात्मक सम्बन्धों में प्राप्तव्य की अप्राप्ति तथा अप्राप्तव्य की प्राप्ति रूपी अन्याय होता है। अस्पृश्यता, जाति, धर्म एवं लिङ्ग के कारण वैषम्य एवं भेदभाव के कारण होने वाले दुःख सामाजिक, अर्थनीतिक एवं राजनीतिक व्यवस्थागत दोषों से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के दुःख के लिये किसी व्यक्ति विशेष के उत्तरदायी न होने पर भी यह दुःख स्पष्टतया मानवकृत है। राष्ट्रों के मध्य युद्ध के कारण घटित विनाश एवं मृत्यु से उत्पन्न दुःख तथा धर्म या संस्कृति की रक्षा के नाम पर उन्मादित संस्थाओं द्वारा समर्थित विभिन्न प्रकार के आतङ्कवाद से उत्पन्न दुःख भी संस्थाजन्य होने से मानवकृत हैं। भूकम्प, चक्रवात, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक दुर्घटनाओं तथा महामारी आदि से उत्पन्न दुःख का स्रोत प्रकृति है। मानवकृत दुःख के लिये व्यक्ति अथवा संस्था उत्तरदायी होते हैं। शिक्षा एवं संस्थाओं के सुधार एवं अकल्याणकारी प्रथाओं के प्रत्याख्यान द्वारा अनर्जित मानवकृत दुःखों का नियन्त्रण एवं निराकरण सम्भव है। सुनियोजित वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं तकनीकी विकास से महामारी एवं भूकम्पादि असाधारण प्राकृतिक घटनाओं से होने वाले विनाश एवं अकाल मृत्यु आदि से उत्पन्न दुःखों का नियन्त्रण एवं आंशिक रूप में निराकरण मानव प्रयास के द्वारा सम्भव है। असाधारण प्राकृतिक घटनाओं से उत्पन्न जिन दुःखों का नियन्त्रण अथवा निराकरण उपलब्ध तकनीकी से मानवप्रयाससाध्य होता है उनके लिये समाज एवं राष्ट्र आदि उत्तरदायी होते हैं। कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृताभ्यागमशून्यता को आदर्श के रूप में वरण करने पर मानवकृत एवं प्रकृतिकृत अनर्जित दुःख के निराकरण करने में समर्थ समाज एवं राष्ट्र का निर्माण तथा सञ्चालन के लिये निरन्तर प्रयास करना साधारण धर्म के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। सुनियोजित वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं समुचित तकनीकी के विकास के लिये व्यवस्था करना राष्ट्र का नैतिक उत्तरदायित्व है क्योंकि उसके बिना अनर्जित दुःख का निराकरण सम्भव नहीं है। भूतानुकम्पा अर्थात् प्राणिदया या करुणा को आदर्श के रूप में वरण करने पर अर्जित एवं अनर्जित उभय कोटि के दुःख धर्माधर्मबोध

के लिये अकल्याणकारी एवं अवाञ्छनीय तत्त्व हो जाते हैं। समाज एवं राष्ट्रकृत प्रयास से निर्मित एवं सञ्चालित शिक्षा की व्यवस्था द्वारा ही अर्जित दुःख का निराकरण सम्भव होता है।

दुःखों का उपर्युक्त वर्गीकरण सङ्क्षेप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है–

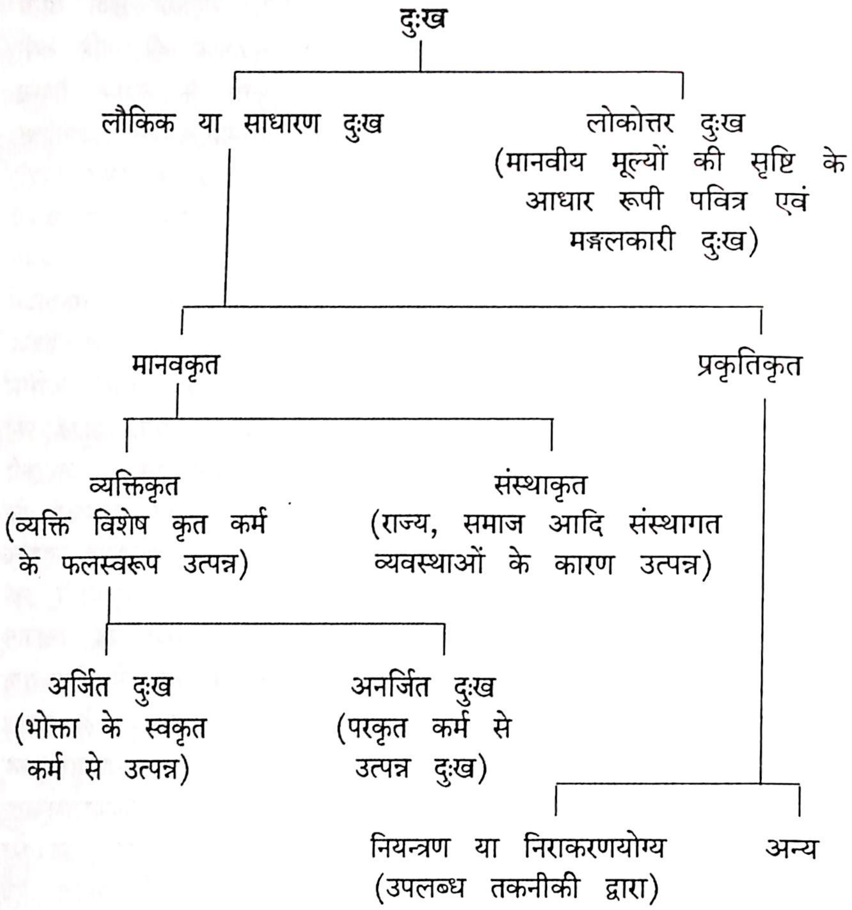

३. अदृष्टकारणतावादविषयक विचार

३.१ अदृष्टकारणतावाद की सिद्धि के लिये परम्परागत युक्तियाँ

आत्मा के नौ विशेष गुणों में धर्म एवं अधर्म परिगणित हैं। पुरुषकृत कर्म का सुख या दुःख रूपी फल उसको अवश्य प्राप्त होता है– इसे

स्वीकार न करने पर परम्परागत मत में कृतप्रणाश की सम्भावना उपस्थित होती है। परन्तु कर्म का फल सर्वत्र उस कर्म के अव्यवहित उत्तरवर्ती नहीं होता है। अतः जिस प्रकार अनुभव एवं स्मृति के मध्य कार्यकारण सम्बन्ध की उपपत्ति के लिये भावना नामक आत्मनिष्ठ संस्कार को स्वीकार करना आवश्यक है उसी प्रकार पुरुषकृत कर्म एवं उसके द्वारा सुखदुःख रूपी फल भोग के मध्य कार्यकारण सम्बन्ध की उपपत्ति के लिये पुरुषनिष्ठ धर्म एवं अधर्म रूपी दो गुण स्वीकार्य हैं।[८] ये दो गुण सङ्क्षेप में अदृष्ट नाम से अभिहित होते हैं।[९] फल, पुष्प, शस्य, कण्टकादि प्राकृतिक वस्तुएँ पुरुषों के सुख अथवा दुःख भोग में निमित्त कारण की भूमिका निभाती हैं। उसी प्रकार घट, पट, यान, गृहादि मानव निर्मित वस्तुएँ भी सुख दुःख भोग में निमित्त कारण की भूमिका निभाती हैं। परन्तु सभी वस्तुएँ सभी पुरुषों के सुख दुःख भोग के निमित्त कारण की भूमिका नहीं निभाती हैं, अपितु वस्तु विशेष पुरुष विशेष के सुखदुःखभोग में कारण होती हैं। यहाँ पर व्यवस्था के लिये तत् तत् पुरुष के सुखदुःखभोग में निमित्तकारणता की भूमिका निभाने वाली तत् तत् वस्तु की उत्पत्ति में तत् तत् पुरुष के अदृष्ट की कारणता स्वीकार करने की आवश्यकता होती है। उदाहरणस्वरूप यदि आम्र फल विशेष के भोजन से चैत्र को सुखानुभव होता है तो उस आम्रफल विशेष की उत्पत्ति में चैत्रनिष्ठ धर्म रूपी अदृष्ट की निमित्त कारणता स्वीकार्य है। न्यायवैशेषिक परम्परा में स्वीकृत आठ साधारण कारणों में से अदृष्ट अन्यतम है।[१०]

३.२ अदृष्टकारणतावाद की समीक्षा

वस्तुतः कृतप्रणाश तथा अकृत की अभ्यागमशून्यता को जगद्विषयक तथ्य के रूप में स्वीकार करने पर ही प्राणियों को सुखदुःख भोग की उपपत्ति के लिये अदृष्ट को तथा उसकी कारणता को स्वीकार करने की आवश्यकता होती है। परन्तु कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृताभ्यागमशून्यता इन

---

८. "चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना।
सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतैरपि।" *न्यायकुसुमाञ्जलि*, १.९, पृ.३३

९. "अदृष्टशब्देन धर्माधर्मयोः सङ्क्षेपेणाभिधानम्।" *किरणावली*, पृ.१४

१०. "ईश्वरस्तज्ज्ञानेच्छाकृतयः प्रागभावकालदिगदृष्टान्यष्टौ साधारणकारणानि। तत्त्वं तु कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणत्वम्।" *तर्कसङ्ग्रह* की मेरुशास्त्रीकृत *वाक्यवृत्ति* टीका, पृ. ३६

उभय को आदर्श के रूप में तन्त्र में स्थान देने पर पुरुषनिष्ठ धर्म एवं अधर्म रूपी गुणों को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती है। पुरुषकृत कर्म के द्वारा स्वयं कर्ता, अन्य पुरुष, प्राणी एवं वस्तुएँ आदि अवश्य प्रभावित होते हैं। जिस प्रकार पुरुष स्वकृत कर्म के फलस्वरूप सुखदुःखभोग करता है उसी प्रकार अन्यकृत कर्म के फलस्वरूप भी वह सुखदुःखभोग करता है। शुभ एवं अशुभ कर्मों के प्रभाव कर्ता पर अवश्य भिन्न होते हैं। ज्ञानजन्य संस्कार एवं कर्मजन्य संस्कार में भेद मनोविज्ञान का विषय है। तत् तत् पुरुष के सुखदुःखभोग की कार्यकारणव्यवस्था के लिये केवल तत् तत् पुरुषकृत अतीत कर्मों तक सीमित रहना पद्धतिमूलक दृष्टि से युक्तिसङ्गत नहीं है। यह सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है कि पितृमातृकृत कर्म उनके सन्तानों के सुखदुःख के कारण होते हैं एवं उसी प्रकार सन्तानकृत कर्म उनके पिता एवं मातादि के सुख अथवा दुःख का कारण होते हैं।

न्यायवैशेषिक परम्परा का अदृष्टकारणवाद जगत् को पुरुषकेन्द्रित रूप प्रदान करता है तथा कार्यकारणविषयक तथ्यपरक अनुसन्धान में बाधक बनता है। वस्तुतः अन्वय एवं व्यतिरेक सहचार पर आधारित कार्यकारणसम्बन्ध-निरूपणपद्धति के महत्त्व को पहचानकर ही न्यायवैशेषिक दार्शनिकों ने इसका प्रयोग किया है।[११] परन्तु अदृष्टकारणवाद इस व्यवस्थित पद्धति के पूर्णरूपेण प्रयोग में बाधक बना रहा। अज्ञातकारणक कार्यों को अदृष्टकारित कहकर व्यवस्थित अनुसन्धान से निस्तार प्राप्त करना वैचारिक उद्यमहीनता को प्रोत्साहित करना ही है। वैशेषिकसूत्रकार द्वारा लौहादि का चुम्बक के प्रति गमन, वृक्षलताओं में जल का ऊर्ध्वगमन, भूकम्प, अतिवृष्टि एवं अनावृष्टि आदि प्राकृतिक घटनाओं को अदृष्टकारित स्वीकार करना इसी के उदाहरण हैं।[१२]

४. आत्मा का स्वरूपविषयक विचार

४.१ आत्मविषयक परम्परागत न्यायवैशेषिक सिद्धान्त

न्यायवैशेषिक परम्परा का आत्मा के स्वरूपविषयक विचार में प्रत्यभिज्ञा (प्रतिसन्धान) की प्रामाणिकता, कारकसिद्धान्त तथा कर्मवाद आधारभूत भूमिका निभाते हैं। न्यायवैशेषिक दार्शनिकों के द्वारा बौद्धसम्मत आत्मा के क्षणिकत्व,

---

११. "प्रवाहोऽनादिमानेष न विजात्येकशक्तिमान्।
तत्त्वे यत्नवता भाव्यमन्वयव्यतिरेकयोः॥" *न्यायकुसुमाञ्जलि १.६, पृ.२०*

१२. *वैशेषिकसूत्र* ५.१.१५, ५.२.२, ५.२.४, ५.२.८, बडौदा संस्करण, पृ.३९-४१

सङ्घातस्वरूपत्व एवं सन्तानस्वरूपत्व का खण्डन मुख्य रूप से प्रत्यभिज्ञा की प्रामाणिकता पर आधारित हैं। आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व के सामानाधिकरण्य अर्थात् उसकी एकरूपता तथा देह, इन्द्रिय, मन आदि से आत्मा के भेद की सिद्धि भी प्रतिसन्धान के याथार्थ्य पर आधारित है। आत्मा का अस्तित्व तथा देहादि से उसके भेद की सिद्धि मुख्यतया कारकसिद्धान्त पर आधारित है। आत्मा के नित्यत्व की सिद्धि उसके द्रव्यत्व, निरवयवत्व तथा कर्मवाद पर आधारित है।

४.१.१ प्रतिसन्धान (प्रत्यभिज्ञा) का स्वरूप एवं प्रामाणिकता

प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप स्पष्ट करते हुये न्यायभाष्यकार लिखते हैं–

> किं पुनरिदं प्रत्यभिज्ञानम्? यं पूर्वमज्ञासिषमर्थं तमिमं जानामीति ज्ञानयोः समानेऽर्थे प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। (*न्यायसूत्र* ३.२.२ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. २३४)[१३]
>
> [इस प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप क्या है? 'यह पदार्थ जो पहले मेरे ज्ञान का विषय रह चुका है अब मेरे वर्तमान ज्ञान का विषय है'– इस आशय के एक ही पदार्थ में (एक ही प्रमाता के) दो भिन्नकालिक ज्ञान की विषयता रहने पर जो प्रतिसन्धिज्ञान होता है वह प्रत्यभिज्ञा है।]

न्यायवार्त्तिककार उद्द्योतकर के अनुसार किसी वस्तु या व्यक्ति के पहली बार के प्रत्यक्ष से उत्पन्न संस्कार उस वस्तु या व्यक्ति के दूसरी बार प्रत्यक्ष होने से उद्‌बुद्ध होता है एवं उससे उत्पन्न स्मृति के अनन्तर पूर्व की उस वस्तु या व्यक्ति का तृतीय बार जो अनुभव होता है वह प्रत्यभिज्ञा है।[१४]

क्षणिकवादी दार्शनिक प्रत्यभिज्ञा रूपी प्रत्यक्ष को एक ज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उनके मत में 'यह वही है'– इस आकार की प्रतीति वस्तुतः दो ज्ञानों का सम्मिश्रण है। 'वह' स्मृति का विषय है एवं 'यह' प्रत्यक्ष का विषय है। पूर्वानुभव से उत्पन्न संस्कार का

---

१३. "पूर्वापरयोर्विज्ञानयोरेकविषये प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्, तमेवैतर्हि पश्यामि यमज्ञासिषं स एवायमर्थ इति।" *न्यायसूत्र* ३.१.७ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ.१९५

१४. "...प्रत्यभिज्ञानं हि नामाद्यप्रत्यक्षनिरोधे द्वितीयदर्शने प्रागाहितसंस्काराभिव्यक्तौ स्मृतिपूर्वं तृतीयं दर्शनम्।" *न्यायसूत्र* ३.२.३ पर *न्यायवार्त्तिक*, पृ. ४०३

विषय वर्तमानकालिक नहीं होता है एवं इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष अतीतकालिक विषय को प्रकाशित नहीं कर सकता है।[१५]

प्रत्यभिज्ञा में वर्तमानकालिक विषय अतीतकाल से विशेषित होकर भासित होता है। प्रत्यक्ष का विषय भूतकालिक धर्म से विशेषित होकर भासित हो सकता है– यह स्वीकार न करने पर गणना व्यवहार में प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम आदि के रूप में भासित परिगणित पदार्थों के सङ्ख्यामूलक धर्मों की उपपत्ति नहीं होती है। उदाहरणस्वरूप 'प्रजापति' शब्द का अष्टम वर्ण 'त्' है। यहाँ पर 'त्' के उच्चरित वर्णानुक्रम में अष्टम स्थान में रहने का ज्ञान तत् पूर्ववर्ती 'अ' वर्ण के सप्तम स्थान में रहने के ज्ञान पर आश्रित है। प्रत्यभिज्ञा रूपी प्रत्यक्ष सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है। प्रबल प्रमाण के अभाव में लोकप्रतीति का प्रत्याख्यान पद्धतिमूलक दृष्टि से अस्वीकार्य है। पुनश्च, सम्यक् प्रत्यभिज्ञान के अभाव में मिथ्या प्रत्यभिज्ञान भी सम्भव नहीं है, क्योंकि *भाक्त-प्रधान न्याय* के अनुसार शब्दों का भाक्त प्रयोग जिस प्रकार उनके प्रधान प्रयोग की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार मिथ्या प्रत्यभिज्ञान भी यथार्थ प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा रखता है।[१६] प्रत्यभिज्ञा की प्रामाणिकता स्वीकार न करने पर अर्धकृत गृहादि के समापन एवं अर्धोत्कृत प्रतिमादि को पूर्णोत्कृत करना आदि व्यवहार की उपपत्ति नहीं होती है।[१७] यह सत्य है कि केवल इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष का विषय अतीतकालिक धर्म से विशेषित होकर भासित नहीं होता है। विषय के पूर्वप्रत्यक्ष से उत्पन्न संस्काररूपी सहकारी कारण रहने पर वह विषय भूतकालिक धर्म से विशेषित होकर भासित हो सकता है।[१८]

---

१५. "तस्माद् द्वे एते ज्ञाने, स इति स्मरणमयमिति अनुभवः।" *न्यायमञ्जरी*, द्वितीय भाग, पृ. २३१

१६. "नासति बलवति बाधके प्रमाणे प्रत्यभिज्ञानस्य शक्यं मिथ्यात्वं, ज्वालादिषु तु तदस्तीत्यर्थः। न च समस्तप्रतिसन्धानप्रत्ययमिथ्यात्वे मिथ्याप्रतिसन्धानप्रत्ययो भवितुमर्हति बीजाभावादित्याह।" *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, न्यायसूत्र* २.१.१६ पर, पृ. ३६६

१७. "पूर्वदृष्टस्य स्मरणम्, स्मृतस्य, कस्यचित् प्रत्यभिज्ञानम्। प्रत्यभिज्ञातस्य गृहादेरर्ध-कृतस्य समापनमित्यादयश्च व्यवहारा विप्रलुप्येरन्।" *न्यायमञ्जरी*, द्वितीय भाग, पृ.२५२

१८. *न्यायमञ्जरी* द्वितीय भाग का पृ. २४५-२४८ द्रष्टव्य है।

४.१.२ प्रतिसन्धान की प्रामाणिकता के आधार पर प्रतिसन्धाता रूपी आत्मा के अस्तित्व, अक्षणिकत्व, असङ्घातस्वरूपत्व एवं देहादिव्यतिरिक्तत्वादि की सिद्धि

प्रतिसन्धान की यथार्थता ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख एवं दुःख का समानाश्रयत्व सिद्ध करती है। प्रमेयलक्षण प्रकरण में न्यायसूत्रकार एवं भाष्यकार का आत्मा के लक्षण तथा अस्तित्वसिद्धिप्रक्रिया ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्नादि के एकाश्रयत्वविषयक प्रतिसन्धान पर आधारित हैं। प्रतिसन्धान के द्वारा आत्मा कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व के विलक्षण द्रव्यात्मक आश्रय के रूप में सिद्ध होता है– "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।" (*न्यायसूत्र*, १.१.१०, पृ. २७)। इस सूत्र को भाष्य में वात्स्यायन लिखते हैं–

> यज्जातीयस्यार्थस्य सन्निकर्षात् सुखमात्मोपलब्धवान् तज्जातीयमेवार्थं पश्यन्नुपादातुमिच्छति। सेयमादातुमिच्छा एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात् भवन्ती लिङ्गमात्मनः, नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति। एवमेकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात् दुःखहेतौ द्वेषः।" (*वात्स्यायनभाष्य*, पृ.२७-२८)[१९]
>
> [जिस जातीय अर्थ के सन्निकर्ष से सुखानुभव हुआ था उसी जातीय अर्थ के दर्शन से पुरुष उसे प्राप्त करने की इच्छा करता है। यह प्राप्त करने की इच्छा अनेक अर्थों के दर्शन करने वाले दर्शन प्रतिसन्धानकर्ता एक ही पुरुष का अस्तित्व सिद्ध करती है। पुरुष यदि क्षणिक ज्ञानों का सन्तान मात्र होता तो विभिन्न काल में उत्पन्न अपने-अपने विषयों से विशिष्ट ज्ञानों के परस्पर भेद के कारण उपर्युक्त प्रकार का प्रतिसन्धान सम्भव ही नहीं होता। जैसा कि एक पुरुष का अतीत सुखानुभव दूसरे पुरुष में उस सुख के साधन के सजातीय पदार्थ के देखे जाने पर भी उसको प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न नहीं करता है। उसी प्रकार अनेक अर्थों का दर्शन करने वाले एक ही पुरुष में दुःख हेतु के दर्शन प्रतिसन्धान से द्वेष उत्पन्न होता है।]

---

१९. उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या *न्यायमञ्जरी* भाग २, पृ. २०९-२११, तथा *न्यायभूषण* पृ. ४८७ पर द्रष्टव्य है। इस सन्दर्भ में *किरणावली* पृ. ९१ भी द्रष्टव्य है।

ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख एवं दुःखों का समानाश्रयत्व स्वीकार न करने पर प्राप्ति एवं परिहारादि व्यवहार की उपपत्ति सम्भव नहीं होती है, क्योंकि चैत्रनिष्ठ अनुभव से मैत्र में स्मृति अथवा विषय की प्राप्ति या परिहार की इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकती है।[२०]

प्रतिसन्धान से न केवल पुरुष का एकत्व एवं अक्षणिकत्व सिद्ध होता है अपितु साथ ही असङ्घात स्वरूपत्व तथा शरीर, इन्द्रिय एवं मन आदि से भेद भी सिद्ध होता है। 'पेड़ पर जिस चम्पक फूल को मैंने चक्षु से देखा था उसी को स्पर्शेन्द्रिय से अब स्पर्श कर रहा हूँ' – इस वाक्य में 'देखना' एवं 'स्पर्श करना' इन क्रियाद्वय का कर्ता एक ही है एवं कर्म भी एक ही है यह भासित होने के साथ दर्शनेन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रियों से कर्ता का भेद भी भासित होता है। प्रतिसन्धानकर्ता न दर्शनेन्द्रिय हो सकता है न स्पर्शेन्द्रिय। दर्शनेन्द्रिय केवल रूप को एवं रूप के आश्रय के रूप में द्रव्य को ग्रहण करने में सक्षम है, न कि स्पर्श को अथवा स्पर्श के आश्रय के रूप में द्रव्य को ग्रहण करने में। उसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय केवल स्पर्श को एवं स्पर्श के आश्रय के रूप में द्रव्य को ग्रहण करने में सक्षम हैं, न कि रूप को अथवा रूप के आश्रय के रूप में द्रव्य को ग्रहण करने में। अतः देखने एवं स्पर्श करने रूपी क्रियाओं के प्रतिसन्धान की उपपत्ति के लिये दर्शन एवं स्पर्शेन्द्रियों से भिन्न प्रतिसन्धानकर्ता स्वीकार करना आवश्यक है।[२१]

---

२०. (क) "ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः।" *न्यायसूत्र* ३.२.३५, पृ. २५२, उस पर *वात्स्यायनभाष्य* द्रष्टव्य है।

(ख) "न हि अन्यो जानात्यन्य इच्छति अन्यः प्रयतत इति सम्भवति, तथात्वे च चैत्रे द्रष्टरि मैत्रे चैषितरि जैत्रो यतते, तस्मादैकाधिकरण्येनैवामीषां कार्यकारणभावनियमो नान्यथा।" *किरणावली*, पृ.९१

२१. (क) "इन्द्रियं खलु स्वस्वविषयग्रहणमनन्यकर्तृकं प्रतिसन्धातुमर्हति न इन्द्रियान्तरस्य विषयान्तरग्रहणमिति।" *न्यायसूत्र* ३.२.१ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. १९०

(ख) "यमर्थमद्राक्षं चक्षुषा तमेवैतर्हि स्पर्शनेन स्पृशामि, यमस्प्राक्षं स्पर्शनेन तमधुना चक्षुषा पश्यामीति कतरदिन्द्रियमेवमनुसन्दधीत। न चक्षु स्पर्शाविषयत्वात्, न त्वगिन्द्रियं रूपाविषयत्वात्। तस्मादुभयविषयग्रहणसमर्थः कश्चिदनुसन्धातास्तीति स इन्द्रियव्यतिरिक्तो गम्यते।" *न्यायमञ्जरी*, द्वितीय भाग, पृ. २१८

प्रतिसन्धानकर्ता को एक एवं इन्द्रियों से भिन्न स्वीकार न करने पर वर्णानुक्रम विशेष रूपी पद के श्रवण से पदार्थबोध, पदानुक्रम विशेष रूपी वाक्य के श्रवण से वाक्यार्थबोध एवं वाक्यसमुदाय के श्रवण से वक्ता द्वारा विवक्षित अर्थ के बोध की उपपत्ति नहीं होती है, क्योंकि श्रवणेन्द्रिय का विषय केवल ध्वनि है जबकि शाब्दबोध द्वारा सभी इन्द्रियों के विषय तथा अतीन्द्रिय विषय भी गृहीत होते हैं। 'रूप रस से भिन्न है'– इस वाक्य को सुनने पर जो रूप विशेष्यक रसप्रतियोगिकभेदप्रकारक अर्थबोध होता है उसमें न तो रूप, न रस श्रवणेन्द्रिय का विषय है।[२२] उसी प्रकार रूप दर्शन से रस का एवं स्पर्शादि से रूप, रस, गन्धादि के अनुमान की उपपत्ति के लिये इन्द्रिय भिन्न अनुमाता का स्वीकार करना आवश्यक है। प्रतिसन्धानकर्ता निश्चित रूप में इन्द्रियों से भिन्न है, क्योंकि वाम चक्षु द्वारा देखे गये व्यक्ति या वस्तु को दक्षिण चक्षु से देखकर भी पहचानना सम्भव है।[२३] ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख एवं दुःख के आश्रय का शरीर से भेद, प्रतिसन्धान द्वारा सिद्ध होता है, क्योंकि एक ही व्यक्ति का बाल्य शरीर, युवा शरीर एवं वृद्धावस्था विशिष्ट शरीरों में भेद स्वीकार करना आवश्यक है परन्तु बाल्यावस्था में देखे हुये देवालय को युवावस्था में देखकर प्रत्यभिज्ञान सम्भव है। शरीर यदि ज्ञान एवं इच्छादि का आश्रय होता तो उक्त प्रकार का प्रतिसन्धान सम्भव नहीं होता।[२४] ज्ञान न तो इन्द्रिय का न अर्थ का धर्म हो सकता है। इन्द्रिय के विनष्ट हो जाने पर भी पूर्वानुभूत इन्द्रियविषय की स्मृति होती है।

---

२२. "सर्वार्थविषयं च शास्त्रं श्रुत्वा प्रतिपद्यतेऽर्थमविषयभूतं श्रोत्रस्य। क्रमभाविनो वर्णान् श्रुत्वा पदवाक्यभावं प्रतिसन्धाय शब्दार्थव्यवस्थां च बुद्ध्यमानोऽनेकविषयमर्थजातमग्रहणीयमेकैकेनेन्द्रियेण गृह्णाति।" *न्यायसूत्र* ३.१.३ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. १९२

२३. "सव्येन चक्षुषा दृष्टमथेतरेणापि चक्षुषा प्रत्यभिजानाति– 'यमद्राक्षं तमेवैतर्हि पश्यामीति'। इन्द्रियचैतन्ये तु नान्यदृष्टमन्यः प्रत्यभिजानातीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः। अस्ति त्विदं प्रत्यभिज्ञानं। तस्मादिन्द्रियव्यतिरिक्तश्चेतनः।" *न्यायसूत्र* ३.१.७ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. १९५

२४. "तथा च शरीरेन्द्रियाणामपि प्रत्यहं परिणतिभेदेन भिन्नत्वात् तद्गुणानाममीषाम-प्रतिसन्धानप्रसङ्गः, भिन्नाश्रयाणामपि च प्रतिसन्धाने चैत्रमैत्रादिगुणानामपि प्रतिसन्धानापत्तिः।" *किरणावली*, पृ. ९१

विनष्ट गृह एवं मृत मातापितादि के मुख तथा विनष्ट घटपटादिविषयक स्मृति सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है। वृद्धावस्था में पूर्णतया दृष्टिशक्तिहीन हो चुके व्यक्ति को पूर्वानुभूत रूपादि का स्मरण एवं पूर्णतया श्रुतिशक्तिहीन हो चुके व्यक्ति को ध्वनिविषयक स्मरण होता है।[२५] धर्म, अधर्म, पाप एवं पुण्य के आश्रय रूपी पुरुष; देह, इन्द्रियादि का सङ्घातस्वरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि यह सङ्घात के निरन्तर उत्पादनिरोध से कर्म को करने वाला सङ्घात कर्मफल को भोग करने वाले सङ्घात से अवश्य भिन्न होता है। अतः पुरुष को शरीरेन्द्रियादिक सङ्घात मात्र मान लेने पर स्वतः कृतप्रणाश एवं अकृताभ्यागम का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।[२६] पूर्व में आस्वादित निम्बू के आचार के समान अम्ल पदार्थ को देखने पर रसनेन्द्रिय के विकार की उपपत्ति के लिये इन्द्रियों से भिन्न चेतयिता पुरुष का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है।[२७]

४.१.३ कारकसिद्धान्त के आधार पर आत्मा के अस्तित्व एवं देहादिव्यतिरिक्तत्व की सिद्धि

प्रशस्तपादाचार्य कारकसिद्धान्तमूलक विश्लेषण के आधार पर ज्ञान एवं हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार के लिये यथाक्रम प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के द्वारा, ज्ञान एवं प्रयत्नादि के आश्रय के रूप में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। शब्दादि विषयों की उपलब्धि, करण के बिना उत्पन्न नहीं होती हैं, क्योंकि उपलब्धिजनकव्यापार क्रियास्वरूप होता है जैसे कि छेदन व्यापार।[२८] उपर्युक्त प्रकार के अनुमान द्वारा श्रोत्र, चक्षुरादि करण स्वरूप इन्द्रियों का अस्तित्व सिद्ध होता है। पुनश्च करण कर्तृव्यापार

---

२५. "भवति खल्विदमिन्द्रियेऽर्थे च विनष्टे ज्ञानमद्राक्षमिति। न च ज्ञातरि विनष्टे ज्ञानं भवितुमर्हति।" *न्यायसूत्र* ३.२.१९ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. २४४

२६. "एवं च सति यो देहादिसङ्घातः प्राणिभूतो हिंसां करोति नासौ हिंसाफलेन सम्बध्यते यश्च सम्बध्यते न तेन हिंसा कृता। तदेवं सत्त्वभेदे कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते।" *न्यायसूत्र* ३.१.४ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. १९३

२७. (क) "इन्द्रियान्तरविकारात्"। *न्यायसूत्र* ३.१.१२, पृ. १९७
(ख) *किरणावली*, पृ. ९० द्रष्टव्य है।

२८. "'शब्दाद्युपलब्धयः करणसाध्याः, क्रियात्वात्, छिदादिवत्' इत्यनुमितैः"। *किरणावली*, पृ.८५

की अपेक्षा रखता हैं जिस प्रकार कुठारादि करण छेदनक्रिया में बढई आदि कर्ता की अपेक्षा रखते हैं।[२९] हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार के लिये शरीर में समवेत चेष्टा से शरीर का अधिष्ठाता रूपी प्रयत्नवान् पुरुष अनुमित होता है, जिस प्रकार रथ की गति से सारथि का अनुमान होता है।[३०] कारकसिद्धान्तमूलक विश्लेषण के आधार पर भी प्रयत्नवान् अधिष्ठाता का शरीर एवं इन्द्रियों से भेद सिद्ध होता है क्योंकि रथ, कुठार, लेखनी आदि करणात्मक वस्तुऐं शरीर, चक्षु आदि करणों के समान अचेतन एवं प्रयत्न रहित हैं। लोक व्यवहार में कर्ता एवं करण का सम्बन्ध दो प्रकार से निर्दिष्ट किया जाता है। कुछ क्रियायें अवयवकरणक एवं अवयविकर्तृक के रूप में निर्दिष्ट की जाती हैं। उदाहरणस्वरूप 'प्रासाद स्तम्भों से खड़ा है', 'वृक्ष जड़ों के द्वारा जमीन पर खड़ा है', 'रथ पहियों द्वारा चलता है', 'मोटर गाडी इन्जन द्वारा चलती है' इत्यादि। उपर्युक्त उदाहरणों में कर्ता एवं करण का सम्बन्ध अवयव-अवयवी सम्बन्ध ही है। द्वितीय प्रकार के कर्तृ-करण के सम्बन्धनिर्देश में कर्ता, न केवल करण से भिन्न है अपितु तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से, करण से स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में भासित होता है। उदाहरणस्वरूप 'प्रदीप से देख रहा है', 'कुल्हाड़ी से पेड़ काट रहा है' एवं 'कलम से लिख रहा है' आदि। उपर्युक्त उदाहरणों में कर्ता करण के साथ अवयव-अवयवी सम्बन्ध से सम्बद्ध होकर भासित नहीं होता, अपितु उससे पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में भासित होता है। पुरुषकर्तृक, इन्द्रिय, मन आदि करणक ज्ञानादि व्यापार तथा शरीरावयवादिकरणक कायिक क्रियाओं के स्थलों में कर्ता एवं करण का सम्बन्ध उपर्युक्त दो प्रकारों में से कौन-से प्रकार का है— यह संशय का विषय हो सकता है। 'चक्षु से देख रहा है', 'हाथ से स्पर्श कर रहा है', 'पाँव से प्रहार किया' एवं 'दाँत से काटा' आदि उदाहरणों में कर्ता करणों से तत्त्वमीमांसीय रूप में स्वतन्त्र तत्त्व

---

२९. (क) "वास्यादीनाम् करणानां कर्तृप्रयोज्यत्वदर्शनात्, शब्दादिषु प्रसिद्ध्या च प्रसाधकोऽनुमीयते।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. १६८-१७१

(ख) "श्रोत्रादीनि कर्तृव्यापार्याणि, करणत्वाद्, वासीवत्।" *किरणावली,* पृ.८५

३०. "शरीरसमवायिनीभ्याञ्च हिताहितप्राप्तिपरिहारयोग्याभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां रथकर्मणा सारथिवत् प्रयत्नवान् विग्रहस्याधिष्ठातानुमीयते प्राणादिभिश्चेति।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. १९९

है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर विशेष विचार की अपेक्षा रखता है।[३१] पदार्थधर्मसङ्ग्रहकार प्रशस्तपादाचार्य उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर, सारथि एवं रथ, कठपुतली एवं उसको नचाने वाले तथा अनेक गवाक्षविशिष्ट गृह में गवाक्षों से देखने वाले अधिष्ठाता के प्रारूप के आधार पर देते हैं।[३२] उपर्युक्त प्रारूपों में कर्ता का करण से भेद तथा स्वातन्त्र्य स्पष्ट है। प्रशस्तपाद द्वारा मन के ज्ञानाश्रयत्व खण्डन की व्याख्या में कर्ता एवं करण के भेद को अधिक स्पष्ट करते हुए उदयनाचार्य लिखते हैं—

> अयमभिसन्धिः, ज्ञानाश्रयतया मनोऽनुमीयमानं कर्ता स्यात् न तु तत्करणम्, तथा च युगपदनेकविषयसन्निधौ अनेकचक्षुरादिकरणाधिष्ठानेन युगपदनेकान्यलोचनान्यनेकाश्च स्मृतयः आरभेत। न हि करणवत् कर्तुरयं धर्मो यदेकदैकामेव क्रियामभिनिर्वर्तयते। (*किरणावली*, पृ. ८७)
>
> [(ग्रन्थकार का) आशय यह है— ज्ञानाश्रय के रूप में मन अनुमित होने पर कर्ता ही होता न कि उसका करण। उस स्थिति में एक ही समय में (रूपरसगन्धादि) अनेक विषय का सन्निकर्ष रहने पर चक्षुरादि अनेक करणों के अधिष्ठान होने के कारण मन में एक ही समय में (रूपरसगन्धादि) अनेकविषयक प्रत्यक्ष तथा उनके स्मृति को उत्पन्न करने वाले अनेक संस्कार भी आरब्ध हो जाते। (परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता है।) यह करण का ही धर्म है न कि कर्ता का कि वह एक ही समय में केवल एक ही क्रिया की अभिनिर्वृति में समर्थ होता है।]

४.१.४ परम्परागतमत के अनुसार आत्मनित्यत्वसिद्धि

आत्मा का नित्यत्वसिद्ध करने के लिये जयन्त भट्ट कहते हैं[३३] कि पदार्थ का अस्तित्व एवं उसके विनाश के बीच व्याप्तिसम्बन्ध प्रमाणसिद्ध नहीं है। पदार्थ की उत्पत्ति का हेतु उसके विनाश का हेतु नहीं हो सकता है। विनाशशील भावपदार्थ का विनाशहेतु उसकी उत्पत्ति के हेतु से भिन्न होता है। घट की कारण सामग्री उसके ध्वंस के हेतु से भिन्न होती है। आत्मा के विनाश का हेतु सर्वथा अनुपलब्ध है, क्योंकि आत्मा

---

३१. *न्यायसूत्र* तृतीय अध्याय प्रथम आह्निक का उपोद्घात भाष्य द्रष्टव्य है, *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. १८९

३२. *प्रशस्तपादभाष्य*, *न्यायकन्दली सहित*, पृ. १९९-२०२

३३. *न्यायमञ्जरी*, *द्वितीय* भाग, पृ.२५७

शरीरादि से भिन्न एवं निरवयव है। ज्ञान, इच्छादि गुणों का आश्रय होने से वह द्रव्यकोटि का पदार्थ है। घटादि के समान सावयव न होने से निरवयवत्व से उसका नित्यत्व सिद्ध होता है। गुणकोटि का पदार्थ न होने से आश्रयनाश अथवा विरोधी गुणों की उत्पत्ति के कारण भी उसका विनाश सम्भव नहीं है।

यह सत्य है कि न्यायवैशेषिक दार्शनिक पूर्वजन्म सिद्धि के लिये कुछ अनुभवसिद्ध तथ्य प्रस्तुत करते हैं। परन्तु वस्तुतः पूर्वजन्म एवं प्रेत्यभाव अर्थात् पूर्वशरीर के परित्यागपूर्वक शरीरान्तर की उत्पत्ति एवं उसमें अधिष्ठान होना आत्मा के अर्जित कर्म एवं नित्यत्व के आधार पर सिद्ध किया गया है।[३४] परम्परागत मत के अनुसार पूर्वजन्मकृतकर्मजन्य धर्माधर्म के कारण प्राणिशरीरोत्पत्ति स्वीकार न करने पर पुरुषभाग्यवैचित्र्य के कारण अकृताभ्यागम प्रसङ्ग उपस्थित होता है। उसी प्रकार तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने तक वर्तमान जन्म में किये गये कर्मजन्य धर्माधर्म के कारण प्रेत्यभाव एवं परजन्म स्वीकार न करने पर कृतप्रणाश का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। अन्य शब्दों में जगत् की कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृताभ्यागमशून्यता स्वीकार करने पर जन्मान्तरवाद एवं आत्मा का नित्यत्व स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है।

४.२ मानवव्यक्ति(पुरुष)विषयक न्यायवैशेषिक सिद्धान्त का पुनर्निर्माण

न्यायवैशेषिक परम्परा के दार्शनिक ग्रन्थों में उपलब्ध आत्मविषयक विस्तृत विवेचन से परम्परा के आधारभूत ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के साथ सङ्गत तथा प्रमाणसिद्ध तथ्यों को व्यावर्तित करने की आवश्यकता स्पष्ट होती है। इस प्रयास में कृतकार्यता के लिये भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की कुछ साधारण पुरुषार्थमीमांसीय पूर्वमान्यताओं के दार्शनिक विचारों पर प्रभाव के प्रति जागरुक रहना आवश्यक है।

दशरथ, कौसल्या, राम, सीता, जनक, विश्वामित्र आदि पौराणिक चरित्र, वाल्मीकि, कालिदास, चन्द्रगुप्तमौर्य आदि ऐतिहासिक चरित्र तथा रविशङ्कर,

---

३४. (क) *न्यायसूत्र* ३.२.६१ पर *वात्स्यायनभाष्य* द्रष्टव्य है। पृ. २७१-२७२
(ख) "एतेनानियमः प्रत्युक्तः।" *न्यायसूत्र* ३.२.६८ एवं उस पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. २७५-२७६
(ग) "आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः।" *न्यायसूत्र* ४.१.१० एवं उस पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. २८६

कस्तुरीरङ्गन् एवं अटलबिहारी आदि वर्तमानकालीन व्यक्तियों के लिये साधारण रूप में आत्मा शब्द का प्रयोग स्वाभाविक नहीं है। व्याकरण शास्त्र में 'प्रथम पुरुष', 'मध्यम पुरुष' एवं 'उत्तम पुरुष' शब्दों का प्रयोग लोकव्यवहार में 'पौराणिक पुरुष', 'ऐतिहासिक पुरुष', 'महापुरुष', 'कापुरुष' आदि शब्दों के प्रचलन के कारण मानव व्यक्तियों के लिये साधारण नाम के रूप में पुरुष शब्द का प्रयोग उपयुक्त प्रतीत होता है।[३५] अतः यहाँ 'मानव व्यक्ति' एवं 'पुरुष' शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किये गये हैं।

४.२.१ स्व-अस्तित्वविषयक ज्ञान की स्वयंसिद्धता

प्रत्येक पुरुष को अपना अस्तित्व अहंप्रत्यय के विषय के रूप में प्रत्यक्ष से भासित होता है। घटपटादि का अस्तित्व प्रत्यक्ष से सिद्ध होने पर भी घटपटादि के अस्तित्वविषयक प्रत्यक्षों में भ्रम की सम्भावना रहती है परन्तु जिस ज्ञान में अहंप्रत्यय का विषय मुख्य विशेष्य के रूप में भासित होता है वह ज्ञान विशेष्यांश में अयथार्थ नहीं हो सकता है। स्टेशन पर खड़ी हुई रेलगाडी के डिब्बे में बैठे हुए मुझ को पास की पटरी पर एक अन्य रेलगाडी चलने के कारण यह महसूस हो सकता है कि 'मैं गतिमान हूँ', परन्तु मेरे इस ज्ञान की अयथार्थता केवल ज्ञान के विशेषणांश के कारण है न कि विशेष्यांश के कारण। जब एक रस्सी मुझे साँप के रूप में दिखाई देती है तब मेरा 'मैं एक साँप देख रहा हूँ' इस प्रकार का ज्ञान दर्शन व्यापार के कर्मविषयक भ्रम होने पर भी विशेष्यांश में यथार्थ है। स्वप्न में भी 'मैं जाग्रत् हूँ', यह ज्ञान केवल विशेषणांश में अयथार्थ होता है न कि विशेष्यांश में। 'यहाँ पर एक व्यक्ति है' यह ज्ञान स्थाणु में पुरुष भ्रम हो सकता है, परन्तु 'मैं यहाँ पर हूँ' इस आकार का प्रत्यक्ष अयथार्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि 'मैं यहाँ पर नहीं हूँ'– यह वाक्य शक्यार्थ की दृष्टि से स्ववचनविरोधी होने से यथार्थ ज्ञान को अभिलपित नहीं कर सकता है।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट है कि पुरुष को अपने अस्तित्वविषयक संशय नहीं हो सकता है। स्व-अस्तित्वविषयक प्रत्यक्षज्ञान की इस विलक्षणता के कारण पुरुष का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है। अपने से भिन्न पुरुषों के

---

३५. *न्यायसूत्र* का ईश्वरोपादानताप्रकरणस्थ सूत्र ४.१.१९-४.१.२१ एवं उन पर भाष्य में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है। *न्यायसूत्र*, पृ. २९०-२९४

अस्तित्व उनके विशेष प्रकार के व्यवहार रूपी हेतु से अनुमित होता है। इस प्रकार के अनुमान में भ्रम की सम्भावना अवश्य रहती है, परन्तु अन्य पुरुष का अस्तित्वविषयक भ्रम अन्यपुरुष के अस्तित्वविषयक प्रमा की अपेक्षा रखता है। अन्य पुरुषों के अस्तित्व को स्वीकार न करने पर वक्ता-श्रोतादि सम्बन्ध की उपपत्ति नहीं हो पाती है। पुरुष का स्व-अस्तित्वविषयक स्वयंसिद्ध प्रत्यक्ष अपने से भिन्न तत्त्वों के यथार्थज्ञान की अपेक्षा रखता है क्योंकि स्व-विशेष्यक स्वेतरतत्त्वप्रकारक भ्रम भी स्वेतरतत्त्वप्रकारक यथार्थज्ञान की अपेक्षा रखता है। मुझमें गति का भ्रम गतिविषयक प्रमा के बिना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार नीलरूपप्रकारक भ्रम नीलरूपप्रकारक यथार्थ ज्ञान के बिना सम्भव नहीं होता है। अचेतन एवं चेतन तत्त्वों का भेद सर्वत्र व्यवहार से अनुमित होता है एवं चेतन तत्त्वों में पुरुष एवं तदितर पशु-पक्षी आदि प्राणियों का भेद भी आकृति, शरीरसङ्घटक तत्त्व तथा व्यवहार के आधार पर किया जाता है। सङ्क्षेप में पुरुष का स्व-अस्तित्वविषयक ज्ञान चेतन एवं अचेतन तत्त्व विशिष्ट जगद्-विषयक ज्ञान के सन्दर्भ में ही होता है न कि जगत् के अन्य तत्त्वों से स्वतन्त्र एवं उनकी अपेक्षा न रखने वाले तत्त्व के रूप में।

४.२.२ कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व के समनियतत्व

प्रतिसन्धान के द्वारा ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न एवं सुख-दुःख का समानाश्रयत्व तथा सातत्यमूलक अक्षणिकत्व सिद्ध होता हैं। कर्तृत्व, ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्व पुरुष के प्रतिसन्धान रूपी प्रत्यक्षसिद्ध धर्म है। सुख एवं दुःख का अनुभव ही भोग है अर्थात् भोग एक विशेष प्रकार का साक्षात्कार रूपी ज्ञान है। अतः पुरुष के कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व रूपी तीन धर्मों में से कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व मौलिक माने जा सकते हैं। व्यापारविशिष्ट पदार्थ व्याकरणशास्त्र की प्रक्रिया निर्वाह की दृष्टि से कर्ता स्वीकृत होने पर भी तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से केवल प्रयत्नजन्य व्यापारविशिष्ट पदार्थ को ही कर्ता कहा जा सकता है। प्रयत्न स्वाश्रयनिष्ठ इच्छा अथवा द्वेष की अपेक्षा रखता है एवं इच्छा तथा द्वेष स्वाश्रयनिष्ठ हिताहितविषयक ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं। अन्य शब्दों में, तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से कर्तृत्व धर्म ज्ञातृत्व धर्म की अपेक्षा रखता है अर्थात् कर्तृत्व ज्ञातृत्वव्याप्य है। विपरीत दिशा में ज्ञातृत्व धर्म की कल्पना प्रयत्नजन्य व्यापार अर्थात् कर्तृत्व धर्म के बिना सम्भव प्रतीत नहीं होती है। किसी तत्त्व में ज्ञान

रूपी धर्म की सिद्धि उस तत्त्वनिष्ठ व्यापार विशेष द्वारा ही की जा सकती है। देवदत्त सूर्य के सभी ग्रहों के नाम सूर्य से उनकी दूरी के आधार पर क्रमानुसार जानता है या नहीं यह देवदत्त को तद्-विषयक प्रश्न पूछकर उसके द्वारा दिये गये उत्तर के आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है। प्रश्न के उत्तर देने की योग्यता वाचिक क्रिया रूपी विशेष प्रकार की क्रिया की ही योग्यता है। इसीलिये न्यायवैशेषिक परम्परा के द्वारा अशरीरी आत्मा में ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि धर्म स्वीकृत नहीं हुए हैं। अतः ज्ञातृत्व धर्म कर्तृत्व धर्म की अपेक्षा रखता है अर्थात् ज्ञातृत्व कर्तृत्वव्याप्य है। अतः यह कहा जा सकता है कि न्यायवैशेषिक मतानुसार कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व अन्योन्यव्याप्य अर्थात् परस्पर समनियत धर्म हैं।

४.२.३ पुरुषत्व का उत्तरदायित्वमूलकलक्षण

न्यायवैशेषिक एवं सामान्यतया भारतीय दार्शनिक परम्परा में शारीरिक (कायिक), वाचिक एवं मानसिक क्रिया भेद से तीन प्रकार की क्रियायें स्वीकृत हुई हैं। गमन, भोजनादि क्रियायें कायिक हैं। प्रश्न पूछना, सत्यासत्य औचित्य-अनौचित्यादि सिद्ध करना, आदेश देना, प्रार्थना करना आदि क्रियायें भाषा पर अधिकार की योग्यता के बिना सम्भव नहीं हैं। ये क्रियायें वाचिक हैं। मन में गणनाविशेष सम्पन्न करना, मौन जप आदि क्रियायें मानसिक क्रिया के उदाहरण हैं। वस्तुतः प्रत्येक मानसिक क्रिया को सिद्धान्ततः वाचिक क्रियाविशेष के द्वारा प्रतिफलित करना सम्भव होने से मूलभूत रूप में कायिक एवं वाचिक रूपी क्रियाओं के प्रकारद्वय स्वीकार करना ही पर्याप्त है। गणित का विद्यार्थी रेखागणित के एक विशेष प्रतिपाद्य के प्रमाण का अध्ययन एवं हृदयङ्गम करने के लिये अध्यापक द्वारा आदिष्ट होने पर उसका पालन कर सकता है। आलस्य के कारण निश्चल बैठ सकता है अथवा खेल के मैदान में जाकर खेल में अपने को खो सकता है। इसीलिये क्रिया पुरुषतन्त्र कही जाती है। परन्तु ज्ञान के सन्दर्भ में पुरुष उस तरह से स्वतन्त्र नहीं होता है। पुरुष एक सफेद फूल को अपनी इच्छानुसार लाल या पीले फूल के रूप में अथवा फूल से भिन्न पत्ता या फल के रूप में नहीं देख सकता है। इसीलिये ज्ञान वस्तुतन्त्र कहा जाता है।

पशु, पक्षी, कीट, पतङ्गादि में भी व्यवहार के आधार पर कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व अनुमित होते हैं। गो, अश्व, गज, सिंह, व्याघ्र,

श्वान, बिड़ाल एवं मर्कटादि प्राणियों में प्रयत्नजन्य व्यापार, सुख-दुःख का भोग तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान रूपी ज्ञान सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध हैं। अतः प्राणियों में कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व स्वीकार करना आवश्यक है, परन्तु अन्तर्बोध की दृष्टि से पशु-पक्षी आदि प्राणियों में कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व के सामानाधिकरण्य से मानव व्यक्तियों में कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व का सामानाधिकरण्य अवश्य विलक्षण प्रकार का है। मानव व्यक्तियों में वाचिक क्रिया की योग्यता ही इस अन्तर्बोधगम्य विलक्षणता का आधार है। भाषा पर अधिकार प्राप्त करने की अर्थात् उसको आयत्त करने की योग्यता ही वाचिक क्रिया की योग्यता है। भाषातत्त्व वक्ता-श्रोताओं के समाज की अपेक्षा रखता है एवं किसी भाषा को स्वायत्त करने की योग्यता स्वाभाविक रूप में नियमनियन्त्रित रहने की योग्यता की अपेक्षा रखती है। नियमनियन्त्रितता नियमों के अनुपालन एवं उल्लङ्घन तथा उत्तरदायित्व आदि तत्त्वों की अपेक्षा रखती है। नियमनियन्त्रितता एवं उत्तरदायित्व रूपी तत्त्व ही भाषा एवं वाचिक क्रियाओं के क्षेत्र से मानव जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में सङ्क्रमित होकर धर्माधर्मबोध के लिये आधार प्रस्तुत करते हैं। अतः कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व समानाधिकरण वाचिक क्रिया की योग्यता ही पुरुषत्व के लक्षण के रूप में ग्रहण की जा सकती है।

वाचिक क्रिया की योग्यता नियमनियन्त्रित रहने की योग्यता की अपेक्षा रखती है एवं नियमतन्त्र विशेष द्वारा नियन्त्रित होने की योग्यता उत्तरदायित्ववान् होने की योग्यता के साथ समनियत है। विधि एवं निषेध रूपी नियमों के तन्त्र के बिना उत्तरदायित्व की कल्पना सम्भव नहीं है एवं विधि-निषेध रूपी नियम तन्त्र की कल्पना उत्तरदायित्ववत्ता धर्म के बिना सम्भव नहीं है। अतः उत्तरदायित्ववान् होने की योग्यता ही पुरुष को पुरुषेतर पशु-पक्षी आदि चेतन तत्त्वों से व्यावर्तित करती है। भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर प्राणियों की योनि को भोगयोनि कहा गया है एवं मनुष्ययोनि को कर्मयोनि कहा गया है। अन्य शब्दों में मनुष्येतर प्राणी केवल पूर्वजन्मार्जित कर्मफल का भोग करता है न कि अपने कर्मफल के रूप में धर्माधर्म का अर्जन करता है, जबकि मनुष्य जन्म में पूर्वजन्म कर्मफल भोग करने के साथ-साथ उस जन्म के कृत कर्मों के फल स्वरूप धर्माधर्म रूपी संस्कार का अर्जन

भी करता है। कर्मयोनि एवं भोगयोनि के अन्तर को उत्तरदायित्व की योग्यता एवं उसके अभाव के रूप में देखा जा सकता है। भारतीय परम्परा में धर्माधर्मबोध ही मानवजन्म को मानवेतर प्राणियों से व्यावर्तित करने वाले तत्त्व के रूप में स्वीकृत हुआ है।[३६] जबकि आहार, भय, मैथुन एवं निद्रा मानव के पशुओं के साथ साधारण धर्म के रूप में स्वीकृत हुये हैं। धर्माधर्मबोध एक विशेष प्रकार के उत्तरदायित्व का परिचायक है। लोकव्यवहार में कर्मक्षेत्र के अनुसार उत्तरदायित्व का प्रकार भेद किया जाता है। उदाहरणस्वरूप सामाजिक उत्तरदायित्व, वैधानिक उत्तरदायित्व एवं नैतिक उत्तरदायित्व आदि उत्तरदायित्व के प्रकार भेद है।

४.२.३.१ वाक्शक्ति एवं उत्तरदायित्व

जिस नियमतन्त्र में कर्ताओं के द्वारा नियम उल्लङ्घन की सम्भावना ही नहीं रहती है उसके कर्तृवर्ग यन्त्रवत् है एवं वहाँ कर्ताओं में केवल कर्तृत्व का आभास मात्र होता है एवं उनके द्वारा उत्तरदायित्व निभाने का प्रश्न सार्थक नहीं है। नियमों का पालन तथा उल्लङ्घन उभय की योग्यता से विशिष्ट होना ही सङ्कल्पस्वातन्त्र्यविशिष्ट होना है। सङ्कल्पस्वातन्त्र्य ही कर्म की पुरुषतन्त्रता का आधार है। जहाँ पर नियमों के पालन तथा उल्लङ्घन उभय की सम्भावना रहती है वहाँ नियमों के पालन एवं उल्लङ्घनविषयक प्रमाण का प्रश्न भी अपरिहार्य रूप में उपस्थित होता है, अन्यथा उत्तरदायित्वविषयक निर्णय एवं दण्ड-पुरष्कार व्यवस्था की उपपत्ति सम्भव नहीं हो पाती है। नियम का पालन अथवा उल्लङ्घन करने की योग्यता से नियम का पालन अथवा उल्लङ्घनविषयक तथ्यातथ्य निर्णय करने की योग्यता अवश्य भिन्न हैं। सभी लोग अपनी-अपनी मातृभाषा में कथोपकथन एवं भावों का आदान-प्रदान करते हैं परन्तु सभी के लिये अपनी मातृभाषा का व्याकरण शास्त्र को आयत्त करना व्यावहारिक नहीं है। परन्तु सभी व्यक्तियों में मातृभाषा को व्यावहारिक रूप में आयत्त करने के साथ-साथ उसके व्याकरण शास्त्र को आयत्त करके साधु एवं असाधु प्रयोग में भेद करना तथा प्रयोग का साधुत्व अथवा असाधुत्व सिद्ध करने की योग्यता

---

३६. "आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।"
प्रसिद्ध परम्परागत श्लोक

सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। सामान्य रूप में किसी भी क्रियानियन्त्रक नियमतन्त्र के क्षेत्र के कर्ताओं में नियमों का पालन अथवा उल्लङ्घन करने की योग्यता के साथ-साथ सैद्धान्तिक रूप में पालन एवं उल्लङ्घनविषयक तथ्यातथ्यों के सप्रमाण निर्णय करने की योग्यता भी स्वीकार करना आवश्यक है। दण्डित व्यक्ति में उसके द्वारा प्राप्य दण्ड का हेतु समझने की योग्यता स्वीकार न करने पर दण्ड केवल फसल को नष्ट करनेवाले पशु पर प्रहार होकर रह जाता है। नियमों के पालन एवं उल्लङ्घन करने की योग्यता विशिष्ट कर्ताओं में पालन एवं उल्लङ्घनविषयक प्रमाण-अप्रमाण के बोध एवं तथ्यातथ्यनिर्णय की योग्यता वस्तुतः वाचिक क्रिया की योग्यता अर्थात् वाक्शक्ति की ही योग्यता है। सङ्क्षेप में वाक्शक्ति की योग्यता तथा उत्तरदायित्व की योग्यता परस्पर समनियत धर्म हैं।

यह सिद्ध किया जा चुका है कि कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व समनियत अर्थात् अन्योन्यव्याप्य धर्म हैं। कर्तृत्व, वाचिक क्रिया की योग्यता के साथ समानाधिकरण होने पर अर्थात् प्रयत्नजन्यव्यापारविशिष्ट प्राणी में वाक्शक्ति की योग्यता रहने पर ही उत्तरदायित्व का प्रश्न प्रासङ्गिक होता है, अन्यथा नहीं। वाचिक क्रिया की योग्यता में प्रश्न पूछने की योग्यता, उत्तर के मूल्याङ्कन करने की योग्यता, संवाद की योग्यता, तथ्यातथ्य सिद्ध करने के लिये प्रमाण प्रस्तुत करने की योग्यता तथा प्रमाणों का मूल्याङ्कन करने की योग्यता आदि स्वाभाविक रूप में अन्तर्निहित हैं। कर्ता से अपने द्वारा की गई क्रिया का प्रयोजन, साध्य-साधन आदिविषयक प्रासङ्गिक प्रश्नों के उत्तर देने की योग्यता तथा अन्य कर्ताओं के द्वारा सदृश परिस्थिति में दिये गये उत्तरों का मूल्याङ्कन करने की योग्यता अपेक्षित न रहने पर कर्ता उत्तरदायित्वविशिष्ट नहीं कहा जा सकता है। विशेष प्रकार के पशुओं को भारवहन, खेत में लाङ्गल खींचना आदि क्रियाओं के लिये अभ्यस्त किया जा सकता है, परन्तु उससे विशेष प्रकार की क्रियाओं के अभ्यस्त पशु उत्तरदायित्वविशिष्ट नहीं हो जाते हैं। प्राचीन एवं मध्य युग में हाथियों को युद्ध में भाग लेने के लिये अभ्यस्त किया जाता था। युद्ध क्षेत्र में शत्रु के आक्रमण के समय जब एक सैनिक पलायन करता तब उसको अपने आचरण का कारण पूछा जा सकता है एवं उसका उत्तर सन्तोषजनक न होने पर उसको अपने कर्तव्य की अवहेलना के लिये दण्डित किया जा सकता है एवं उस सैनिक से यह अपेक्षित

है कि वह दण्डित होने के कारण जानने की योग्यता रखे। परन्तु जब युद्ध क्षेत्र में शत्रु के आक्रमण से भयभीत होकर एक हाथी पलायन करते हुये अपने पक्ष के सैनिकों को कुचल कर मार देता है तब न तो उस हाथी को अपने आचरण का कारण पूछने का प्रश्न उठता है न उसको दण्डित करने पर उसकी दण्डार्हता के कारण से उसे अवबोध कराने का प्रश्न उठता है। सैनिकनिष्ठ कर्तृत्व उत्तरदायित्ववत्ताविशिष्ट है परन्तु हस्तिनिष्ठ कर्तृत्व उत्तरदायित्ववत्ताविशिष्ट नहीं है। सैनिक में वाचिक क्रिया की योग्यता एवं हाथी में उसका अभाव ही उपर्युक्त अन्तर का आधार है।

मानवेतर प्राणियों के मस्तिष्क में भाषा को आयत्त करने की योग्यता नहीं है। यह योग्यता मानवमस्तिष्क की एक विशेषता है एवं किसी भाषा विशेष से सम्बद्ध नहीं है, अपितु भाषा मात्र से। आवश्यक सहकारी कारण उपस्थित रहने पर मानव शिशु किसी भी भाषा को आयत्त कर सकता है। मानवेतर प्राणियों के मस्तिष्क की शरीरशास्त्रीय संरचनामूलक सीमाओं से हटकर यदि प्राणियों की एक प्रजाति में अथवा एक प्राणी विशेष में वाचिक क्रिया की योग्यता आहार्य ज्ञान के रूप में स्वीकार कर लिया जाये तो उस प्रजाति के प्राणियों में एवं उस प्राणी विशेष में मानवव्यक्तिनिष्ठ उत्तरदायित्ववत्ताविशिष्ट कर्तृत्व को स्वीकार करना भी अपरिहार्य हो जायेगा। राजस्थान के ऊँट यदि राजस्थानी बोलने लगते हैं तो उनको भारतीय नागरिकों के किसी अधिकार से अथवा राजस्थान निवासियों को प्राप्त अन्य किसी विशेष अधिकार से वञ्चित करने के लिये कोई आधार नहीं रह जायेगा। *पञ्चतन्त्र* ग्रन्थ के पशु-पक्षी आदि चरित्रों के द्वारा परस्पर की क्रियाओं के औचित्य, अनौचित्य, दूरदर्शिता, अदूरदर्शितादिविषयक विचार एवं मूल्याङ्कन तथा उनके अपने-अपने आचरणों के लिये उत्तरदायित्वविषयक निर्णय इसलिये सम्भव है कि ग्रन्थकार ने उन चरित्रों को वाक्शक्तिसम्पन्न किया है। यदि एक गाय सक्षम होने पर भी अपने बछड़े को दूध नहीं पिलाती है एवं वह बछड़ा मर जाता है तब गो प्रजाति में यह आचरण अत्यन्त अस्वाभाविक होने पर भी उस गाय के आचरण का औचित्य-अनौचित्य-परक नैतिक मूल्याङ्कन प्रासङ्गिक नहीं है। परन्तु उस गाय में वाचिक क्रिया की योग्यता स्वीकार करने पर वह अपने आचरण के लिये उत्तरदायी हो जाती है एवं माँ के कर्तव्य की अवहेलना के

कारण वह दोषभाक् है यह उसे स्वीकार करना सम्भव हो जाता है। भाषाओं की विविधता केवल व्यवहार में अवश्य परस्पर संवाद की प्रतिबन्धक हो जाती है। सैद्धान्तिक रूप में इस प्रतिबन्धक को दूर किया जा सकता है। अतः वाक्शक्तिविशिष्ट कर्ताओं के सङ्घात ही सैद्धान्तिक रूप में परस्पर के प्रति उत्तरदायी व्यक्तियों का समाज है। वाक्शक्तिविशिष्ट होने का अर्थ समानपुरुषार्थतन्त्रविशिष्ट होना नहीं है क्योंकि दो वाक्शक्तिविशिष्ट कर्ताओं के पुरुषार्थतन्त्र भिन्न होना सम्भव है। पुरुषार्थ तन्त्रों में भेद, व्यवहार के क्षेत्र में विसङ्गतियाँ एवं सङ्घर्ष उत्पन्न करता है। भारतीय पौराणिक कल्पना के अनुसार देव, दानव एवं मानव, प्रजापति की सन्तान होने पर भी उनके पुरुषार्थ तन्त्र एवं मूल्यबोध परस्पर से भिन्न हैं एवं वह भेद उनमें परस्पर सङ्घर्ष का कारण बनता है। सैद्धान्तिक रूप में पुरुषार्थ तन्त्रों में परस्पर विसङ्गतियाँ संवाद के द्वारा दूर की जा सकती हैं एवं सभी परस्पर उत्तरदायी व्यक्तियों के समाज द्वारा एक पुरुषार्थ तन्त्र को प्रमाण के आधार पर स्वीकार करने की सम्भावना बनी रहती है।

४.२.३.२ उत्तरदायित्व– ज्ञानमीमांसीय एवं क्रियामीमांसीय

पुरुषत्व के व्यावर्तक धर्म उत्तरदायित्व के दो पक्ष स्वीकार्य हैं– ज्ञानमीमांसीय पक्ष एवं क्रियामीमांसीय पक्ष। पुरुष द्वारा तथ्यातथ्यविषयक ज्ञान की प्रतिज्ञा तभी सार्थक होती है जब पुरुष में उस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिये प्रमाण प्रस्तुत करने की योग्यता रहती है। वचन मात्र से मत को सिद्ध मानने पर किसी भी मत की उपस्थापना मात्र से सिद्धि का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। ज्ञान के क्षेत्र में पुरुष के द्वारा अपनी प्रतिज्ञा के लिये प्रमाण प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व उसका *ज्ञानमीमांसीय उत्तरदायित्व* कहा जा सकता है। विधि के क्षेत्र में न्यायालय में वादी एवं प्रतिवादी द्वारा अपने-अपने पक्ष सिद्धि के लिये प्रमाण प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व इसका एक औपचारिक रूप है। अनुसन्धान के क्षेत्र में अपने अभिप्रेत प्रतिपाद्य की सिद्धि के लिये उस अनुसन्धान क्षेत्र में ग्रहण योग्य प्रमाण प्रस्तुत करना अनुसन्धानकर्ता का प्रमाणमीमांसीय उत्तरदायित्व होता है। गणितशास्त्र में कभी-कभी अनुसन्धानकर्ता द्वारा प्रस्तुत तथाकथित प्रमाण अन्य अनुसन्धानकर्ताओं द्वारा प्रमाणाभास के रूप में सिद्ध होता है। लोकव्यवहार में आप्तवाक्य, अनुमान एवं प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के रूप में स्वीकृत होते हैं। शास्त्रीय क्षेत्र में इनके परिष्कृत रूप प्रमाण के रूप में ग्रहण योग्य होते हैं।

पुरुष का ज्ञानमीमांसीय उत्तरदायित्व स्वीकार न करने पर वाचिक क्रिया के आधार विनाश का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। स्वेच्छाकृत क्रियाओं के लिये कर्तृभूत पुरुष उत्तरदायी होता है। यह क्रिया शारीरिक अथवा वाचिक हो सकती है। कुछ क्रियायें कर्तृसमाज के अस्तित्व के लिये सङ्कट उत्पन्न करने के कारण अपराध की कोटि में परिगणित होती है। हत्या, शारीरिक अथवा वाचिक ताड़ना, चौर्य तथा वञ्चन आदि क्रियायें आपराधिक हैं। पुरुष की जिन क्रियायों द्वारा अन्य पुरुष परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित होते हैं उन क्रियाओं के लिये उसका उत्तरदायित्व स्वीकार न करने पर कर्तृसमाज का अस्तित्व सम्भव नहीं होता है। पुरुष की जिन क्रियाओं द्वारा साक्षात् रूप में केवल वह स्वयं प्रभावित होता है उनके लिये भी उसका अपने प्रति उत्तरदायित्व स्वीकार न करने पर आत्मनिरीक्षण, समालोचन एवं व्यक्ति की प्रगति के लिये अवकाश नहीं रहता है। अपने द्वारा की गई क्रियाओं के लिये पुरुष का अन्य पुरुष एवं अपने समक्ष उत्तरदायित्व क्रियामीमांसीय उत्तरदायित्व कहलाता है। जब विशेष प्रकार की वाचिक क्रियाओं के द्वारा पुरुष साक्षात् अथवा परोक्ष रूप में तथ्यातथ्यविषयक दावा करता है तब उसका उत्तरदायित्व ज्ञानमीमांसीय कहा जाता है।

भाषा की अर्थमीमांसा की दृष्टि से सत्य अभिकथन जैसा असत्य अभिकथन भी सार्थक होता है, अन्यथा असत्य भाषण द्वारा अन्य को प्रवञ्चित करना सम्भव नहीं होता है। सत्यासत्य निरपेक्ष रूप में अभिकथनों की अर्थवत्ता से यह सिद्ध होता है कि अन्य पुरुष के दृष्टिकोण एवं पक्ष को समझने के लिये उसे स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। पुरुष अपने पक्ष में प्रतिष्ठित रहकर विपरीतदृष्टिकोणविशिष्ट प्रतिपक्षी से संवाद कर सकता है। सामान्य रूप में दो पुरुषों के मध्य संवाद केवल परस्पर के साथ वक्ता एवं श्रोता के सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है न कि पक्ष-प्रतिपक्ष की। संवाद की सम्भावना के बिना वाचिक क्रिया तथा पुरुष समाज की उपपत्ति नहीं होती है। स्वक्रियाव्याघातशून्यता, स्वसिद्धान्तव्याघातशून्यता आदि बौद्धिकता घटक नियमों से नियन्त्रित न रहने पर संवाद सम्भव नहीं होता है। अतः वाक्शक्ति एवं पुरुष समाज की उपपत्ति बौद्धिकताघटक नियमों से नियन्त्रित रहने के बिना सम्भव नहीं होती है। पुरुष के लिये कर्म क्षेत्र में केवल प्रमाणसिद्ध तथ्यों पर आश्रित रहकर हित की प्राप्ति अथवा अहित के परिहारार्थ कर्तव्य-अकर्तव्यविषयक निर्णय करना व्यावहारिक

नहीं है, क्योंकि कर्तव्य की पूर्ति की कालिक सीमा पूर्व निर्धारित रहती है एवं उस कालावधि में आवश्यक साध्य-साधनविषयक ज्ञान की प्रामाणिकता निश्चित करना सम्भव न होने पर अगत्या पुरुष को सम्भाव्यता पर ही आश्रित रहकर अपना उत्तरदायित्व निभाना पड़ता है। ज्ञान के क्षेत्र में भी पुरुष का दृष्टिकोण एवं विभिन्न विषयों पर मतामत केवल प्रमाणसिद्ध तथ्यों पर आश्रित नहीं रह पाते हैं, क्योंकि उसका दृष्टिकोण एवं मतामत सामान्यतया सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक परम्पराओं द्वारा प्रभावित होते हैं न कि केवल विशुद्ध प्रमाणसिद्ध तथ्यों के द्वारा। इसलिये प्रमाणसिद्ध तथ्यों के सम्मुख पुरुष को अपने दृष्टिकोण एवं मतामत में परिवर्तन करने की आवश्यकता रहती है। प्रमाणसिद्ध तथ्यों के आधार पर अपने दृष्टिकोण एवं मतामत का प्रत्याख्यान एवं अन्य दृष्टिकोण एवं पक्षान्तर वरण करने की योग्यता ही पुरुष का *ज्ञानमीमांसीय स्वातन्त्र्य* है। पुरुष के ज्ञानमीमांसीय एवं क्रियामीमांसीय पक्षों में सङ्गति के बिना उसकी एकरूपता व्याहत होती है। पुरुष के द्वारा स्वीकृत दृष्टिकोण या पक्ष एवं उसके आचरण के मध्य विसङ्गति मिथ्याचार है एवं उक्त विसङ्गति परस्पर के प्रति उत्तरदायी पुरुषों के समाज के लिये मूलोच्छेदी होने से बौद्धिकता की प्रतिगामी है। अतः पुरुष के ज्ञानमीमांसीय एवं क्रियामीमांसीय पक्षों में सङ्गति अर्थात् मिथ्याचार का अभाव बौद्धिकता के घटकतत्त्व के रूप में अवश्य स्वीकार्य है।

४.२.४ पुरुष का तत्त्वमीमांसीय स्वरूप

पुरुष का तत्त्वमीमांसीय स्वरूपविषयक न्यायवैशेषिक सिद्धान्त भारतीय आध्यात्मिक परम्परा तथा औपनिषदिक तत्त्वमीमांसा द्वारा सर्वाधिक प्रभावित हुआ प्रतीत होता है। प्रतिसन्धान के आधार पर पुरुष का एकत्व, अक्षणिकत्व एवं ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न एवं सुखदुःखादि का आश्रयत्व प्रमाणसिद्ध है। प्रतिसन्धान एवं कारकसिद्धान्त मूलक अनुमानों से पुरुष का शरीर इन्द्रिय एवं मन से भेद सिद्ध होने पर भी निरन्तर परिवर्तनशील विभिन्न जैविक तन्त्रों का व्यूहबद्ध अवयवी सन्तान से पुरुष भिन्न है यह सिद्ध नहीं हो पाता है। प्राणवान् मानव शरीर, अस्थि एवं मांसपेशी, श्वासप्रश्वास, रक्तसञ्चालन, पाचन एवं स्नायुतन्त्र आदि विभिन्न प्राणिशास्त्राङ्गीकृत तन्त्रों के व्यूहबद्ध अवयवी विशेष है। यह प्राणवान् शरीररूपी अवयवी निरन्तर परिवर्तनशील है एवं कार्यकारण-स्रोतापन्न उन्हीं के सन्तान ही पुरुष का तत्त्वमीमांसीय

स्वरूप है। निरन्तर परिवर्तनशील प्राणवान् शरीर रूपी अवयविसन्तान स्वयं एक अवयवी नहीं है अपितु प्रवाहस्वरूप सन्तान ही है। सन्तान में स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति मूलक दी गई युक्तियाँ यथोपलब्धिव्यवस्था न्याय की प्रतिगामी होने से प्रमाणसिद्ध नहीं कही जा सकती हैं। प्रत्यभिज्ञा एवं स्मृतिमूलक पुरुष का सातत्य उसके सन्तानस्वरूप से व्याहत नहीं होता है। पूर्वजन्म सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत नवजात शिशु का हर्ष, भय, शोकादि परिचायक तथा स्तनपानाभिलाषा सूचक व्यवहार वंशानुगत धर्मविषयक शास्त्र के आधार पर बोधगम्य होते हैं। आत्मा की नित्यत्वसिद्धि के लिये उपलब्ध युक्तियाँ मूलरूप में जगत् की कृतप्रणाश एवं अकृताभ्यागम शून्यता पर आश्रित हैं। कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृताभ्यागमशून्यता की तथ्यपरकता अस्वीकृत होकर केवल उनकी आदर्शस्वरूपता स्वीकृत होने पर पुरुष का नित्यत्व असिद्ध रह जाता है।

ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्न आदि को पुरुष के वास्तविक धर्म के रूप में स्वीकार करते हुए शरीरनिष्ठ चेष्टारूपी व्यापार तथा स्थूलत्व, गौरवर्णादि धर्मों को पुरुष के आरोपित धर्म कहना युक्तिसङ्गत नहीं है। चैत्र वैयाकरण है, चैत्र स्थूल शरीर एवं चैत्र गौरवर्ण विशिष्ट है, तथा दयावान् एवं सहनशील है, ये सभी चैत्र के विषय में सत्य हो सकते हैं। यह कहना कि ज्ञान, इच्छा एवं स्थूलत्व तथा गौरवर्णादि धर्म समानाधिकरण नहीं होने से शरीरविषयक अहंप्रत्यय वस्तुतः भ्रम है– मर्यादारहित रूप में लोकप्रतीति का प्रत्याख्यान करना ही है। स्पष्ट रूप में प्रतीत कार्य के लिये कारण व्यवस्था की आवश्यकता होती है न कि कार्य के प्रत्याख्यान की। वस्तुतः शरीर के धर्मों को पुरुष के आरोपित धर्म मानने पर शरीर सम्बन्धमूलक पितृत्व, मातृत्व, भ्रातृत्वादि धर्मों को भी आरोपित कहना आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक एवं विधिक्षेत्र के लोकव्यवहार के विलोप का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

परम्परा के प्रति आग्रह से प्रेरित न होकर लोकप्रतीति एवं यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय से नियन्त्रित रहने पर पुरुष का सन्तानस्वरूपत्व एवं अनित्यत्व न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों के साथ विसङ्गत प्रतीत नहीं होते हैं। जिस प्रकार अवयवी अवयवों से भिन्न है– यह स्वीकार न करने पर पदार्थव्यवस्था सम्भव नहीं होती है उसी प्रकार सन्तानियों से भिन्न सन्तान का अस्तित्व स्वीकार

न करने पर सामान्य रूप से निरन्तर परिवर्तनशील प्राणवान् प्रवाहात्मक तत्त्वों की स्वरूपविषयक व्यवस्था तथा विशेष रूप में पुरुष की स्वरूपविषयक तत्त्वमीमांसीय शास्त्रीय व्यवस्था सम्भव नहीं हो पाती है। धर्मधर्मिमूलक विश्लेषण के आधार पर पुरुष के स्वरूप निरूपण के लिये सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान धर्मी के रूप में स्वीकृत होने पर न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसक के लिये शास्त्रीय अतृप्ति का कोई आधार नहीं रह जाता है।[३७]

५. ईश्वरविषयक विचार

'मूर्तद्रव्य में गति की उत्पत्ति साक्षात् अथवा परम्परया चेतनप्रेरित रूप में ही होती है न कि चेतनतत्त्वनिरपेक्ष एवं स्वतन्त्र रूप में'– यह अवधारणा न्यायवैशेषिकतत्त्वमीमांसा में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिये आधार प्रस्तुत करती है। पुरुष एवं अन्य प्राणी, इच्छा एवं प्रयत्न से साक्षात् रूप में अपने-अपने शरीरावयव विशेषों में एवं परम्परया शरीरेतर घट, पट, गेंद आदि अवयवियों में स्पन्द उत्पन्न कर सकते हैं यह सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है। परन्तु इससे सर्वत्र मूर्तद्रव्यनिष्ठ गति की चेतननिष्ठ इच्छा एवं प्रयत्नजन्यत्व सिद्ध नहीं होता है। ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, चेष्टा की कारणकार्य शृङ्खला का स्वरूपनिरूपण शरीरशास्त्रीय एवं विशेष रूप में स्नायुशास्त्रीयतथ्यनिरपेक्ष रूप में करना पद्धतिमूलक दृष्टि से यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय को नकारना है। मानवनिर्मित घट, पट, प्रतिमा आदि, शृगाल मूषिकादि द्वारा भूमिगत बिल आदि तथा पक्षियों द्वारा निर्मित नीड़ आदि की प्रयत्नजन्यता अवश्य स्वीकार्य है। परन्तु पर्वत, वृक्ष आदि प्राकृतिक वस्तुओं के अवयवी रूपी कार्य पदार्थ होने के आधार पर उनकी चेतनकारणजन्यता प्रमाणसिद्ध नहीं है। कार्यत्व हेतु द्वारा बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व का अनुमान एवं मानव एवं मानवेतर प्राणियों के कर्तृत्व के निराकरण से ईश्वर की सिद्धि के लिये प्रयास भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की ईश्वरवादी धारा के प्रभाव से हुआ प्रतीत होता है। जगत् की सृष्टि एवं प्रलय की प्रक्रिया का स्वरूप निरूपण भी भौतिक-खगोलशास्त्रीय तथ्यानुसार करना आवश्यक है न कि अदृष्ट एवं ईश्वर कारणवाद पर आश्रित रहकर।

---

३७. "मात्रग्रहणेन च सन्तानं सन्तानिव्यतिरिक्तमपाकरोति। तदभ्युपगमे वा स एवात्मेति सिद्धं नः समीहितम्।" *न्यायसूत्र* १.१.१० पर *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका,* पृ.२११

वस्तुतः न तो गति, न उसका अभाव मूर्तद्रव्य का स्वभावसिद्ध धर्म है। मूर्तद्रव्य में गति की उत्पत्ति एवं उसका विनाश अपनी-अपनी कारण सामग्री की अपेक्षा रखते हैं। अन्य मूर्तद्रव्यों के प्रभाव से पूर्णरूपेण मुक्त रहने पर एक मूर्तपदार्थ स्वयं की गतिमत्ता अथवा गत्यभाववत्ता की अवस्था में प्रतिष्ठित रहता है। अतः भौतिक शास्त्र की गतिविषयक शाखानुसार मूर्तद्रव्यनिष्ठ गति में परिवर्तन, जैसा कि द्रुत गति से मन्दगति अथवा गत्यभाव अवस्था से मन्दगति आदि, अन्यमूर्तद्रव्यनिष्ठ बल रूपी कारण की अपेक्षा रखता है। अतः अचेतन पदार्थों में गति की उपपत्ति के लिये अशरीरी ईश्वर की कल्पना युक्तिसङ्गत नहीं है। शरीर के बिना कर्तृत्व एवं इच्छामात्र से स्वशरीरावयवेतर परमाणु आदि मूर्तद्रव्यों में गति की साक्षात् उत्पत्ति आकस्मिकवाद के समान शास्त्रीय दृष्टि से अङ्गीकारयोग्य नहीं है।

यह सत्य है कि जीवन की अत्यन्त विषम एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में सङ्घर्ष करने के लिये पुरुष को केवल प्रमाणसिद्ध तथ्य एवं तर्क पर आश्रित न रहकर श्रद्धा[३८] का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। पुरुष की विभिन्न प्रकार की सीमायें अपरिहार्य रूप में उसकी ज्ञान एवं तर्कशक्ति को भी सीमित करती हैं। ईश्वर में श्रद्धा जब मानव जीवन के पुरुषार्थ तन्त्र की दृष्टि से संवादिता एवं एकरूपता प्रदान करती हुई भूतकल्याणकारी सिद्ध होती है तब वह श्रद्धा अवश्य वरणीय है। परन्तु इसके लिये दार्शनिकों को ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि को अपने तत्त्वमीमांसीय उत्तरदायित्व के रूप में मान लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। ईश्वर में श्रद्धा तथा ईश्वर के प्रति भक्ति बौद्धिकता को व्याहत करने वाला तत्त्व नहीं है, अपितु पुरुषार्थों को जीवन में रूपायित करने की दिशा प्राप्त करने के लिये ध्रुवतारे की भूमिका तथा निरन्तर ऊर्ध्वगमन के लिये अक्षय प्रेरणा के स्रोत की भूमिका निभाने वाला तत्त्व है।[३९] परन्तु इस श्रद्धा

---

३८. "सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥" *श्रीमद्भगवद्गीता* १७.३

३९. "अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥" *श्रीमद्भगवद्गीता,* ९.३०-३१

एवं भक्ति की उपपत्ति के लिये ईश्वर के विलक्षणपुरुषत्व को तथा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का वैचारिक प्रयास आध्यात्मिक परम्परा विशेष के प्रति आग्रहप्रेरित बौद्धिक अहमिका एवं आत्मवञ्चन की अभिव्यक्तिमात्र प्रतीत होता है।

६. पुरुषार्थविषयक विचार

वैदिक आध्यात्मिक परम्परा में धर्म, अर्थ एवं काम– ये तीन पुरुषार्थ, *त्रिवर्ग* नाम से जाने जाते हैं। चरम पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष स्वीकृत हुआ है। न्यायवैशेषिक साहित्य में महाभारत आदि में चर्चित त्रिवर्ग का व्यवस्थित विचार उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः वैशेषिकतत्त्वमीमांसा में परम्परागत पुरुषार्थचतुष्टयविषयक सिद्धान्त का आधार उपलब्ध कराने की समस्या के कारण ही न्यायवैशेषिक दार्शनिकों को परम्परागत विचारों से हटकर अपने तन्त्रानुसार त्रिवर्गविषयक विचार को परोक्ष रूप में प्रस्तुत करना पड़ा है। वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में सुख एवं दुःख के कारण के रूप में यथाक्रम धर्म एवं अधर्म पुरुषकर्मजन्य आत्मनिष्ठ गुण के रूप में स्वीकृत हैं। सुख एवं सुख के हेतु तथा दुःख एवं दुःख के हेतु 'अर्थ' कहलाते हैं। न्यायसूत्रकार द्वारा परिगणित द्वादशविध प्रमेयों में पठित अर्थ रूपी प्रमेय, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द स्वरूप है। काम आत्मा के विशेष गुण इच्छा में अन्तर्भूत है। चरम पुरुषार्थ निःश्रेयस सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छादि आत्मा के सभी विशेष गुणों के आत्यन्तिक अभाव के रूप में गृहीत हुआ है।

न्यायवैशेषिक दर्शन में पुरुषार्थविषयक विचार प्रवृत्ति-निवृत्ति भेद पर केन्द्रित है। आत्मा का स्वरूपविषयक मिथ्याज्ञान अनुकूल के रूप में भासित विषयों के प्रति राग एवं प्रतिकूल के रूप में भासित विषयों के प्रति द्वेष प्रवृत्ति के कारण हैं। कारणात्मिका प्रवृत्ति 'यत्न' नाम से जानी जाती है। यह कारणात्मिका प्रवृत्ति कायिक, वाचिक अथवा मानसिक व्यापार उत्पन्न करती है। यत्नजन्य व्यापार, धर्म अथवा अधर्म रूपी संस्कार उत्पन्न करते हैं। धर्म एवं अधर्म रूपी संस्कार कार्यात्मिका प्रवृत्ति भी कहलाता है। आत्मनिष्ठ धर्माधर्म रूपी संस्कार के कारण पुनर्जन्म होता है एवं जन्म एकान्त रूप में सुखरहित न होने पर भी अपरिहार्य रूप में दुःखभोग का कारण होता है। दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष एवं मिथ्याज्ञानों की अनादि

कार्यकारण शृङ्खला ही संसार है।[४०] कारण का अभाव रहने पर कार्य का अभाव होने से उपर्युक्त दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान की कार्यकारण शृङ्खला में उत्तरोत्तर के अभाव से तत्पूर्ववर्ती का अभाव होता है। इस कार्यकारण शृङ्खला का अभाव ही संसार का अभाव है।[४१] संसार के अभाव का अर्थ, नित्य आत्मा का समस्त आगन्तुक धर्म रहित होकर स्वीय विशुद्ध अनागन्तुक धर्म विशिष्ट होकर रहना ही है। यह अवस्था आत्मा की मोक्षावस्था है। न्यायसूत्रकार द्वारा प्रमेय के रूप में परिगणित पदार्थों के तत्त्वज्ञान से ही मिथ्याज्ञान का निराकरण सम्भव है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति, सम्बन्धित शास्त्र के अध्ययन एवं मनन के अतिरिक्त साधनामार्ग विशेष की अपेक्षा रखती है।

वस्तुतः पुरुष का नैतिक एवं आध्यात्मिक चुनौतिविषयक उपर्युक्त निवृत्तिमूलक विश्लेषण न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के साथ सङ्गत प्रतीत नहीं होता है। प्रवृत्ति एवं दोषविषयक न्यायसूत्र एवं तदुपरि भाष्य एवं वार्त्तिकादि के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि प्रवृत्तिमात्र दोषजन्य होने से, राग, द्वेष, मोहरूपी पक्षत्रयविशिष्ट दोष मिथ्याज्ञानमूलक होने से तत्त्वज्ञान एवं प्रवृत्ति स्वभावतः असामानाधिकरण हैं। परन्तु सभी प्रवृत्तियों की दोषजन्यता प्रमाणसिद्ध नहीं है। रागद्वेष प्रेरित प्रवृत्ति स्वाभाविक होने पर भी पुरुषनिष्ठकर्तृत्व का रमणीयतम पक्ष नहीं है, अपितु उसकी दीनता का परिचायक पक्ष है। जिस प्रकार सूर्य अपनी पूर्णता के कारण जगत् को स्वीय रश्मियों से उद्भासित करता है, उसी प्रकार पुरुष अपनी आध्यात्मिक पूर्णता पर प्रतिष्ठित कर्तृत्वपक्ष के आशीर्वाद स्वरूप भूतकल्याणकारी कर्म द्वारा जगत् को आप्यायित कर सकता है।[४२] सभी प्रवृत्तियों को मोहमूलक राग अथवा द्वेषजन्य एवं परम्परया मिथ्याज्ञानजन्य

---

४०. "कः पुनरयं संसारः, दुःखादीनां मिथ्याज्ञानपर्यन्तानाविच्छेदेन कार्यकारणभावः संसार इति। स चानादिः, पूर्वापरकालनियमाभावात्।" *न्यायवार्त्तिक न्यायसूत्र* १.१.१९ पर, पृ.८६

४१. "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।" *न्यायसूत्र* १.१.२

४२. "सक्ताः कर्माण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्।" *श्रीमद्भगवद्गीता,* ३.२५

मानने पर अन्ततोगत्वा पुरुष के कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व को भी मिथ्याज्ञानमूलक मानना पड़ जायेगा। परन्तु पुरुष के कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध हैं। उनके मिथ्यात्व की कल्पना काणादीय परम्परा की तत्त्वमीमांसा के लिये सर्वथा विसङ्गत है। पुनश्च प्राणिशास्त्रीय तन्त्रों का व्यूहबद्ध निरन्तर परिवर्तनशील प्राणवान् शरीर रूपी अवयवियों के कार्यकारणस्त्रोतापन्न सन्तान पुरुष के रूप में स्वीकृत होने पर तथा सन्तान सन्तानियों से अतिरिक्त तत्त्व के रूप में स्वीकृत होने पर पुरुष का नित्यत्व अनुपपन्न हो जाता है एवं साथ-साथ न्यायवैशेषिक दर्शन में अङ्गीकृत अपवर्ग निराधार हो जाता है। तत्त्वज्ञान से उत्प्रेरित लोकसङ्ग्रह के लिये निष्काम कर्मयोग में ही पुरुष की चरम परिपूर्णता की सम्भावना है।

***

पञ्चम अध्याय

वैशेषिकपदार्थव्यवस्था का परिचय

तृतीय अध्याय में न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा की प्रथमस्तरीय आधारभूत सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की आत्म-अनात्म-भेदविषयक आधारभूत तत्त्वमीमांसीय समस्या के समाधान के लिये न्यायवैशेषिक दार्शनिकों द्वारा किये गये वैचारिक प्रयास की दिशाओं का परिचय प्रस्तुत करना इस अध्याय का लक्ष्य है। चैत्र, मैत्रादि व्यक्तियों के परस्पर भेद तथा व्यक्तियों के मानवेतर प्राणियों से एवं ग्रह, तारा, घट, पट आदि वस्तुओं से भेद सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध हैं। धर्मधर्मिभेदमूलक विश्लेषण के आधार पर मानव व्यक्ति एवं वस्तुओं के स्वरूपनिरूपण के लिये दी गयी परम्परागत वैशेषिक पदार्थव्यवस्था को अनुप्राणित करने वाले सहज प्रवाहशील चिन्तनों के प्रति संवेदनशीलता के बिना उस व्यवस्था में परिवर्तन का प्रयास करना केवल अपना वैचारिक पूर्वाग्रह एवं अहमिका का परिचय देना होगा।

१. घटपटादि अवयवियों के प्रतिसन्धान से उनके तथा प्रतिसन्धाता रूपी ज्ञातृतत्त्व के एकत्व, अक्षणिकत्व एवं असङ्घातस्वरूपत्व की सिद्धि

भारतीय दार्शनिक परम्परा में आत्म एवं अनात्म तत्त्वों के यथार्थ

ज्ञान का पुरुषार्थमीमांसीय महत्त्व सर्ववादिसम्मत है। न्यायवैशेषिक दार्शनिकों के दृष्टिकोण से बौद्ध सन्तानवादी विचारधारा के सङ्घातवाद एवं क्षणिकवाद के आधार पर आत्म एवं अनात्म तत्त्वों का स्वरूपनिरूपण सम्भव नहीं है। प्रतिसन्धान की प्रामाणिकता से ही ज्ञाता एवं ज्ञेय में परस्पर भेद, उनके अक्षणिकत्व एवं एकत्व सिद्ध होते हैं। उक्त प्रकार के प्रतिसन्धान के उदाहरण को प्रस्तुत करते हुए न्यायभाष्यकार वात्स्यायन लिखते हैं–

> "यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं स्पर्शनेनापि स्पृशामि। यं चास्प्राक्षं स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामीति। एकविषयौ चेमौ प्रत्ययावेककर्तृकौ प्रतिसन्धीयेते, न च सङ्घातकर्तृकौ नेन्द्रियेणैककर्तृकौ।" (*न्यायसूत्र* ३.१.१ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. १८९-१९०)
> [मैंने चक्षुरिन्द्रिय से जिसका ग्रहण किया था उसका स्पर्शेन्द्रिय से भी ग्रहण कर रहा हूँ, मैंने जिसका स्पर्शेन्द्रिय से ग्रहण किया था उसका दर्शन चक्षु से कर रहा हूँ। यहाँ पर (चाक्षुष एवं स्पार्शन प्रत्यक्षरूपी) ज्ञानद्वय एकविषयक तथा एकाश्रयक (एककर्तृक) रूप में प्रतिसन्धीयमान होते हैं, न कि सङ्घातकर्तृक अथवा (चक्षु या स्पर्शरूपी) किसी एक इन्द्रियकर्तृक के रूप में।]

वस्तुतः उपर्युक्त उदाहरण से रूप तथा स्पर्शगुणविशिष्ट सङ्घातेतर धर्मी रूपी विषयतत्त्व का अस्तित्व, अक्षणिकत्व एवं एकत्व के साथ-साथ चाक्षुष तथा स्पार्शन प्रत्यक्ष के कर्ता के रूप से असङ्घातस्वरूप धर्मी रूपी आत्मतत्त्व का अस्तित्व, अक्षणिकत्व एवं एकत्व भी सिद्ध होते हैं। चैत्र, मैत्रादि व्यक्तियों के जन्म-मरण जैसा उनके कर्तृत्व, ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्व भी सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध हैं। व्यक्ति का शरीर उसका भोगायतन है। उसके बिना व्यक्ति के कर्तृत्व, ज्ञातृत्व एवं भोक्तृत्व की उपपत्ति सम्भव नहीं है। प्राणी का शरीर निरन्तर परिवर्तनशील होने पर भी केवल सङ्घातसन्तति के रूप में समझा नहीं जा सकता है। वस्तुतः प्राणवान् शरीर व्यूहबद्ध अवयवों की व्यवस्था विशेष है, यद्यपि वह पत्थर की प्रतिमा जैसा स्थिर एवं अपरिवर्तित नहीं रहता है। घट, पट, वृक्ष, प्राणिशरीरादि स्थूल वस्तु एवं उनके धर्म ही बाह्येन्द्रियग्राह्य होते हैं। परन्तु उपर्युक्त प्रकार की स्थूल वस्तु अपने-अपने अवयवरूपी घटकतत्त्वों के व्यवस्थित व्यूह विशेष के रूप में एकत्व विशिष्ट होकर ज्ञान में भासित होती है, न कि जिस किस भी प्रकार से घटित सङ्घात के रूप में। पट तन्तुओं का सङ्घात

मात्र नहीं है, वह तन्तुओं का व्यवस्थित व्यूह विशेष है। इस प्रकार के अवयवों के व्यवस्थित व्यूह, *अवयवी* (*जन्यद्रव्य*) कहलाते हैं। प्राणिशरीर एवं वृक्षादि भी विशेष प्रकार के अवयवी हैं। अतः आत्म एवं अनात्म तत्त्वों के स्वरूपनिरूपण के लिये बाह्येन्द्रिय ग्राह्य स्थूल अवयवी रूपी तत्त्व का स्वरूपनिरूपण न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा निर्माण की दृष्टि से अपरिहार्य हो जाता है।

२. अवयव-अवयविसम्बन्ध, अवयविसंरचना का तरुप्रारूप एवं प्रथम स्तर के पदार्थ के रूप में द्रव्य

यह अवश्य सत्य है कि घट एवं पट न केवल परस्पर भिन्न हैं, अपितु परस्पर स्वतन्त्र भी हैं। परन्तु पट अपने तन्तुओं से स्वतन्त्र नहीं है। घट विनष्ट होने पर भी पट अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है, जबकि अपने अवयवरूपी तन्तुओं का अथवा उनके परस्पर संयोग के विनाश से पट का स्वतः विनाश होता है। परन्तु दो पदार्थों को परस्पर भिन्न होने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वे परस्पर, स्वरूप में अवस्थान की दृष्टि से, स्वतन्त्र भी होवें। पट स्वावयव तन्तुओं से स्वतन्त्र न होने पर भी उनसे भिन्न है, क्योंकि धर्मभेद रहने पर धर्मिभेद स्वीकार करना आवश्यक है। पट का गुरुत्व उसके अवयवरूपी प्रत्येक तन्तु के गुरुत्व से अवश्य अधिक है।

आरम्भवाद नाम से प्रसिद्ध न्यायवैशेषिक दर्शन का कार्यकारण सिद्धान्त एवं भावकार्य का समवायी, असमवायी एवं निमित्त कारणजन्यत्व रूपी त्रिविधकारणजन्यत्वविषयक सिद्धान्त अवयविसिद्धि का आधार है। एक वृक्ष की अपेक्षा से उसका मूल, तना एवं शाखादि उसके अवयव हैं एवं शाखा की अपेक्षा से उसकी प्रशाखा एवं पत्र-पुष्पादि उसके अवयव हैं। एक पत्र की अपेक्षा से उसके शिरा-प्रशिरा एवं तन्मध्यवर्ती भाग उसके अवयव हैं। उसी प्रकार एक शिरा की अपेक्षा से उसकी कोशिकायें उसके अवयव हैं। कोशिका की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न जैविक यौगिकाणु एवं यौगिकाणु की अपेक्षा से रासायनिक परमाणु अवयव हैं। वस्तुतः इस अवयव-अवयविधारा की विश्रान्ति का निर्णय, नियन्त्रित तथा अनुशासित पर्यवेक्षण एवं प्रयोग के द्वारा ही सम्भव है। परन्तु गुरुत्वादि परिमाणविषयक व्यवस्था के लिये उक्त अवयव-अवयविधारा की विश्रान्ति परिमितसङ्ख्यक सोपान में होना आवश्यक है। न्यायवैशेषिक परम्परा के अनुसार इस धारा

की विश्रान्ति अविभाज्य नित्य परमाणुरूपी द्रव्यों में ही होती है। प्रत्येक अवयवी की संरचनाप्रक्रिया खण्डरेखा एवं क्षुद्रवृत्त-निर्मित एक वंशावलीतरु के द्वारा प्रस्तुत की जा सकती है। इस प्रकार के अवयवी की संरचना-सूचक तरु की अन्तिम क्षुद्रवृत्तसूचित गाँठ, परमाणुरूपी अन्त्य अवयवों का प्रतिनिधित्व करती हैं। मूलगाँठ स्वयं अवयवी का प्रतिनिधित्व करती है एवं अवशिष्ट गाँठ मध्यवर्ती अवयवों का प्रतिनिधित्व करती हैं। तरुचित्र की खण्डरेखायें अवयवि-अवयव सम्बन्ध को दर्शाती हैं। न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में पदार्थों के प्रथम स्तर (तल, सोपान) पर उनकी प्राथमिकता की दृष्टि से केवल *द्रव्य* कोटि के पदार्थों को स्थान प्राप्त है।[१] इस सोपान में नित्य एवं जन्य द्रव्य (अवयवी) के भेद से हम दो उपसोपानों की कल्पना कर सकते हैं। परम्परागत मत में नित्य द्रव्य भी द्रव्य-अनारम्भक एवं द्रव्यारम्भक भेद से दो कोटि के हैं।

३. आधार-आधेय एवं धर्मधर्मिभाव– द्वितीय स्तर के पदार्थ के रूप में गुण एवं कर्म

सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध घट, पट, वृक्ष एवं शरीरादि अवयवियों के स्वरूपनिरूपण तथा सामान्य रूप में पदार्थस्वरूपनिरूपण के लिये न्यायवैशेषिक दार्शनिकों ने धर्मधर्मिभेदमूलक विश्लेषणपद्धति को अपनाया है। धर्मी को आधार के रूप में एवं उसके प्रत्येक धर्म को एक आधेय के रूप में देखा जा सकता है। आधार-आधेयभाव की प्रतीति, विशेष प्रकार के नियामक सम्बन्ध की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार की प्रतीति सामान्यतया 'a में y है', 'a पर y है' अथवा 'a y-वान् है' आदि वाक्यों द्वारा अभिव्यक्त होती है। अस्तित्व की दृष्टि से दो स्वतन्त्र पदार्थों के मध्य आधार-आधेयभाव सम्भव है, जैसे 'अञ्जलि में पुष्प', 'घट में जल' या 'टोकरी में आम' आदि। उपर्युक्त सभी उदाहरणों में विशेष प्रकार के संयोग सम्बन्ध आधार-आधेयभाव के नियामक हैं। एक टोकरी में रखे गए आम को वास्तव में अलग किया जा सकता है। एक चम्पक फूल की सुगन्ध, रूप एवं कोमल स्पर्श आदि धर्मों की प्रतीति उस फूलरूपी आधार में पराश्रित रूप में ही होती है। परन्तु चम्पक के सुगन्ध, रूप, स्पर्शादि धर्मों को केवल कल्पना में ही उनके आधार रूपी चम्पक से अलग किया जा सकता

---

१. "आदौ द्रव्यस्योद्देशः, सर्वाश्रयत्वेन प्राधान्यात्।" *न्यायकन्दली*, पृ.१७

है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि रूप, रस, गन्ध स्पर्शादि धर्मों का अस्तित्व स्वभाव से ही पराश्रित है। एक अवयवी का अस्तित्व भी उसके अवयवों पर आश्रित रूप में ही भासित होता है। उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी को अपने ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख एवं दुःखादि धर्मों का साक्षात्कार भी मानस प्रत्यक्ष से 'अहं' प्रत्ययवाच्य धर्मी में आश्रित तत्त्वों के रूप में होता है, न कि विच्छिन्नमूल तत्त्वों के रूप में। ज्ञान, इच्छादि का समानाश्रयत्व (एककर्तृकत्व) प्रतिसन्धान रूपी अनुभव के द्वारा सिद्ध होता है। उदाहरणस्वरूप पेड पर जिस पके हुए आम को देखा था, उसको पेड से तोड़कर उसके मधुर रस का आस्वादन किया। न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में उपर्युक्त प्रकार के द्रव्याश्रित इन्द्रियग्राह्य धर्म *गुणकोटि* के पदार्थ के रूप में स्वीकृत हैं। जिस प्रकार किसी एक आम के, मधुर रस, पीत रूप, कोमल स्पर्श, सुगन्ध एवं गुरुत्वादि गुण, आश्रय भेद न होने पर भी परस्पर से भिन्न तत्त्वों के रूप में स्वीकार्य हैं, उसी प्रकार दो भिन्न-भिन्न पीपल के पत्तों का हरा रङ्ग एक जैसा होने पर भी आश्रय भेद के कारण भिन्न हैं। एक पीपल का पत्ता पीला हो जाने पर भी दूसरे पीपल का पत्ता यथावत् हरा रह सकता है। यदि x का नाश हो जाने पर भी y रहता है तब अवश्य x एवं y परस्पर भिन्न हैं।

जब पत्ता पेड़ पर रहते हुए हिलता रहता है तब उसमें एक विलक्षण प्रकार का धर्म स्वीकार करना आवश्यक है। यह विलक्षण धर्म उस पत्ते से अवश्य भिन्न है। जब वह पत्ता पेड़ से गिरकर भूमि पर आता है तब भी उसमें स्पन्द रूपी धर्म स्वीकार करना आवश्यक है। न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में स्पन्दन एवं तत्सजातीय धर्मों के लिये '*कर्म*' ('*स्पन्द*') नामक एक स्वतन्त्र कोटि की व्यवस्था की गई है। एक द्रव्य d में कर्म का आश्रय होने की योग्यता उसी एवं केवल उसी स्थिति में स्वीकार की जा सकती है जब यह कहना सार्थक है कि d आकाशीय बिन्दु a पर अवस्थित था, आकाशीय बिन्दु b, a से भिन्न है एवं परवर्ती काल में d बिन्दु b पर अवस्थित हुआ। यह तभी सत्य हो सकता है जब द्रव्य d परिमित विस्तार से विशिष्ट हो, अन्यथा नहीं। जिस द्रव्य में कर्म का आश्रय होने की योग्यता है वह *मूर्त* कहलाता है। जिस पदार्थ की उत्पत्ति होती है वह कार्यपदार्थ कहलाता

है एवं कार्य की उत्पत्ति कारण-सामग्री की अपेक्षा रखती है। भाव कार्य पदार्थ की उत्पत्ति के लिये अपेक्षित कारणसामग्री उसके विनाश के लिये अपेक्षित कारणसामग्री से अवश्य भिन्न है, अन्यथा पदार्थों की उत्पत्ति तथा विनाश में अन्तर करना सम्भव नहीं हो पायेगा। कर्म, मूर्त द्रव्यों का उत्पन्न-विनाशशील धर्म है। कर्म की उत्पत्ति की तरह उसका विनाश भी कारणसामग्रीविशेष की अपेक्षा रखता है। गुण कोटि के पदार्थ की भाँति कर्म पदार्थ भी, मूर्त द्रव्यों में अस्तित्व की दृष्टि से आश्रित होकर रहता है। अनाश्रित कर्म सम्भव नहीं है।

न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के द्वितीय स्तर में गुण एवं कर्म कोटि के पदार्थों को रखा जा सकता है। न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ के मत में कर्म कोटि के पदार्थ गुण कोटि में अन्तर्भूत किये जा सकते हैं।[२] भासर्वज्ञ का यह मत आचार्य उदयन को स्वीकार्य नहीं है। *गुणकिरणावली* के प्रारम्भ में वे लिखते हैं–

> "'सामान्यवान् स्पर्शरहितो द्रव्याश्रितो गुणः', 'सामान्यवान्, कार्यानाश्रयो गुणः', इति चातिव्यापकं कर्मण्यपि गतत्वात्।" (उदयन, *किरणावली*, पृ. १०४)
>
> ['स्पर्शरहित सामान्यवान् द्रव्याश्रित पदार्थ गुण है।' 'जो सामान्य का आश्रय है, परन्तु किसी कार्य पदार्थ का आश्रय नहीं है, वह गुण है'। गुण के ये लक्षण अतिव्याप्ति दोषग्रस्त हैं, क्योंकि कर्म पदार्थ में भी ये लक्षण प्रवृत्त होते हैं।]

उदयन के मत में कर्म चलनात्मक तत्त्व के रूप में गृहीत होता है। सभी प्रकार के स्पन्दन, रूपादि गुणों से भिन्न हैं तथा एकजातीय तत्त्व हैं। कर्म संयोग एवं विभाग रूपी कार्यों को उत्पन्न करता है। रूपादि गुणों में उस प्रकार के परस्परविरुद्ध संयोगविभागरूपी कार्यो को उत्पन्न करने की योग्यता नहीं है।

वस्तुतः मूर्त द्रव्यों में गति की उत्पत्ति एवं विनाश की प्रक्रियाओं के परिमाणमूलक कार्यकारणविश्लेषण की दृष्टि से कर्मपदार्थ को एक स्वतन्त्र

---

२. "...कर्मवर्गोऽपि पञ्चविंशतितमो गुणभेद एवास्तु न किञ्चिदत्र विशेषं पश्यामः। किमेषां गुणत्वमिति चेत्, गुणलक्षणमेव। तच्चास्पर्शत्वे सामान्यवत्त्वे च सति द्रव्याश्रितत्वं सर्वेषामस्ति रूपादीनाम्।" *न्यायभूषण*, पृ.१५८

कोटि में रखना आवश्यक है। किसी पत्ते के हरे रङ्ग का नष्ट होना एवं उसमें पीले रङ्ग की उत्पत्ति का कार्यकारण-विश्लेषण, कोशिकाओं की संरचना एवं रासायनिक प्रक्रियाओं के आधार पर किया जा सकता है। परन्तु किसी आम के पेड़ से भूमि पर पतन क्रिया का विश्लेषण केवल भौतिक शास्त्र की गतिविषयक प्रक्रियाओं के आधार पर किया जा सकता है। गतिविज्ञान का तत्त्वमीमांसीय आधार प्रस्तुत करने की दृष्टि से कर्मपदार्थ के लिये स्वतन्त्र कोटि की व्यवस्था उपादेय है।

४. तत्त्वमीमांसीय परतन्त्रता– समवायसम्बन्ध

घट, पट, वृक्ष एवं प्राणिशरीरादि अवयवियों की एकात्मकता, तत्त्वमीमांसीय परतन्त्रता (पराश्रितता) सम्बन्ध की अपेक्षा रखती है। पट अपने अवयवरूपी तन्तुओं से भिन्न होने पर भी उन पर आश्रित होकर ही स्वरूप में अवस्थान करता है। पट के रूप एवं गुरुत्व धर्म, पट से भिन्न होने पर भी उस पटरूपी आधार में आश्रित रहते हैं। इस आश्रितता के बिना उनके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। सामान्य रूप में गुण एवं कर्म द्रव्यरूपी आधार में परतन्त्र होकर ही अपने-अपने स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। न्यायवैशेषिक परम्परा में उपर्युक्त प्रकार की परतन्त्रता से विशिष्ट आधार-आधेय भाव को *अयुतसिद्धों का सम्बन्ध* कहा जाता है। अयुतसिद्धों के आधार-आधेयभाव के नियामक सम्बन्ध '*समवाय*' नाम से जाना जाता है। इस महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध के लिये एक स्वतन्त्र पदार्थ कोटि की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक सम्बन्ध का एक अनुयोगी एवं एक प्रतियोगी होता है। आधार-आधेयभाव का नियामक सम्बन्ध *वृत्तिनियामक* सम्बन्ध के नाम से जाना जाता है। समवायसम्बन्ध स्वभाव से वृत्तिनियामक है। एक आम के रूप, रस, सुगन्ध, कोमल स्पर्श एवं गुरुत्वादि गुण समवाय सम्बन्ध से उस आम में रहते हैं। आम का रूप समवाय सम्बन्ध का प्रतियोगी है एवं आम समवाय सम्बन्ध का अनुयोगी है। जब आम पेड़ से गिरता है तब आम में कुछ क्षणों के लिये रहने वाली पतन क्रिया समवाय सम्बन्ध की प्रतियोगी है एवं आम उसका अनुयोगी है। समवाय सम्बन्ध से पट अपने तन्तुओं में एवं सामान्य रूप में अवयवी अपने अवयवों में रहता है। जब घड़े में पानी रहता है तब घट आधार है पानी आधेय है एवं आधार-आधेयभाव का नियामक सम्बन्ध है संयोग। उस संयोग का प्रतियोगी पानी है एवं अनुयोगी घड़ा है। सामान्य रूप में जब दो पदार्थों के मध्य आधार-आधेयभाव रहता है, तब आधाररूपी

पदार्थ ही उस आधार-आधेयभाव के नियामक सम्बन्ध का अनुयोगी होता है एवं आधेयभूत पदार्थ उसका प्रतियोगी होता है। न्यायवैशेषिक परम्परा में लाघव की दृष्टि से समवाय सम्बन्ध के एकत्व तथा नित्यत्व स्वीकृत हुए हैं।

धर्मधर्मिभेदमूलक विश्लेषण पर आधारित तत्त्वमीमांसीय व्यवस्थानिर्माण के लिये साधर्म्य एवं वैधर्म्यमूलक विचारपद्धति स्वाभाविक है। कणाद एवं प्रशस्तपाद की दार्शनिक विचार-प्रक्रिया इस पद्धति के महत्त्व को मान कर आगे बढ़ती है। समवायी, असमवायी एवं निमित्त कारण के भेद से भावकार्यों के तीन प्रकार के कारण स्वीकृत हैं। तन्तु पट का समवायिकारण, तन्तुसंयोग उसका असमवायिकारण एवं पट के तन्तुवाय एवं बुनने के उपकरणादि निमित्त कारण हैं। ज्ञान भी भावकार्य होने से उसके तीन प्रकार के कारण स्वीकार्य हैं। प्रत्यक्ष-ग्राह्य घट, पटादि पदार्थ, स्व-विषयक प्रत्यक्षज्ञान के निमित्त कारण होते हैं। प्रमाता समवायिकारण तथा आत्ममनःसंयोग एवं इन्द्रियमनःसंयोग असमवायिकारण होते हैं।

५. अनुवृत्तिप्रत्यय के आधार के रूप में सामान्य

न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में समानाकार प्रतीति (अनुवृत्ति प्रत्यय) के निमित्त कारग के रूप में *सामान्य* कोटि के पदार्थ स्वीकृत हुए हैं।[३] 'a एक वृक्ष है', 'b एक वृक्ष है', 'c एक वृक्ष है' इत्यादि आकार के प्रमात्मक विशिष्ट ज्ञानों में विशेष्य a, b, c आदि परस्पर भिन्न पिण्ड होने पर भी विशेषण (वृक्षत्व) एक है।

प्रमात्मक भेद एवं अभेद प्रतीतियों को विकल्पजन्य अर्थात् आरोपित मात्र कहने से तत्त्वमीमांसीय व्यवस्था का निर्माण सम्भव नहीं हो पाता है। ज्ञान वस्तु-तन्त्र है, पुरुष-तन्त्र नहीं। अतः जिस प्रकार प्रतीतिभेद विषय-भेद के कारण ही होता है उसी प्रकार प्रतीतियों में समानता भी विषय की अभिन्नता के कारण ही होती है। इतना स्वीकार न करने पर, न केवल ज्ञान का वस्तुतन्त्रत्व बाधित होता है अपितु विशेष्य-विशेषण-भाव की व्यवस्था भी सम्भव नहीं हो पाती है। जब भिन्न-भिन्न व्यक्ति a, b, c, d

---

३. (क) "तस्य रूपं कथयति— अनुवृत्तिप्रत्ययकारणमिति। अत्यन्तव्यावृत्तानां यतः कारणादन्योन्यस्वरूपानुगमः प्रतीयते तत् सामान्यम्।" *न्यायकन्दली*, पृ.२९

(ख) "समानप्रसवात्मिका जातिः।" *न्यायसूत्र*, २.२.६८, पृ.१८८

आदि छत्रधारी (छातावाले) के रूप में ज्ञान में भासित होते हैं तब उसका अर्थ यह नहीं है कि वे सब व्यक्ति एक ही छाता ले रखे हैं। अपितु इसका अर्थ प्रायः यह होता है कि वे सब व्यक्ति एक ही छत्रत्व (छाता होने के) धर्म से विशिष्ट भिन्न-भिन्न छातों को ले रखे हैं। उसी प्रकार जब परस्पर से भिन्न जपा पुष्पों को हम 'ये सब लाल हैं' इस रूप में जानते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि एक ही उत्पन्न विनाशशील गुणकोटि का रक्तरूपव्यक्ति उन सभी में समवेत होकर है। अपितु एक ही रक्तत्व जाति से विशिष्ट जपा पुष्प भेद से भिन्न-भिन्न रक्तरूप व्यक्ति, तत् तत् पुष्प में पराश्रित रूप में हैं।[४] यह भी सत्य है कि एक ही व्यक्ति रूपी पदार्थ भिन्न-भिन्न धर्मियों के धर्म की भूमिका निभा सकता है। उदाहरणस्वरूप जब केवल एक ही छाता उपलब्ध है तो भिन्न-भिन्न व्यक्ति उसे भिन्न-भिन्न समय में उपयोग में ले सकते हैं एवं वे सभी छाते के उपयोग के समय न केवल 'छातावाले' कहलायेंगे अपितु 'एक विशेष छातावाले' भी कहलायेंगे। उसी प्रकार एक ही भूखण्ड अथवा एक ही रत्न विशेष का स्वामित्व, काल भेद से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में रहता है। परन्तु अनुवृत्ति प्रत्यय के स्थल में सर्वत्र धर्मियों के समान विशेषण विशिष्ट होने की प्रतीतियों के आधार के रूप में एक साधारण धर्म साक्षात् अथवा परम्परा से होना आवश्यक है।

६. धर्मों का वर्गीकरण: प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध, एकवृत्तिक-अनेकवृत्तिक, जाति-उपाधि

'सामान्य' पदार्थ-विचार के प्रसङ्ग में आश्रयों की सङ्ख्या की दृष्टि से धर्मों का वर्गीकरण उपयोगी है। वन्ध्यापुत्र, शशशृङ्गादि धर्म किसी भी धर्मी में आश्रित होकर नहीं रहते हैं। वे *अप्रसिद्ध* कहलाते हैं। अप्रसिद्ध धर्म प्रायः तद्धितान्त अथवा समासरूपी यौगिक प्रातिपदिकों के द्वारा ही अभिहित किये जा सकते हैं। महाराज पुरु के यदि अपत्य नहीं होते तो 'पौरव' पद अप्रसिद्ध रह जाता। तद्धित प्रत्यय अथवा समास प्रक्रिया से व्युत्पन्न प्रातिपदिक शब्दप्रक्रिया की दृष्टि से निर्दुष्ट होने पर भी अपरिहार्य रूप में बाह्यार्थ के वाचक नहीं होते हैं। महर्षि पाणिनि की

---

४. "नीलो नष्टो रक्त उत्पन्न इत्यादिप्रतीतेर्नीलादेरुत्पादविनाशशालितया नानात्वात्, अन्यथा एकनीलनाशे जगदनीलतामापद्येत।" *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*, पृ. ३७४-३७५

प्रातिपदिक संज्ञा[५] की दृष्टि से व्याकरण शास्त्र की अर्थमीमांसा में भर्तृहरि द्वारा मुख्य एवं उपचरित सत्ताओं में भेद करना एवं नागेश भट्ट द्वारा बाह्यार्थ तथा बौद्धार्थ में भेद करना आवश्यक था। वस्तुतः अव्युत्पन्न आणविक प्रातिपदिक बाह्यार्थ शून्य नहीं हो सकते हैं; यद्यपि उपन्यास एवं नाटकादि साहित्यिक कृतियों के चरित्र आदि को भाक्त रूप में बाह्यार्थ कहना आवश्यक हो जाता है। अप्रसिद्ध धर्मों के विपरीत, जो धर्म न्यूनातिन्यून एक धर्मी में रहते हैं वे *प्रसिद्ध* कहलाते हैं। प्रसिद्ध धर्म पुनश्च *एकवृत्तिक*

---

५. (क) "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्।" *अष्टाध्यायी,* १.२.४५ "कृत्तद्धित-समासाश्च।" *वही,* १.२.४६

(ख) संस्कृत भाषा के धातु एवं प्रत्यय से भिन्न अर्थवान् 'नर', 'वृक्ष' आदि शब्द, 'गमन', 'गति', 'गन्तव्य', 'पाठ', 'पाठ्य', 'पठित्वा', 'पठितुम्' आदि धातुओं से व्युत्पन्न कृदन्त शब्द, 'राघव', 'भार्गव', 'गोत्व' आदि तद्धितान्त शब्द तथा 'पीताम्बर', 'राजपुरुष', 'वन्ध्यापुत्र', 'अभाव', 'अपण्डित' आदि समास प्रक्रिया से निष्पन्न शब्द *प्रातिपदिक* कहलाते हैं। 'तिप्', 'तस्', 'झि' आदि तिङन्त प्रत्यय, 'भू', 'पठ्', 'गम्' आदि धातु के अन्त में लगने पर *तिङन्त पद* 'भवति', 'पठति' आदि निष्पन्न होते हैं। 'सु', 'औ', 'जस्' आदि विभक्ति प्रत्यय प्रातिपदिकों के अन्त में लगने पर ही *सुबन्त पद* निष्पन्न होते हैं। केवल पद ही वाक्य के घटक हो सकते हैं। 'पण्डितः वन्ध्यापुत्रः', 'दीर्घं शशशृङ्गम्', 'सुरभि गगनकुसुमम्' आदि वाक्यों की साधुत्वसिद्धि के लिये 'वन्ध्यापुत्रः' 'शशशृङ्गम्' एवं 'गगनकुसुमम्' की पदत्वसिद्धि आवश्यक है एवं इसके लिये 'वन्ध्यापुत्र', 'शशशृङ्ग', 'गगनकुसुम' आदि की प्रातिपदिकत्व सिद्धि आवश्यक है। प्रातिपदिकत्व अर्थवत्ता की अपेक्षा रखता है। परन्तु 'वन्ध्यापुत्र', 'शशशृङ्ग' आदि शब्द घट पटादि शब्द की तरह मुख्यसत्ताविशिष्ट बाह्यार्थ के वाचक नहीं होते हैं। अतः उनकी प्रातिपादकत्वसिद्धि में अपेक्षित उनकी अर्थवत्ता की रक्षा के लिये उनको उपचारसत्ताविशिष्ट अर्थवान् (बौद्धार्थवान्) स्वीकार करना आवश्यक है। बाह्यार्थ एवं बौद्धार्थ भेद सिद्धि के लिये वैयाकरणों द्वारा दी गयी उपर्युक्त युक्ति नैयायिकों को स्वीकार्य नहीं है। न्यायमत में समास प्रक्रिया से निष्पन्न शब्द की स्वतन्त्र शक्ति नहीं होती है।

एवं *अनेकवृत्तिक* भेद से दो प्रकार के होते हैं। 'हिमालयत्व' धर्म एक ही पर्वतमाला में रहता है। उसी प्रकार विन्ध्यगिरित्व, गङ्गानदीत्व, सम्राट् अशोकत्वादि धर्म एकवृत्तिक हैं। चैत्र, मैत्र आदि माता-पिता के द्वारा प्रदत्त नाम (संज्ञाएँ) तथा पुराण, उपन्यासकारादि द्वारा प्रयुक्त रावण, कुम्भकर्ण, प्रियंवदा, अनसूयादि नाम भी कविकल्पनानिर्मितचरित्रनिष्ठ एकवृत्तिक[६] धर्म होते हैं। वास्तविक जगत् में यदि प्रधानभूत नामकरण एवं परिचय की प्रक्रिया नहीं होती तो उपन्यासादि में भाक्त नामकरणादि सम्भव नहीं होता। पदार्थत्व एवं अभिधेयत्व समनियत धर्म है। जो पदार्थ है वह नाम से अभिहित किया जा सकता है एवं जो अभिहित किया जा सकता है वह पदार्थ है। सामान्य अथवा संज्ञा (नाम) से अभिधान सम्भव होता है। एक पदार्थ को संज्ञा (नाम) से अभिहित करने के लिये उस पदार्थ को अन्य सभी विजातीय एवं सजातीय पदार्थों से व्यावर्तित करना आवश्यक है। 'पर्वत' एक सामान्य नाम है। जब तक एक विशेष धर्म से विशिष्ट भूप्रदेश के सजातीय भूप्रदेश तथा विजातीय सभी पदार्थों से व्यावर्तित नहीं किया जाता तब तक 'विन्ध्यपर्वतमाला' इस संज्ञा से उसको अभिहित करना सम्भव नहीं है। 'शृङ्गग्राही' न्याय (सींग पकड़ करके बताना 'इस गाय का नाम 'नन्दिनी' है') अथवा यौगिक एकवृत्तिक धर्म (राजीव गाँधी के नानाजी के पिता का नाम मोतीलाल नेहरू था) के द्वारा एक पदार्थ को अन्य सभी पदार्थों से व्यावर्तित किया जा सकता है। संज्ञा शब्द एकवृत्तिक धर्म की अपेक्षा रखने पर भी औपचारिक रूप में एकाधिक धर्मों के सामानाधिकरण्य के रूप में गृहीत नहीं होते हैं। 'मेरा पितामह होना' सङ्ख्या ३ का वर्ग $(३^{२})$ होना, सङ्ख्या २७ का घनमूल $(\sqrt[३]{२७})$ होना, अपने से दुगुने के साथ बराबर होना $(x+x=x)$ अथवा सङ्ख्या शून्य से भिन्न होते हुए भी अपने वर्ग सङ्ख्या के साथ बराबर होना $(x \neq ० \ \& \ x^{२}=x)$ आदि एकवृत्तिक धर्म फलनात्मक सम्बन्धों के अनुयोगी समीकरण विशेष के समाधान अथवा धर्मों के सामानाधिकरण्य के रूप

---

६. नव्यन्यायपरिभाषिक पदार्थों की सहायता लेकर कहा जा सकता है कि जब एक धर्म अपने आश्रयनिष्ठ किसी भी भेद सम्बन्ध के कोई भी प्रतियोगी में नहीं रहता है तब वह एकवृत्तिक कहलाता है। "स्वाश्रयनिष्ठभेदाप्रतियोग्याश्रयकत्वम्" वेणीमाधवशास्त्री, *परिष्कारदर्पण,* वाराणसी, विक्रम सम्वत् १९९१, पृ.६४

में प्राप्त होते हैं। ऐतिहासिक पुरुषों की संज्ञाओं से शाब्दबोध भी इतिहासकाररूपी 'आप्त' पुरुष-परम्परा अथवा शिलालेखादि हेतुमूलक अनुमान प्रमाण द्वारा शक्तिग्रह की अपेक्षा रखता है।

जो प्रसिद्ध धर्म एकाधिक आश्रयों में रहता है वह अनेकवृत्तिक कहलाता है। शास्त्रीय भाषा में 'जो धर्म स्वयं के आश्रयप्रतियोगिक भेद अर्थात् अन्योन्याभाव के साथ समानाधिकरण है वह अनेकवृत्तिक[७] कहलाता है'। उदाहरणस्वरूप मूर्तद्रव्यनिष्ठ घटत्व, पटत्व, वृक्षत्वादि धर्म, पूर्णसङ्ख्यानिष्ठ समत्व, विषमत्व, वर्गसङ्ख्यात्वादि धर्म, त्रिभुजत्व, चतुर्भुजत्व, वृत्ताकारत्वादि रेखाचित्रनिष्ठ धर्म तथा मनुष्यनिष्ठ पाचकत्व, अध्यापकत्व एवं एक नगर विशेष का अधिवासी होने का धर्म अनेकवृत्तिक हैं। तत्त्वमीमांसीय व्यवस्थानिर्माण की दृष्टि से सब अनेकवृत्तिक धर्म समान रूप में महत्वपूर्ण नहीं होते हैं। पाचकत्व, अध्यापकत्व, भृत्यत्व, अमुक ग्राम का अधिवासित्वादि धर्म सामाजिक समस्या के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण होने पर भी तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से मनुष्यत्व, वृक्षत्व, शिंशपात्व आदि धर्म कोटि के नहीं हो सकते हैं। उसी प्रकार अपने वर्ग के साथ अभिन्न होने का धर्म ($x^2=x$), जो केवल सङ्ख्या ० एवं १ में रहता है तथा ३० का धनात्मक भाजक होने का धर्म, जो केवल १, २, ३, ५, ६, १०, १५, और ३० में रहता है, सङ्ख्याशास्त्रीय व्यवस्था-निर्माण की दृष्टि से अथवा कुछ विशेष समस्या के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण होने पर भी आणविक-सङ्ख्यात्व, समत्व, विषमत्व वर्ग-सङ्ख्यात्वादि धर्म-कोटि के नहीं हैं।

जो धर्म नित्य है एवं अनेक आश्रयों में समवायसम्बन्ध से रहता है वह न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में *जाति* कहलाता है[८], अन्यथा उस तन्त्र में अनेकवृत्तिक धर्म *उपाधि* कहलाता है। उपाधि पुनश्च अखण्ड

---

७. "अनेकवृत्तित्वं च स्वाश्रयान्योन्याभावसामानाधिकरण्यम्।" *किरणावली* का पृ. १५ पर सम्पादक जीतेन्द्र एस. जेटली की टिप्पणी।

८. (क) "समानानां भावः स्वाभाविकोऽनागन्तुको बहूनां धर्मः सामान्यमित्यर्थः। तथा च धर्मिणां बहुत्वे धर्मस्य चानागन्तुकत्वे विवक्षिते 'नित्यमेकमनेकवृत्ति-सामान्यम्' इति लक्षणं सूचितम्।" *किरणावली*, पृ. १५

(ख) "सामान्यं निरूपयति- सामान्यमिति। तल्लक्षणं तु नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्।" *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*, कारिका ८ पर, पृ.५५

एवं सखण्ड भेद से दो प्रकार की होती है। जो जाति भिन्न धर्म एक एवं अभिन्न रूप में अनेक आश्रयों में रहता है वह *अखण्डोपाधि* है। उदाहरणस्वरूप भावत्व, अभावत्व, विषयत्वादि अखण्डोपाधि हैं। जो धर्म व्यक्ति रूप में अनेक आश्रयों में नहीं रहता है परन्तु अनेकवृत्तितावच्छेदक अनुगतरूपावच्छिन्न होता है वह *सखण्डोपाधि* कहलाता है।[९] उदाहरणस्वरूप वह्निमत्त्व, रूपवत्ता, रसवत्तादि धर्म सखण्डोपाधि हैं क्योंकि अधिकरण भेद से वह्निपिण्ड भिन्न-भिन्न होने पर भी भिन्न-भिन्न वह्निपिण्डनिष्ठ वृत्तिता अर्थात् आधेयता का (धर्मविधया) अवच्छेदक वह्नित्वरूपी धर्म एक एवं अभिन्न है। पशुत्व, पाचकत्व, अध्यापकत्वादि धर्म, लोमवत् लाङ्गूल, पाकक्रिया, अध्यापनक्रियादिनिष्ठ अनुगत अभिन्न वृत्तितावच्छेदक धर्मों के कारण सखण्डोपाधि हैं। धर्मों का उपर्युक्त वर्गीकरण सङ्क्षेप में निम्नाङ्कित तरुचित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।

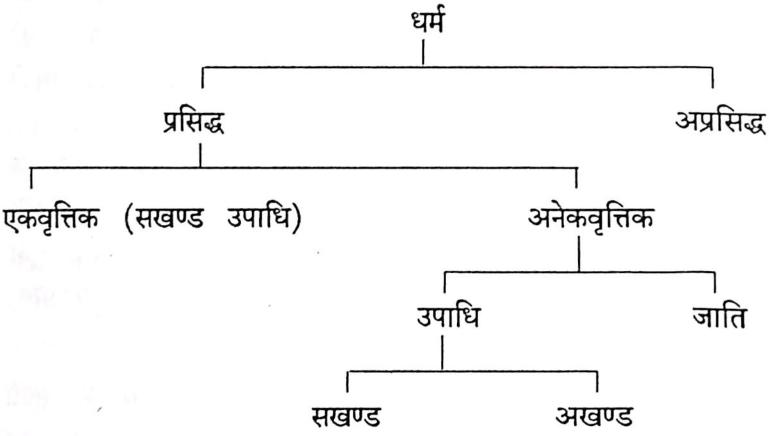

न्यायवैशेषिक दर्शन में नित्यवाद की स्थापना द्रव्यकोटि के मूर्त नित्य व्यक्तिभूत परमाणु एवं मन; अमूर्त नित्य व्यक्तिभूत दिक्, काल, आकाश एवं आत्मा तथा नित्य सामान्यभूत अनेक व्यक्तियों में समवेत जाति आदि

९. देखिये, कालिपदतर्काचार्यकृत महेशन्यायरत्नप्रणीत *नव्यन्यायभाषाप्रदीप* पर *सुप्रभा* टीका, कलकत्ता संस्कृत महाविद्यालय प्रकाशन, कलकत्ता, १९७३, पृ. ४-५। सखण्ड एवं अखण्डोपाधिविषयक उपर्युक्त व्याख्या भवानन्दसिद्धान्तवागीशकृत लक्षणों पर आधारित है।

पदार्थों की सिद्धि पर आश्रित है। परन्तु न्यायवैशेषिक परम्परा के सभी आधारभूत सिद्धान्तों के साथ सङ्गत रहते हुए भी आकाश का पदार्थत्वखण्डन तथा देश एवं कालों का द्रव्यत्वखण्डन सम्भव प्रतीत होता है।[१०] आत्मा का नित्यत्व अन्ततोगत्वा कर्मवाद एवं संसारवाद की वस्तुनिष्ठता की सिद्धि पर आश्रित है। कर्मवाद एवं संसारवाद की सिद्धि के लिये न्यायवैशेषिक दार्शनिकों द्वारा दी गई युक्तियाँ पर्याप्त या अकाट्य प्रतीत नहीं होती हैं।[११] नित्य व्यक्तिभूत द्रव्यों के अभाव में गुण अथवा अन्त्यविशेष का नित्यत्व सम्भव नहीं है। कर्म स्वभाव से ही अनित्य है। समवाय का एकत्व विवादास्पद होने से[१२] एवं नित्यद्रव्य अथवा गुण के अभाव में उसके नित्यत्व की सम्भावना भी स्वतः विरत हो जाती है। अतः न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा का नित्यवाद अन्ततोगत्वा जातिरूपी सामान्य के नित्यत्वसिद्धि पर ही प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

७. तृतीय स्तर के पदार्थ के रूप में जाति– जाति-उपाधिभेद की आधारविषयक समस्या

एकवृत्तिक एवं अनेकवृत्तिक धर्मों में भेद सुस्पष्ट एवं निर्विवाद है। परन्तु अनेकवृत्तिक धर्मों की कोटि में जाति एवं उपाधि के भेद का आधार अस्पष्ट है। समवायसम्बन्ध एवं स्वरूपसम्बन्ध के भेद के द्वारा इसका निर्धारण करने पर प्रश्न उठता है कि सामान्य अपने आश्रय में समवाय अथवा स्वरूपसम्बन्ध से रहता है इस निर्णय का आधार क्या है? सभी सामान्यों का तत्त्वमीमांसीय महत्त्व एक ही प्रकार का नहीं होता है। जाति तथा अन्य सामान्यों (उपाधि) में भेद करना आवश्यक है, क्योंकि जाति के अभाव में भी पाचक, पाठकादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।[१३] अन्तर्बोध की दृष्टि से पदार्थों के स्वाभाविक (अनागन्तुक) एवं आगन्तुक

---

१०. षष्ठ अध्याय के पृ. १३२-१३४, १४०-१४१, १४७-१४९ द्रष्टव्य हैं।
११. चतुर्थ अध्याय के परिच्छेद १ एवं ४ द्रष्टव्य हैं।
१२. नवम अध्याय के प्रथम परिच्छेद में समवायविषयक चर्चा द्रष्टव्य है।
१३. (क) "जातिमन्तरेणापि समानप्रत्ययो दृष्टः। यथा पाचकादिषु।" *न्यायसूत्र* २.२.७० पर *न्यायवार्त्तिक*, पृ.३३६
(ख) "...या जातिः साऽवश्यं समानप्रत्ययं प्रसूते, न पुनर्या समानप्रत्ययं प्रसूते सा जातिः।" उपर्युक्त सूत्र के वार्त्तिक पर *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका*, पृ.४९५

धर्मों में अवश्य भेद है। आचार्य उदयन *किरणावली* में इस भेद के आधार पर जाति को अन्य अनेकवृत्तिक धर्मों से व्यावर्तित करने के पक्षधर प्रतीत होते हैं। परन्तु इस अन्तर्बोधगम्य भेद का परिष्कृत शास्त्रीय लक्षण अनायाससाध्य प्रतीत नहीं होता है। अपोहवादी बौद्धों के प्रतिरोध के कारण न्यायवैशेषिक दार्शनिकों को तत्त्वमीमांसा में सामान्य धर्म को जाति कोटि में रखने के पहले, लाघव तथा तन्त्र में अन्तर्विरोधशून्यता के प्रति विशेष ध्यान देना आवश्यक हो गया था। आचार्य उदयन के निम्नोक्त जातिबाधक-सङ्ग्रह-विषयक कारिका से यह स्पष्ट होता है।

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः॥[१४]

[धर्म के एकवृत्तिक होने पर, अन्य एक जाति के साथ समनियत होने पर, धर्म-साङ्कर्य अर्थात् अपने अभाव के साथ समानाधिकरण अन्य एक समानाधिकरण धर्म के अभाव के साथ समानाधिकरण होने पर, अन्त्यविशेषनिष्ठ होने पर, अनवस्थादोष उत्पन्न होने पर अथवा समवायसम्बन्ध के प्रतियोगी न होने पर, धर्म जातिकोटि में स्थान प्राप्त नहीं कर सकता है]

सङ्कर को जातिबाधक मानने पर यह फलित होता है कि दो परस्पर भिन्न (असमनियत) परन्तु समानाधिकरण जातियों में से एक अवश्य व्यापक एवं अपर उसका व्याप्य होगा। सङ्कर के साथ-साथ एक परा जाति (जो सभी जाति का व्यापक है) स्वीकार करने पर न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के जातिकोटि का पदार्थसङ्घात, एक वंशावली-तरु के रूप में व्यूहबद्ध हो जाता है।

तत्त्वमीमांसा में एक नवीन कोटि के पदार्थ को स्थान देने के पहले यह सिद्ध करना आवश्यक है कि उक्त नवीन कोटि के पदार्थ को तन्त्र में स्वीकृत अन्य किसी भी पदार्थ की कोटि में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता है। पुनश्च यदि अभिप्रेत नवीन कोटि में अनेक पदार्थों को स्वीकार करना आवश्यक होता है तब उक्त नवीन कोटि में पदार्थों के परस्पर भेद एवं अभेद की सिद्धि के लिये भी मानदण्ड प्रस्तुत करना पड़ता है। उदाहरणस्वरूप गोत्व, अश्वत्व, वृक्षत्वादि अनेकानुगत धर्म द्रव्य, गुण, कर्म अथवा समवाय कोटि में अन्तर्भूत नहीं किये जा सकते हैं।

---

१४. *किरणावली*, पृ.२३

पुनश्च जाति की नित्यता[१५] एवं अनेकत्व के बिना शास्त्रप्रक्रिया का निर्वाह सम्भव नहीं होता है। अतः जाति कोटि के पदार्थों के लिये भेदाभेद व्यवस्था स्पष्ट करना आवश्यक है। तुल्यत्वरूपी जातिबाधक से जातियों की भेदाभेद व्यवस्था प्राप्त होती है। दो जातियाँ परस्पर से उसी एवं केवल उसी स्थिति में भिन्न होती हैं जब वे असमनियत होती हैं अर्थात् जब उनमें से कोई एक अपर के अभाव के साथ रहती है।

जातिकोटि के पदार्थों को न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के तृतीय सोपान (स्तर या तल) में रखना स्वाभाविक है, क्योंकि जाति केवल द्रव्य, गुण एवं कर्म-कोटि के पदार्थों में समवेत होकर रह सकती है। समवाय सम्बन्ध के लिये स्वतन्त्र तल या सोपान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह या तो जन्यद्रव्य को अन्य जन्यद्रव्य अथवा नित्य द्रव्यों के साथ, गुण एवं कर्मों को द्रव्यों के साथ एवं अन्त्यविशेष को नित्यद्रव्य के साथ सम्बद्ध कराता है।

८. परम्परागतमत के अनुसार अन्त्यविशेष पदार्थ की तत्त्वमीमांसीय भूमिका

मूर्त द्रव्य अनेक प्रकार के होते हैं। परम्परागत मत के अनुसार प्रत्येक मूर्तद्रव्यकोटि में अनेक व्यक्ति रूपी अविभाज्य परमाणु तत्त्व स्वीकार

---

१५. गोत्व, अश्वत्व, गजत्व, सिंहत्व, शिंशपात्व, आम्रत्व आदि नाना जाति स्वीकार न करने पर विजातीय प्राणी, वनस्पति आदि की परस्पर भेद व्यवस्था की उपपत्ति नहीं होती है। जाति को उत्पन्न विनाशशील अनित्य कार्यपदार्थ मानने पर *स्वरूपव्याघात* प्रसङ्ग उपस्थित होता है। भावकार्य का समवायिकारण अवश्य होता है। जाति के आश्रय रूपी व्यक्ति को जाति का समवायिकारण मानने पर व्यक्ति की उत्पत्ति एवं विनाश के साथ-साथ जाति की भी उत्पत्ति एवं विनाश स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। उस स्थिति में, गो-व्यक्तिभेद से गोत्वजाति भी भिन्न-भिन्न होती है– यह स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। तब, अनुवृत्ति प्रत्यय का निमित्त कारण के रूप में अनुमानप्रमाणसिद्ध जाति अपनी स्वरूप खो बैठती है। उदयन इस स्वरूपव्याघात को स्पष्ट करते हुये लिखते हैं– "सामान्यस्य हि कार्यत्वे व्यक्तिरेव समवायिकारणं स्यात्। तथा च तदुत्पत्तिविनाशयोर्जात्युत्पत्तिविनाशे प्रतिव्यक्तिभिन्नं सत् सामान्यरूपतां जह्यात्।" *किरणावली,* पृ.२१

करना परिमाणभेदव्यवस्था के लिये अपरिहार्य हो जाती है। धर्मभेद के बिना धर्मिभेद असम्भव है, परन्तु सजातीय परमाणुओं में धर्मभेद सम्भव नहीं है। पूर्ण सङ्ख्याओं में परिभाषित योग सङ्क्रिया के धर्मों के द्वारा धर्म $(x+x=x)$ का एकवृत्तिकत्व सिद्ध किया जा सकता है। इसीलिये इस एकवृत्तिक धर्म से विशिष्ट पूर्ण सङ्ख्या को व्यक्तिवाचक संज्ञा '०' द्वारा अभिहित करना पद्धतिमूलक दृष्टि से दोषशून्य है, क्योंकि किसी भी पदार्थ को व्यक्तिवाचक संज्ञा से अभिहित करने के लिये उसको शास्त्र में अङ्गीकृत धर्मों के आधार पर तदितर सभी पदार्थों से व्यावर्तित करना आवश्यक है। उसी प्रकार पूर्ण सङ्ख्याओं के योग एवं गुणन सङ्क्रियाओं के धर्मों से यह सिद्ध करना सम्भव है कि धर्म $(x^2=x)$ केवल दो सङ्ख्याओं में रहता है, जिनमें से ० एक है। अतः $(x^2=x)$ & $(x\neq 0)$ स्वभावतः एकवृत्तिक धर्म होता है। इस धर्म के आश्रय को व्यक्तिवाचक संज्ञा '१' के द्वारा अभिहित किया जा सकता है। व्यक्तिवाचक संज्ञा २, ३, ४ आदि यथाक्रम एक व (१+१), (१+१+१), (१+१+१+१) के स्थान पर काम में लिये जा सकते हैं। वस्तुतः, '(x+१)' साक्षात् परवर्तित्वरूपी फलनात्मक सम्बन्ध को अभिहित करता है, अर्थात् प्रतियोगी x द्वारा निरूपित (x+१) रूपी अनुयोगिकत्व धर्म एकवृत्तिक होता है। पुनश्च, प्रतियोगी भिन्न-भिन्न होने पर उनके अनुयोगी भी भिन्न-भिन्न होते हैं। पूर्ण सङ्ख्याओं के योग तथा गुणन सङ्क्रियाओं के धर्मों के कारण ० एवं धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं का सङ्घात साक्षात् परवर्तित्व सम्बन्ध द्वारा एक अनन्त पङ्क्तिक्रम में व्यूहबद्ध हो जाता है। इस पङ्क्ति में प्रत्येक सङ्ख्या का स्थान पूर्व निर्दिष्ट होता है। परन्तु उपर्युक्त सङ्ख्यातन्त्रीय स्थिति के विपरीत सजातीय परमाणुसङ्घात में किसी एक परमाणु को तदितर सजातीय परमाणुओं से व्यावर्तित करने के लिये अपेक्षित एकवृत्तिक तत्त्वमीमांसीय धर्म उपलब्ध नहीं है। पुनश्च शास्त्रप्रक्रियानिर्वाह के लिये अनेक सजातीय परमाणु स्वीकार करना भी आवश्यक है। इसीलिये वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में अगत्या स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में अन्त्यविशेष कोटि के पदार्थ स्वीकृत किये गये हैं। अन्त्यविशेष के बिना सजातीय परमाणु परस्पर अविकल तत्त्वमीमांसीय प्रतिलिपि स्वरूप होने से, परस्पर व्यावर्त्य नहीं होते हैं।[१६]

---

१६. नित्य द्रव्य स्वीकृत न होने पर अन्त्यविशेष पदार्थ की आवश्यकता नहीं रहती है। अन्त्यविशेष के बिना भी सजातीय परमाणु नानात्व

९. अभाव का स्वरूप

अभाव का पदार्थत्व स्वीकार न करने पर तत्त्वमीमांसीय व्यवस्थानिर्माण सम्भव नहीं होता है। कणाद एवं प्रशस्तपाद स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में अभाव का उल्लेख नहीं करते हैं। आचार्य उदयन इस पर टिप्पणी लिखते हैं कि अभाव का स्वरूपनिरूपण स्वयं के प्रतियोगी के स्वरूपनिरूपण की अपेक्षा रखता है। इसीलिये उद्देश प्रकरण में अभाव परिगणित नहीं हुआ है। अभाव का पदार्थत्व अस्वीकार करना कणाद एवं प्रशस्तपाद का अभिप्रेत नहीं है।[१७] पदार्थ का धर्म भावरूपी अथवा अभावरूपी हो सकता है। 'भूतलं घटवत्' वाक्य द्वारा अभिलपित विशिष्टज्ञान एवं 'भूतलं घटाभाववत्' वाक्य द्वारा अभिलपित विशिष्टज्ञान परस्पर विरोधी हैं। भूतल कें प्रकार के रूप में भासित घट एवं घटाभाव रूप धर्मों का परस्पर विरोध अवश्य पदार्थनिष्ठ है। सामान्य रूप में प्रतीतिभेद विषयभेदजन्य होता है। प्रतीतियों में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भावादि का प्रतिभास भी विषयनिष्ठ होता है। 'भूतलं घटवत्' इस ज्ञान में भूतलरूपी धर्मी सम्बन्ध-विशेष (संयोग) से घटरूपी धर्मविशिष्ट होना भासित होता है। उपर्युक्त ज्ञान के प्रतिषेध होने से 'भूतलं घटाभाववत्' में भूतलरूपी धर्मी संयोगसम्बन्ध से सभी प्रकार के घटों के अभावरूपी धर्म से विशिष्ट होकर भासित होता है। जिस पदार्थ का अभाव विवक्षित है वह पदार्थ उस अभाव का *प्रतियोगी* (विरोधी) कहलाता है। घटाभाव, पटाभाव, जलाभाव आदि के प्रतियोगी यथाक्रम घट, पट एवं जल हैं। 'यह फूल लाल है', 'सफेद नहीं है'– यहाँ पर एक ही फूलरूपी धर्मी, समवायसम्बन्ध से लाल रङ्ग रूपी धर्म से विशिष्ट होकर तथा समवाय सम्बन्ध से सफेद रङ्ग के अभावरूपी धर्म से विशिष्ट होकर, भासित होता है। जिस पदार्थ का जिस सम्बन्ध से अभाव विवक्षित होता है वे उभय ज्ञात होने पर ही अभाव का ज्ञान होता है। पहले बताया जा चुका है कि जिस पदार्थ का अभाव

की सिद्धि सम्भव हैं। देखिये, प्रस्तुत ग्रन्थ का नवम अध्याय, पृ.२७७-२८२।

१७. (क) "अभावस्तु स्वरूपवानपि पृथङ्नोद्दिष्टः, प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्, न तु तुच्छत्वात्।" *किरणावली,* पृ.४-५

(ख) "अभावस्य पृथगनुपदेशो भावपारतन्त्र्यात्, न तु अभावात्।" *न्यायकन्दली,* पृ.१८

विवक्षित होता है वह पदार्थ उस अभाव का प्रतियोगी अर्थात् विरोधी कहलाता है। प्रतियोगितारूपी धर्म प्रतियोगियों में रहता है। अभाव के प्रतियोगी में रहने वाली प्रतियोगिता *अभावीय प्रतियोगिता* कहलाती है।[१८] जिस प्रकार विशिष्टज्ञान की प्रकारनिष्ठ प्रकारता, एक अवच्छेदक धर्म एवं एक अवच्छेदक सम्बन्ध द्वारा निरूपित होती है, उसी प्रकार अभावीय प्रतियोगिता भी अवच्छेदकधर्म एवं अवच्छेदकसम्बन्धरूपी पदार्थयुगल द्वारा निरूपित होती है। भूतल पर घटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म है 'घटत्व' एवं प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध है 'संयोग'। 'भूतलं घटवत्' का प्रतिषेध होने के कारण, 'भूतलं घटाभाववत्'– इस ज्ञान में भूतलरूपी धर्मी संयोगसम्बन्ध से सभी प्रकार के घटों के अभाव से विशिष्ट होकर भासित होता है, न कि केवल नील, पीत, श्याम, रजत या सुवर्ण घटों के अभाव से विशिष्ट होकर। भूतल पर रजत घट का अभाव होने पर भी वहाँ पर मृण्मय घट होने से वह 'घटवत्' कहलाता है। परन्तु भूतल पर घटत्वावच्छिन्न घटाभाव रहने पर वहाँ पर किसी भी प्रकार के घट होने की सम्भावना नहीं रहती है। संयोग सम्बन्ध से घटाभाव संयोगसम्बन्ध से रजतघटाभाव से भिन्न है, क्योंकि दोनों अभावों की प्रतियोगिता के अवच्छेदक सम्बन्ध के एक होने पर भी उनकी प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म भिन्न हैं। घटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म घटत्व है परन्तु रजतघटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म घटत्व, रजतत्व रूपी धर्मद्वय है। इसीलिये घटाभाव *सामान्याभाव* कहलाता है एवं रजतघटाभाव *विशेषाभाव* कहलाता है। संयोग सम्बन्ध से घटाभाव

---

१८. प्रतियोगिता दो प्रकार की होती है– सांसर्गिक एवं अभावीय। प्रत्येक संसर्ग (सम्बन्ध) का एक प्रतियोगी एवं एक अनुयोगी होता है। 'रक्तपुष्प के स्थल में पुष्प समवाय सम्बन्ध का अनुयोगी है एवं रक्तरूप समवाय सम्बन्ध का प्रतियोगी है। रक्तत्व जाति का समवाय के सन्दर्भ में रक्तरूप एवं रक्तत्व जाति यथाक्रम समवाय सम्बन्ध के अनुयोगी एवं प्रतियोगी हैं। 'फूल पर मधुमक्खी', 'पेड़ पर चिड़िया', 'घड़े में पानी', 'टोकरी में आम' आदि में फूल, पेड़, घड़ा, टोकरी आदि संयोग सम्बन्ध के अनुयोगी 'तथा मधुमक्खी, चिड़िया, पानी, टोकरी आदि प्रतियोगी हैं। सम्बन्ध के प्रतियोगी में रहने वाली प्रतियोगिता सांसर्गिक प्रतियोगिता कहलाती है।

का संयोग सम्बन्ध से पटाभाव से भेद, प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म घटत्व एवं पटत्व के भेद के कारण है। एक आलमारी में रामायण ग्रन्थ का अभाव उस आलमारी में महाभारत ग्रन्थ के अभाव से भिन्न है, क्योंकि अभावों की प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म भिन्न हैं। उसी प्रकार ग्रन्थागार में देवदत्त का अभाव वहाँ पर यज्ञदत्त के अभाव से भिन्न है क्योंकि प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म देवदत्तत्व एवं यज्ञदत्तत्व भिन्न हैं। एक पट समवायसम्बन्ध से केवल अपने अवयवभूत तन्तुओं में रहता है, न कि अन्य पट के अवयवरूपी तन्तुओं में अथवा अन्य किसी अधिकरण में। अतः समवायसम्बन्ध से पट विशेष का अभाव अपने अवयवरूपी तन्तुओं को छोड़कर अन्य सभी अधिकरण में रहता है। घट में संयोगसम्बन्ध से जल रहने पर भी समवाय सम्बन्ध से वहाँ जल का अभाव रहता है। सङ्क्षेप में दो अभाव परस्पर से भिन्न होते हैं उसी एवं केवल उसी स्थिति में जब या तो उनकी प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म परस्पर भिन्न होते हैं या उनकी प्रतियोगिता के अवच्छेदक सम्बन्ध परस्पर भिन्न होते हैं, अन्यथा वे अभाव अभिन्न होते हैं।

१०. अभावीय विशेषणता सम्बन्ध

भूतल घटविशिष्ट होने की स्थिति में भूतल के साथ घट का सम्बन्ध एक विशेष प्रकार का संयोग है। परन्तु जब भूतल घटाभावरूपी धर्म से विशिष्ट होता है तब भूतल के साथ घटाभाव का सम्बन्ध संयोग अथवा समवाय नहीं हो सकता है, क्योंकि केवल द्रव्यों के बीच ही संयोग सम्बन्ध सम्भव है एवं अभाव किसी भी अधिकरण में समवेत होकर नहीं रह सकता है। भूतल एवं घट जिस प्रकार युतसिद्ध अर्थात् परस्पर स्वतन्त्र है; उसी प्रकार भूतल एवं घटाभाव भी परस्पर स्वतन्त्र हैं। फूल में लाल रङ्ग समवाय सम्बन्ध से पराश्रित रूप में रहता है। लाल फूल में सफेद रङ्ग का अभाव लाल रङ्ग जैसे पराश्रित होकर नहीं रह सकता है क्योंकि लाल फूल नष्ट हो जाने पर भी समवाय सम्बन्ध से सफेद रङ्ग का अभावरूपी धर्म अवश्य रहता है। किसी फूल विशेष में रहने वाला लाल या सफेद रङ्ग अवश्य अनित्य है, परन्तु समवाय सम्बन्ध से सफेद रङ्ग के अभाव को अनित्य कहना निरर्थक है। अभाव अपने अधिकरण में विशेषणता रूपी स्वरूपसम्बन्ध से रहता है। विशिष्ट ज्ञान की विषयता विशेष्य, प्रकार (विशेषण) तथा संसर्ग रूपी

त्रिविध विषयों में रहती है। ज्ञान में संसर्गता के भान होने पर भी तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से संसर्ग (सम्बन्ध) अपने अनुयोगी एवं प्रतियोगी रूपी सम्बन्धियों से भिन्न पदार्थ के रूप में स्वीकृत होगा या नहीं– इसका निर्णय लाघवगौरवविचार तथा शास्त्रप्रक्रियानिर्वाह की प्रयोजनता को ध्यान में रखकर किया जाता है। संयोग एवं समवाय को अपने सम्बन्धियों से भिन्न तत्त्वों के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। लाल फूल के स्थल में समवायसम्बन्ध की अनुयोगिता फूल में रहती है एवं प्रतियोगिता लाल रङ्ग में रहती है। परन्तु लाल रङ्ग के समवाय को फूल के साथ जोड़ने के लिये फूल एवं रङ्ग के समवाय से भिन्न अन्य किसी संसर्ग तत्त्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता है, अन्यथा अनन्त सम्बन्ध परम्परा से अनवस्था उत्पन्न होती है। विशिष्ट ज्ञान में विषय के रूप में भासित संसर्ग को अपने अनुयोगी एवं प्रतियोगी से भिन्न स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहने पर, वह संसर्ग *स्वरूपसम्बन्ध* नाम से जाना जाता है।

११. चतुर्थ स्तर के पदार्थ के रूप में अभाव– अभाव का वर्गीकरण

अन्योन्याभाव एवं संसर्गाभाव भेद से अभाव की दो मुख्य कोटि स्वीकृत हैं। 'a, b नहीं है' एवं 'a में b नहीं है' इन दो आकारों के अभिकथनों में जो अभाव विषय के रूप में भासित होते हैं वे भिन्न प्रकार के हैं। 'घट जल नहीं है' सर्वदा सत्य है, परन्तु 'घट में जल नहीं है' घट में जल रहने की स्थिति में असत्य होता है एवं जल न रहने की स्थिति में सत्य होता है। 'a, b नहीं है'– इस अभिकथन a, b से भिन्न होने का दावा करता है, अर्थात् a एवं b के बीच अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध का निषेध करता है। 'घट जल नहीं है' में तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न जलत्वावच्छिन्न जलप्रतियोगिक भेद घट के विशेषण के रूप में भासित होता है। जिस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध तादात्म्य (अभेद) होता है वह अभाव *अन्योन्याभाव* (*भेद*) कहलाता है। 'घट में जल नहीं है' वाक्य में संयोगसम्बन्धावच्छिन्न जलत्वावच्छिन्न जलप्रतियोगिक अभाव की घटाधिकरणता भासित होती है, न कि जलभेद की घटाधिकरणता। जब अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध तादात्म्य (अभेद) न होकर संयोग, समवाय, स्वरूपादि अन्य कोई सम्बन्ध होता है तब वह अभाव *संसर्गाभाव* कहलाता है। *अत्यन्ताभाव,*

प्रागभाव एवं *प्रध्वंसाभाव* भेद से तीन प्रकार के संसर्गाभाव होते हैं। घट में जल का, सफेद फूल में लाल रङ्ग का, व्यक्ति में भूस्वामित्व का, वायु में रूपसमवाय का अभाव अत्यन्ताभाव कहलाते हैं। कार्य की उत्पत्ति के पूर्वकालीन स्वयं का समवायिकारण में उसका अभाव प्रागभाव कहलाता है। जब किसी एक पत्ते का हरा रङ्ग नष्ट होकर वहाँ पीला रङ्ग उत्पन्न होता है तब वह पत्ता हरे रङ्ग के ध्वंस के समवाय से नहीं अपितु स्वरूप सम्बन्ध से अधिकरण होता है एवं वह पत्ता नष्ट हो जाने पर भी हरा रङ्ग का ध्वंस निरधिकरण रूप में रहता है।

परम्परागत न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के पदार्थों को तीन तलों (स्तरों, सोपानों) में विभाजित करके रखा गया है। अन्त्यविशेष रूपी पदार्थों के लिये जन्यद्रव्य समान स्तर में ही द्रव्यकोटि से स्वतन्त्र एक कक्षा की कल्पना की जा सकती है। अब अभाव कोटि के पदार्थों के लिये एक चतुर्थ तल का प्रावधान करना आवश्यक है। जब एक धर्म d एक धर्मीरूपी अधिकरण a में रहता है, तब वह अवश्य एक सम्बन्ध S के प्रतियोगी के रूप में ही अधिकरण a में रहता है। अतः धर्म की प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि-विषयक प्रश्न सर्वत्र सम्बन्ध विशेष की अपेक्षा रखता है। समवायसम्बन्ध से रूप, रसादि गुण आश्रयवान् होने पर भी संयोग सम्बन्ध से सर्वथा आश्रयरहित हैं। अतः किसी भी धर्म (पदार्थ) d एवं किसी भी सम्बन्ध S (जिस सम्बन्ध से d आश्रयवान् है) दिये जाने पर S-सम्बन्धावच्छिन्न d-त्व धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव रूपी पदार्थ को तत्त्वमीमांसा में स्थान देना आवश्यक है। इस प्रकार के सारे अभावीभूत पदार्थों को न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के चतुर्थ तल पर रखना स्वाभाविक तथा युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

१२. उपसंहार– मानवव्यक्ति की स्वरूपविषयक समस्या

परम्परागत न्यायवैशेषिकतत्त्वमीमांसक जिन मूलभूत समस्याओं के समाधान को अपने शास्त्रीय लक्ष्य के रूप में लेते हैं, वे हैं– (१) चैत्र, मैत्र, देवदत्त, यज्ञदत्तादि व्यक्तियों के स्वरूप, तद्व्यक्तित्व एवं सातत्य का सम्यक् विश्लेषण तथा (२) घट, पट, गृह, प्रतिमादि मानवकृत पदार्थ, ग्रह-नक्षत्र, पर्वत, पाषाणादि प्राकृतिक पदार्थ, वृक्ष-लतादि प्राकृतिक प्राणवान् तत्त्व एवं गो, अश्व, गज, सिंह, शृगालादि प्राणियों के स्वरूप, तद्व्यक्तित्व एवं सातत्य का सम्यक् विश्लेषण।

यह सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है कि चैत्र मैत्रादि तथा गो, अश्वादि के कर्तृत्व, ज्ञातृत्व एवं भोक्तृत्व धर्म उन्हें वनस्पति-वृक्षादियों से तथा घटपटादि अचेतन पदार्थों से व्यावर्तित करते हैं। उसी प्रकार चैत्र-मैत्रादि मनुष्य व्यक्तियों के कुछ विशेष धर्म उन्हें गो, अश्वादि प्राणियों से व्यावर्तित करते हैं। मनुष्य एवं प्राणियों के शरीर उनके भोगायतन हैं। घटपटादि स्थूल पदार्थों के स्वरूप तथा तद्व्यक्तित्व के विश्लेषण के लिये आवश्यक तत्त्वों से अन्य कुछ विलक्षण तत्त्वों के बिना मनुष्य तथा प्राणियों के स्वरूप तथा तद्व्यक्तित्व का विश्लेषण सम्भव नहीं है। पुनश्च चैत्र-मैत्रादि मनुष्य तथा प्राणियों के स्वरूप एवं तद्व्यक्तित्व के विश्लेषण के लिये उनके भोगायतन रूपी शरीरों के स्वरूप एवं तद्व्यक्तित्व का विचार अपरिहार्य होने पर भी मनुष्य एवं प्राणियों के एवं घटपटादियों के तद्व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण प्रकार के हैं। चैत्र के साथ उसके शरीर का सम्बन्ध चैत्र के द्वारा धारण किये गये वस्त्र के साथ सम्बन्ध से अवश्य भिन्न है। चैत्र ने अमुक ग्राम में अमुक सम्वत्सर में अमुक पिता-माता से जन्मलाभ किया था। चैत्र ने अमुक-अमुक अध्यापकों से शिक्षा प्राप्त की थी। चैत्र अमुक का पति एवं अमुक का पिता है। चैत्र गणितज्ञ है एवं अमुक महाविद्यालय में गणित का अध्यापक है। चैत्र कुशाग्रबुद्धि है, अत्यन्त संवेदनशील एवं दयालु है। चैत्र पीत एवं गौरवर्ण विशिष्ट है। चैत्र अमुक भूखण्ड का स्वामी है। चैत्र के बारे में ये सब लोकप्रतीति की दृष्टि से सत्य हो सकते हैं। चैत्रमैत्रादिपुरुषविषयक उपर्युक्त प्रकार के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए पुरुष के स्वरूप एवं तद्व्यक्तित्व का सम्यक् विश्लेषण प्रस्तुत करना न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के लिये एक चुनौती है।[१९] यह कहना अतिशयोक्ति मात्र होगा कि परम्परागत न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में उपर्युक्त समस्याओं का, तन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के साथ पूर्णतया सङ्गत समाधान उपलब्ध है।

***

१९. न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत पद्धतिमूलक, ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के साथ सङ्गति को ध्यान में रखकर मानव व्यक्ति का पुरुषार्थमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय स्वरूप निरूपण के लिये कुछ विचार परिच्छेद ४.४ (पृ. ७६-९७) में प्रस्तुत किये गये हैं।

षष्ठ अध्याय

आकाश, देश एवं कालविषयक विचार

परम्परागत न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में आकाश, काल एवं दिक् ये तीन परस्पर स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकृत हैं। श्रवणेन्द्रियग्राह्य शब्द की गुणत्वसिद्धि के आधार पर शब्द के समवायिकारण के रूप में आकाश द्रव्य को सिद्ध किया गया है। प्रस्तुत अध्याय के प्रथम परिच्छेद में शब्द मूर्तद्रव्याश्रित तरङ्गाकारविशिष्ट स्पन्दन के रूप में सिद्ध किया गया है। अतः आकाश द्रव्य स्वतः अनावश्यक सिद्ध होता है। दैशिक परत्व, अपरत्व, पूर्वपश्चिमादिविषयक प्रत्ययों के निमित्त कारण के रूप में दिक् द्रव्य स्वीकृत हुआ है। उसी प्रकार यौगपद्य, ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्वादि कालिक प्रत्ययों के निमित्त कारण के रूप में कालद्रव्य भी परम्परा में अङ्गीकृत हुआ है। न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ के मत में दिक् एवं काल का द्रव्यत्व तथा कार्यमात्र के प्रति निमित्त कारणत्वादि प्रमाणसिद्ध नहीं हैं। मूर्तद्रव्यनिष्ठ विलक्षण अनागन्तुक सांसर्गिक धर्मों के द्वारा ही वे दैशिक प्रतीतियों को व्यवस्थित करने के पक्षधर हैं। असिद्ध धर्मी-कल्पना की अपेक्षा पूर्वसिद्ध धर्मी पदार्थों के अतिरिक्त धर्म की कल्पना ही 'लाघव' न्याय के अनुकूल है। उनके अनुसार काल क्रिया का ही धर्म है, न कि एक स्वतन्त्र द्रव्य।

प्रस्तुत अध्याय के द्वितीय परिच्छेद में भासर्वज्ञ के देशविषयक विचारों को इस प्रकार से आगे बढ़ाने का प्रयास किया गया है कि जिससे रेखागणित के लिये तत्त्वमीमांसीय आधार भी उपलब्ध हो सके। तृतीय परिच्छेद में भासर्वज्ञ के कालविषयक विचारों को व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया है। अध्याय के चतुर्थ परिच्छेद में रघुनाथ शिरोमणि के द्वारा स्वीकृत क्षण के स्वतन्त्र-पदार्थत्वविषयक मत को भासर्वज्ञ के कालविषयक सिद्धान्त के परिपूरक के रूप में देखा गया है।

१. शब्दस्वरूपविषयक विचार एवं आकाश पदार्थ का खण्डन

१.१ शब्द के नित्यपक्ष का खण्डन एवं कार्यपक्ष की स्थापना

न्यायवैशेषिक एवं मीमांसकों के बीच शब्द के तत्त्वमीमांसीय स्वरूप के विषय में प्रारम्भ से ही मतभेद रहा है। भाट्टमीमांसकों के अनुसार शब्द श्रवणेन्द्रियग्राह्य नित्य एवं विभु द्रव्य है।[1] कण्ठ, तालु आदि के संयोगविभागरूपी व्यापार से तथा वीणातन्त्री आदि के अभिघात से प्रेरित वायु, परमाणुओं के क्रमशः संयोग-विभाग से सञ्चरित होकर, कर्णविवर तक पहुँचती है एवं ध्वनि के रूप में गृहीत होती है। वायु का उत्पन्नविनाशशील ध्वनिरूपी गुण नित्य शब्द का व्यञ्जक मात्र है।[2] प्रभाकर के मत में शब्द आकाश का नित्य गुण है, श्रोत्रेन्द्रियमात्रग्राह्य तथा ध्वनिव्यङ्ग्य है।[3]

मीमांसकों के द्वारा श्रावणप्रत्यक्ष के अभिव्यङ्ग्य-अभिव्यञ्जक प्रारूप से अपनाया गया विश्लेषण शब्दविषयक अनुभवसिद्ध तथ्यों के साथ विसङ्गत है तथा अभिव्यङ्ग्यरूपी नित्य शब्द एवं अभिव्यञ्जक रूपी अनित्य ध्वनि में भेद स्वीकृत होने के कारण गौरवदोषग्रस्त है। महर्षि कणाद, गौतम एवं वात्स्यायन द्वारा मीमांसा दर्शन के शब्दनित्यतावाद का खण्डन तथा शब्द की उत्पत्ति, सञ्चरण एवं श्रवण की विश्लेषण-प्रक्रिया, अनुभव एवं

---

१. "श्रोत्रमात्रेन्द्रियग्राह्यः शब्दः शब्दत्वजातिमान्।
द्रव्यं सर्वगतो नित्यः कुमरिलमते मतः॥ २९, *मानमेयोदय*, प्रमेयखण्ड, पृ.२०८

२. "ध्वनिर्वायुगुणः शब्दाभिव्यञ्जकः।" *वही*, पृ. २२७ एवं २४२

३. (क) *मीमांसासूत्र* १.१.२० की *बृहती* टीका पर *ऋजुविमला*, चिन्नस्वामी द्वारा सम्पादित, चौखम्बा, वाराणसी, १९२९ का पृ. २४२ देखिये।
(ख) प्रभाकर मतानुसार ध्वनि की उत्पत्ति एवं सञ्चार प्रक्रिया के लिये देखिये *प्रकरणपञ्चिका*, न्यायशुद्धि प्रकरण, पृ.३५७-३५८

दार्शनिक सिद्धान्तनिर्माण के बीच सङ्गतिरक्षा का एक अनुकरणीय प्रयास है। भारतीय दर्शन में मीमांसक एवं न्यायवैशेषिकों (तार्किकों) के शब्दविषयक सिद्धान्त, यथाक्रम *नित्यपक्ष* (*अभिव्यक्ति पक्ष*) एवं *कार्यपक्ष* (*शब्दोत्पत्ति पक्ष*) के नाम से जाने जाते हैं।

रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्शरूपी चाक्षुष, रासन, घ्राण एवं स्पार्शन प्रत्यक्ष के विषयों का गुणत्व, मीमांसक एवं तार्किकों के द्वारा स्वीकृत होने पर भी श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य शब्दरूपी विषय की तत्त्वमीमांसीय कोटि, उनके बीच विवाद का विषय रही है।[४] शब्द में द्रव्यत्व एवं कर्मत्व की अनुपपत्ति को सिद्ध मानते हुए महर्षि कणाद उसे गुण कोटि में अन्तर्भूत करते हैं एवं उसके आश्रय के रूप में आकाश को द्रव्य कोटि में स्थान देते हैं। उनके मत में शब्द उत्पन्न-विनाशशील गुण है। 'अभिघात' नामक विशेष प्रकार के संयोग, विभाग तथा शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है।[५] कणाद के शब्दोत्पत्तिप्रक्रियाविषयक सिद्धान्त को न्यायवैशेषिक परम्परा में सर्वमान्यता प्राप्त है। भेरी पर दण्ड के, वीणा के तन्त्रियों पर अङ्गुलियों के, घण्टा पर दण्ड के अभिघातरूपी संयोग से तथा किसी अशिथिल अवयवबन्धन से विशिष्ट मूर्तद्रव्य के अवयवों को अलग करने पर शब्द की उत्पत्ति होती है– यह सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है। दण्डगतवेग एवं भेरीदण्ड-संयोग रूपी असाधारण निमित्तकारण तथा भेरी एवं आकाश के संयोगरूपी असमवायिकारण से भेरीविशिष्ट आकाश प्रदेश में समवेत होकर शब्द उत्पन्न होता है। अकारादिवर्णोच्चारण की इच्छा से उत्पन्न प्रयत्न के द्वारा प्रेरित कोष्ठ्य वायु का कण्ठ-ताल्वादि स्थानों पर अभिघात रूपी निमित्त कारण एवं स्थान-आकाश-संयोग रूपी असमवायिकारण से मुखविवर द्वारा अवच्छिन्न आकाश प्रदेश में समवेत होकर वर्ण रूपी शब्द उत्पन्न होता है।[६] सभी बाह्येन्द्रियाँ प्राप्यकारी होती हैं, जैसे कि रसनेन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रिय। चक्षुरिन्द्रिय का अपने विषयों के साथ रश्मियों द्वारा सन्निकर्ष सम्भव होता है। श्रवणेन्द्रिय द्वारा शब्द का ग्रहण भी, शङ्ख, वीणा, भेरी

---

४. "श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः।" *वैशेषिक सूत्र* २.२.२४
"तस्मिन् द्रव्यं कर्म गुण इति संशयः।" *वही*, २.२.२५ गायकवाड प्राच्यग्रन्थमाला संस्करण, पृ. २०-२१

५. "संयोगाद् विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तेः।" *वही*, २.२.३६, पृ.२३

६. देखिये *न्यायकन्दली*, पृ. ६९३-६९४

आदि उत्पत्ति प्रदेशों से श्रोताओं के श्रवणेन्द्रिय प्रदेशों तक शब्दसञ्चरण के बिना सम्भव नहीं होता है। मीमांसकमत में ताल्वादि अभिघात से प्रेरित स्पन्दनयुक्त कोष्ठ्य वायु, श्रवणेन्द्रिय प्रदेश तक पहुँचने पर ही व्यञ्जक ध्वनि के रूप में गृहीत होती है।[७]

१.२ वीचीसन्तान न्याय से शब्द का सञ्चरण

यह अवश्य सत्य है कि वक्ता के मुख से शब्दोच्चारण-काल में निःसृत वायु स्पर्शेन्द्रिय ग्राह्य है। परन्तु, शब्दोत्पत्ति के निमित्त कारण रूपी अभिघात द्वारा प्रेरित वायुपिण्ड का वक्ता के मुख-प्रदेश से श्रोता के श्रोत्र-प्रदेश तक मध्यवर्ती वायुपिण्ड द्वारा अप्रतिहत होकर पहुँचना, केवल वायु की अनुकूलता जैसी विशेष परिस्थिति में ही सम्भव है।[८] इसीलिये महर्षि कणाद को शब्द से शब्द की उत्पत्ति की कल्पना करनी पड़ी थी। शब्दसञ्चरण-प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए *प्रशस्तपादभाष्य* का टीकाकार श्रीधर लिखते हैं–

> यथा जलवीच्या तदव्यवहिते देशे वीच्यन्तरमुपजायते, ततोऽप्यन्यत्, ततोऽप्यन्यदित्यनेन क्रमेण वीचीसन्तानो भवति, तथा शब्दादुत्पन्नात् तदव्यवहिते देशे शब्दान्तरम्, ततोऽप्यनयोर्गमनागमनाभावात् प्राप्तस्यैवोपलब्धिरिति, ततोऽप्यन्यत्, ततोऽप्यन्यदित्यनेन क्रमेण शब्दसन्तानो भवति। एवं सन्तानेन श्रोत्रदेशे समागतस्यान्त्यशब्दस्य ग्रहणम्। (*न्यायकन्दली*, पृ. ६९४-६९५)
>
> [जिस प्रकार जल की एक तरङ्ग उसके सन्निकृष्ट प्रदेश में अन्य एक तरङ्ग को उत्पन्न करती है, वह पुनः उसके सन्निकृष्ट प्रदेश में अन्य एक तरङ्ग को एवं वह अन्य एक को, इस क्रम से जल तरङ्गों का एक सन्तान उत्पन्न होता है; उसी प्रकार एक प्रदेश में शब्द उत्पन्न होने पर उसके सन्निकट प्रदेश में अन्य एक शब्द उत्पन्न होता है, उससे अन्य एक शब्द एवं

---

७. देखिये *मानमेयोदय*, पृ.२०८-२१५ एवं *प्रकरणपञ्चिका*, पृ.३५७-३५९

८. शब्द का अभिव्यक्तिपक्ष आवरण की अनुपलब्धि आदि अनुपपत्तिग्रस्त होने से अस्वीकार्य है। पुनश्च वक्ता के मुखप्रदेश से श्रोता के श्रोत्रप्रदेश तक शब्दाभिव्यञ्जक ध्वनिगुणविशिष्ट वायु का आगमन प्रमाणसिद्ध नहीं है। व्योमशिवाचार्य लिखते हैं– "व्यक्तिपक्षस्य पूर्वमेव प्रतिषेधात् वायोरागमने प्रमाणाभावाच्च।" *व्योमवती*, पृ.६५१

उससे अन्य एक, इस क्रम से शब्दों का एक सन्तान उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया के द्वारा (शब्द एवं श्रोत्र प्रदेश– इन दोनों के निष्क्रिय रहने पर भी एवं अप्राप्त का ग्रहण सम्भव न होने पर भी) उत्पत्ति-प्रदेश से शब्द-सन्तान के श्रोत्ररूपी आकाश प्रदेश पर पहुँचने से ही अन्त्य शब्द का ग्रहण होता है।]

सरोवर के स्थिर जल की सतह पर एक पत्थर फेंकने पर वीचीसन्तान, क्रमशः तट प्रदेश तक पहुँचता है। परन्तु शब्द का सञ्चरण एक सतह पर न होकर आकाश प्रदेश के एक बिन्दु से चारों ओर होता है। इसीलिये वर्तुलाकार कदम्बमुकुल के क्रमशः चारों ओर वृद्धि के उदाहरण से सन्तानक्रम के द्वारा शब्द के सञ्चरण को *कदम्बमुकुलन्याय से सञ्चरण* भी कहा जाता है।[९] *वीचीसन्तानन्याय* अथवा कदम्बमुकुलन्याय से शब्द की स्वोत्पत्ति प्रदेश से श्रोत्र प्रदेश में सञ्चरण कल्पना की आवश्यकता बताते हुए श्रीधर लिखते हैं–

> न श्रोत्रं शब्ददेशमुपगच्छति, नापि शब्दः श्रोत्रदेशम्, तयोर्निष्क्रियत्वात्। अप्राप्तस्य ग्रहणं नास्ति, इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वात्। प्रकारान्तरेण चोपलब्धिर्न घटते। दृष्टा च वीचीसन्ताने स्वोत्पत्तिदेशे विनश्यतामपि स्वप्रत्यासत्तिमपेक्ष्य तदव्यवहिते देशे सदृशकार्यारम्भपरम्परया देशान्तरप्राप्तिः, तेन शब्दसन्तानः कल्प्यते। (*न्यायकन्दली*, पृ. ६९५)[१०]
> [न तो श्रोत्र शब्दोत्पत्ति प्रदेश में जा सकता है, न शब्द श्रोत्र देश में, क्योंकि वे दोनों स्वभाव से निष्क्रिय हैं। बाह्येन्द्रियों के प्राप्यकारित्व के कारण अप्राप्तविषय का ग्रहण सम्भव नहीं है। अन्य प्रकार से भी शब्द श्रवण रूपी प्रत्यक्षानुभव उपपन्न नहीं होता है। यह देखने को मिलता है कि जल तरङ्गों के सन्तान में एक तरङ्ग के विनाश होने पर भी सन्निकृष्ट प्रदेश में उसके सदृश अन्य एक तरङ्ग उत्पन्न होती है एवं इस सदृश कार्य-परम्परा से तरङ्ग-सन्तान की देशान्तर प्राप्ति सम्भव होती है। इसी को प्रारूप के रूप में लेकर शब्द-सन्तान की कल्पना की जाती है।]

---

९. देखिये, *किरणावली*, पृ.७२

१०. शब्दसञ्चरण प्रक्रिया को समझने के लिये अगत्या वीचीसन्तान-प्रारूप को अपनाने की आवश्यकता विषयक प्रशस्तपाद के मत की समान आशय वाली व्याख्या के लिये *व्योमवती*, पृ. ६५० भी द्रष्टव्य है।

१.३ शब्दसन्तान के विनाश की समस्या

शब्द के कार्यपक्षवादी तार्किकों के लिये शब्द-सन्तान की विनाश प्रक्रिया भी एक चुनौतीपूर्ण समस्या रही है। यह अनुभवसिद्ध है कि शब्द स्वोत्पत्ति प्रदेश से सन्तान क्रम से क्रमशः तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम अवस्थाओं में सञ्चरण करते हुए अन्त में विनष्ट होता है।[११] यह भी अनुभवसिद्ध है कि प्रतिघाती द्रव्यसंयोग से शब्द का सञ्चरण प्रतिहत होता है।[१२] अभिघात रूपी संयोग से घण्टा के स्पन्दसन्तान के जनक वेगसंस्कार से तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्दादि शब्द-सन्तान की उत्पत्ति होती है। शब्दायमान घण्टा एवं हस्त के नोदनाख्य संयोग से घण्टास्थ वेगसंस्कार का नाश होता है। घण्टास्थ वेगसंस्कार के नाश होने पर तज्जन्य शब्दसन्तान का नाश होता है। प्रतिघातिद्रव्यसंयोग से जिस प्रकार शब्द के निमित्त कारण रूपी स्पन्द एवं वेगसंस्कार का विनाश होता है, उसी प्रकार अन्त्य शब्द का भी विनाश होता है।[१३]

१.४ शब्दसञ्चरण की मूर्तमाध्यम-साक्षेपता

न्यायवैशेषिक एवं मीमांसकों ने शब्द के सञ्चरण पर वायु की गति का प्रभाव पहचाना था। परन्तु शब्दसञ्चरण में वायु की वास्तविक भूमिका के सम्बन्ध में केवल सामान्य पर्यवेक्षण के आधार पर ज्ञान प्राप्त करना उनके लिए सम्भव नहीं था। 'वीचीसन्तान' या 'कदम्बमुकुल'न्याय से शब्द का सञ्चरणविषयक न्यायवैशेषिक सिद्धान्त भौतिक शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। वस्तुतः शब्द का सञ्चरण, एक सङ्कोचनप्रसारणशील मूर्त माध्यम की अपेक्षा रखता है। यह माध्यम वाष्पीय, तरल अथवा

---

११. देखिये, *व्योमवती*, पृ.६५१

१२. "प्रतिघातिद्रव्यसंयोगस्त्वन्त्यस्य शब्दस्य निरोधकः। दृष्टं हि तिरःप्रतिकुड्यमन्तिकस्थेनाप्यश्रवणं, शब्दस्य श्रवणं दूरस्थेनापि असति व्यवधान इति।" *न्यायसूत्र* २.२.३५ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ.१६८

१३. "पाणिकर्मणा पाणिघण्टाप्रश्लेषो भवति। तस्मिंश्च सति शब्दसन्तानो नोपलभ्यते। अतः श्रवणानुपपत्तिः। तत्र प्रतिघातिद्रव्यसंयोगः शब्दस्य निमित्तान्तरं संस्कारभूतं निरुणद्धीत्यनुमीयते। तस्य च निरोधाच्छब्दसन्तानो नोत्पद्यते। अनुत्पन्नौ श्रुतिविच्छेदः। यथा प्रतिघातिद्रव्यसंयोगादिषोः क्रियाहेतौ संस्कारे निरुद्धे गमनाभाव इति।" *न्यायसूत्र* २.२.३६ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ.१६९

घनीभूत हो सकता है। मूर्तद्रव्यरहित प्रदेश में अर्थात् रिक्त प्रदेश में शब्द का सञ्चरण सम्भव नहीं है।

भौतिक जगत् में वीचीसन्तानन्याय से एक प्रदेश से अन्य एक प्रदेश को शक्ति (energy) का सञ्चरण दो प्रकार से होता है। विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्रों के विचलन से पृथिवी पर अथवा अन्तरिक्ष के एक प्रदेश से अन्य एक प्रदेश तक, वीचीसन्तानन्याय से शक्ति का सञ्चरण किसी मूर्त द्रव्यरूपी माध्यम की अपेक्षा नहीं रखता है। सूर्य तथा अन्य ताराओं के प्रकाश का सञ्चरण अन्तरिक्ष के शून्य प्रदेश में भी होता है। उसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय द्वारा अग्राह्य अन्य प्रकार की रश्मियों का तरङ्गाकार में सञ्चरण भी विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र में परिवर्तनजन्य शक्ति का सञ्चरण है। इस प्रकार के विद्युत्-चुम्बकीय शक्ति सञ्चरण में सञ्चरण की दिशा एवं तरङ्गों के उत्थान-पतन की दिशा परस्पर के प्रति अभिलम्बित होती हैं।

वीचीसन्तानन्याय से शक्ति का सञ्चरण मूर्तद्रव्याश्रित होकर भी होता है। इस प्रकार का सञ्चरण माध्यमभूत मूर्त द्रव्य की सङ्कोचनप्रसारणशीलता से सम्भव होता है। एक सरोवर के तल पर एक पत्थर फेंकने पर जो तरङ्ग सन्तान की सृष्टि होती है वह मूर्तद्रव्याश्रित शक्ति सञ्चरण का उदाहरण है। वहाँ पर तरङ्गों के सञ्चरण तथा उत्थान-पतन की दिशायें परस्पर के अभिलम्ब हैं। मूर्तद्रव्याश्रित तरङ्ग सन्तान से माध्यमभूत मूर्त द्रव्य के एक भाग से सन्निकृष्ट भाग को क्रमशः सङ्कोचन प्रसारण प्रक्रिया से शक्ति का संञ्चरण होता है, न कि तरङ्गों के सञ्चरण के साथ-साथ माध्यम के सङ्घटक यौगिकाणुओं के सञ्चरण से।

कदम्बमुकुलन्याय से सभी दिशाओं में तरङ्गाकार में शब्द का सञ्चरण, माध्यमभूत मूर्त द्रव्य के सन्निकृष्ट भागों के क्रमशः सङ्कोचन एवं प्रसारण से सम्भव होता है। तरङ्गों के सञ्चरण की दिशा एवं माध्यम के सन्निकृष्ट भागों के सङ्कोचन प्रसारण की दिशा एक रहती है। तरङ्गों की गति का वेग माध्यमभूत मूर्त द्रव्य के स्वरूप पर निर्भर करता है। उदाहरणस्वरूप शून्य डिग्री सेन्टीग्रेड ताप वाले वायु में शब्द सञ्चरण का वेग ३३१.३ मीटर प्रति सेकण्ड है, जबकि उसी ताप वाले शुद्ध उदजान (हाइड्रोजन) वाष्प में शब्द का सञ्चरण वेग १२८६ मीटर प्रति सेकण्ड है। पन्द्रह डिग्री सेन्टीग्रेड ताप पर जल में प्रति सेकण्ड शब्द का सञ्चरण वेग

१४५० मीटर है।[१४] अभिघात आदि से मूर्त माध्यम में प्रति सेकण्ड उत्पन्न तरङ्गों की सङ्ख्या भिन्न-भिन्न हो सकती है। जब वह सङ्ख्या २० से २० हजार की सीमा में रहती है तब मूर्त माध्यम का वह तरङ्गाकार स्पन्दन श्रवणेन्द्रियग्राह्य होता है।

१.५ शब्द का स्पन्दस्वरूपत्व– आकाशपदार्थखण्डन

वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में कर्म (स्पन्दन) मूर्तद्रव्याश्रित एक स्वतन्त्र कोटि के पदार्थ के रूप में स्वीकृत है। अभिघात आदि से निहित शक्ति जब कदम्बमुकुलन्याय से एक सङ्कोचन प्रसारणशील मूर्तद्रव्यरूपी माध्यम में तरङ्गाकार से सञ्चरित होती है तथा प्रति सेकण्ड उत्पन्न तरङ्गों की सङ्ख्या एक विशेष सीमा में रहती है, तब माध्यम का वह तरङ्गरूपी स्पन्दन शब्द के रूप में गृहीत होता है। भौतिकशास्त्रियों द्वारा किये गये प्रयोग एवं अनुशासित पर्यवेक्षण से शब्द की मूर्तद्रव्याश्रित तरङ्गाकृतिविशिष्ट स्पन्दनस्वरूपता सिद्ध होती है। अतः, न्यायवैशेषिक परम्परा में किये गये शब्द की उत्पत्ति एवं सञ्चरणविषयक विचार को ध्यान में रखते हुए *यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय* द्वारा नियन्त्रित होकर शब्द को कर्म कोटि के पदार्थों में अन्तर्भूत करना आवश्यक है।

कणाद के अनुसार शब्द चक्षुरिन्द्रियग्राह्य न होने के कारण कर्मकोटि का पदार्थ नहीं है।[१५] परन्तु कर्म का आश्रयरूपी मूर्तद्रव्य चक्षुरिन्द्रियग्राह्य होने पर ही कर्म चक्षुरिन्द्रियग्राह्य होता है। वायु चक्षुरिन्द्रियगाह्य न होने के कारण उसमें आश्रित एवं सञ्चरित स्पन्दविशेषरूपी शब्द भी अचाक्षुष होता है। कणाद के अनुसार कर्म अन्य कर्म का कारण नहीं होता है।[१६] परन्तु शब्द स्वसन्निकृष्ट प्रदेश में स्वसदृश अन्य एक शब्द को उत्पन्न करके ही विनष्ट होता है। अतः शब्द कर्मकोटि में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता है।[१७] व्योमवतीकार कर्म के कर्मान्तराजनकत्व के पक्ष

---

१४. आर. रेसनिक् एण्ड डि. हाल्लिडे, *फिजिक्स्*, प्रथम भाग, वाइलि इष्टर्न लिमिटेड, दिल्ली, १९९०, पृ. ४९७-५०१

१५. "अचाक्षुषत्वात् न कर्म।" *वैशेषिकसूत्र* २.२.२८, गायकवाड़ प्राच्यग्रन्थमाला संस्करण, पृ.२१

१६. "कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते।" *वही,* १.१.१०, पृ.४

१७. "नापि कर्म शब्दः शब्दान्तरजनकत्वात्। कर्मणो हि समानजात्यारम्भकत्वं नास्ति।" *न्यायमञ्जरी,* प्रथम भाग, पृ.३२१

में कहते हैं कि कर्म उत्पन्न होकर विभाग एवं संयोग को उत्पन्न करते हुए दिखाई देता है न कि अन्य एक कर्म को।[१८] न्यायकन्दलीकार लिखते हैं कि यदि कर्म कर्मान्तर का जनक होता तो गति का विनाश सम्भव नहीं होता।[१९]

वस्तुतः प्रत्येक मूर्त द्रव्य अपनी गति अथवा गत्यभाव अवस्था में अविचलित रहता है, जब तक कि अन्य किसी मूर्तद्रव्य के प्रभाव से वह अपनी अवस्था से विच्युत नहीं होता है। मूर्तद्रव्य का स्थानान्तरण उसमें रहने वाली गति के कारण ही होता है। गति परिमाणविशिष्ट तथा दिशायुक्त होती है। मूर्तद्रव्य के स्थानान्तरण के कारण के रूप में उस पर क्रियाशील परिमाण तथा दिशायुक्त शक्तितत्त्व (force) को स्वीकार करना आवश्यक है। गति की उत्पत्ति, गति का विनाश एवं सामान्य रूप में गति में परिवर्तन बाहरी शक्ति की अपेक्षा रखता है।

भासर्वज्ञ वेग को मूर्तद्रव्याश्रित स्वतन्त्र गुण के रूप में स्वीकार न करके क्रिया के रूप में ही स्वीकार करते हैं।[२०] क्रिया में क्रिया की कारणता का अभावविषयक कणाद का मत भी उन्हें अस्वीकार्य है। उनके मत में क्रिया को क्रियान्तर का जनक मानने पर भी उसका विनाश शब्दसन्तान के विनाश के प्रारूप में समझा जा सकता है।[२१]

वस्तुतः, प्रतिघाती मूर्तद्रव्य के संयोग से अथवा अन्य किसी प्रकार से उत्पन्न विपरीतमुखी शक्ति के कारण गति का विनाश सम्भव होता

---

१८. "तथा चोत्पन्नं कर्म विभागं संयोगं चारभमाणमुपलब्धं न कर्मान्तरमिति।" *व्योमवती,* पृ.६५४

१९. "कर्मणः कर्मान्तरारम्भे गच्छतो गतिविनाशो न स्यात्।" *न्यायकन्दली,* पृ.६९९

२०. (क) "वेगोऽपि न गुणान्तरं, क्रियाणां शीघ्रोत्पादमात्रे वेगव्यवहारात्।" *न्यायभूषण,* पृ.१६२

(ख) प्रशस्तपाद के अनुसार वेग क्रिया का जनक तथा क्रियाजन्य है। वेग क्रिया का दिशाविशेष के प्रति आभिमुख्य का हेतु है। प्रतिघाति-द्रव्यसंयोगादि से वेग का विनाश होता है। अतः उनका वेगपदार्थ शक्ति की भूमिका निभाता है। देखिये, *न्यायकन्दली,* पृ.६४७-६४८

२१. "कर्मणः कर्मारम्भकत्वेऽनुपरमप्रसङ्ग इति चेत्, न, शब्दवत्तदुपरमोपपत्तेः।" *न्यायभूषण,* पृ.१६२

है। अतः शब्द को कर्मकोटि में अन्तर्भूत करना युक्ति तथा अनुभवसङ्गत है। फलस्वरूप परम्परागत न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में आकाश की सिद्धि की प्रामाणिकता खण्डित हो जाती है। अतः शब्दाश्रय के रूप में आकाशद्रव्य अस्वीकार्य है।

१.६ रघुनाथ शिरोमणि की आकाशखण्डनप्रक्रिया पर टिप्पणी

रघुनाथ शिरोमणि कार्यमात्र के निमित्त कारण के रूप में अङ्गीकृत ईश्वर को ही शब्द के समवायिकारण के रूप में मानकर आकाश के स्वतन्त्र द्रव्यत्व का खण्डन करते हैं।[२२] शब्द आत्मा का गुण नहीं हो सकता है। प्रशस्तपाद निम्नोक्त हेतुओं के द्वारा इसकी पुष्टि करते हैं। बाह्येन्द्रिय द्वारा गृहीत होने से, एक साथ एकाधिक श्रोताओं के द्वारा गृहीत होने से, रूपादि जैसे बहिर्मुखतया प्रत्यक्ष का विषय होने से तथा सुख-दुःख एवं इच्छादि जैसे अहंकार के साथ समानाधिकरण धर्म के रूप में गृहीत न होने से, शब्द आत्मा का गुण नहीं है।[२३] रघुनाथ इन युक्तियों को स्वीकार करते हैं, परन्तु उनके मत में इन युक्तियों से केवल यह सिद्ध होता है कि शब्द जीवात्मानिष्ठ गुण नहीं हो सकता है, न कि परमात्मा का भी गुण नहीं हो सकता है।

रघुनाथ के द्वारा अभिप्रेत लाघव वाञ्छनीय होने पर भी, उनकी आकाश की स्वतन्त्र द्रव्यत्व के खण्डन की प्रक्रिया शब्द की उत्पत्ति तथा सञ्चरणविषयक तथ्यों पर आधारित नहीं होने से तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होती है।

२. दिग्विषयक विचार

२.१ परम्परागत मत के अनुसार दिक् द्रव्य की सिद्धि

एक मूर्तद्रव्य a को अवधि के रूप में लेकर अन्य एक मूर्त द्रव्य b का a के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर या नीचे होने

---

२२. देखिये, रघुनाथ शिरोमणि, *पदार्थतत्त्वनिरूपण,* विश्वम्भर पाहि एवं कुसुम जैन कृत हिन्दी भावानुवाद एवं रामभद्रकृत *पदार्थतत्त्वविवेचनप्रकाश* सहित, राजस्थान विश्वविद्यालय, भारतीय दर्शन ग्रन्थ माला: ५, जयपुर, १९९७, पृ.३

२३. "बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वाद् आत्मान्तरग्राह्यत्वाद् आत्मन्यसमवायाद् अहङ्कारेण विभक्तग्रहणाच्च नात्मगुणः।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ.१४४

का प्रमात्मक ज्ञान सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है। दिशाविषयक उपर्युक्त प्रकार की यथार्थ प्रतीतियों के निमित्तकारण के रूप में दिक् नामक एक स्वतन्त्र द्रव्य न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में स्वीकृत हुआ है।[२४] मूर्तद्रव्य a को अवधि के रूप में लेने पर मूर्तद्रव्य b, a की पूर्व दिशा में होने पर भी अन्य एक मूर्त द्रव्य c को अवधि के रूप में लेने पर b, c से उत्तर को या दक्षिण को हो सकता है। अन्य शब्दों में अवधि के भेद से एक ही मूर्त द्रव्य की दिशायें भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, परन्तु इससे दिग्विषयक ज्ञान की वस्तुनिष्ठता बाधित नहीं होती है। एक ही आधार में भिन्न-भिन्न आधेयों की अपेक्षा से अधिकरणता भिन्न-भिन्न होने पर भी आधार की एकरूपता अथवा आधेयताओं के परस्पर भेद की वस्तुनिष्ठता बाधित नहीं होती है।

२.२ स्पन्दतत्त्व के पूर्वापेक्षित पदार्थ– दूरत्व एवं परिच्छिन्नपरिमाणवत्ता

वस्तुतः दिग्विषयक सारे सम्प्रत्यय दो मूर्त द्रव्यों के बीच दूरी रूपी मूलभूत सम्प्रत्यय की अपेक्षा रखते हैं। स्पन्द या क्रिया के समवायिकारण के रूप में मूर्तत्व जाति सिद्ध होती है। गमन तथा सामान्य रूप में किसी भी प्रकार का स्पन्द मूर्त द्रव्य के स्थानान्तरण के बिना सम्भव नहीं होता है। देशविशेष से विभागपूर्वक मूर्त द्रव्य की देशान्तरप्राप्ति (संयोग) ही उसका स्थानान्तरण है। यह स्पष्ट है कि देशान्तरप्राप्ति का सम्प्रत्यय दूरीसम्प्रत्यय की अपेक्षा रखता है। अन्य शब्दों में कर्म का पदार्थत्व स्वीकार करने के लिये दूरी रूपी पदार्थ स्वीकार करना आवश्यक है। पुनश्च स्पन्द के आश्रय रूपी मूर्तद्रव्य की कल्पना भी परिच्छिन्न प्रदेश की कल्पना के बिना सम्भव नहीं है। प्रत्येक मूर्त द्रव्य प्रदेशविशेष को अधिगृहीत करके ही विद्यमान रह सकता है। प्रदेशनिष्ठआधारता से निरूपित आधेयता द्वारा विशिष्ट होना मूर्त द्रव्यों का स्वभावसिद्ध (अनागन्तुक) धर्म है। मूर्त द्रव्यों को आधार के रूप में धारण करने की योग्यता ही

---

२४. (क) "इत इदमिति यतस्तद्दिशो लिङ्गम्।" *वैशेषिकसूत्र* २.२.१२, गायकवाड़ प्राच्यग्रन्थमाला संस्करण, पृ.१८

(ख) "दिक् पूर्वापरादिप्रत्ययलिङ्गा। मूर्तद्रव्यमवधिं कृत्वा मूर्तेष्वेव द्रव्येष्वेतस्मादिदं पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेणापरोत्तरेणोत्तरपूर्वेण चाधस्तादुपरिष्टाच्चेति दश प्रत्यया यतो भवन्ति सा दिगिति, अन्यनिमित्तासम्भवात्।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ.१६२

प्रदेशत्व का स्वरूप है। प्रदेश का सम्प्रत्यय भी दूरी के सम्प्रत्यय की अपेक्षा रखता है, क्योंकि जिसके भाग के भेद से परस्पर दूरी की कल्पना नहीं की जा सकती है वह प्रदेश नहीं कहा जा सकता है। लोकव्यवहार में दूरी एक परिमेय पदार्थ के रूप में प्रसिद्ध है। दूरी के परिमाण की व्यवस्था, दूरी की इकाई तथा आनुपातिक एवं अनानुपातिक सङ्ख्याओं के व्यूहरूपी परिमाणमापक सङ्ख्या तन्त्र की अपेक्षा रखती है। बिन्दु रूपी प्रदेशाणु की कल्पना के बिना देशविषयक मूलभूत दूरी तत्त्व का परिष्कृत विचार सम्भव नहीं है।

२.३ विचारप्रक्रिया के द्वारा सीमान्तवर्ती पदार्थ के रूप में उद्भूत प्रदेशाणु (बिन्दु), सरल खण्डरेखा एवं दूरत्व

एक गेंद के समान प्रत्यक्षग्राह्य मूर्तद्रव्य के क्रमशः समाकुञ्चन की कल्पना करने पर उसके घनफल का क्रमशः ह्रास होने की कल्पना अपरिहार्य होती है। परन्तु जब तक उस क्रमशः आकुञ्चनशील गेंद का क्षुद्र से क्षुद्रतर लम्बाई विशिष्ट व्यास रहता है तब तक उसका एक घनफल भी अवश्य रहता है। इस काल्पनिक आकुञ्चन-प्रक्रिया की सीमा के रूप में हमें प्रदेशाणु या बिन्दु रूपी परिकल्पित पदार्थ प्राप्त होता है। इस सीमा पर गेंद अपने वर्तुलाकारत्व रहित होने के साथ-साथ अपने व्यास तथा घनफलों से भी रहित हो जाता है। एक चक्राकार पदार्थ अथवा एक खण्डरेखा के अनुरूप क्रमशः समरूप में आकुञ्चन-कल्पना की प्रक्रिया की सीमा के रूप में भी परिकल्पित प्रदेशाणु (बिन्दु) तत्त्व प्राप्त होता है। दो भिन्न प्रदेशाणुओं के बीच दूरी का रहना, चाहे वह कितनी भी क्षुद्र हो, अन्तर्बोध की दृष्टि से अपरिहार्य है, क्योंकि दो प्रदेशाणुओं के बीच दूरी का अत्यन्ताभाव वस्तुतः उनके परस्पर भेद के प्रतिषेध के द्वारा उनके तादात्म्य को सिद्ध करता है।

एक समतल पर एक बिन्दु a से एक भिन्न बिन्दु b तक असङ्ख्य सङ्क्रमण-मार्ग सम्भव हैं। अन्तर्बोध[२५] की दृष्टि से उनमें से किसी भी सङ्क्रमण-मार्ग पर a से b तक पहुँच कर पुनः उसी मार्ग पर b से a तक प्रत्यावर्तन करना सम्भव है। a से b तक परिकल्पनीय

२५. आत्मसचेतनशीलता द्वारा अनुशासित लोकप्रतीति सभी व्यवस्थित विचार तथा शास्त्रों की जननी है। यहाँ पर 'अन्तर्बोध' शब्द का अभिप्रेत अर्थ इस प्रकार की अनुशासित लोकप्रतीति है।

असङ्ख्य सङ्क्रमण-मार्ग होने पर भी उनमें से एक एवं एकमात्र विशिष्ट सङ्क्रमण-मार्ग अवश्य है, जो मार्गों की लम्बाई की दृष्टि से न्यूनतम लम्बाई वाला है। एक समतल पर दो भिन्न बिन्दु a, b के बीच एकाधिक न्यूनतम लम्बाई से विशिष्ट मार्गों की कल्पना मूलोच्छेदी हो जाती है। न्यूनतम लम्बाई से विशिष्ट a, b के बीच उपर्युक्त सङ्क्रमण मार्ग *सरल खण्डरेखा* कहलाती है एवं $\overline{ab}$ (अथवा $\overline{ba}$) द्वारा अभिहित की जा सकती है। अन्तर्बोध में भासित दूरी रूपी पदार्थ का स्वरूप एक द्विपदी फलन $D:P \times P \rightarrow S$ के द्वारा निरूपित किया जा सकता है। यहाँ पर P प्रदेशाणुओं (बिन्दुओं) का सङ्घात है, $P \times P$ समस्त बिन्दु युगलों का सङ्घात है, S अनृणात्मक परिमाणमापक सङ्ख्याओं का समुच्चय है एवं D, $P \times P$ के सदस्यरूपी प्रत्येक बिन्दु युगल (a, b) को प्रतियोगी के रूप में लेकर S के सदस्य रूपी एक एवं एकमात्र अनृणात्मक सङ्ख्या को (उनकी परस्पर दूरी के मापक) अनुयोगी के रूप में निरूपित करता है, तथा फलन D निम्न धर्मविशिष्ट होता है–

चाहे a,b,c P के कोई अनिर्दिष्ट बिन्दु हों

(१) $D(a,b)=0$ यदि एवं केवल यदि $(a=b)$,

(२) $D(a,b)=D(b,a)$,

(३) $D(a,c)+D(c,b) \geq D(a,b)$

परस्पर से भिन्न दो बिन्दुओं की दूरी अवश्य धनात्मक होती है। दो बिन्दुओं की दूरी बिन्दुओं के क्रम पर निर्भर नहीं करती है। बिन्दु c, a एवं b के मध्यवर्ती होने पर हीं $D(a,c)+D(c,b)=D(a,b)$ सत्य होता है, अन्यथा $D(a,c)+D(c,b)>D(a,b)$, अर्थात् एक त्रिभुज की दो भुजाओं की लम्बाई का योगफल तीसरी भुजा की लम्बाई से अधिक होता है।

२.४ गति– दूरत्व और दिशा, अर्धरेखा एवं पूर्णरेखा और दिशाओं की व्यवस्था

जब एक मूर्तद्रव्य M एक बिन्दु a से प्रारम्भ करके अन्य एक बिन्दु b तक खण्ड रेखा $\overline{ab}$ पर सङ्क्रमण करके b से a तक उसी खण्ड रेखा $\overline{ab}$ से प्रत्यावर्तन करता है तब दूरी की दृष्टि से M, D(a,b) का द्विगुण मार्ग तय करने पर भी M की a से स्थानान्तरण की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं आता है। यह स्पष्ट है कि मार्ग $\overline{ab}$ पर a से b तक सङ्क्रमण तथा b से a तक सङ्क्रमण दूरी की दृष्टि से

एक होने पर भी गति की दिशा की दृष्टि से परस्पर के विपरीत तथा कार्यविलोपकारी हैं। गति का सम्प्रत्यय स्वरूपतः दिशा के सम्प्रत्यय की अपेक्षा रखता है, न केवल दूरी के सम्प्रत्यय की। एक खण्डरेखा ab को a से b की दिशा में परिवर्द्धित करने पर एक अर्धरेखा $\overrightarrow{ab}$ प्राप्त होती है जिसका $\overline{ab}$ पर अनवस्थित कोई भी बिन्दु d दिये जाने पर $D(a,d) = D(a,b)+D(b,d)$ सत्य रहता है। अनुरूप प्रक्रिया से अर्धरेखा $\overleftarrow{ab}$ प्राप्त होती है। $\overrightarrow{ab}$ एवं $\overleftarrow{ab}$ परस्पर विपरीत दिशा से विशिष्ट हैं। खण्ड रेखा $\overline{ab}$ को एक साथ a से b की दिशा में तथा b से a की दिशा में $\overrightarrow{ab}$ तथा $\overleftarrow{ab}$ के रूप में परिवर्द्धित करने पर पूर्ण सरल रेखा $\overleftrightarrow{ab}$ प्राप्त होती है। अन्तर्बोध की दृष्टि से दो भिन्न बिन्दु a,b खण्ड रेखा $\overline{ab}$ एवं सरल रेखा $\overleftrightarrow{ab}$ को पूर्ण रूपेण निरूपित करते हैं। इसीलिये दो परस्पर से भिन्न सरल रेखा $\overleftrightarrow{ab}$ एवं $\overleftrightarrow{cd}$ के एक से अधिक साधारण बिन्दु नहीं हो सकते हैं। अन्य शब्दों में, दो परस्पर भिन्न सरल रेखायें परस्पर समानान्तर रहती हैं अथवा परस्पर को एक ही बिन्दु पर प्रतिच्छिन्न करती हैं।

दिशा का सम्प्रत्यय सरल रेखा के सम्प्रत्यय की अपेक्षा रखता है। एक सरल रेखा पर अनवस्थित तीन परस्पर से भिन्न बिन्दु एक एवं एकमात्र तल निरूपित करते हैं। उसी प्रकार दो परस्पर प्रतिच्छेदी सरल रेखायें एक एवं एकमात्र तल निरूपित करती हैं, क्योंकि किसी भी तल पर एक सरल रेखा के दो भिन्न बिन्दु अवस्थित होने पर वह सरल रेखा स्वयं उस तल पर अवस्थित रहती है। एक ही सरल रेखा पर अभिमुखभेद से दो परस्पर विपरीत दिशायें प्राप्त होती हैं। एक तल पर अवस्थित सभी समानान्तर एकाभिमुखी सरल रेखायें एक ही दिशा को निरूपित करती हैं। दो परस्पर प्रतिच्छेदी भिन्न सरल रेखाओं से उनके द्वारा निरूपित तल पर उनके प्रतिच्छेदबिन्दु से चार दिशायें प्राप्त होती हैं। जब वे दो प्रतिच्छेदी रेखायें परस्पर के अभिलम्ब होती हैं तब सन्निकृष्ट दिशाओं की कोणीय दूरता बराबर एक समकोण होती है। उनके प्रतिच्छेदबिन्दु पर आकाशदेश में परस्पर अभिलम्बित उपर्युक्त दो रेखाओं के प्रति एक अन्य अभिलम्बित रेखा की कल्पना करने पर दो अतिरिक्त दिशायें प्राप्त होती हैं। अन्य शब्दों में किसी भी बिन्दु पर जब तीन रेखायें परस्पर के प्रति अभिलम्बित होती हैं तब कुल छः दिशायें प्राप्त होती हैं।

वस्तुतः किसी एक बिन्दु को केन्द्र के रूप में लेकर एक निर्दिष्ट लम्बाई के व्यास से विशिष्ट एक वर्तुलाकार की कल्पना की जा सकती है। उस वर्तुलाकार के प्रत्येक व्यास द्वारा निरूपित उभयगामी सरल रेखा दो दिशाओं को निरूपित करती है। कल्पित वर्तुलाकार के अपरिमित सङ्ख्यक व्यास होने से एवं भिन्न-भिन्न व्यासों द्वारा निरूपित सरल रेखायें भिन्न-भिन्न होने से वर्तुलाकार के केन्द्रबिन्दु से अपरिमित दिशाओं की कल्पना सम्भव है। लोक व्यवहार की दृष्टि से कुछ विशिष्ट दैशिक उपाधियों के आधार पर उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ऊर्ध्व एवं अधः आदि दिशायें प्राप्त होती हैं। पृथिवी के उत्तरार्द्ध पर किसी भी स्थान से ध्रुव तारे की सहायता से प्राप्त दिशा एवं उसकी विपरीत दिशा को यथाक्रम उस स्थान की अपेक्षा से उत्तर एवं दक्षिण कहा जाता है। एक स्थान की उत्तर-दक्षिण रेखा पर उस स्थान को एक बिन्दु के रूप में लेकर पृथिवी के तल पर कल्पित अभिलम्ब रेखा से घड़ी के हाथ की गति के क्रम से चलने पर पूर्व एवं उसके विपरीत पश्चिम दिशायें प्राप्त होती हैं। इन दिशाओं के द्वारा निरूपित विपरीत समकोणों को समभाग से विभक्त करने वाली अन्य दो रेखाओं से उत्तर-पूर्व या ईशान एवं उसकी विपरीत दक्षिण-पश्चिम या नैर्ऋत दिशायें तथा दक्षिण-पूर्व या अग्नि तथा उसके विपरीत उत्तर-पश्चिम या वायु दिशायें प्राप्त होती हैं। इस प्रकार ऊर्ध्व एवं अधः दिशाओं के साथ प्रशस्तपादोक्त लोकव्यवहार की दश दिशायें प्राप्त होती हैं।

२.५ दिक् और आकाश– वैशेषिक एवं जैन मत

न्यायवैशेषिकतत्त्वमीमांसा में स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में अङ्गीकृत दिक् तथा आकाशविषयक विचार में सूक्ष्मता का अभाव परिलक्षित होता है। प्रशस्तपाद ने आकाश, दिक्, काल एवं आत्मा के सामान्य धर्म के रूप में सर्वगतत्व अर्थात् सभी मूर्त द्रव्यों के साथ संयोग, सर्वसंयोगिसमान-देशत्व अर्थात् मूर्तसंयोगमात्र का आधारत्व तथा परममहत्त्व धर्मों को स्वीकार किया है, यद्यपि टीकाकारों में प्रशस्तपाद द्वारा अभिप्रेत सामान्य धर्मों के स्वरूप विषय में मतभेद हैं।[२६]

---

२६. देखिये, *किरणावली*, गायकवाड़ संस्करण, पृ.२४, *न्यायकन्दली*, पृ.५८-५९ एवं *व्योमवती*, पृ.१५५-१५६

शब्द के समवायिकारण के रूप में आकाश नामक द्रव्य को स्वीकार करना अनावश्यक सिद्ध होने से दिक् एवं आकाश के स्थान पर एक ही पदार्थ स्वीकार करना युक्तिसङ्गत है। परम्परा में स्वीकृत दिक् एवं आकाश द्रव्य सभी मूर्त द्रव्यों के साथ संयुक्त होने से मूर्तद्रव्याश्रित परस्पर दूरी तथा दिशा आदि सांसर्गिक धर्म स्वाभाविक रूप में दोनों से सम्बद्ध हैं। परन्तु दिक् एवं आकाश के स्थान पर जो पदार्थ तत्त्वमीमांसा में स्वीकृत होगा उसकी तत्त्वमीमांसीय कोटि विवादास्पद है। जैन तत्त्वमीमांसा में आकाश एक अस्तिकाय द्रव्य के रूप में स्वीकृत है जो अन्य सभी का आधार है परन्तु स्वयं अन्य किसी आधार की अपेक्षा नहीं रखता है।[२७] आकाश से स्वतन्त्र दिक् नामक द्रव्य जैन तत्त्वमीमांसा में स्वीकृत नहीं हुआ है क्योंकि सूर्योदयादि की अपेक्षा से आकाश के प्रदेश की पङ्क्ति में पूर्व, पश्चिमादि दिग्भेद सम्भव है।[२८]

२.६ भासर्वज्ञ द्वारा दिक् का द्रव्यत्व खण्डन एवं उसका संसर्गस्वरूपत्व का समर्थन

न्यायवैशेषिक परम्परा के भासर्वज्ञ ने दिक् को द्रव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है। उनके मत में जिस प्रकार दीर्घत्व ह्रस्वत्वादि परिमाण मूर्त द्रव्यनिष्ठ धर्म हैं उसी प्रकार दिशायें भी मूर्तद्रव्यनिष्ठ धर्म हैं। दिक् को द्रव्य के रूप में स्वीकार न करने पर भी मूर्तद्रव्यनिष्ठ पूर्व-पश्चिमादि दिशा-भेद की वस्तुनिष्ठता खण्डित नहीं होती है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नगरों के बीच दूरी रूपी वस्तुनिष्ठ धर्म भिन्न-भिन्न होने पर भी एक ही नगर प्रयाग, वाराणसी की अपेक्षा से सन्निकृष्ट तथा पुण्यपत्तन की अपेक्षा से विप्रकृष्ट होता है, उसी प्रकार एक ही नगर वाराणसी प्रयाग के पूर्व में तथा पाटलिपुत्र के पश्चिम में रहता है। निमित्तभेद से अर्थात् परस्पर के अवस्थान के अनुसार तथा सूर्योदयादि की अपेक्षा

---

२७. (क) "आकाशस्यावगाहः।" आचार्यगृद्धपिच्छकृत *तत्त्वार्थसूत्र* ५.१८, आचार्य-पूज्यपादकृत *सर्वार्थसिद्धि*, वृत्ति संवलित, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९९१, पृ.२१६

(ख) "स्वप्रतिष्ठमाकाशम्", *सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थसूत्र* ५.१२ पर वृत्ति, पृ.२१०

२८. "दिशोऽप्याकाशेऽन्तर्भावः, आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपङ्क्तिषु इत इदमिति व्यवहारोपपत्तेः।" *सर्वार्थसिद्धि*, पृ.२०४

से नगरों के परस्पर दिग्भेद होने पर भी दिग्भेद की वस्तुनिष्ठता अक्षुण्ण रहती है।[२९] भासर्वज्ञ का दिग्विषयक सिद्धान्त युक्तिसङ्गतता तथा लाघव के आधार पर न्यायवैशेषिक-तत्त्वमीमांसा में एक मौलिक विचार के रूप में स्थान प्राप्त करने का अधिकार रखता है।

२.७ वैशेषिकपदार्थव्यवस्था में रेखा गणित की विषयरूपी दैशिक आकृतियों का स्थान

दिक् रूपी पदार्थ के स्वरूप-विवेचन के प्रसङ्ग में रेखा गणित के विषयभूत पदार्थों की तत्त्वमीमांसीय कोटिविषयक जिज्ञासा स्वाभाविक है। न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम शब्द की शक्ति को व्यक्ति, आकृति तथा जाति में स्वीकार करते हैं।[३०] जन्यद्रव्य के अवयवों का अपना-अपना संस्थान तथा अवयवों का व्यूहरूपी संस्थान ही *आकृति* है।[३१] कालान्तर में न्यायवैशेषिक परम्परा में लाघव के आधार पर जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही गो, अश्व आदि पदों की शक्ति स्वीकृत हुई एवं आकृति तत्त्व उपेक्षित हो गया। परन्तु गणित शास्त्र की रेखा गणित रूपी शाखा के तत्त्वमीमांसीय आधार की दृष्टि से आकृति का पदार्थत्व स्वीकार करना आवश्यक है।

---

२९. "एतेन दिशोऽपि द्रव्यत्वं प्रत्युक्तम्। मूर्तद्रव्यधर्मत्वाद् दिशां दीर्घत्वह्रस्वत्वादिवत् तद्विशिष्टप्रत्ययानां मूर्तेष्वेव भावात्। दशधाभेदस्तु दिशां वास्तवोऽप्यस्तु को विरोधः ?

...सन्निकर्षविप्रकर्षादयो हि धर्मा वास्तवा इष्यन्ते। न च यथा प्रतिष्ठानापेक्षया सन्निकृष्टः प्रयागः, तथा क़ान्यकुब्जापेक्षयापीति। तस्मात् प्रतिनियतनिमित्तापेक्षया प्राच्यादिधर्माणामपि अभिव्यक्तिरित्यलं प्रसङ्गेन।" *न्यायभूषण,* पृ.५९३

३०. "व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः।" *न्यायसूत्र* २.२.६५, पृ.१८६
"आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या।" *वही,* २.२.६७, पृ.१८७

३१. (क) "सत्त्वावयवानां तदवयवानां च नियतो व्यूह आकृतिः।" *न्यायसूत्र* २.२.६२ पर *वात्स्यायनभाष्य,* पृ.१८४
(ख) "सा च नान्या सत्त्वानां तदवयवानां च नियताद् व्यूहादिति:।" *न्यायसूत्र* २.२.६७ पर *वात्स्यायनभाष्य,* पृ.१८७
(ग) "...संस्थानमेवाकृतिं मन्यते। लोकोऽपि अवयवसन्निवेशात्मिकामाकृतिं व्यपदिशति 'यत्राकृतिस्तत्रगुणा वसन्ति' इति। तस्मादवयवसन्निवेश एव आकृतिरुच्यते।" *न्यायमञ्जरी,* भाग २, पृ.३१

एक तल पर परिकल्पनीय बिन्दु, खण्डरेखा, अर्धरेखा, पूर्णरेखा, कोण, त्रिभुज, चतुर्भुज, वर्ग, वृत्तादि तथा आकाशीय वर्तुलाकार घनाकारादि इन्द्रियग्राह्य आकृतियाँ परिष्कृत विचार प्रक्रिया से सीमान्तवर्ती पदार्थ के रूप में प्राप्त होती हैं। उनके अनुभव पर आधारित उत्कल्पनीयता तथा मूर्तद्रव्यों की शुद्ध दैशिक धर्मविषयक व्यवस्था के निर्माण में भूमिका को नकारना *यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय* का अनादर करना ही होगा। लोकव्यवहार में दैशिक आकृतियों की भूमिका सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है। पीपल का एक पत्ता बरगद के एक पत्ते से आकृति के आधार पर व्यावर्तित किया जा सकता है। वस्तुतः रूप, रस, स्पर्श, गन्ध के सदृश, दैशिक आकृतियाँ भी, मूर्तद्रव्याश्रित कर्म एवं जाति से भिन्न पदार्थ के रूप में इन्द्रियग्राह्य होती हैं। एक लाल गेंद का लाल रङ्ग जिस प्रकार उस गेंद पर आश्रित परतन्त्र तत्त्व के रूप में गृहीत होता है उसी प्रकार लाल रङ्ग के साथ गेंद में आश्रित गेंद का वर्तुलाकार भी परतन्त्र तत्त्व के रूप में गृहीत होता है। दैशिक आकृतियाँ चक्षुरिन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय द्वारा गृहीत होती हैं। एक जन्मान्ध व्यक्ति भी एक ईंट एवं गेंद की आकृतियों को तथा उनके परस्पर भेद को स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करता है। अतः मूर्तद्रव्यों की अवयव संस्थानरूपी आकृति उनके गुण कोटि के धर्म के रूप में अवश्य स्वीकार्य हैं।

मूर्तद्रव्यों के रूप, रस, गुरुत्वादि धर्म उपादानसापेक्ष होते हैं। परन्तु दैशिक आकृतियाँ उपादाननिरपेक्ष होती हैं। एक वर्तुलाकार वस्तु ताम्बे, लोहे, पीतल, एलुमिनियम, मिट्टी अथवा अन्य उपादान की हो सकती है। पाँच सेन्टिमीटर व्यास से विशिष्ट एक ताम्बा एवं एक एलुमिनियम गेंद के रूप एवं गुरुत्व आदि में भेद, उनके उपादान भेद के कारण है, परन्तु उनके घनफल तथा सतह का क्षेत्रफल केवल वर्तुलाकृति के व्यास की लम्बाई पर आश्रित होने से उपादाननिरपेक्ष हैं तथा समान रहते हैं। जिस प्रकार पीपल का एक हरा पत्ता नष्ट हो जाने पर उसका हरा रङ्ग भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पत्ता नष्ट हो जाने पर उस पत्ते की व्यक्तिभूत आकृति विशेष भी आश्रयनाश से नष्ट हो जाती है।[३२] जिस प्रकार सभी व्यक्तिभूत हरे रङ्ग में रहने वाली हरितत्व

---

३२. "नीलो नष्टो, रक्त उत्पन्न इत्यादिप्रतीतेर्नीलादेरुत्पादविनाशशालितया नानात्वात्, अन्यथा एकनीलनाशे जगदनीलतामापद्येत।" *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*, पृ.३७४-३७५

जाति विनष्ट नहीं होती है, उसी प्रकार पीपल-पत्राकृतित्व रूपी सभी पीपल पत्तों की आकृतियों में रहने वाली जाति भी नष्ट नहीं होती है।

अन्य शब्दों में, जिस प्रकार एक लाल फूल रूपी अवयवी में फूल, उसका लाल रङ्ग एवं उस लाल रङ्ग में रहने वाली रक्तत्व जाति में अन्तर करना आवश्यक है, उसी प्रकार एक वर्तुलाकार वस्तु, उसकी व्यक्तिभूत विनाशशील वर्तुलाकृति तथा उस व्यक्तिभूत वर्तुलाकृति में रहने वाली वर्तुलाकारत्व रूपी जाति में अन्तर करना आवश्यक है। वस्तुतः दैशिक आकृतियाँ न केवल मूर्तद्रव्यनिष्ठ अपितु मूर्तद्रव्यों के सङ्घातनिष्ठ भी होती हैं। सप्तर्षिमण्डल प्रश्नवाचकचिह्नाकृति मण्डल के ताराओं के परस्पर दैशिक अवस्थान विशेष के कारण ही सम्भव होता है एवं अबाधित प्रतीति का विषय होने से उसका पदार्थत्व अवश्य स्वीकार्य है। कालपुरुष (Orion) संज्ञक नक्षत्र-मण्डल की आकृति सप्तर्षि मण्डल की आकृति से भिन्न है एवं यह भेद प्रत्यक्षग्राह्य तथा लोकप्रसिद्ध है।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट है कि दैशिक आकृतियों का स्वरूप उन आकृतियों के आश्रयभूत मूर्तद्रव्यों के उपादान के स्वरूप पर निर्भर नहीं करता है। वर्तुलाकारत्व का लक्षण वर्तुलाकृति के आश्रयभूत मूर्तद्रव्यों के उपादान से निरपेक्ष रूप में देना आवश्यक है। परन्तु सुवर्णत्व, रजतत्वादि का स्वरूप-निरूपण केवल उनके परमाणुओं की विशिष्ट संरचना के आधार पर ही करना सम्भव है। दैशिक आकृतिविषयक रेखागणितरूपी गणित शास्त्र की एक शाखा इसीलिये सम्भव है कि दैशिक आकृतियों के स्वरूपनिरूपण तथा उनके धर्म एवं उनके परस्पर सम्बन्ध का निरूपण उन आकृतियों के आश्रयभूत मूर्तद्रव्यों के उपादान से निरपेक्ष रूप में किया जा सकता है।

गणित शास्त्र आकृतिविषयक शास्त्र है। गणितीय आकृतियाँ दैशिक अथवा अन्य प्रकार की हो सकती हैं, परन्तु उनका स्वरूप निरूपण सर्वत्र आकृतियों के आश्रयभूत पदार्थों के उपादान से निरपेक्ष रूप में करना सम्भव है। रेखागणितीय ज्ञान की तथा सामान्य रूप में गणितीय ज्ञान की विलक्षणता तथा जगत्परकता न्यायवैशेषिक ज्ञानमीमांसा में स्वीकृत सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के आधार पर उपपन्न होती है।

२.८ रघुनाथ शिरोमणि द्वारा दिक् के स्वतन्त्रद्रव्यत्व के खण्डन पर टिप्पणी

अन्त में रघुनाथ के 'दिक् का स्वतन्त्रद्रव्यत्व-खण्डन' के विषय

में इतना ही कहना पर्याप्त है कि उनके द्वारा अभिप्रेत लाघव वाञ्छनीय होने पर भी उनकी स्थापना की प्रक्रिया देशविषयक तत्त्वों के स्वरूप विचार पर आधारित न होने के कारण तत्त्वमीमांसा के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण नहीं है।

३. कालस्वरूपविषयक विचार

३.१ परम्परागत मत के अनुसार काल की द्रव्यत्वसिद्धि

कणाद एवं प्रशस्तपाद ने तत्त्वमीमांसा में काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्थान दिया है। उनके मत में ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व, यौगपद्य अर्थात् एककालता, अयौगपद्य अर्थात् भिन्नकालता, चिरत्व एवं क्षिप्रत्वादि प्रमात्मक प्रतीतियों की विषयव्यवस्था, काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करने पर ही सम्भव होती है।[३३] काल एक है, परन्तु क्रिया रूपी उपाधि भेद से अतीत, वर्तमान एवं अनागतादिभेद तथा दिवस, मास, संवत्सरादि भेद के कारण उसमें नानात्व का आभास होता है। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति व्यापार भेद से पाचक, पाठक, धावक आदि कहलाने पर भी उसका एकत्व बाधित नहीं होता है उसी प्रकार उपाधि भेद से काल में नानात्व का उपचार होने पर भी काल का एकत्व बाधित नहीं होता है। 'चैत्र चावल पकायेगा', 'चैत्र चावल पका रहा है' एवं 'चैत्र ने चावल पकाया है' में भासित अनागतता, वर्तमानता एवं अतीतत्व का भेद पाकक्रिया की अपेक्षा से है, न कि काल के होने से या न होने से। जब हरशृङ्गार (शेफालिका) के दो फूल एक ही समय पेड़ से जमीन पर गिरते हुए कोई देखता है तब प्रत्यक्ष के विषय के रूप में फूल एवं पतन व्यापार से अतिरिक्त क्रियाद्वय की एककालता भी भासित होती है। एककालता को सूर्यनिष्ठ एक स्पन्द विशेष की सहायता से समझने के लिये फूलों के पतन व्यापार एवं सूर्यनिष्ठ स्पन्द के मध्य एक सम्बन्ध की आवश्यकता है, जिसे संयोग अथवा समवाय आदि साक्षात्

---

३३. (क) कणाद, *वैशेषिकसूत्र*, गायकवाड़ प्राच्यग्रन्थमाला संस्करण, २.२.६-२.२.११, पृ. १७-१८

(ख) "कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम्। तेषां विषयेषु पूर्वप्रत्ययविलक्षणानामुत्पत्तावन्यनिमित्ताभावाद् यदत्र निमित्तं स कालः।" *प्रशस्तपादभाष्य*, *न्यायकन्दली* सहित, पृ.१५५-१५६

सम्बन्ध पूर्ति नहीं कर सकते हैं। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये स्वाश्रयसंयुक्तसंयोग रूपी परम्परा सम्बन्ध की कल्पना की गई है। स्व अर्थात् सूर्यस्पन्द, उसका आश्रय अर्थात् सूर्य, उसके साथ संयुक्त जो कालरूपी द्रव्य, उस काल के साथ गिरते हुए दोनों फूलों के संयोग– इस प्रकार सूर्यस्पन्दाश्रयरूपी सूर्य से संयुक्त कालद्रव्य के साथ संयोग से यौगपद्यादिप्रत्यय की उपपत्ति होती है। प्रशस्तपाद काल में सभी मूर्तद्रव्यों के साथ संयुक्त होने का धर्म तथा कार्य मात्र का निमित्त कारण होने का धर्म स्वीकार करते हैं। कार्य की उत्पत्ति, देश तथा कालविशेष में होती है। कार्योत्पत्ति के दैशिक तथा कालिक अधिकरण उत्पत्ति के निमित्त कारण के रूप में स्वीकृत होते हैं। कार्य की उत्पत्ति का निमित्त कारण कार्य के भी निमित्त कारण के रूप में स्वीकार्य होता है।[३४]

३.२ क्रिया एवं काल– वात्स्यायन का विश्लेषण

कालस्वरूपनिरूपण में क्रिया तत्त्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका सर्ववादिसम्मत है। जिस प्रकार मूर्त द्रव्य की कल्पना दैशिक विस्ताररूपी धर्म के बिना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार क्रिया या स्पन्द पदार्थ की कल्पना कालावधि या खण्डकालव्यापित्व धर्म के बिना सम्भव नहीं है। न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में क्रिया क्षणचतुष्टयव्यापी पदार्थ के रूप में अङ्गीकृत हुई है। क्रिया पदार्थ का स्वरूपनिरूपण क्रम पदार्थ की अपेक्षा रखता है। क्रिया की प्रतीति स्वरूपतः कालिक पूर्वापरीभावरूपी विषय की प्रतीति के साथ ही होती है तथा अतीत, वर्तमान एवं अनागत भेद की अपेक्षा रखती है। *न्यायसूत्र* के वर्तमानपरीक्षा प्रकरण के भाष्य में वात्स्यायन, प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता की रक्षा के लिये वर्तमान काल की प्राथमिकता सिद्ध करते हैं। इसके लिये भाष्यकार वृक्ष से वृन्तच्युत फल की पतन क्रिया के सन्दर्भ में, क्रिया, काल एवं क्रियाश्रयरूपी मूर्त द्रव्य द्वारा सञ्चरित मार्ग रूपी तीन तत्त्वों के मध्य सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं।

---

३४. (क) "आकाशकालदिगात्मानां सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसंयोगिसमानदेशत्वम् च।" *वही,* पृ.५८-५९

(ख) "दिक्कालयोः पञ्चगुणवत्त्वं सर्वोत्पत्तिमत्तां निमित्तकारणत्वञ्च।" *वही,* पृ.६५

(ग) "तत्तदुत्पत्त्यधिकरणत्वेन व्यवहारविषयस्य तत्तदुत्पत्तिहेतुत्वनियमात् तदुत्पत्ति-हेतुत्वस्य तद्धेतुत्वव्याप्यत्वात्।" *दिनकरी,* पृ.१४६

वात्स्यायन के मत में काल सञ्चरित मार्ग के द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता है, अपितु केवल क्रिया के द्वारा।[३५] देव-पूजन, अतिथि-सत्कार, पाकादि क्रियायें वस्तुतः एक ही अर्थसिद्धि के लिए अनेक प्रकार की क्रियाओं के सन्तान हैं। वृक्षच्छेदन एवं गमनादि क्रियायें एक ही प्रकार की क्रिया के अभ्यास अर्थात् पुनरावृत्ति रूपी क्रियायें हैं। दोनों प्रकार की क्रियाओं में कालिक पूर्वापरीभाव या क्रम अवश्य है।[३६] क्रिया सन्तान अथवा पुनरावृत्तिरूपी अभ्यासात्मिका क्रिया के किसी भी सोपान (पाद) की अपेक्षा से उस सोपान तक सम्पन्न पूर्ववर्ती पाद या सोपान *कृतता* धर्म से विशिष्ट होते हैं एवं क्रिया के अनारब्ध सोपान *कर्तव्यता* धर्म से विशिष्ट हैं एवं जिस सोपान की अपेक्षा से कृतता और कर्तव्यता का भेद करना सम्भव हुआ वह *क्रियमाण* धर्म से विशिष्ट होता है।[३७] जब एक वृक्ष से एक वृन्तच्युत फल, भूमि पर गिरता है तब फल के द्वारा सञ्चरित मार्ग के किसी भी बिन्दु को लेने पर वृन्त से उस बिन्दु तक फल की पतन क्रिया अतीत काल विशिष्ट होती है तथा उस बिन्दु से भूमि तक सञ्चरणार्थ फल का अनुत्पन्न पतन व्यापार, अनागत काल से विशिष्ट होता है। परन्तु मार्ग के उस बिन्दु पर फलनिष्ठ पतन व्यापार वर्तमान काल से विशिष्ट होता है, एवं इस वर्तमानकाल द्वारा ही क्रिया एवं उसके आश्रयरूपी मूर्तद्रव्य के सम्बन्ध का ग्रहण सम्भव होता है।[३८]

---

३५. "नाध्वव्यङ्ग्यः कालः किं तर्हि, क्रियाव्यङ्ग्यः।" *न्यायसूत्र* २.१.४० पर *वात्स्यायनभाष्य,* पृ.१२७

३६. "गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते।" *क्रियासमुद्देश*, ४
भर्तृहरि, *वाक्यपदीय,* तृतीय काण्ड का द्वितीय भाग, हेलाराजकृत *प्रकीर्णक प्रकाश* सहित, के.ए. सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा सम्पादित, पुना, १९७३, पृ.९

३७. "आरब्धक्रियासन्तानो वर्तमानकालः पचतीति, तत्र या उपरता सा कृतता। या चिकीर्षिता सा कर्तव्यता। या विद्यमाना सा क्रियमाणता। तदेवं क्रियासन्तानस्थस्त्रैकाल्यसमाहारः पचति पच्यत इति वर्तमानग्रहणेन गृह्यते।" *न्यायसूत्र* २.१.४३ पर *वात्स्यायनभाष्य,* पृ.१३०

३८. "पतितः कालः इति भूता क्रिया। पतितव्यः काल इति चोत्पत्स्यमाना क्रिया। उभयोः कालयोः क्रियाहीनं द्रव्यमथ पततीति क्रियासम्बद्धम्। सोऽयं क्रियाद्रव्ययोः सम्बन्धं गृह्णाति वर्तमानः कालस्तदाश्रयौ चेतरौ कालौ, तदभावे न स्यातामिति।" *न्यायसूत्र* २.१.४० पर *वात्स्यायनभाष्य,* पृ. १२७-१२८

३.३ भासर्वज्ञ का कालविषयक सिद्धान्त

क्रिया एवं काल की सम्प्रत्ययात्मक सन्निकृष्टता निर्विवाद है। कुछ विचारकों के मत में काल क्रियात्मक है। ज्योतिर्गणितज्ञों के मत में ग्रहतारादि का परिस्पन्द ही काल है। परन्तु यह मत न्यायवैशेषिक दार्शनिकों को स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि ग्रहतारादि के उदय एवं अस्तादि विषय में भी यौगपद्यादि की प्रतीति होती है।[३९] भासर्वज्ञ के मत में काल क्रिया के विशेषण के रूप में भासित होने से क्रियात्मक नहीं हो सकता है।[४०] जिस प्रकार लम्बाई की दृष्टि से दो दण्ड समान अथवा असमान लम्बाई के हो सकते हैं उसी प्रकार कालावधि की दृष्टि से दो क्रियाओं की कालावधि एक अथवा भिन्न हो सकती हैं। जिस प्रकार परिमाण द्रव्य से भिन्न एवं द्रव्य का धर्म है, उसी प्रकार काल भी क्रिया से भिन्न एवं क्रिया का धर्मरूपी पदार्थ है।

काल क्रियाश्रित रूप में ही प्रतीति का विषय होता है, न कि क्रियानिरपेक्ष अथवा क्रिया के अनाश्रित रूप में। मूर्त द्रव्यों के परिमाण की तरह काल भी क्रिया के परिमेय धर्म के रूप में ज्ञान में भासित होता है। काल के क्रियाश्रितत्व तथा परिमेयत्व के आधार पर भासर्वज्ञ काल का द्रव्यत्व खण्डन करते हैं।[४१]

काल का एकत्व भी भासर्वज्ञ को अस्वीकार्य है। उनके मत में काल को एक मानने पर यौगपद्य, अयौगपद्य, चिरत्व, क्षिप्रत्वादि की प्रतीतियों की उपपत्ति सम्भव नहीं हो पायेगी। क्रियारूपी उपाधि भेद से कालविषयक नानात्व व्यवहार की व्यवस्था देना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वह समाधान परस्पराश्रय दोष से ग्रस्त है। क्रिया का नानात्व प्रत्यक्षसिद्ध है। क्रिया के आश्रयभेद अथवा क्रिया के प्रकारभेद के आधार पर क्रियाभेद किया जा सकता है। शुक्र से भिन्न ग्रह होने से मङ्गल की सूर्यपरिक्रमा

---

३९. *न्यायमञ्जरी,* प्रथम भाग, पृ. २०१ द्रष्टव्य है।

४०. "नापि क्रियैव कालः, तद्विशेषणत्वात्, परिमाणादिवत्। यथैषामेकं परिमाणम्; एतेषां भिन्नं परिमाणत्वम्, तथैषामेकः कालः एतेषां भिन्नकालत्वमिति प्रतीतिः।" *न्यायभूषण,* पृ. ५९३

४१. "द्रव्यत्वमप्यनेनैव प्रत्युक्तम्। कालस्य क्रियाविशेषणत्वेन परिमाणादिवत्प्रतिभासमानादनाश्रितत्वमसिद्धम्।" *न्यायभूषण,* पृ.५९३

शुक्र की सूर्यपरिक्रमा से भिन्न है। क्रिया के प्रकारभेद के कारण एक कोयल की कूजनक्रिया उसके उड़ने की क्रिया से भिन्न है। जब सूर्य के चारों ओर पृथिवी की एक पूर्ण परिक्रमा से अन्य एक पूर्ण परिक्रमा का भेद खगोलपिण्डों की स्थिति के आधार पर करना सम्भव नहीं होता है, तब केवल संवत्सर भेद अर्थात् पूर्वापरीभाव रूपी काल भेद के आधार पर ही परिक्रमा में भेद किया जा सकता है। परन्तु कालभेद परम्परागत मतानुसार काल की क्रियारूपी उपाधि के भेद पर आश्रित है। यहाँ पर परस्पराश्रयदोष अपरिहार्य है। भासर्वज्ञ उपर्युक्त परस्पराश्रयता को निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं–

> ... कः पुनरत्रोपाधिभेदः? क्रियाभेद एवेति चेत्, ननु युगपत्कृतमित्यत्रापि क्रियाभेदोऽस्त्येव, किमित्ययुगपत्प्रत्ययो न भवति?
>
> क्रमभाविक्रियाभेदः कालभेदव्यवहारहेतुरिति चेत्, क्रमभाव इति कोऽर्थ? युगपदनुत्पादः। युगपदनुत्पाद इति कोऽर्थः? एकस्मिन् कालेऽनुत्पादः। नन्वेवमितरेतराश्रयप्रसङ्गः– यावन्न कालस्य भेदः सिध्यति, तावन्न क्रियाणां भिन्नकालोत्पादलक्षणः क्रमः सिध्यति। यावच्च क्रियाणां न क्रमभावः सिध्यति, तावन्न कालस्योपाधिभेदाद् भेदः सिध्यतीति। तस्मात् क्रियाधर्म एव कश्चिद् क्षणपर्यायः कालशब्दस्यार्थः। (*न्यायभूषण*, पृ. ५९२)
>
> [उपाधि भेद का स्वरूप क्या है? यदि क्रियाभेद ही उपाधिभेद है, तब युगपत् कृत क्रियाओं के स्थल में (आश्रय भेद से) क्रियाभेद होने पर भी अयुगपद् व्यवहार क्यों नहीं होता है? यदि यह कहा जाये कि क्रमभावी क्रियाओं का भेद ही कालभेदव्यवहार का हेतु है, तो प्रश्न उठता है कि क्रमभाव का वास्तविक अर्थ क्या है? यदि युगपत् उत्पन्न न होना ही क्रमभाव का अर्थ है तो युगपत् उत्पन्न न होने का अर्थ क्या है? एक ही काल में उत्पन्न न होना। तब तो परस्पराश्रय का प्रसङ्ग अपरिहार्य है। जब तक कालभेदसिद्ध नहीं होता है, तब तक भिन्न काल में उत्पन्न होने के कारण क्रियाओं का पूर्वापरीभाव अर्थात् क्रमभावित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। (पुनश्च) जब तक क्रियाओं का पूर्वापरीभाव अर्थात् क्रमभावित्व सिद्ध नहीं होता है तब तक क्रियारूपी उपाधिभेद के आधार पर काल का भेद सिद्ध नहीं होता है। अतः काल (वस्तुतः) क्रिया का क्षणरूपी धर्म है।]

कार्यकारण सम्बन्ध का निरूपण, भावपदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाशों के पूर्वापरीभाव के बिना अर्थात् कालिक क्रम के निरूपण के बिना सम्भव नहीं है। कालिक क्रम एक विशेष प्रकार का क्रम है। प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव कालिक क्रम की अपेक्षा रखते हैं। क्रिया के आश्रयरूपी मूर्तद्रव्य के प्रत्यक्षग्राह्यत्व, उसके वेग तथा प्रमाता से क्रियाश्रय का दूरत्व आदि पर क्रिया का प्रत्यक्ष निर्भर करता है।[४२] क्रिया को प्रत्यक्ष का अविषय एवं केवल संयोग-विभागरूपी हेतु से अनुमानगम्य मानना अनुभव तथा युक्तिविरुद्ध है।[४३]

३.४ दैशिक एवं कालिक क्रमों की प्रत्यक्षग्राह्यता

क्रिया के प्रत्यक्ष के साथ-साथ कालिक क्रम भी प्रत्यक्ष के विषय के रूप में गृहीत होता है, अन्यथा क्रियासन्तान का ग्रहण सम्भव नहीं होता। एक अनतिदीर्घ खण्डरेखा पर पङ्क्तिबद्ध मूर्तद्रव्यों का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है। यह प्रत्यक्ष पङ्क्तिघटक मूर्तद्रव्यों के समूहालम्बन प्रत्यक्ष से भिन्न है, क्योंकि पङ्क्तिबद्ध मूर्तद्रव्यों के प्रत्यक्ष में वाम-दक्षिणादि सम्बन्ध तथा साक्षात् पूर्ववर्तित्व, साक्षात् परवर्तित्व, मध्यवर्तित्वादि दैशिकक्रममूलक सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत होते हैं। लिपिबद्ध एक पद का चाक्षुष प्रत्यक्ष पदघटकवर्णों के क्रम के प्रत्यक्ष के बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्यथा चाक्षुष प्रत्यक्ष से 'अमूल' एवं 'अलम्' अथवा 'शुक्लूअ' एवं शुल्क्अ' का भेद ग्रहण सम्भव नहीं होता। लिपिबद्ध पदों के चाक्षुष प्रत्यक्ष से, पदघटक लिपिबद्ध वर्णों के दैशिकक्रमग्रहण के अनुरूप पदों के श्रावणप्रत्यक्ष में पदघटक वर्णों के उच्चारणों का कालिकक्रमग्रहण अपेक्षित है।

---

४२. (क) "सङ्ख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपि-द्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि।" *वैशेषिकसूत्र* ४.१.१२, गायकवाड़ प्राच्यग्रन्थमाला संस्करण, पृ.३३

(ख) "सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वस्नेहत्वद्रवत्ववेगकर्मणां प्रत्यक्षद्रव्यसमवायाच्चक्षुस्पर्शनाभ्यां ग्रहणम्।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ.४६०-४६२

४३. प्राभाकरमीमांसकों का क्रियानुमानवाद तथा उसके खण्डन के लिये देखिये *प्रकरणपञ्चिका,* पृ.२१५-२१८, *न्यायकन्दली,* पृ.४६०-४६२, *न्यायमञ्जरी* प्रथम भाग, पृ. १९४-१९७, *मानमेयोदय* प्रमेय खण्ड, पृ.२६१-२६७

अन्य शब्दों में, उच्चरित पदों के श्रावण प्रत्यक्ष के विषय के रूप में पदघटक वर्णों का कालिक क्रम भी प्रविष्ट होता है, अन्यथा श्रावण प्रत्यक्ष से 'नकृअ' एवं 'नरकुअ' का भेद ग्रहण सम्भव नहीं होता। अतः यह स्वीकार करना आवश्यक है कि दैशिक तथा कालिक क्रम प्रत्यक्षग्राह्य हैं।[४४]

ज्ञानों की उत्पत्ति पङ्क्ति रूपी कालिक क्रम में होती है। उसी प्रकार प्रयत्नों की उत्पत्ति भी कालिक पङ्क्ति क्रम से होती है। ज्ञान का अयौगपद्य एवं प्रयत्न का अयौगपद्य अनुभवसिद्ध तथ्य के रूप में न्यायवैशेषिक परम्परा में अङ्गीकृत हैं।[४५] ज्ञानायौगपद्यसिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी कालिक क्रम का प्रत्यक्षग्राह्यत्व बाधित नहीं होता है, क्योंकि जिस प्रकार 'रक्तपुष्पवती लता' द्वारा अभिलपित (अभिव्यक्त) विशिष्ट ज्ञान के विषय के रूप में लता, पुष्प एवं रक्तरूप विशेष्य विशेषण भावापन्न होकर भासित होते हैं, उसी प्रकार नानावर्ण घटित पद के श्रावण प्रत्यक्ष को तत् तत् अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण विशिष्ट अन्त्यवर्ण के ग्रहण के रूप में देखा जा सकता है। यह अवश्य सत्य है कि अन्त्यवर्ण के श्रावणप्रत्यक्ष के समय पद का आद्य वर्ण विद्यमान नहीं रहता है। परन्तु प्रत्यक्ष के सभी विषयों में भूतकालिक धर्मों से विशिष्ट होकर भासित होने की योग्यता अस्वीकार करने पर प्रत्यभिज्ञा के यथार्थत्व की रक्षा करना सम्भव नहीं है। अतः वस्तुस्वभाव के आधार पर ही कालिकक्रम की प्रत्यक्षग्राह्यता स्वीकार्य है।

३.५ खण्डकालों की परिमाणनिरूपणव्यवस्था

वस्तुतः जगत् में घटनाओं के यौगपद्य-अयौगपद्यादि का निर्णय केवल उन घटनाविषयक ज्ञान के यौगपद्य-अयौगपद्य के आधार पर करना सम्भव

---

४४. क्रम की श्रवणेन्द्रियग्राह्यताविषयक भासर्वज्ञ का मत उनके निम्नोद्धृत ग्रन्थांश से स्पष्ट है– "श्रोत्रेणैकैकं गृहीत्वा युगपन्मनसा गृह्णातीति चेत्, न; प्रमाणाभावात्। तदाशुभावित्वान्मिथ्याऽभिमानः शतपत्रभेदवत्। विलम्ब्यबिलम्ब्योरुच्चारणे च तथाऽभिमानोऽपि नास्ति, क्रमप्रतिपत्तिरप्यस्ति। तस्मात् पूर्वग्रहणोपकृतबाह्येन्द्रियेणापि क्रमो गृह्यत इति।" *न्यायभूषण*, पृ.२७८

४५. (क) "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।" *न्यायसूत्र* १.१.१६, पृ.३३

(ख) "प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकं मनः।" *वैशेषिकसूत्र* ३.२.३ गायकवाड़ प्राच्यग्रन्थमाला संस्करण, पृ.२८

नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ प्राप्यकारी होती हैं। रश्मियों की गति का वेग, रिक्त प्रदेशों में सर्वथा अपरिवर्तित रहता है। सूर्य एवं तारा प्रभृति रश्मियों की उत्पत्ति के स्रोत हैं जबकि ग्रह एवं चन्द्रमादि रश्मियों को केवल प्रतिफलित करते हैं। अतः रश्मियों की उत्पत्ति अथवा प्रतिफलन-स्थलों के दूरत्वभेद के कारण प्रत्यक्ष में पृथ्वी पर भासित ग्रह-नक्षत्रादि में घटित घटनाओं के यौगपद्यादि के ज्ञान, उन घटनाओं के वास्तविक कालिक सम्बन्ध का परिचायक नहीं हो पाते हैं। उदाहरणस्वरूप चन्द्रमा एवं सन्निकृष्ट रोहिणी नक्षत्र के चाक्षुष प्रत्यक्ष युगपत् होने पर भी चन्द्रमा पर सूर्य की प्रतिफलित रश्मि के हमारे नयन तक पहुँचने की कालावधि रोहिणी नक्षत्र में उत्पन्न रश्मियों के हमारे नयन तक पहुँचने की कालावधि की तुलना में नगण्य है। जब कोई व्यक्ति एक पेड़ कुल्हाड़ी से काटता है, तो दूरस्थ व्यक्ति द्वारा कुल्हाड़ी के पेड़ पर प्रहार के चाक्षुष प्रत्यक्ष तथा पेड़ पर कुल्हाड़ी के अभिघात रूपी संयोग से उत्पन्न शब्दसन्तान के श्रावण प्रत्यक्ष के बीच कालिक व्यवधान, कुल्हाड़ी प्रहार एवं शब्दसन्तान के प्रारम्भ के कालिक व्यवधान से अनेक गुणा अधिक होता है। उसी प्रकार पृथिवी से बादलों पर विद्युत् का चाक्षुष प्रत्यक्ष तथा मेघगर्जन के श्रवण में कालिक व्यवधान, बादलों पर उन दोनों घटनाओं के व्यवधान से अधिक होता है। वायु में शब्दसञ्चरण का वेग रश्मियों के वेग की तुलना में अत्यल्प होने से अतिदूरस्थ घटनाओं के वास्तविक कालिक व्यवधान से, उनके श्रावण प्रत्यक्ष तथा चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान का कालिक व्यवधान अधिक होता है।

जिस प्रकार किसी देवालय अथवा प्रासाद में स्तम्भों के चाक्षुष प्रत्यक्ष से उनकी ऊँचाईयों की समानता एवं न्यूनाधिकत्व का ज्ञान होता है उसी प्रकार क्रियाओं के प्रत्यक्ष से उनके कालावधियों की समानता एवं न्यूनाधिकत्व का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है कि एक ही ऊँचाई से दो गेंद गिराये जाने पर पृथिवी पर वे एक साथ पहुँचती है, अर्थात् उनकी पतन क्रियाओं की कालावधि समान है। अल्प दूरी की दौड़ प्रतियोगिता में भिन्न-भिन्न प्रतियोगियों की धावन क्रियाओं की कालावधियों का न्यूनाधिकत्व हम प्रत्यक्ष से ग्रहण करते हैं। खण्डकाल, क्रियाओं का एवं सामान्य रूप में जन्यभाव पदार्थों का परिमेय धर्म है। जिस प्रकार लम्बाई रूपी परिमाण का न्यूनाधिकत्व एवं समानता का स्थूल ज्ञान, प्रत्यक्ष से सम्भव होने पर भी लम्बाई रूपी परिमाण की परिष्कृत

व्यवस्था, मीटर आदि इकाई के चयन तथा परिमाणमापक सङ्ख्यातन्त्र की अपेक्षा रखती है, उसी प्रकार खण्डकालरूपी क्रियानिष्ठ धर्म की परिमाण व्यवस्था भी कालिक इकाई एवं सङ्ख्याओं की अपेक्षा रखती है। कालिक इकाई के रूप में किसी भी पुनरावृत्तिशील क्रिया (जिसकी कालावधि क्रिया की पुनरावृत्ति होने पर भी सर्वदा अपरिवर्तित रहती है) के द्वारा निरूपित खण्डकाल को लिया जा सकता है। लोकव्यवहार में सूर्य के चारों ओर पृथिवी द्वारा अपनी कक्षा में एक पूर्ण परिक्रमा रूपी क्रिया द्वारा एक सौरसंवत्सरसंज्ञक खण्डकाल निरूपित होता है। भासर्वज्ञ क्षण को न्यूनतम परिमेय कालावधि के रूप में स्वीकार करते हैं।[४६] क्षणों की परिमित पङ्क्ति रूपी समाहार से निमेषादि खण्डकालों की व्यवस्था सम्भव है।

३.६ भासर्वज्ञ के द्वारा दिक् एवं काल की साधारणनिमित्तकारणता का खण्डन

भासर्वज्ञ के मत में दिक् एवं काल में कार्यमात्र की निमित्तकारणता को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कार्यमात्र के प्रति निमित्तकारणता से भिन्न, दैशिक परत्व-अपरत्वादि प्रतीतियों के प्रति दिक् की असाधारण निमित्तकारणता तथा यौगपद्य-अयौगपद्यादि प्रतीतियों के प्रति काल की असाधारण निमित्तकारणता स्वीकार करना निराधार है।[४७] एक ही कारणात्मक पदार्थ की अन्य एक कार्य पदार्थ के प्रति साधारण तथा असाधारण निमित्तकारणता कैसे सम्भव है? देश या काल के कार्य विशेष के प्रति आत्मभेद सम्भव नहीं है। इस स्थिति में, ईश्वर की कार्यमात्र के प्रति निमित्तकारणता तन्त्र में स्वीकृत होने से दिक् एवं काल वस्तुतः ईश्वर से अभिन्न हो जाते हैं।[४८]

---

४६. "यतो नाल्पतरं परिमाणं, तत् परमाणुत्वम्, तथा यतो नाल्पतरः कालः, स क्षण इति।" *न्यायभूषण,* पृ.५९३

४७. "न हि कालस्य दिशो वा कार्यविशेषं प्रति आत्मभेदोऽस्ति, अभिन्ने च आत्मना सर्वकार्यनिमित्तत्वे महेश्वरवत् कथं क्वचिदसाधारणत्वम्।" *न्यायभूषण,* पृ.५९१

४८. (क) "अथैकस्येवेत्थं स्वभावोऽभ्युपगम्यते– येन केषाञ्चिदुत्पत्तौ साधारणं निमित्तं भवति केषाञ्चिदसाधारणमिति। तथापि न किञ्चित्कालकल्पनया, महेश्वरस्यैव तथा स्वभावः कल्प्यताम्। तस्य हि जगन्निमित्तत्वं साधितम्। दिक्कालयोस्तु न सर्वकार्यनिमित्तत्वेऽस्ति प्रमाणम्।" *न्यायभूषण,* पृ.५९१

३.७ रघुनाथ शिरोमणि के द्वारा प्रस्तुत काल के स्वतन्त्रद्रव्यत्वखण्डन पर टिप्पणी

रघुनाथ शिरोमणि के मत में,[४९] दिक् एवं काल के स्वतन्त्र द्रव्यत्व की सिद्धि के लिये पूर्वाचार्यों द्वारा दी गई युक्तियों से वस्तुतः उनका स्वतन्त्र द्रव्यत्व सिद्ध नहीं होता है। उनके मत में, ईश्वर से दिक् एवं काल को अभिन्न मानने पर भी उपाधिभेद से दैशिक एवं कालिक प्रतीतियों की उपपत्ति होती है। रघुनाथ के द्वारा अभिप्रेत लाघव वाञ्छनीय होने पर भी उनकी स्थापनाप्रक्रिया, कालिक सम्प्रत्ययों के विश्लेषण एवं क्रिया तथा काल के सम्बन्ध-विवेचन पर आश्रित नहीं होने से तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। पुनश्च उनका अभिप्रेत लाघव, भासर्वज्ञ के द्वारा काल के द्रव्यत्व-खण्डन से भी प्राप्त होने के कारण, भासर्वज्ञ का पक्ष ही अधिक युक्तिसङ्गत है।

४. क्षण का स्वतन्त्रपदार्थत्वविषयक विचार

४.१ भासर्वज्ञ के काल सिद्धान्त में क्षण की पदार्थकोटिविषयक समस्या

भासर्वज्ञ क्रिया के धर्म के रूप में न्यूनतम परिमाण विशिष्ट खण्डकाल क्षण को स्वीकार करते हैं। भासर्वज्ञ के कालविषयक विचारों को व्यवस्थित करने के लिये क्षण पदार्थ की तत्त्वमीमांसीय कोटि के बारे में विचार करना आवश्यक है। क्षण स्वभावतः अनित्य होने से जातिकोटि में नहीं रखा जा सकता है। क्रियाश्रित धर्म होने से क्षण द्रव्य, गुण अथवा क्रियाकोटि का पदार्थ नहीं हो सकता है। अनुयोगी एवं प्रतियोगी पदार्थ की अपेक्षा न रखने से क्षण संसर्गात्मक पदार्थ नहीं हो सकता है एवं

(ख) अपि च यदि उपादानाद्यभिज्ञस्य कालस्य दिशो वा जगन्निमित्तत्वमिष्टम्, तदा महेश्वर एव नामान्तरेणोक्तः स्यात्।" *न्यायभूषण,* पृ.५९३

यहाँ पर स्मरण करना प्रासङ्गिक होगा कि सम्भवतः गौतम एवं वात्स्यायन भी दिक् एवं काल की साधारण निमित्तकारणता स्वीकार नहीं करते हैं। इस विषय में "दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः।" *न्यायसूत्र* २.१.२२ तथा उस पर भाष्य द्रष्टव्य है।

४९. "दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते मानाभावात्। तत्तन्निमित्तविशेषसमवधानवशादीश्वरादेव तत्तत्कार्यविशेषाणामुपपत्तेः। परेषामेकैकस्माददिगादेरिव विलक्षणानां प्राच्यादि-व्यवहाराणामिति।" *पदार्थतत्त्वनिरूपण,* पृ.२

इस हेतु समवाय से भिन्न है। क्षण का निरूपण किसी प्रतियोगी के निरूपणाधीन नहीं होने से क्षण अभाव कोटि का पदार्थ नहीं हो सकता है। एक ही क्षण युगपद् वर्तमान सभी क्रियाओं के धर्म के रूप में ही भासित होता है। वह अपने आश्रय को सजातीय आश्रयों से एकान्त रूप में व्यावर्तित नहीं करता है। अतः वह अन्त्यविशेष कोटि का पदार्थ भी नहीं हो सकता है। अतः क्षण को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। *पदार्थतत्त्वनिरूपण* में रघुनाथ शिरोमणि क्षण को एक स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं।[५०] रघुनाथप्रतिपादित क्षण का स्वतन्त्रपदार्थविषयक सिद्धान्त भासर्वज्ञ के कालविषयक विचार से न केवल सङ्गत है अपितु उनके विचार को आगे बढाता है।

४.२ क्षण का स्वरूपविषयक परम्परागत मत

न्यायवैशेषिक परम्परा में क्षण एक परिभाषित तत्त्व के रूप में अङ्गीकृत है। क्रिया, अवश्यम्भावी रूप में अपने आश्रय में देश विशेष से विभाग उत्पन्न करने के अनन्तर, देशान्तर के साथ उस आश्रय का संयोग उत्पन्न करती है। अर्थात् क्रिया अवश्य स्वाश्रय का स्थानान्तरण उत्पन्न करती है। अपने आश्रय में देशविशेष से विभाग उत्पन्न करने के पहले क्रिया का स्वाश्रय में उत्पन्न होना आवश्यक है। इसीलिये *स्वजन्यविभागप्रागभाव-विशिष्टक्रिया* को ही क्षण के रूप में लिया गया है।

रघुनाथशिरोमणि क्षण का निम्नोक्त लक्षण देते हैं–

"क्षणश्च स्वाधेयपदार्थप्रागभावानाधारसमयः" (*आत्मतत्त्वविवेक-दीधिति*, पृ. २५)

[वही खण्डकाल क्षण है जो अपने किसी भी आधेय पदार्थ के प्रागभाव का कालिक अधिकरण नहीं होता है।]

अन्य शब्दों में, जिस खण्डकाल में एक पदार्थ तथा उसका प्रागभाव उभय रह जाते हैं वह क्षण नहीं हो सकता है। वस्तुतः जिस प्रकार संयोग सम्बन्ध विशेषों से भूतल घट का एवं घट जल के अधिकरण होते हैं तथा समवाय सम्बन्ध से एक फूल उसकी सुगन्ध का अधिकरण होता है, उसी प्रकार एक खण्डकाल को, उस खण्डकाल में अवस्थित

---

५०. "क्षणश्च क्षणिकोऽतिरिक्तः कालोपाधिः।" *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ. ३३

पदार्थों के कालिक सम्बन्ध से अधिकरण के रूप में देखा जा सकता है। क्षण के प्रथमोक्त लक्षण के अनुसार स्वजन्य विभाग प्रागभाव विशिष्ट क्रिया ही क्षण पदार्थ है। वस्तुतः क्षण, निमेष, प्रहरादि खण्डकाल क्रियाश्रित धर्म के रूप में अनुभव के विषय होते हैं, न कि क्रिया के एक या एकाधिक सोपान के रूप में। रघुनाथ के द्वारा दिया गया क्षण का लक्षण खण्डकाल, कालिक अधिकरणता तथा प्रागभाव रूपी पदार्थ से घटित है। प्रागभाव पदार्थ कालिक पूर्ववर्तित्वरूपी क्रमघटित है। अतः क्षण का उपर्युक्त लक्षण कालेतर पदार्थों में उसका अन्तर्भूत होना सिद्ध नहीं करता है। सम्भवतः इसीलिये रघुनाथ ने क्षण को स्वतन्त्रपदार्थ के रूप में स्वीकार किया। भासर्वज्ञ काल के द्रव्यत्व का खण्डन करते हुए क्षण को न्यूनतम कालावधि स्वरूप क्रियाश्रित धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः उनके लिये क्षण का स्वरूपनिरूपण इस प्रकार से करना आवश्यक है कि जिसके आधार पर समस्त कालिक सम्प्रत्ययों को व्यवस्थित किया जा सके।

४.३ क्षणों की अनादि एवं अनन्त पङ्क्ति के रूप में काल

क्षण पदार्थ का क्षणिकत्व स्वीकार न करने पर उसका क्षणत्व बाधित होता है। रघुनाथ के मत में एक पदार्थ केवल उसी स्थिति में क्षणिक है यदि वह अपने अधिकरणकाल के प्रागभाव के अधिकरण क्षण में नहीं रहता है।[५१] प्रत्येक खण्डकाल एकाधिक क्षणों की एक परिमित पङ्क्ति है जिसके आद्य तथा अन्त्य क्षण होते हैं। जिस प्रकार एकाधिक वर्णों का परिमित अनुक्रम विशिष्ट एक पद के आद्यवर्ण से भिन्न प्रत्येक वर्ण का एक एवं एकमात्र अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण होता है तथा अन्त्यवर्ण से भिन्न प्रत्येक वर्ण का एक एवं एकमात्र अव्यवहित परवर्ती वर्ण होता है, उसी प्रकार एकाधिक क्षणों की परिमित पङ्क्ति रूपी एक खण्डकाल का आद्य क्षण से भिन्न प्रत्येक क्षण का एक एवं एकमात्र अव्यवहित पूर्ववर्ती क्षण होता है तथा अन्त्यक्षण से भिन्न प्रत्येक क्षण का एक एवं एकमात्र अव्यवहित परवर्ती क्षण होता है। परन्तु खण्डकाल क्रिया का धर्म होने से एवं एक क्रिया की उत्पत्ति

---

५१. "स्वाधिकरणसमयप्रागभावाधिकरणक्षणावृत्तित्वं क्षणिकत्वम्।" *आत्मतत्त्वविवेक-दीधिति*, पृ.२५

अन्य कारण सामग्री तथा कारक व्यापारों की अपेक्षा रखने से उस कारक व्यापार को भी खण्डकाल धर्म से विशिष्ट मानना होगा। उस व्यापाराश्रित खण्डकाल अर्थात् कालिकसम्बन्ध से आधेयभूत उस व्यापार का आधार रूपी खण्डकाल का अन्त्यक्षण, कार्यभूत क्रियाश्रित खण्डकाल के आद्यक्षण के अव्यवहित पूर्ववर्ती क्षण के रूप में गृहीत किया जा सकता है।

वस्तुतः सचेतन प्राणी से जन्य क्रियाओं के जनक ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नादि, आत्मनिष्ठ धर्मों की उत्पत्ति भी प्राणिशरीरावयवों में व्यापार की अपेक्षा रखती हैं, अन्यथा अशरीरी आत्मा में ज्ञान-सुखादि की उत्पत्ति का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। अतः प्रत्येक खण्डकाल का अन्य एक अव्यवहित पूर्ववर्ती खण्डकाल स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा जगत् में आकस्मिकत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। फलतः प्रत्येक क्षण का एक अव्यवहित पूर्ववर्ती क्षण अवश्य है। मूर्तद्रव्यनिष्ठ रूपरसादि धर्म उत्पन्न विनाशशील व्यक्तिभूत पदार्थ होते हैं, न कि सामान्य धर्मरूपी। परन्तु एक ही क्षण अनेक क्रियाओं के धर्म के रूप में भासित होता है, न कि नील पीतादि जैसे एकव्यक्तिवृत्तिक धर्म के रूप में, अन्यथा यौगपद्य का प्रत्यय सम्भव नहीं होता। एक क्षण के सभी सम्भाव्य अव्यवहित पूर्ववर्ती क्षण अवश्य युगपत् ही होंगे। उसी प्रकार एक क्षण के सभी सम्भाव्य अव्यवहित उत्तरवर्ती क्षण भी अवश्य युगपत् ही होंगे। परन्तु दो परस्पर भिन्न क्षणों को युगपत् कहना स्ववचनविरोधी होगा। अतः एक क्षण का एकाधिक अव्यवहित पूर्ववर्ती क्षण अथवा एकाधिक उत्तरवर्ती क्षण सम्भव नहीं है। मूर्तद्रव्यनिष्ठ क्रिया में अभिव्यक्त शक्ति का निरन्वय ध्वंस न होकर केवल रूपान्तरण मात्र होने से जगत् में क्रिया का अत्यन्ताभाव सम्भव नहीं है। अतः प्रत्येक खण्डकाल का एक अव्यवहित परवर्ती खण्डकाल तथा प्रत्येक क्षण का एक अव्यवहित उत्तरवर्ती क्षण अवश्य होता है।

इस प्रकार भासर्वज्ञ द्वारा प्रदर्शित मार्ग से चलने पर द्रव्यात्मक एक महाकाल के स्थान पर क्षणरूपी क्रिया धर्मों के एक एवं एकमात्र अनादि तथा अनन्त पङ्क्ति प्राप्त होती है। क्षणों की उपर्युक्त अनादि एवं अनन्त पङ्क्ति (अनुक्रम) न्यूनतरत्व सम्बन्ध से व्यूहबद्ध ऋणात्मक, शून्य तथा धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं के सङ्घात के साथ समानाकार है। वस्तुतः दोनों अनुक्रम अनादि एवं अनन्त हैं, एवं क्षणों के बीच पूर्ववर्तित्व (उत्तरवर्तित्व) सम्बन्ध तथा पूर्ण सङ्ख्याओं के बीच न्यूनतरत्व (बृहत्तरत्व)

सम्बन्ध यथाक्रम कालिक अव्यवहित पूर्ववर्तित्व (अव्यवहित उत्तरवर्तित्व) एवं एकोनत्व (एकाधिकत्व) सम्बन्धों के परम्परा सम्बन्ध के रूप में प्राप्त होते हैं। कालिक पूर्ववर्तित्व (उत्तरवर्तित्व) तथा न्यूनतरत्व (बृहत्तरत्व) सम्बन्ध पङ्क्तिजनक क्रम सम्बन्ध के उदाहरण हैं।

४.४ क्रमनियामक सम्बन्धों का स्वरूप

क्रियासन्तान तथा वर्णानुक्रमरूपी पदों की श्रोत्रग्राह्यता से क्रम का प्रत्यक्षग्राह्यत्व सिद्ध होता है। श्रावण प्रत्यक्ष में प्रतीयमान वर्णों के क्रम की स्वरूपविषयक न्यायलीलावतीकार की उक्ति को स्पष्ट करते हुए वर्धमान उपाध्याय कहते हैं कि उत्तरवर्ण समानकालीन पूर्ववर्ण का ध्वंस प्रतियोगित्व ही क्रम है, क्योंकि विशेषण ज्ञान के बिना विशिष्ट ज्ञान सम्भव नहीं है एवं पदों के श्रावण प्रत्यक्ष में उत्तरवर्ण का पूर्ववर्णध्वंससाहचर्य रूपी क्रम प्रतीत होता है।[५२] वस्तुतः दैशिक, कालिक तथा सङ्ख्याओं के न्यूनतरत्वादि विभिन्न क्रम सम्बन्धों की स्वरूपविषयक शास्त्रीय व्यवस्था तत्त्वमीमांसा में समुच्चय (सङ्घात, समुदाय) रूपी पदार्थों के लिये एक कोटि स्वीकार करने पर ही हो पाती है। क्रम का पदार्थत्व सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है।

क्रम को प्रभाकरमीमांसा के नवम पदार्थ के रूप में *प्रकरणपञ्चिका* के न्यायसिद्धिटीकाकार जयपुरिनारायणभट्ट स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अनेक पदार्थों की वितति ही क्रम है तथा पूर्वपरदिग्विषयक एवं कालविषयक ज्ञाननिरपेक्ष रूप में अनेक पदार्थाश्रिता वितति की प्रतीति सम्भव होने से क्रम पौर्वापर्य से भिन्न है।[५३] वस्तुतः वितति दिक् एवं कालनिरपेक्ष पौर्वापर्यभाव की अपेक्षा रखती है। पौर्वापर्यभाव स्वरूपतः न तो दैशिक है, न कालिक है। जिस प्रकार आधारता एवं आधेयता में तथा स्वत्व एवं स्वामित्व

---

५२. "उत्तरवर्णध्वंसमानकालध्वंसप्रतियोगित्वं पूर्ववर्णस्येति यावत्। तत एवेति। यत एव पूर्ववर्णध्वंससाहचर्यलक्षणः क्रमः श्रोत्रेण प्रतीयत इत्यर्थः। विशेषणज्ञानं विना विशिष्टज्ञानाभावात्।" *न्यायलीलावतीप्रकाश,* पृ.६७२-६७३

५३. "क्रमो नाम पदार्थानां विततिरेव। ननु तर्हि विततिरपि पौर्वापर्यान्नातिरिच्यते। मैवम्। पौर्वापर्याद् विततिर्भिन्नैव। तथाहि– द्वितीयमात्रापेक्षयैकैकपदार्थवर्ति पौर्वापर्यम्। विततिस्तु अनेकाश्रये केवलसङ्ख्यावत्। तथा पूर्वापरदिक्कालताविरहेऽनवधारितेऽपि देशतः पूर्वपरत्वे परस्परसन्निहितदेशस्थद्रव्याणां वितत्यनुगतेश्च पौर्वापर्याद् वितानस्य भेदः सिद्ध।" *न्यायसिद्धि*, पृ.८२ (पृ.७८ भी द्रष्टव्य है)

में परस्पर निरूप्य-निरूपक भाव है उसी प्रकार पूर्ववर्तित्व एवं परवर्तित्व में परस्पर निरूप्य-निरूपक भाव है। a, b का *पूर्ववर्ती* है (प्रतीक में '$a \prec b$') यदि एवं केवल यदि b, a का *परवर्ती* है (प्रतीक में '$b \succ a$')। पूर्ववर्तित्व सम्बन्ध का निम्नलिखित धर्म अनुभवसिद्ध हैं–

(१) यदि ($a \prec b$) तो ($a \neq b$), अर्थात् पूर्ववर्तित्व सम्बन्ध भेदसम्बन्धव्याप्य है।

(२) यदि ($a \prec b$) एवं ($b \prec c$), तो ($a \prec c$), अर्थात् पूर्ववर्तित्व सम्बन्ध का परम्परा सम्बन्ध वह स्वयं ही है।

a, b का *अव्यवहित पूर्ववर्ती* है (प्रतीक में '$a \lessdot b$') यदि एवं केवल यदि $a \prec b$, परन्तु ऐसा कोई पदार्थ c नहीं है जो a एवं b का मध्यवर्ती है, अर्थात् जिसके लिये यह कहना सत्य है कि $a \prec c$ एवं $c \prec b$ । b, a का *अव्यवहित परवर्ती* है (प्रतीक में '$b \gtrdot a$') यदि एवं केवल यदि $a \lessdot b$ अर्थात् a, b का अव्यवहित पूर्ववर्ती है। किसी भी प्रजाति के प्राणियों में पूर्वजत्व सम्बन्ध तथा परस्पर भिन्न धर्मों में व्याप्यत्व सम्बन्ध पूर्ववर्तित्व सम्बन्ध के उदाहरण हैं।

यह अनुभवसिद्ध है कि कोई भी पदार्थ स्वयं का पूर्ववर्ती नहीं होता है। पुनश्च यदि a, b का पूर्ववर्ती है, तो b, a का पूर्ववर्ती नहीं हो सकता है। वस्तुतः उपर्युक्त दो धर्म (१) एवं (२) से निगमित होते हैं। परवर्तित्व सम्बन्ध की परिभाषा से उपर्युक्त पूर्ववर्तित्वसम्बन्धनिष्ठ सारे धर्मों का परवर्तित्वसम्बन्धनिष्ठत्व भी सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु कनिष्ठत्व ज्येष्ठत्व जैसे कालिक पूर्ववर्तित्व एवं परवर्तित्व सम्बन्ध अथवा न्यूनतरत्व, बृहत्तरत्व जैसे सङ्ख्यानिष्ठ पूर्ववर्तित्व एवं परवर्तित्व सम्बन्ध जो कि वस्तुतः पङ्क्तिजनक होते हैं, केवल उपर्युक्त धर्म (१) एवं (२) के द्वारा निरूपित नहीं होते हैं, अपितु निम्नोक्त अतिरिक्त धर्म की अपेक्षा रखते हैं।

(३) यदि ($a \neq b$), तो ($a \prec b$) अथवा ($b \prec a$); अर्थात् दो भिन्न पदार्थों में से एक अवश्य अपर का पूर्ववर्ती होता है। उसी प्रकार एक परवर्तित्व सम्बन्ध पङ्क्तिजनक होने के लिये यह आवश्यक है कि दो भिन्न पदार्थों में से एक अवश्य अपर से परवर्ती हो।

पूर्ववर्तित्व एवं परवर्तित्व तथा पङ्क्तिक्रमजनक पूर्ववर्तित्व एवं परवर्तित्व सम्बन्धों के उपर्युक्त तीन धर्म सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिरूपी अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध होते हैं। पुनश्च, क्षणों के मध्य कालिक पूर्ववर्तित्व सम्बन्ध तथा परवर्तित्व सम्बन्ध तथा पूर्ण सङ्ख्याओं के सङ्घात में न्यूनतरत्व एवं बृहत्तरत्व रूपी पङ्क्तिक्रमजनक सम्बन्ध प्रत्येक पदार्थ के एक अव्यवहित पूर्ववर्ती पदार्थ एवं एक अव्यवहित परवर्ती पदार्थ होने की अपेक्षा रखते हैं। अन्यथा क्षणों की तथा पूर्ण सङ्ख्याओं की अनादि एवं अनन्त पङ्क्ति प्राप्त नहीं होती है। क्षणों की पङ्क्ति का अनन्तत्व स्वीकार न करने पर निरन्वय ध्वंस का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। क्षण पङ्क्ति को सादि मानने पर निर्हेतुक उत्पत्ति का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।[५४]

४.५ वर्तमानत्व, अतीतत्व एवं अनागतत्व के क्षणसापेक्ष लक्षण

क्षणों का अनादि एवं अनन्त अनुक्रम प्राप्त होने के बाद प्रत्येक क्षण की अपेक्षा से अतीतत्व, वर्तमानत्व तथा अनागतत्व रूपी धर्म भी निम्न प्रकार से परिभाषित किये जा सकते हैं। किसी भी क्षण के लिये उस क्षण में विद्यमान सभी जन्यपदार्थनिष्ठ एक उपाधिभूत सामान्य धर्म को उस क्षण द्वारा निरूपित *वर्तमानत्व* धर्म के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। उस क्षण में विद्यमान सभी ध्वंसाभाव के प्रतियोगिनिष्ठ उपाधिभूत सामान्य धर्म को उस क्षण द्वारा निरूपित *अतीतत्व* धर्म के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। उसी प्रकार क्षण में विद्यमान सारे प्रागभावों के प्रतियोगिनिष्ठ उपाधिभूत सामान्य धर्म को, उस क्षण द्वारा निरूपित *अनागतत्व* (*भविष्यत्त्व*) धर्म के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।[५५]

***

५४. प्रतीत होता है कि वैशेषिकतत्त्वमीमांसा के शास्त्रप्रक्रियानिर्वाह के लिये न केवल समुच्चय का अस्तित्व अपितु अनन्तसमुच्चय का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है।

५५. "वर्तमानध्वंसप्रतियोगित्वं हि अतीतत्वम्। वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वं हि अनागतत्वमिति भावः।" *न्यायसूत्र* २.१.४० पर विश्वनाथकृत *न्यायसूत्रवृत्ति*, पृ.१२८

सप्तम अध्याय

पदार्थव्यवस्था में अवयवी तत्त्व की अपरिहार्यता

अवयवों के सङ्घात से अतिरिक्त अवयवी तत्त्व तथा व्यक्तियों से भिन्न जाति तत्त्व के बिना न्यायवैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा की पदार्थ व्यवस्थाओं की स्वरूप कल्पना सम्भव नहीं है। सविकल्पक प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता की समस्या के साथ-साथ अवयवी एवं सामान्य के पदार्थत्व की समस्यायें, क्षणिकवादी, सङ्घातवादी, अपोहवादी बौद्ध दार्शनिकों एवं नित्यवाद की काणादीय परम्परा के दार्शनिकों के मध्य वैचारिक विवाद के प्रमुख बिन्दु रहे हैं। अवयवी के पदार्थत्व एवं प्रत्यक्षविषयत्व, न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में पदार्थसिद्धि की प्रक्रिया का आधार हैं। घट, पट, वृक्षादि स्थूल पदार्थों को प्रत्यक्षसिद्ध तत्त्वों के रूप में स्वीकार न करने पर द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थों की सिद्धि निराधार हो जाती है।[१] न्यायवैशेषिक दर्शन की परिमार्जित पदार्थव्यवस्था

---

१. ''सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः।'' *न्यायसूत्र* २.१.३४, पृ.११७
इस सूत्र का भाष्य में वात्स्यायन लिखते हैं–
''गृह्यन्ते तु कुम्भोऽयं श्याम एको महान् संयुक्तः स्पन्दतेऽस्ति मृण्मयश्चेति सन्ति चेमे धर्मा इति। तेन सर्वस्य ग्रहणात् पश्यामोऽस्ति द्रव्यान्तरभूतोऽवयवीति।''
वात्स्यायनभाष्य, पृ.११७

में रसायन शास्त्र के लिये तत्त्वमीमांसीय आधार प्रस्तुत करने के साथ-साथ बौद्धसमर्थित सङ्घातवाद की अनुपपत्तिग्रस्तता तथा अवयवी तत्त्व की अपरिहार्यता सिद्ध करना ही प्रस्तुत अध्याय का प्रमुख लक्ष्य है। यहाँ विचारविषय के रूप में परमाणुवाद एवं कारणतासिद्धान्त स्वभावतः उपस्थित हुये हैं।

१. परमाणुविषयक विचार

१.१ परम्परागत परमाणुसिद्धि की प्रक्रिया

न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के अवयव-अवयवी के सिद्धान्त को व्यवस्थित तथा परिष्कृत रूप प्रदान करने में परमाणुवाद विशिष्ट भूमिका निभाता है। अवयवी के परिमाण से अवयव का परिमाण अर्थात् कार्यद्रव्य के परिमाण से उसके समवायिकारण का परिमाण अवश्य न्यूनतर होता है।[२] घटपटादि रूपी किसी कार्यद्रव्य से आरम्भ होकर यह अवयव-अवयविधारा यदि परिमितसङ्ख्यक सोपान में समाप्त न होती, तो मूर्तद्रव्यों के परिमाण में न्यून, न्यूनतर, न्यूनतमादि का भेद सम्भव नहीं होता।[३] जन्यद्रव्यों के परिमाण का भेद सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध तथा अबाधित होने से अवश्य स्वीकार्य है। अतः सभी अवयव-अवयविधाराओं की विश्रान्ति परिमितसङ्ख्यक सोपान में होती है– यह स्वीकार करना आवश्यक है। पुनश्च इस धारा की विश्रान्ति निरवयव समवायिकारण रूपी अवयवों में होना आवश्यक है, अन्यथा स्ववचनविरोध का प्रसङ्ग उठता है।

कुमारिल के अनुयायियों ने चक्षुरिन्द्रियग्राह्य न्यूनतम परिमाणविशिष्ट त्रसरेणु (त्रुटि) पर ही अवयव-अवयविधारा की विश्रान्ति स्वीकार की है। उनके मत में उत्पन्न अल्पत्व और महत्त्व सापेक्ष प्रत्यय होने से तथा सूर्य किरणों में वायुस्थ अतिसूक्ष्म धूलिकणों से न्यूनतर परिमाण वाले पदार्थ की प्रत्यक्ष में उपलब्धि न होने से अनुमान के आधार पर उनका सावयवत्व

---

२. (क) "तथा कार्यादल्पपरिमाणं समवायिकारणम्।" *व्योमवती,* पृ.२२४
(ख) "सर्वत्र हि कारणपरिमाणादधिकमेव कार्यपरिमाणं दृश्यते।" *न्यायभूषण,* पृ.१६०

३. "एष ह्यवयवावयविप्रसङ्गो न तावन्निरवधिरेव; अनन्तावयवारब्धत्वाविशेषेण मेरुसर्षपादीनां परिमाणभेदानुपपत्तेः।" *किरणावली,* पृ.३५

सिद्ध नहीं किया जा सकता है।[४] किरणावलीकार के मत में चक्षुरिन्द्रियग्राह्य होने के लिये द्रव्य में महत् परिमाण का होना आवश्यक है, क्योंकि एक मूर्तद्रव्य जितने बड़े परिमाण से विशिष्ट होता है उतना अधिक दूर से दिखाई देता है। कार्यद्रव्य का परिमाणमहत्त्व अवयवों के बहुत्व के बिना सम्भव नहीं है, अन्यथा अवयवों के अपचय एवं उपचय से अवयवी के परिमाण में यथाक्रम ह्रास एवं वृद्धि नहीं होती। न्यायवैशेषिक दार्शनिकों ने त्रसरेणु को तीन द्व्यणुक रूपी अवयवविशिष्ट न्यूनतम महत्परिमाणयुक्त कार्यद्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। प्रत्येक द्व्यणुक पुनश्च दो सजातीय परमाणुओं से उत्पन्न होता है। त्रसरेणु महत्परिमाणविशिष्ट तथा चक्षुरिन्द्रियग्राह्य होने से वह घटपटादि के समान न केवल सावयव है, अपि तु उसके अवयव भी सावयव हैं। इसी से द्व्यणुक एवं परमाणु सिद्ध होते हैं।[५]

बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा उद्भावित परमाणुवाद की तथाकथित विसङ्गतियाँ एवं गौतम, वात्स्यायन, उद्द्योतकर तथा वाचस्पतिमिश्रादि नैयायिकों द्वारा किया गया उनका निराकरण न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।[६]

१.२ भाट्टमीमांसक एवं रघुनाथ शिरोमणि के त्रसरेणु का न्यूनतमपरिमाण-विशिष्टताविषयक मतों की समीक्षा

रघुनाथ शिरोमणि भाट्टमीमांसकों का मार्ग अनुसरण करते हुए द्व्यणुक एवं परमाणुसिद्धि के लिये दिये गये अनुमानों की प्रामाणिकता अस्वीकार करते हैं एवं त्रसरेणु पर ही अवयव-अवयविधारा की विश्रान्ति को युक्तिसङ्गत

---

४. "...आपेक्षिके हि पदार्थानां महत्त्वाल्पत्वे। यद्येतस्मादपि न्यूनपरिमाणः कश्चित् प्रत्यक्षेणोपलभ्येत, तर्हि महानेवायम्। स च नोपलभ्यते। अनुमानं पुनर्योग्यानुपलम्भबाधितत्वादप्रमाणम्।" *मानमेयोदय,* पृ.१५८

५. "त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धौ, त्रसरेणोरवयवाः सावयवाः महदारम्भकत्वात् कपालवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धेः।" *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली,* पृ.११५-११६

६. (क) *न्यायसूत्र*, चतुर्थाध्याय, द्वितीय आह्निक के अवयवावयविप्रकरण तथा निरवयवप्रकरण के सूत्रों पर भाष्य, वार्त्तिक एवं तात्पर्यटीका द्रष्टव्य हैं। *न्यायसूत्र,* द्वितीय अध्याय, प्रथम आह्निक में अवयविपरीक्षाप्रकरण के सूत्रों पर भाष्यादि भी प्रासङ्गिक हैं।

(ख) *क्रिटिक ऑफ इण्डियन रियलिज़्म*, पृ.१५७-१८०

मानते हैं।[७] त्रसरेणु के सावयवत्व तथा उसके अवयवों के सावयवत्व को सिद्ध करने के लिये दिये गये हेतुओं को स्वीकार करने पर परमाणु को भी अनुरूप हेतु के द्वारा सावयव सिद्ध किया जा सकता है– मीमांसकों की यह शङ्का युक्तिसङ्गत होने पर भी चक्षुरिन्द्रियग्राह्य न्यूनतम परिमाणविशिष्ट त्रसरेणु सूक्ष्मतम मूर्तद्रव्य भी हो यह आवश्यक नहीं है। इन्द्रियों की विषयग्रहण शक्ति की सीमायें प्राणी की प्रजाति तथा व्यक्तिभेद से भिन्न-भिन्न होती हैं। यह सर्वलोकविदित है कि हमारी घ्राणेन्द्रिय की अपेक्षा से श्वान प्रजाति के प्राणियों की घ्राणेन्द्रिय सूक्ष्मतर गन्धभेद ग्रहण करने में सक्षम है। हमारी घ्राणेन्द्रिय द्वारा अग्राह्य होने के आधार पर श्वान के घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य सूक्ष्मगन्धभेद की वास्तविकता को नकारा नहीं जा सकता है। इन्द्रियाँ प्राणियों के स्वाभाविक जन्मजात ज्ञानोपकरण हैं। मानव द्वारा निर्मित कृत्रिम उपकरणों की सहायता से चक्षुरिन्द्रिय की ग्रहणशक्ति को परिवर्धित किया जा सकता है। जिस प्रकार मूर्तद्रव्यों के गुरुत्व के परिष्कृत ज्ञान के लिये केवल हाथ से गुरुत्व की तुलना पर निर्भर न रहकर, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर गुरुत्वभेदज्ञापक तुला पर आश्रित रहना आवश्यक है, उसी प्रकार मूर्तद्रव्यों के सूक्ष्मतम परिमाण के निर्णय के लिये केवल चक्षुरिन्द्रिय पर आश्रित न रहकर सहायक उपकरणों तथा इन्द्रियग्राह्य परिमाणविषयक उपलब्ध प्रारूप पर आश्रित रहना पद्धतिमूलक दृष्टि से युक्तिसङ्गत है। जगद्विषयक ज्ञान के लिये हमारी इन्द्रियाँ अपरिहार्य एवं आधारभूत होने पर भी इन्द्रियों की विषयग्रहणशक्ति की सीमाओं के द्वारा मूर्तद्रव्यों के स्वरूप, नियन्त्रित नहीं होते हैं। अतः मूर्तद्रव्यों के प्रकार, उनकी संरचना तथा परिमाण आदि धर्मविषयक सिद्धान्त का निर्माण *यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय* रूपी आधारभूत पद्धतिमूलक मान्यता द्वारा नियन्त्रित होकर ही करना आवश्यक है। उपलब्धि की कोटि में प्रतिदिन की लोकप्रतीति से अतिरिक्त वैज्ञानिकों के द्वारा प्रयोगशालाओं में विभिन्न उपकरणों की सहायता से समायोजित अनुशासित परीक्षण से प्राप्त उपलब्धियों को स्थान देना भी आवश्यक है।

१.३ यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय एवं परमाणुओं की नित्यता तथा न्यूनतम-परिमाणविषयक समस्या

वस्तुतः *यथादर्शनमभ्यनुज्ञा (यथोपलब्धिव्यवस्था)* न्याय रूपी पद्धतिमूलक

---

७. *पदार्थतत्त्वनिरूपण,* पृ.५-६

मान्यता की आधारभूतता स्वीकार करने पर मूर्तद्रव्यों के प्रकार, उनके लक्षण, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर मूर्तद्रव्यों के स्वरूप, उनके परस्पर के साथ विभिन्न प्रकार के सम्भाव्य संयोग तथा तादृश संयोगजन्य यौगिक मूर्तद्रव्यादि की शास्त्रीय व्यवस्था के लिये न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा को भौतिकी तथा रसायन शास्त्रों पर आश्रित होना अपरिहार्य हो जाता है।

ईशवीय अष्टादश शताब्दी के अन्त तक रसायन शास्त्रियों द्वारा मूर्तद्रव्यों के सूक्ष्मतम अपरिवर्तनशील तथा अविभाज्य तत्त्व के रूप में परमाणु (atom) स्वीकृत होने लगा। आधुनिक रसायन शास्त्र में लगभग १०७ मौलिक मूर्तद्रव्य स्वीकृत हैं। ऊनविंश शताब्दी के अन्त तक परमाणु के अन्य मौलिक तत्त्वों से संरचित होने के पक्ष में अकाट्य प्रमाण सामने आने लगे। फलतः परमाणु की अपरिवर्तनशीलता, अविभाज्यता तथा सूक्ष्मतमत्वविषयक मान्यताओं का खण्डन हुआ।

वस्तुतः सभी प्रकार के परमाणुओं की संरचना प्रोटान, न्यूट्रान तथा इलेक्ट्रान रूपी मौलिक तत्त्वों से सम्भव होती है। आधुनिक भौतिक शास्त्र एवं रसायन शास्त्र में भौतिक शास्त्री रुथफोर्ड के द्वारा दिया गया सौरमण्डल के प्रारूप पर आधारित परमाणुओं की संरचनाविषयक सिद्धान्त स्वीकृत है। इस सिद्धान्त का परिष्कृत रूप नील बौर तथा अन्य भौतिक शास्त्रियों द्वारा दिया गया है। प्रत्येक परमाणु का एक नाभिकोष होता है जहाँ एक या एकाधिक प्रोटान तथा सामान्यतया उतने ही न्यूट्रान अवस्थित रहते हैं। प्रत्येक प्रोटान एक न्यूनतम धनात्मक विद्युत् की अणुशक्ति से युक्त होता है एवं प्रत्येक न्यूट्रान, गुरुत्वपरिमाण की दृष्टि से प्रोटान की तुलना में किञ्चित् अधिक होने पर भी विद्युत्शक्ति से रहित होता है। प्रत्येक परमाणु का नाभिकोष एक या एकाधिक अन्य कोषों से परिवेष्टित होता है, एवं इस प्रकार के प्रत्येक कोष के सतह पर एक या एकाधिक न्यूनतम ऋणात्मक विद्युत् की अणुशक्ति से युक्त इलेक्ट्रान रूपी मौलिक तत्त्व नाभिकोष के चारों ओर वृत्ताकार कक्षा में घूमते हैं। इस प्रकार के नाभिकोष को परिवेष्टित करने वाले सभी कोषों में घूर्णनशील इलेक्ट्रानों की कुल सङ्ख्या उतनी ही होती है जितनी कि नाभिकोष में अवस्थित प्रोटानों की है। फलस्वरूप परमाणु, विद्युत्शक्ति की दृष्टि से सन्तुलित रहता है। उदाहरणस्वरूप हिलियम परमाणु के नाभिकोष में दो प्रोटान तथा दो न्यूट्रान अवस्थित होते हैं एवं यह नाभिकोष केवल एक ही बहिःकोष

के द्वारा परिवेष्टित रहता है जिसकी सतह पर दो इलेक्ट्रान नाभिकोष के चारों ओर घूमते हैं। उसी प्रकार अम्लजान परमाणु के नाभिकोष में आठ प्रोटान तथा आठ न्यूट्रान अवस्थित रहते हैं, एवं उसके कुल दो बहिःकोष होते हैं। उनमें से नाभिकोष के समीपस्थ कोष में कुल दो एवं तत्परवर्ती कोष में कुल छः इलेक्ट्रान नाभिकोष के चारों ओर घूर्णन करते हैं। एक परमाणु के रासायनिक स्वरूप तथा अन्य सजातीय अथवा विजातीय परमाणुओं के साथ बन्धन की योग्यता, मूल रूप में उसके नाभिकोष में अवस्थित प्रोटानों की सङ्ख्या तथा नाभिकोष से दूरतम कोष में इलेक्ट्रानों की सङ्ख्या के द्वारा निरूपित होती हैं। परमाणुओं के नाभिकोष में प्रोटानों की सङ्ख्या समान होने पर ही परमाणु सजातीय कहलाते हैं, अन्यथा नहीं।

सजातीय परमाणुओं के नाभिकोष में न्यूट्रानों की सङ्ख्या न्यूनाधिक हो सकती है एवं इस हेतु उनके गुरुत्व (mass) भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परन्तु उनके रासायनिक धर्म समान रहते हैं। रसायन शास्त्र में अङ्गीकृत लगभग १०७ मौलिक मूर्तद्रव्यों को उनके नाभिकोषों में अवस्थित प्रोटानों की सङ्ख्या तथा दूरतम इलेक्ट्रान कोष में इलेक्ट्रानों की सङ्ख्या के आधार पर मेन्डेलीव द्वारा प्रदत्त पद्धति से एक सारणी में व्यवस्थित करके रखने पर मौलिक मूर्तद्रव्यों के रसायनशास्त्रीय साधर्म्य तथा वैधर्म्य का आधार स्पष्ट रूप में उद्भासित होता है।[८]

आधुनिक भौतिक शास्त्र के अनुसार कुछ प्रकार के मूर्त परमाणु स्वाभाविक रूप में रेडियोविकिरण की प्रक्रिया से विजातीय परमाणुओं में परिवर्तित होते हैं। उदाहरणस्वरूप यूरेनियम, रेडियम तथा पोलोनियम परमाणु इस प्रकार के हैं। कृत्रिम उपाय से भी प्रयोगशाला में परमाणुओं को विजातीय परमाणुओं में परिवर्तित किया जा सकता है। सङ्क्षेप में कह सकते हैं कि भौतिक एवं रसायन शास्त्र में अङ्गीकृत परमाणु रूपी मूर्ततत्त्व, मूर्तपदार्थव्यवस्था में मूलभूत भूमिका का निर्वाह करने पर भी अन्य मौलिक तत्त्वों का संस्थान विशेष होने से वस्तुतः अवयवी है। अतः वे परमाणु

---

८. एन.एल. ग्लिन्का, *जनरल केमेस्ट्रि*, दो भागों में जि. लाइब द्वारा अङ्ग्रेजी अनुवाद, मीर पब्लिसर्स, मास्को, १९९०, प्रथम भाग, अध्याय २ एवं ३, पृ.४८-११८ द्रष्टव्य हैं।

उत्पन्नविनाशशील भी हैं। पुनश्च, परमाणुघटक प्रोटान, न्यूट्रान तथा इलेक्ट्रान रूपी मौलिक तत्त्व परमाणु से सूक्ष्मतर होने पर भी अनित्य एवं परिवर्तनशील हैं। वस्तुतः गुरुत्व (mass) तथा शक्ति (energy) मूर्तपदार्थ के यथाक्रम निष्क्रिय, घनीभूत, आकुञ्चित सुप्तावस्था तथा सक्रिय, चलिष्णु, प्रसारित जाग्रदवस्था के रूप में देखे जा सकते हैं। गुरुत्व तथा शक्ति के परस्पर रूपान्तरण नियमनियन्त्रित हैं। अतः मूर्तपदार्थों में नित्यव्यक्तिभूत तत्त्व के आविष्कार की सम्भावना दिखाई नहीं देती है। वस्तुतः व्यक्तिभूत नित्यतत्त्वों पर आश्रित न रहकर केवल जाति रूपी नित्यतत्त्वों के द्वारा काणादीय परम्परा के नित्यवाद की सिद्धि करना आवश्यक है।

२. कारणता एवं कार्यताविषयक विचार

२.१ कारणतासिद्धान्त की तत्त्वमीमांसीय अपरिहार्यता

बाह्य तथा आन्तरिक जगत् के विभिन्न क्षेत्रों में घटित निरन्तर परिवर्तन सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध हैं। यह भी लोकप्रतीतिसिद्ध है कि जगत् में कोई परिवर्तन आकस्मिक रूप में घटित नहीं होता है। सभी परिवर्तन नियमनियन्त्रित रूप में ही घटित होते हैं। जगत् में आकस्मिकत्व के अभाव को अर्थात् जगत् की नियमनियन्त्रितता को स्वीकार न करने पर लोकव्यवहार तथा शास्त्रीय व्यवस्था आधारशून्य हो जाते हैं।[९] यह सत्य है कि वस्तुओं की व्यवस्था हमारे प्रयोजनानुसार नहीं होती है। परन्तु जगत् की आकस्मिकता के पक्ष में किसी भी प्रकार का प्रमाण न होने से तथा परिवर्तन स्वभावतः नियमनियन्त्रित सिद्ध होने से जगत् की नियमनियन्त्रितता स्वीकार्य है एवं आकस्मिकत्व सर्वथा परिहार्य है। जगत् में घटित परिवर्तनों के नियमविषयक विचार ही कार्यकारणविषयक विचार है। सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध कार्यकारणविषयक विचारों को शास्त्रीय परिष्कार द्वारा भिन्न-भिन्न दार्शनिक तन्त्रों में समाविष्ट किया गया है।

---

९. (क) "न च कार्यमकारणं भवितुमर्हति कार्यत्वस्यानुपपत्तेरिति भवितव्यमेव तत्र कारणेन।" *न्यायमञ्जरी*, द्वितीय भाग, पृ. २४५

(ख) "न हि अभिन्नात् कारणात् कार्यवैचित्र्यमुपपद्यते, तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्।" *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका*, न्यायसूत्र १.१.१, पृ. ६२ न्यायसूत्र ३.२.१४ पर *तात्पर्यटीका* पृ. ५५७ भी उपर्युक्त आशय की युक्ति के लिये द्रष्टव्य है।

प्रत्येक दार्शनिक तन्त्र की निर्माणप्रक्रिया में उस तन्त्र में अङ्गीकृत कारणतासिद्धान्त मूलभूत भूमिका निभाता है। बौद्ध सन्तानवादी परम्परा में अङ्गीकृत कारणतासिद्धान्त *प्रतीत्यसमुत्पादवाद* नाम से प्रसिद्ध है। याज्ञवल्क्यीय परम्परा का कारणतासिद्धान्त *सत्कार्यवाद* नाम से जाना जाता है। सत्कार्यवाद सांख्य एवं योग दर्शनों में *परिणामवाद* के रूप में तथा अद्वैत दर्शन में *विवर्तवाद* के रूप में विकसित हुआ है। काणादीय परम्परा का कारणतासिद्धान्त *असत्कार्यवाद* नाम से प्रसिद्ध है।[१०] बाह्येन्द्रियग्राह्य घट, पट आदि स्थूल वस्तुओं के एकत्व, उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश की शास्त्रीय व्यवस्था उपलब्ध कराना– न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के लिये एक मुख्य समस्या रही है। अवयविविषयक अर्थात् जन्यद्रव्यविषयक सिद्धान्त की स्थापना के सन्दर्भ में ही काणादीय परम्परा के असत्कार्यवाद का विकास हुआ है। अवयवी अपने अवयवों से उत्पन्न तथा अवयवाश्रित होते हुए भी उनसे वस्तुतः भिन्न है– यह मान्यता सत्कार्यत्वाद को अस्वीकार्य है। सामान्यतः कार्यमात्र ही अपने कारणों से भिन्न होता है। असत्कार्यवाद की इस मान्यता के कारण यह *आरम्भवाद* नाम से भी विदित है।

२.२ अन्वय एवं व्यतिरेक सहचार

न्यायवैशेषिक दर्शन की तत्त्वमीमांसा में पदार्थ होने के लिये कारणता की भूमिका अपरिहार्य है। अन्य शब्दों में कारणता एक केवलान्वयिधर्म है।[११] स्थूल रूप में यह कहा जा सकता है कि अन्वय एवं व्यतिरेक सहचार से कारण-कार्य के सम्बन्ध का ज्ञान सम्भव होता है। जिस पदार्थ के रहने पर जो अन्य पदार्थ अवश्य रहता है उन दोनों में *अन्वय सहचार* स्वीकार्य होता है। उसी प्रकार जिस पदार्थ के न रहने पर जिस अन्य पदार्थ का अभाव अवश्य रहता है उन दोनों में

---

१०. देखिये *क्रिटिक् ऑफ इण्डियन रियलिज़्म*, अध्याय ७, पृ.२३४-२८२

११. (क) "अस्मत्पितृचरणास्तु जनकत्वस्य केवलान्वयित्वेन व्यतिरेकाप्रसिद्धया नान्वय-व्यतिरेकित्वम्।" वर्धमानोपाध्याय, *न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश*, पृ. ६१। देखिये उदयन, *न्यायकुसुमाञ्जलि*, १.१० पर *प्रकाश*, एल. एस. द्राविड़ द्वारा सम्पादित, चौखम्बा वाराणसी, १९१२

(ख) "कारणत्वं जनकत्वं सकलपदार्थनिष्ठधर्मः।" *वैशेषिक सूत्र* १.१.७ पर अज्ञातकर्तृक व्याख्या, अनन्तलाल ठक्कुर द्वारा सम्पादित, मिथिलाविद्यापीठ, दरभङ्गा, १९५७, पृ.४

व्यतिरेक सहचार स्वीकार्य होता है।[१२] जिस पदार्थ के रहने पर भी जो अन्य पदार्थ कदाचित् नहीं रहता है उन दोनों में अन्वय सहचार का अभाव अर्थात् *अन्वय व्यभिचार* रहता है। इसी प्रकार जिस पदार्थ के न रहने पर भी जो अन्य पदार्थ कदाचित् रह जाता है उनमें व्यतिरेक सहचार का अभाव अर्थात् *व्यतिरेक व्यभिचार* रहता है।

कारण-कार्य के सम्बन्धविषयक ज्ञान के लिये अन्वय एवं व्यतिरेक अत्यन्त उपयोगी होने पर भी वे उस सम्बन्ध के स्वरूपनिरूपक नहीं होते हैं।[१३] न्यायवैशेषिक मत में आत्मादि नित्य विभु पदार्थों की कारणता अवश्य स्वीकार्य है परन्तु उनके अभाव अप्रसिद्ध हैं। जिन प्रमाणों से आत्मादि का अस्तित्व सिद्ध होता है उन्हीं प्रमाणों से आत्मादि के ज्ञानादि की कारणता भी सिद्ध होती है। अतः वहाँ पर व्यतिरेक सहचार सिद्ध करना सम्भव नहीं है। पुनश्च, कारण एवं कार्य के बीच अन्वय एवं व्यतिरेक सहचार तथा व्यभिचार का ऊपर दिया गया स्थूल लक्षण भी अपर्याप्त है, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति किसी एक कारण पर आश्रित न रहकर सर्वत्र एकाधिक कारणों के सङ्घात तथा उनके परस्पर सम्बन्ध पर आश्रित रहती है। कार्य की उत्पत्ति में अपरिहार्य भूमिका निभाने वाले सभी भाव अथवा अभाव पदार्थों का समुदाय ही *सामग्री* है।[१४] जिस पदार्थ के सन्निहित रहने पर कार्य उत्पन्न नहीं होता है वह कार्य का *प्रतिबन्धक*[१५] कहलाता है। न्यायवैशेषिक परम्परा में अभाव की कारणता

---

१२. "तत् सत्त्वे तत्सत्ता, तदसत्त्वे तदसत्ता" श्रीमोहन भट्टाचार्य एवं दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य, *भारतीय दर्शन कोश*, प्रथम भाग, संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता, १९७८, पृ. १८

१३. "भवेदेव यदि अन्वयव्यतिरेकौ एव कारणत्वम्, किं तु कार्यात् नियतपूर्वभावः। स च क्वचिदन्वव्यतिरेकाभ्यामवसीयते क्वचिद् धर्मिग्राहकात् प्रमाणात्।" *न्यायकुसुमाञ्जलि*, १.१९, पृ. ९५

१४. (क) "कार्यायोगव्यवच्छिन्नः कारणसमुदायः (*सामग्री*)।" *न्यायकोश*, पृ. १००६
(ख) "फलायोगव्यवच्छिन्नकारणसमुदायः (*सामग्री*)"। *भारतीय दर्शन कोश*, प्रथम भाग, पृ. १७८

१५. (क) "सामग्रीवैकल्यं प्रतिबन्धपदार्थः मुख्यः।" *न्यायकुसुमाञ्जलि* १.१०, पृ.४१-४२
(ख) "कारणीभूताभावप्रतियोगित्वम् प्रतिबन्धकत्वम्"। *न्यायकोश*, पृ. ५३२; *भारतीय दर्शन कोश*, प्रथम खण्ड, पृ. १०४, परिष्कारदर्पण, पृ.७१

स्वीकृत है,[१६] परन्तु मीमांसकों को अभाव की कारणता स्वीकार्य नहीं है।[१७]

सामग्री घटक सभी कारणों के परस्पर समवधान विशेष से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, न कि सामग्री घटक कारणों के यत्र-तत्र रह जाने पर।[१८] जिन सभी कारणों के परस्पर समवधान विशेष से कार्य विशेष की उत्पत्ति होती है एवं जिनमें से किसी एक के भी न रहने पर अवशिष्टों से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है उन्हीं कारणों का समुदाय ही उस कार्य विशेष की सामग्री कहलाता है। सामग्री की उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि सामग्री घटक प्रत्येक कारण अपरिहार्य है। अतः सामग्री स्वरूपतः लाघवान्वित है।

कारणसामग्री की अपेक्षा से अन्वय एवं व्यतिरेक सहचार के लक्षण निम्न प्रकार से किये जा सकते हैं। स्वयं से अतिरिक्त सामग्री के अन्य सभी कारणों के साथ जिसके रहने पर कार्य की उत्पत्ति होती है तथा न रहने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है उनमें, यथाक्रम अन्वय एवं व्यतिरेक सहचार स्वीकार्य हैं। यदि कार्यविशेष y की उत्पत्ति, कारणसमुदाय $k_{१}$, $k_{२}$,...., $k_{i-१}$, k_{i}, $k_{i+१}$,..., $k_{n-१}$, k_{n}, $n \geq २$ रूपी सामग्री से होती है, तब सामग्री की उपर्युक्त परिभाषा से प्रत्येक k_{i}, $i=१,२,..,n$ तथा y के मध्य अन्वय एवं व्यतिरेक सहचार हैं, क्योंकि $k_{१}$, $k_{२}$, $k_{i-१}$, $k_{i+१}$,..., $k_{n-१}$, k_{n} के परस्पर तथा k_{i} के साथ समवधान विशेष से ही y की उत्पत्ति होती है परन्तु k_{i} का अभाव अथवा उसका अन्य k_{j} के साथ समवधानविशेष का अभाव रहने पर y की उत्पत्ति नहीं होती है।[१९] वस्तुतः सामग्रीनिरूपण

---

१६. "न हि अभावस्य अकारणत्वे प्रमाणमस्ति।" *न्यायकुसुमाञ्जलि* १.१०, पृ.३६

१७. (क) "सर्वभावकार्याणाञ्च भावकारणनियतत्वदर्शनात्। अभावस्य क्वचिदपि कार्ये जनकत्वाश्रयणानुपपत्तेः।" *प्रकरणपञ्चिका,* पृ. २१९

(ख) "न च प्रतिबन्धकाभावादेव दाह इति वाच्यम्, अभावस्य सर्वत्रापि अकारकत्वात्।" *मानमेयोदय,* प्रमेय खण्ड, पृ. २४७

१८. "सर्वं हि कारणजातं कार्योपजननाय परस्परसमवधानमपेक्षते, अन्यथा यत्र तत्र स्थितेभ्योऽपि कारणेभ्यः कार्यमुपजायेत।" *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका,* पृ.३७३

१९. (क) 'यत् सत्त्वे यदतरिक्ताखिलकारणसत्त्वे यत्सत्ता' तयोरन्वयसहचारः। 'यदभावे यदतिरिक्ताखिलकारणसत्त्वे यदभावः' तयोर्व्यतिरेकसहचारः। नारायणगोस्वामी, *तर्कसङ्ग्रहदीपिका* की *अध्यापना,* पृ. ७

ही कार्यकारणसम्बन्धविषयक समस्या की मुख्य चुनौती है। जब एक कारण सङ्घात के समवधानविशेष से एक कार्यविशेष की उत्पत्ति होती है तब केवल उस सङ्घात में कार्य की सामग्री का अन्तर्भूत होना सिद्ध होता है न कि उस समुदाय का प्रत्येक समुदायी के कार्य की जनकसामग्री में होना। कार्यविशेष की सामग्री को उपसङ्घात के रूप में स्वगर्भ में रखने वाले सङ्घात से अन्वयव्यभिचार के निरूपण से प्राप्त किया जा सकता है। सम्भाव्य कारणसङ्घात तथा सामग्री का निरूपण प्राकृतिक परिवेश में सहज साध्य नहीं होता है। उदाहरणस्वरूप मलेरिया रोग रूपी कार्य की कारणसामग्री के निरूपण को लिया जा सकता है। अन्ततः नियन्त्रित परिवेश में अन्वय एवं व्यतिरेक सहचार द्वारा ही इस रोग की कारणसामग्री का निरूपण सम्भव हुआ। अपने से अतिरिक्त अन्य सभी सम्भाव्य कारणों के साथ जिस सम्भाव्य कारण के रहने पर भी जिस कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है उस सम्भाव्य कारण एवं उस कार्य में अन्वय व्यभिचार सम्बन्ध रहता है।[२०] असङ्क्रामित एनोफिलिश मच्छर के काटने पर भी मलेरिया नहीं होता है।

२.३ कार्यता एवं कारणता

जो पदार्थ एक काल में न होते हुये अनन्तर काल में रहने लगता है वह कार्य या जन्य पदार्थ कहलाता है। घटपटादि लोकव्यवहार

(ख) "....स्वस्वव्याप्येतरयावत्कारणसत्त्वे अग्रिमक्षणे अवश्यं यत्सत्त्वे यदुत्पत्तिः यदभावे अवश्यं यदुत्पत्त्यभावः..." *तर्कसङ्ग्रहदीपिका* की रायनरसिंहकृत *नृसिंहप्रकाशिका* टीका, पृ. ८६

२०. (क) स्थूल रूप में कहा जा सकता है कि "अन्वयव्यभिचारः कारणसत्त्वेऽपि कार्यानुत्पादः। व्यतिरेकव्यभिचारस्तु कारणाभावेऽपि कार्योत्पत्तिः।" *तर्कसङ्ग्रहदीपिका* की रामरुद्रकृत *रामरुद्रीय* टीका, पृ. ८५

(ख) अन्वयव्यभिचार का परिष्कृत लक्षण देते हुए रामरुद्र लिखते हैं– "न हि कारणसत्त्वे कार्यानुत्पादः अन्वयव्यभिचारः। तथासति दण्डादेरपि घटकारणत्वानुपपत्तेः, किन्तु स्वस्वव्याप्येतरयावत्कारणसत्त्वे स्वसत्त्वे कार्यानुत्पाद एव।" *वही*, पृ. ८७

(ग) "अन्वयात्मकव्यभिचारश्च कारणनिरूपितकार्यनिष्ठाव्यापकत्वं, व्यतिरेकात्मकव्यभिचारश्च कारणाभावनिरूपितकार्याभावनिष्ठाव्यापकत्वम्" *तर्कसङ्ग्रहदीपिका* पर *नृसिंहप्रकाशिका*, पृ. ८८

की वस्तुएँ, रासायनिक पाक प्रक्रिया से उत्पन्न आक्सीजन, हाइड्रोजन आदि के दो-दो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न द्व्यणुक एवं जल, लवणादि के यौगिकाणु कार्य पदार्थ हैं। उत्पत्ति प्रतीक्षित होने पर जन्य पदार्थ की उत्पत्ति का पूर्वकालीन अभाव अनुभव के विषय के रूप में भासित होता है। जब यह पहले से ज्ञात है कि चन्द्रग्रहण अमुक समय पर होगा, तब ग्रहण के पूर्व 'चन्द्रग्रहण अभी हुआ नहीं है, एक घण्टे बाद होगा या अभी होने वाला है'– इस प्रकार का अनुभव होता है। एतादृश अनुभव का विषयरूपी अभाव 'प्रागभाव' नाम से जाना जाता है। प्रागभाव का प्रतियोगी ही कार्य कहलाता है।[२१] कर्म या स्पन्द रूपी पदार्थ सर्वदा मूर्तद्रव्यविशेष में समवेत होकर उत्पन्न होता है एवं उसकी उत्पत्ति, कारणसामग्री की अपेक्षा रखती है। अतः वह स्वभाव से ही कार्यपदार्थ है। जन्यद्रव्यनिष्ठ गुण भी कार्यपदार्थ होता है, क्योंकि गुण आश्रय की अपेक्षा रखता है एवं आश्रय के उत्पन्नशील होने पर तदाश्रित गुण भी स्वतः कार्यपदार्थ होता है। घटपटादि लोकव्यवहारसिद्ध अवयवी द्रव्य, रसायन शास्त्र सिद्ध विभिन्न जाति के परमाणु, सजातीय परमाणुओं से उत्पन्न हाइड्रोजन के यौगिकाणु, आक्सीजन के यौगिकाणु तथा विजातीय परमाणुओं से उत्पन्न जल एवं लवणादि के यौगिकाणु भी अवयवी अर्थात् जन्यद्रव्यकोटि के हैं। उत्पन्नशील होने से अवयवी स्वभावतः कार्यपदार्थ होता है।

जो पदार्थ जिस अन्य पदार्थ का नियत पूर्ववर्ती होता है परन्तु जिसके प्रति अन्यथा सिद्ध नहीं होता है, वह उस पदार्थ का कारण कहलाता है।[२२] कारण कार्य का पूर्वभावी होता है, क्योंकि एक ही क्षण

---

२१. (क) "कार्यं प्रागभावप्रतियोगि"। *तर्कसङ्ग्रह*, पृ. ३७
(ख) "प्रागभावप्रतियोगित्वं कार्यस्य लक्षणम्। उत्पत्तेः पूर्वं 'इह घटो भविष्यति' इति या प्रतीतिर्जायते तत्प्रतीतिविषयो योऽभावः स प्रागभावः तत्प्रतियोगि घटादिकार्यम्।" *तर्कसङ्ग्रह* पर *न्यायबोधिनी*, पृ. ३७
(ग) "स्वकारणे समवायः, प्रागसतः सत्तासमवायो वा कार्यत्वमित्येके। तदयुक्तम्, प्रध्वंसे तदभावात्। तस्मात् कारणाधीनः स्वात्मलाभः कार्यत्वमिति लक्षणम्, व्यापकत्वात्।" *न्यायकन्दली*, पृ. ४६

२२. (क) पाँच प्रकार की अन्यथासिद्धि बताकर वर्धमानोपाध्याय कारण का लक्षण देते हैं– "एतावदन्यथासिद्ध्यभावे सति यस्य नियतपूर्ववर्तित्वं तत् कारणम्।" *न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश* १.१३, पृ.६५

में उत्पन्न दो पदार्थों के बीच कारण-कार्य का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। युगपद् उत्पन्न पदार्थों में एक की उत्पत्ति अपर की विद्यमानता पर आश्रित नहीं रह सकती है।[२३] न्यायवैशेषिक मत में प्रत्येक कार्य के साधारण एवं असाधारण भेद से दो प्रकार के कारण होते हैं। ईश्वर, ईश्वर का ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, प्रागभाव, दिक्, काल एवं अदृष्ट– ये आठ कार्यमात्र के प्रति कारण की भूमिका निभाने से साधारण कारण हैं।[२४] घटपटादि कार्य के प्रति कपाल, दण्ड, चक्र, मृत्पिण्ड, कुम्भकारादि एवं तन्तु, वेमा तथा तन्तुवाय आदि असाधारण कारण हैं। जिस प्रकार आधेयता, प्रकारता एवं अभावीय प्रतियोगितादि सभी एक धर्म तथा एक सम्बन्ध द्वारा अवच्छिन्न होती हैं, अर्थात् जिस प्रकार आधेयता, प्रकारतादि का स्वरूप धर्मरूपी तथा सम्बन्धरूपी अवच्छेदक युगल द्वारा निरूपित होता है, ठीक उसी प्रकार कार्यता एवं कारणता भी एक अवच्छेदक धर्म एवं अवच्छेदक सम्बन्ध के द्वारा निरूपित होती हैं। प्रत्येक भावकार्य अधिकरणविशेष में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। पटरूपी कार्य तन्तुरूपी अधिकरण में समवेत होकर उत्पन्न होता है। अतः पटनिष्ठकार्यता पटत्व जाति रूपी धर्म तथा समवाय सम्बन्ध द्वारा अवच्छिन्न होती है।

२.४ अवयवी के सजातीयद्रव्यजन्यत्वविषयक परम्परागत मत का खण्डन

न्यायवैशेषिक परम्परा में विजातीय मूर्त द्रव्यों से अवयवी की उत्पत्ति

(ख) "अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता।
कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम्।"
कारिकावली, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की कारिका १६, पृ. ८०

२३. "न च समसमयभाविनोर्जन्यजनकत्वमस्ति सव्येतरविषाणयोरिव।" *न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका*, पृ. ५५८

२४. (क) "ईश्वरस्तज्ज्ञानेच्छाकृतयः प्रागभावकालदिगदृष्टान्यष्टौ साधारणकारणानि। तत्त्वं तु कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणत्वम्।" *तर्कसङ्ग्रह* पर मेरुशास्त्रिकृत *वाक्यवृत्ति*, पृ.३६

(ख) "असाधारणकारणत्वं च कार्यत्वातिरिक्तधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारण-ताशालित्वम्। यथा दण्डादेर्घटं प्रति असाधारणकारणत्वम्। कार्यत्वारिक्तो घटत्वरूपो धर्मः तदवच्छिन्नकार्यता घटे तन्निरूपितकारणता दण्डे। अतो घटं प्रति दण्डः असाधारणकारणम्।" *तर्कसङ्ग्रह* पर *न्यायबोधिनी*, पृ.३६

स्वीकृत नहीं हुई है।[२५] परन्तु परमाणुओं एवं यौगिकाणुओं के संरचनाविषयक भौतिकी एवं रसायनशास्त्रीय नियन्त्रित पर्यवेक्षण द्वारा सिद्ध तथ्यों एवं *यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय* रूपी पद्धतिमूलक मान्यता के आधार पर विजातीय परमाणुओं से उत्पन्न यौगिकाणु रूपी अवयवी को स्वीकार करना आवश्यक है। यह अवश्य सत्य है कि रसायनशास्त्रीय प्रतीक 'H' द्वारा अभिहित हाइड्रोजनपरमाणुओं के युगल से '$H_२$' द्वारा अभिहित हाइड्रोजनद्व्यणुक उत्पन्न होता है। उसी प्रकार नाइट्रोजन (N), फ्लोरिन (F), क्लोरिन (Cl), ब्रोमिन (Br) आदि के दो-दो परमाणुओं से उनके द्व्यणुक उत्पन्न होते हैं। आक्सीजन के द्व्यणुकों से उच्चताप में तीन परमाणुओं से एक ओजोन ($O_३$) रूपी आक्सीजन के यौगिकाणु की उत्पत्ति सम्भव होती है। परन्तु सामान्यतया, विजातीय परमाणुओं से ही यौगिकाणुओं की उत्पत्ति होती है। उदाहरणस्वरूप, दो हाइड्रोजन परमाणु एवं एक आक्सीजन परमाणु से एक जल यौगिकाणु $H_२O$ की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार, हाइड्रोक्लोरिक एसिड यौगिकाणु HCl, एक हाइड्रोजन परमाणु एवं एक क्लोरिन परमाणु के बन्धन से तथा सोडियम क्लोराइड (नित्यव्यवहार्य लवण) का यौगिकाणु NaCl, एक सोडियम परमाणु एवं एक क्लोरिन परमाणु के बन्धन से उत्पन्न होते हैं। विजातीय परमाणुओं से उत्पन्न यौगिकाणुओं में परमाणुओं की सङ्ख्या तीन से बहुत अधिक तथा उनके परस्पर बन्धन जटिल हो सकते है।

पुनश्च, परमाणु भी प्रोटान, न्यूट्रान एवं इलेक्ट्रान रूपी विजातीय मौलिक मूर्ततत्त्वों के संस्थानविशेष से उत्पन्न होते हैं। अतः विजातीय मूर्ततत्त्वों से उत्पन्न परमाणु एवं यौगिकाणु रूपी अवयवी द्रव्य, भौतिक विज्ञान एवं रसायन शास्त्रों के नियन्त्रितप्रयोगमूलक अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध होने से अवश्य अङ्गीकार्य हैं। जल का यौगिकाणु $H_२O$ समवाय सम्बन्ध से दो हाइड्रोजन परमाणु एवं एक आक्सीजन परमाणु में उत्पन्न होता है। अतः $H_२O$-निष्ठ कार्यता-जलत्व जाति तथा समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है।

---

२५. (क) मानव शरीर के पार्थिवोपादानत्व सिद्ध करते हुए उदयनाचार्य सामान्य निष्कर्ष के रूप में लिखते हैं– "तस्मात् सजातीयानामेवारम्भकत्वं न विजातीयानामिति स्थितम्।" *किरणावली*, पृ. ४१

(ख) "अत्र मानुषादि शरीरस्य गन्धवत्त्वेन पृथिवीत्वसिद्धौ तस्य पाञ्चभौतिकत्व-प्रसिद्धिर्भूतपञ्चकजन्यत्वप्रयुक्तैव न तु तदुपादेयत्वप्रयुक्ता जातिसाङ्कर्या-पत्तेः..." *प्रशस्तपादभाष्य* पर जगदीशकृत *सूक्ति*, पृ. २००

जिस प्रकार सुवर्ण एवं माणिक्य या मुक्ता आदि रत्ननिर्मित अङ्गूठी अथवा अन्य अलङ्कार रूपी अवयवी के स्थल में जातिसाङ्कर्य की शङ्का निराधार है, उसी प्रकार विजातीय परमाणुओं से उत्पन्न यौगिकाणुओं के स्थल में भी जातिसाङ्कर्य की शङ्का अनुभवबाधित है। जिस प्रकार पटरूपी अवयवी की समवायिकारणता तन्तुत्व धर्म एवं तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है, उसी प्रकार जल के यौगिकाणु H_2O की समवायिकारणता हाइड्रोजनत्व एवं आक्सीजनत्व जातिद्वय से घटित उभयत्वधर्म तथा उस उभयत्वावच्छिन्न-उभयघटक किसी एक के द्वारा विशिष्ट पदार्थ के साथ 'तादात्म्य' सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है।

२.५ समवायी, असमवायी एवं निमित्त कारण

२.५.१ समवायिकारणता

प्रत्येक भाव कार्य के समवायी, असमवायी एवं निमित्त कारण के भेद से तीन प्रकार के कारण होते हैं। कार्य जिसमें समवेत होकर उत्पन्न होता है वह पदार्थ उस कार्य का *समवायिकारण* कहलाता है।[२६] जन्यभावपदार्थ केवल द्रव्य में ही समवेत होकर उत्पन्न होता है। अतः द्रव्य, गुण एवं कर्मों में से केवल द्रव्य ही समवायिकारण होता है।[२७] समवायसम्बन्धावच्छिन्न भावकार्यनिष्ठकार्यतानिरूपित तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न कारणता ही समवायिकारणता है। कार्यता एवं कारणता के बीच परस्पर निरूप्य-निरूपकभाव रहता है। कार्यता का एक अवच्छेदक धर्म एवं एक अवच्छेदक सम्बन्ध होता है। उसी प्रकार कारणता का भी एक अवच्छेदक धर्म तथा एक अवच्छेदक सम्बन्ध होता है। पटत्व धर्म एवं समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न पटनिष्ठ कार्यता द्वारा निरूपित तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न कारणता तन्तु में ही रहती है। इसलिये तन्तु पट का समवायिकारण होता है। तन्तुनिष्ठ पट की समवायिकारणता

---

२६. (क) "यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनकं तत्।" *कारिकावली*, कारिका १८ का प्रथम पाद, पृ. ८१

(ख) "सामान्यलक्षणं तु समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणत्वं समवायिकारणत्वमिति।" *तर्कसङ्ग्रह* पर *न्यायबोधिनी* टीका, पृ. ३८

२७. समवायेन जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन द्रव्यस्यैव हेतुत्वात् जन्यभावेषु द्रव्यगुणकर्मसु त्रिषु द्रव्यमेव समवायिकारणम्।" *वही*, पृ. ३८

तन्तुत्व धर्म एवं तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है। तन्तुनिष्ठ पट की समवायिकारणता को तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न कहने का आशय यह है कि यदि p एक पट है एवं p, a में समवेत होकर उत्पन्न होता है तो अवश्य तन्तुत्व धर्म से अवच्छिन्न एक पदार्थ t है एवं a, t से अभिन्न है। यदि नित्यव्यवहार्य लवण के एक यौगिकाणु NaCl रूपी कार्य a में समवेत होकर उत्पन्न होता है तो अवश्य एक सोडियम परमाणु b तथा एक क्लोरिन परमाणु c है एवं a, b से अथवा c से अभिन्न है।

एकाधिक सजातीय परमाणुओं से विजातीय यौगिकाणुओं की उत्पत्ति सम्भव है। उदाहरणस्वरूप आक्सीजन द्व्यणुक $O_२$ एवं तीन आक्सीजन परमाणु विशिष्ट ओजोन योगिकाणु $O_३$ लिये जा सकते हैं। उसी प्रकार एकाधिक विजातीय परमाणुओं से एकाधिक विजातीय यौगिकाणुओं की उत्पत्ति भी सम्भव है। उदाहरणस्वरूप हाइड्रोजन आक्सीजन के यौगिकाणु $H_२O$ (जल), $H_२O_२$ (हाइड्रोजन पेरोक्साइड) तथा कार्बन एवं आक्सीजन के यौगिकाणु CO (कार्बनमोनोक्साइड), $CO_२$ (कार्बनडाइक्साइड) अथवा कार्बन एवं हाइड्रोजन के यौगिकाणु $CH_४$ (मिथेन), $C_२H_६$ (इथेन) एवं $C_३H_८$ (प्रोपेन) आदि लिये जा सकते हैं। उपर्युक्त स्थलों में जहाँ सजातीय परमाणुओं से अथवा विजातीय परमाणुओं से विजातीय यौगिकाणु उत्पन्न होते हैं वहाँ यौगिकाणु रूपी कार्यों के प्रकारभेद अर्थात् विजातीयता, समवायिकारण की भूमिका निभाने वाले परमाणुओं के सङ्ख्याभेद अथवा उनके परस्पर बन्धन रूपी असमवायिकारणभेद के आधार पर समझी जा सकती है।

२.५.२ असमवायिकारणता

भावकार्यों के द्वितीय प्रकार का कारण असमवायिकारण कहलाता है। जिस प्रकार तन्तु पट का समवायिकारण है उसी प्रकार तन्तुओं में समवेत उनके परस्पर संयोग भी पट के कारण हैं एवं तन्तुरूप भी पटरूप के कारण हैं। स्थूल रूप में समवायिकारण से भिन्न परन्तु उससे साक्षात् अथवा परम्परा सम्बन्ध से सम्बद्ध कारण को *असमवायिकारण* कहा जाता है।[२८] असमवायिकारण दो प्रकार के होते हैं– *कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति* से कारण

---

२८. "असमवायिकारणं द्विविधम्। कार्येण सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणमित्येकम्। कारणेन सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणं असमवायिकारणमित्यपरमित्यर्थः। अत्र कारणेनेत्यस्य स्वकार्यसमवायिकारणेनेत्यर्थः।" *तर्कसङ्ग्रह* पर *न्यायबोधिनी* टीका, पृ. ३८-३९

एवं *कारणैकार्थप्रत्यासत्ति* से कारण। स्व कार्य अर्थात् पट के साथ तन्तुसंयोग रूपी कारण एक ही तन्तु रूपी पदार्थ में समवेत होकर पट के प्रति अपनी कारण की भूमिका निभाता है। यह प्रथम प्रकार का असमवायिकारण है। सामान्यतया में जहाँ पर समवाय सम्बन्ध से समानाधिकरण पदार्थों में कारण-कार्य का सम्बन्ध रहता है वहाँ पर कारण असमवायिकारण होता है।[२९] तन्तुरूप स्वकार्य पटरूप का समवायिकारण पट के साथ एक ही पदार्थ तन्तु में समवेत होकर पटरूप का कारण होता है। यह द्वितीय प्रकार का असमवायिकारण है। पुनश्च जहाँ एक पदार्थ अन्य एक पदार्थ के समवायिकारण के साथ समवायसम्बन्ध से समानाधिकरण होकर उस अन्य पदार्थ का कारण भी होता है वहाँ वह कारण उस अन्य पदार्थ का असमवायिकारण कहलाता है। समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न कार्यता द्वारा निरूपित समवाय अथवा स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से अवच्छिन्न कारणता का आश्रय ही असमवायिकारण है।[३०]

२.५.३ रसायन शास्त्र में स्वीकृत परमाणुओं के समवायी एवं असमवायी कारण

परमाणु घटक प्रोटान, न्यूट्रान एवं इलेक्ट्रान आदि मौलिक मूर्त तत्त्व परमाणु के समवायिकारण होते हैं एवं परमाणु के नाभिकोषस्थ प्रोटानों की धनात्मक विद्युत्शक्ति एवं उसके अन्य कोषस्थ इलेक्ट्रानों की ऋणात्मक विद्युत्शक्ति से उत्पन्न उनके परस्पर समवधानविशेष ही परमाणु के असमवायिकारण

---

२९. ज्ञान में इच्छा, द्वेष, सुख दुःखादि की कारणता अवश्य स्वीकार्य है। उसी प्रकार इच्छा एवं द्वेष में प्रयत्न की कारणता भी स्वीकार्य है। परन्तु न्यायवैशेषिक मत के अनुसार आत्मा के विशेष गुणों में असमवायिकारणता नहीं रहती है। "आत्मविशेषगुणानां तु कुत्राप्यसमवायिकारणत्वं नाऽस्ति, तेन तद्भिन्नत्वं सामान्यलक्षणे देयमेव।" *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली,* पृ. ८३

३० (क) "तथा च समवाय-स्वसमवायिसमवेतत्वान्यतरसम्बन्धेन कारणत्वे सत्यात्म-विशेषगुणान्यत्वं सामान्यतोऽसमवायिकारणत्वमित्यर्थः।" *न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली* पर *दिनकरी,* पृ. ८४

(ख) "सामान्यलक्षणं तु समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपितसमवायस्वसमवायि-समवेतत्वान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नकारणताश्रयत्वम्।" *तर्कसङ्ग्रह* पर *न्यायबोधिनी* टीका, पृ. ४०

हैं। प्रत्येक परमाणु के नाभिकोष से दूरतम इलेक्ट्रानकोष (जो वालेन्सकोष भी कहलाता है) में एक से आठ तक इलेक्ट्रान रह सकते हैं। परमाणु के नाभिकोष में प्रोटानों की सङ्ख्या तथा उसके वालेन्सकोष में इलेक्ट्रानों की सङ्ख्या सामान्यतया उसके रासायनिक धर्म को निरूपित करती हैं। हाइड्रोजन एवं हिलियम परमाणु का केवल एक ही इलेक्ट्रान कोष होता है, अन्य सभी परमाणुओं के दो या दो से अधिक इलेक्ट्रानकोष होते हैं। हाइड्रोजन परमाणु का केवल एक इलेक्ट्रान होता है एवं हिलियम परमाणु के कुल दो इलेक्ट्रान होते हैं। एक-इलेक्ट्रानकोषीय परमाणु के कुल दो इलेक्ट्रान होने पर ही वह स्थिर स्थिति प्राप्त करता है। दो या दो से अधिक इलेक्ट्रानकोष से विशिष्ट परमाणुओं के नाभिकोष से दूरतम कोष (वालेन्सकोष) में कुल आठ इलेक्ट्रान होने पर वे परमाणु रासायनिक प्रक्रिया की दृष्टि से अपेक्षाकृत स्थिर एवं निष्क्रिय रहते हैं, अर्थात् अन्य सजातीय अथवा विजातीय परमाणुओं के साथ रासायनिक बन्धन की स्थापना करने की उनकी शक्ति अत्यन्त क्षीण होती है।

२.५.४ यौगिकाणुओं के असमवायिकारण के रूप में कोवेलेन्ट एवं आयोनिक रासायनिक बन्धन

२.५.४.१ कोवेलेन्ट रासायनिक बन्धन

यौगिकाणुओं में परमाणुओं के परस्पर विद्युत्-चुम्बकीय बन्धन ही यौगिकाणुओं के असमवायिकारण की भूमिका निभाता है। रसायन शास्त्र में इन बन्धनों का सूक्ष्म एवं व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है।[३१] यौगिकाणुओं के असमवायिकारण रूपी विद्युत्-चुम्बकीय बन्धन दो प्रकार के होते हैं– *कोवेलेन्ट बन्धन* एवं *आयोनिक बन्धन*। स्थूल रूप में यौगिकाणुघटक एक परमाणु के वालेन्सकोष में रहने वाले एक इलेक्ट्रान के साथ उस यौगिकाणु के अन्य एक घटकपरमाणु के वालेन्सकोष में स्थित एक इलेक्ट्रान का युगल बनने से तथा उनकी कक्षाओं का परस्पर सङ्क्रमण होने पर सरलतम कोवेलेन्ट बन्धन सम्भव होता है। उदाहरणस्वरूप दो हाइड्रोजन परमाणुओं के दैशिक सन्निकर्षविशेष से उनके दो इलेक्ट्रानों का युगल निर्माण तथा कक्षाओं के सङ्क्रमण से हाइड्रोजन द्व्यणुक $H_२$ की उत्पत्ति सम्भव होती है। प्रतीक में उपर्युक्त बन्धन प्रक्रिया निम्न रूप में दर्शायी जा सकती है–

$$H\cdot + \cdot H \rightarrow H{:}H$$

---

३१. देखिये *जनरल केमेस्ट्रि*, प्रथम भाग, पृ.११९-१६४

इस प्रकार के प्रतीक में यौगिकाणु का प्रत्येक घटक परमाणु अपने प्रतीक द्वारा दर्शाया जाता है। उसके केवल वालेन्सकोष के भिन्न-भिन्न इलेक्ट्रान उस प्रतीक के चारों ओर भिन्न-भिन्न बिन्दुओं के द्वारा दर्शाये जाते हैं। वालेन्सकोष में इलेक्ट्रानों को, युगल अथवा अकेले होने की स्थिति के अनुसार बिन्दुयुगल अथवा एक बिन्दु द्वारा दर्शाया जाता है। यौगिकाणु घटक दो परमाणुओं के बीच कोवेलेन्ट बन्धन की स्थापना करने वाला इलेक्ट्रान युगल उनके प्रतीकों के बीच एक बिन्दुयुगल द्वारा दर्शाया जाता है। क्लोरिन एवं नाइट्रोजन के वालेन्सकोषों में यथाक्रम सात एवं पाँच इलेक्ट्रान होते हैं। उनके द्व्यणुकों के बन्धन निम्न प्रकार के होते हैं—

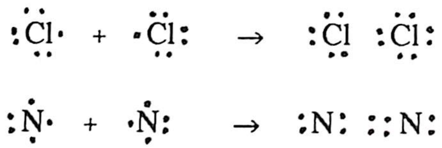

क्लोरिन, फ्लोरिन, ब्रोमिन आदि हेलोजिन परिवार के परमाणुओं के वालेन्सकोष में कुल सात इलेक्ट्रान होते हैं, जिनमें से तीन युगल अवस्था में एवं एक अयुगल भाव में अकेला रहता है। नाइट्रोजन परमाणु के वालेन्सकोष में कुल पाँच इलेक्ट्रान होते हैं, जिनमें से तीन अकेले एवं दो युगल होकर नाभिकोष का परिक्रमण करते हैं। आक्सीजन का वालेन्सकोष में कुल छः इलेक्ट्रान होते हैं जिनमें से दो अयुगल होकर रहते हैं। कोवेलेन्ट बन्धन प्रक्रिया से विजातीय परमाणुओं द्वारा उत्पन्न हाइड्रोक्लोरिक एसिड (HCl), जल ($H_२O$) एवं अमोनिया ($NH_३$) यौगिकाणुओं के बन्धन यथाक्रम निम्न प्रकार के हैं—

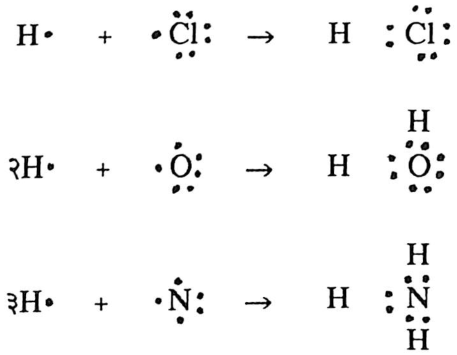

एक परमाणु के एक इलेक्ट्रान कोष के नाभिकोष से क्रमिक सङ्ख्या उस इलेक्ट्रान की शक्ति का स्तर सूचित करती है। पुनश्च द्वितीय कोष से आरम्भ करके प्रत्येक कोष में इलेक्ट्रान की कक्षाओं का भिन्न-भिन्न शक्तिस्तर भी हो सकता है। प्रत्येक परमाणु में नाभिकोष के प्रोटान तथा उसके इलेक्ट्रानकोषस्थ इलेक्ट्रानों के बीच परस्पर आकर्षण तथा इलेक्ट्रानों के बीच परस्पर विकर्षण से उस परमाणु रूपी अवयवी की विद्युत्शक्ति का सन्तुलन बना रहता है। परमाणु के वालेन्सकोष अथवा तत्सन्निकट कोष से एक इलेक्ट्रान को परमाणु से अलग करने के लिये बाहरी शक्ति की आवश्यकता होती है। इस शक्ति का परिमाण, नाभिकोष की धनात्मक विद्युत्शक्ति की सङ्ख्या तथा इलेक्ट्रान की नाभिकोष से दूरता के द्वारा निरूपित होता है। प्रत्येक यौगिकाणु भी विद्युत्शक्ति की दृष्टि से सन्तुलित रहता है, अर्थात् एक यौगिकाणु में सभी घटक परमाणुओं के नाभिकोष के प्रोटानों की कुल सङ्ख्या उनके इलेक्ट्रानों की कुल सङ्ख्या के बराबर होती है।

२.५.४.२ आयनों के स्वरूप, उत्पत्ति एवं विनाश

विद्युत्शक्ति की दृष्टि से जब एक परमाणु अथवा एकाधिक परमाणुओं का व्यूह असन्तुलित होता है तब वह *आयन* कहलाता है। धनात्मक विद्युत्शक्ति से युक्त आयन *केटायन* कहलाते हैं एवं ऋणात्मक विद्युत्शक्ति से युक्त आयन *एनायन* कहलाते हैं। उदाहरणस्वरूप एक परमाणु विशिष्ट हाइड्रोजन, सोडियम, पोटासियम (K) के केटायन यथाक्रम H^+, Na^+, K^+ द्वारा अभिहित होते हैं। ये सब केटायन, सम्बद्धपरमाणु के वालेन्सकोष से एक इलेक्ट्रान के अलग हो जाने के कारण उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार फ्लोरिन एवं क्लोरिन परमाणु के सात इलेक्ट्रान विशिष्ट वालेन्सकोष में जब एक अन्य इलेक्ट्रान आ जाता है तब ऋणात्मक (एक परमाणु विशिष्ट) आयन अर्थात् एनायन $F^{-१}$ एवं $Cl^{-१}$ उत्पन्न होते हैं।

न्यायवैशेषिक अवयव-अवयवी सिद्धान्त के अनुसार अवयवभेद से अवयवी भिन्न होते हैं। परमाणु रूपी अवयवी स्वीय प्रोटान, न्यूट्रान एवं इलेक्ट्रान रूपी अवयवों में समवेत होकर उत्पन्न होता है। फ्लोरिन परमाणु का नाभिकोष, नौ प्रोटानों एवं दश न्यूट्रानों से संरचित है एवं उसके कुल दो इलेक्ट्रानकोष होते हैं जिनमें यथाक्रम दो एवं सात इलेक्ट्रान रहते हैं। परन्तु फ्लोरिन एनायन $F^{-१}$ के द्वितीय इलेक्ट्रान कोष में आठ इलेक्ट्रान होने से एवं

उसके कुल दश इलेक्ट्रान होने से वह अवयवी के रूप में अवश्य फ्लोरिन परमाणु F से भिन्न है। सङ्क्षेप में $F^{-१}$, F से एक अतिरिक्त इलेक्ट्रान रूपी अवयव के उपचय से उत्पन्न होता है। उसी प्रकार सोडियम केटायन Na^{+}, Na से उसके वालेन्सकोष के एकमात्र इलेक्ट्रान के अपचय से उत्पन्न होता है। सामान्य रूप में एक एनायन, सम्बद्ध परमाणु के वालेन्सकोष में एक या एकाधिक इलेक्ट्रान रूपी अवयवों के उपचय से उत्पन्न होने के कारण उस परमाणु से भिन्न है। उसी प्रकार एक केटायन सम्बद्ध परमाणु का वालेन्सकोष से एक या एकाधिक इलेक्ट्रानों के अपचय से उत्पन्न होने के कारण सम्बद्ध परमाणु से भिन्न है। पुनश्च इलेक्ट्रानों के उपचय एवं अपचय से परमाणु की विद्युत्-चुम्बकीय सन्निकर्ष व्यवस्था अवश्य परिवर्तित होती है एवं असमवायिकारण के भेद से अवयवी रूपी कार्यभेद अवश्यम्भावी है।

२.५.४.३ यौगिकाणुओं के अवयवों के रूप में आयन और असमवायिकारण के रूप में आयोनिक बन्धन

एक-परमाणुविशिष्ट परस्पर विपरीत विद्युत्शक्ति से युक्त आयनों के बन्धन से संरचित यौगिकाणुओं के उदाहरण $H^{+}Cl^{-}$, $Na^{+}Cl^{-}$, पोटासियम क्लोराइड $(K^{+}Cl^{-})$ आदि हैं। सोडियम परमाणु Na तथा सोडियम केटायन Na^{+} के रासायनिक धर्म भिन्न-भिन्न हैं। सोडियमखण्ड जल में रखने पर सोडियम हाइड्रोक्साइड $(Na^{+}(OH)^{-})$ एवं हाइड्रोजन वाष्प $H_{२}$ उत्पन्न होते हैं। नित्य व्यवहार्य लवणखण्ड जल में रखने पर Na^{+} एवं Cl^{-} परस्पर से अलग अवश्य हो जाते हैं, परन्तु Na^{+} जल के साथ रहने पर भी $Na^{+}(OH)^{-}$ एवं $H_{२}$ उत्पन्न नहीं होते हैं। सोडियम हाइड्रोक्साइड $Na^{+}(OH)^{-}$ यौगिकाणु के आयोनिक बन्धन सोडियम केटायन Na^{+} एवं हाइड्रोक्साइड आयन $(OH)^{-}$ रूपी अवयवों से सम्भव होता है। हाइड्रोक्साइड एनायन $(OH)^{-}$ दो परमाणुओं से संरचित आयन का एक उदाहरण है। एकाधिक परमाणुओं से संरचित एनायन के अन्य उदाहरण है $(NO_{३})^{-}$ तथा $(SO_{४})^{२-}$ एवं केटायन के उदाहरण $(NH_{४})^{+}$ तथा $(H_{३}O)^{+}$ है। हाइड्रोक्लोरिक एसिड एवं जल के मिश्रण से निम्न रासायनिक प्रक्रिया होती है–

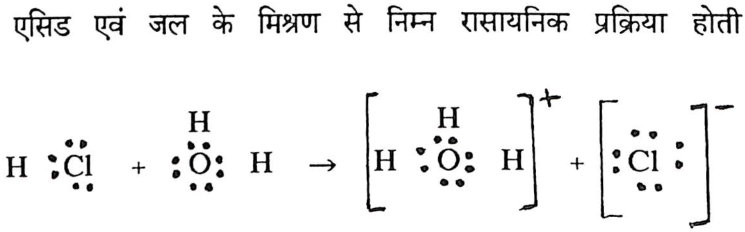

उसी प्रकार एमोनिया एवं जल के मिश्रण से घटित रासायनिक प्रक्रिया निम्न प्रकार की है–

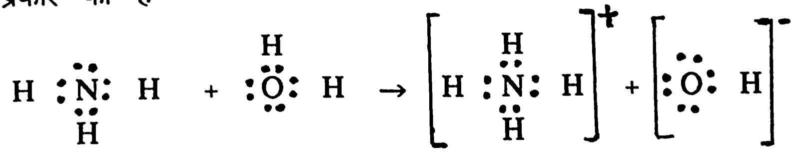

प्रथम प्रक्रिया में HCl यौगिकाणु से जल परमाणु एक हाइड्रोजन प्रोटान H^+ आकृष्ट करके $(H_३O)^+$ केटायन में परिवर्तित होता है एवं क्लोरिन एनायन अलग रह जाता है। द्वितीय प्रक्रिया में एमोनिया यौगिकाणु जल यौगिकाणु $H_२O$ से एक हाइड्रोजन प्रोटान अपनी तरफ आकृष्ट करके केटायन $(NH_४)^+$ में परिवर्तित होता है एवं एक हाइड्रोजन प्रोटान H^+ अलग होने से जल यौगिकाणु $H_२O$, हाइड्रोक्साइड एनायन $(OH)^-$ में परिवर्तित होता है। नाइट्रिक एसिड यौगिकाणु $HNO_३$, हाइड्रोजन केटायन H^+ एवं एनायन $(NO_३)^-$ के आयोनिक बन्धन से उत्पन्न होता है। उसी प्रकार सल्फ्यूरिक एसिड यौगिकाणु $H_२SO_४$, दो हाइड्रोजन केटायन $२H^+$ एवं $(SO_४)^{२-}$ के आयोनिक बन्धन से उत्पन्न होता है। सामान्यतया एसिड यौगिकाणु, एक या एकाधिक हाइड्रोजन केटायन एवं एसिड रेजिड्यू एनायन के परस्पर आकर्षण से जन्य आयोनिक बन्धन द्वारा उत्पन्न होता है। उसी प्रकार लवण यौगिकाणु, एक या एकाधिक सजातीय धातु परमाणु के केटायन एवं एक एसिड रेजिड्यूरूपी एनायन के परस्पर आकर्षण से जन्य आयोनिक बन्धन द्वारा उत्पन्न होते है। उसी प्रकार सोडियम पोटासियम एवं केलशियम हाइड्रोक्साइड (NaOH, KOH एवं $Ca(OH)_२$) आदि एलकालिक यौगिकाणु यथाक्रम केटायन Na^+, K^+, $Ca^{२+}$ एवं हाइड्रोक्साइड एनायन $(OH)^-$ के परस्पर आकर्षण से जन्य आयोनिक बन्धन द्वारा उत्पन्न होते हैं।

दो परमाणुओं का एक या एकाधिक इलेक्ट्रान युगलों की कक्षा के सङ्क्रमण से जन्य कोवेलेन्ट बन्धन, दो परमाणुओं के मध्यवर्ती प्रदेशविशेष में व्याप्त होकर रहता है, न कि सभी दिशाओं में। इसीलिये इस प्रकार के बन्धन दिशायुक्त (डाइरेक्शनल) एवं प्रदेशवृत्ति कहलाते हैं। इसके विपरीत प्रत्येक आयन की विपरीत विद्युत्शक्ति से विशिष्ट आयनों को आकृष्ट करने की शक्ति उस आयन के द्वारा अधिकृत वर्तुलाकार प्रदेश के चारों ओर समभाव में व्याप्त होकर रहती है, जिस प्रकार एक चुम्बक के

प्रत्येक ध्रुव के चारों ओर चुम्बकीय शक्ति व्याप्त होकर रहती है। एक आयन, विपरीत विद्युत्शक्ति से युक्त कितने आयनों को वस्तु की घनीभूत अवस्था में अपने साथ बाँध सकेगा, यह आयनों के दैशिक विस्तार के परिमाणों के द्वारा निरूपित होता है। इसीलिये आयोनमूलकबन्धनजन्य सभी वस्तुएँ, घनीभूत अवस्था में मिसरीखण्ड जैसे रूप में उपलब्ध होती हैं। उदाहरणस्वरूप नित्यव्यवहार्य लवणखण्ड में सोडियम केटायन (Na^+) के सभी दिशाओं से क्लोरिन एनायन (Cl^-) सन्निकृष्ट होकर रहते हैं एवं प्रत्येक क्लोरिन एनायन (Cl^-) की सभी दिशाओं में सोडियम केटायन (Na^+) रहते हैं तथा लवणखण्ड एक विशाल यौगिकाणु या क्रिष्टल का रूप धारण करता है।

ऊपर विचार किये गये दो प्रकार के रासायनिक बन्धन या सन्निकर्ष न्यायवैशेषिक कारणतासिद्धान्त के कार्यैकार्थ असमवायिकारण के उदाहरण हैं। वस्तुतः यौगिकाणुओं के असमवायिकारण रूपी रासायनिक बन्धन तथा उनमें घटक परमाणुओं के परस्पर दैशिक अवस्थानविषयक विचार को आधुनिक रसायनशास्त्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।[३२]

२.५.५ यौगिकाणुओं के कारणगुणोत्पन्न एवं अकारणगुणोत्पन्न गुण

अवयवी के जो गुण स्वीय अवयवनिष्ठ सजातीय गुणों से उत्पन्न होते हैं वे *कारणगुणोत्पन्न*[३३] कहलाते हैं। पटरूप पट में समवेत होता है अर्थात् पटरूप का आश्रय पट है एवं पट तन्तुओं में समवेत रहता है। उन तन्तुओं में अर्थात् पटरूप के आश्रय पट के समवायिकारण तन्तुओं में समवेत जो तन्तुरूप, उससे उत्पन्न होने से ही पटरूप कारणगुणोत्पन्न होता है। अवयवी के जो धर्म कारणगुणोत्पन्न नहीं होते हैं वे *अकारणगुणोत्पन्न* कहलाते हैं।[३४] परमाणु का गुरुत्वरूपी धर्म, परमाणु घटक प्रोटान, न्यूट्रान

---

३२. देखिये, एन. आरवूमेटोव, *जनरल एण्ड इनऑर्गनिक केमेष्ट्रि*, ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड की भूमिका, पृ. ५०, अङ्ग्रेजी संस्करण, मीर पब्लिसर्स, मास्को, १९८७

३३. ''स्वाश्रयसमवायिसमवेतगुणजन्यत्वं कारणगुणोत्पन्नत्वम्...'' *दिनकरी*, पृ. ३६१

३४. परम्परागत मत में ज्ञान, सुख, दुःखादि आत्मनिष्ठ गुण एवं आकाशनिष्ठ शब्दगुण सङ्क्षेपतः विभुद्रव्यनिष्ठ विशेष गुण तथा पाकज रूप, रस, गन्ध अकारणगुणोत्पन्न गुण के रूप में स्वीकृत हैं। आत्ममनसंयोग, भेरी आकाश संयोग, तेज संयोग आदि विशेष प्रकार के संयोग इन गुणों के

एवं इलेक्ट्रानों के गुरुत्व के द्वारा निरूपित होता है, यद्यपि उनके गुरुत्वों के योगफल से वह सर्वदा किञ्चित् न्यूनतर होता है, क्योंकि नाभिकोष के निर्माण में न्यूट्रान एवं प्रोटानों के गुरुत्व का एक अत्यल्प भाग आवश्यक बन्धनशक्ति के रूप में रूपान्तरित होता है।[३५] यौगिकाणुओं का गुरुत्व यौगिकाणुघटक परमाणुओं के गुरुत्व से उत्पन्न होता है। परन्तु यौगिकाणुओं के अनेक गुण यौगिकाणुघटक परमाणुनिष्ठ सजातीय कारणगुणोत्पन्न नहीं होते हैं। स्थूल घट-पटादि अवयवियों में रूप, रस, गन्ध, कारणगुणोत्पन्न होने पर भी रसायन शास्त्र की दृष्टि से यौगिकाणुओं के रूप-रसादि सामान्यतया सजातीय कारणगुणोत्पन्न नहीं होते हैं। उदाहरणस्वरूप कॉपरमोनोक्साइड (CuO) एक कृष्ण वर्ण का चूर्ण है, परन्तु कॉपर (Cu) ताम्रवर्ण है एवं आक्सीजन रूपहीन है। कृष्ण वर्ण के कॉपरमोनोक्साइड चूर्ण को रूपहीन सल्फ्यूरिक एसिड ($H_२SO_४$) में मिलाकर मिश्रण को जब उत्तप्त किया जाता है, तब नीलरूपविशिष्ट कॉपरसल्फेट ($CuSO_४$) जल के साथ प्राप्त होता है— $CuO+H_२SO_४=CuSO_४+H_२O$। CuO के कृष्ण वर्ण की असमवायिकारणता को कॉपर के ताम्रवर्ण एवं आक्सीजन के रूपाभाव में स्वीकार करना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि तेज संयोग CuO का निमित्तकारण है।[३६]

२.५.६ निमित्तकारणता एवं अवयविनाश की असमवायिकारणनाशजन्यता

समवायी एवं असमवायी कारणों से भिन्न कारण निमित्त कारण कहलाते हैं।[३७] दण्ड, चक्र, कुम्भकारादि घट के निमित्त कारण हैं। दो-एक अनुपात

असमवायिकारण के रूप में स्वीकृत हैं। परन्तु न्यायवैशेषिक कारणतासिद्धान्त की दृष्टि से रासायनिक प्रक्रिया से उत्पन्न यौगिकाणुघटित प्रत्यक्षग्राह्य अवयविनिष्ठ रूप, रस, गन्धादि की असमवायिकारण विषयक व्यवस्था के लिये सूक्ष्मतर विचार की आवश्यकता है।

३५. *जनरल एण्ड इनऑर्गेनिक केमेष्ट्रि*, पृ. १७

३६. उदयन लिखते हैं— "न हि श्यामा अवयवा, अवयवी च रक्त इति सम्भवति।" *किरणावली*, पृ.११९
परन्तु उपर्युक्त प्रकार के नियम स्वीकार करने पर रसायन शास्त्र के लिये तत्त्वमीमांसीय आधार प्रस्तुत करना सम्भव नहीं हो पायेगा।

३७. "समवायिकारणभिन्नत्वे सति असमवायिकारणभिन्नत्वे सति कारणत्वं निमित्त-कारणस्य लक्षणमित्यर्थः।" *तर्कसङ्ग्रह* टीका *न्यायबोधिनी*, पृ. ४१

में हाइड्रोजन एवं आक्सीजन वाष्पों के दैशिक सन्निकर्षविशेष तथा तेजसंयोग द्वारा यौगिकाणु H_2O की उत्पत्ति होती है। हाइड्रोजन एवं आक्सीजन द्व्यणुक H_2 एवं O_2 वाष्प के रूप में रहते हैं एवं दैशिक सन्निकर्षविशेष तथा तेजसंयोग से उनके विघटन एवं जल के यौगिकाणुओं की संरचना होती है। दो हाइड्रोजन परमाणु एवं एक आक्सीजन परमाणु जलयौगिकाणु H_2O के समवायिकारण हैं तथा उनके कोवेलेन्ट बन्धन असमवायिकारण हैं। वाष्पीय द्व्यणुकों का दैशिक सन्निकर्षविशेष तथा तेज-संयोग भी जल के यौगिकाणु के कारण हैं। इस प्रकार के कारण निमित्त कारण कहलाते हैं।

न्यायवैशेषिक कारणतासिद्धान्त की असमवायिकारणता अवश्य कुछ समस्या खड़ी करती है जिसके लिये विशेष व्यवस्था करना आवश्यक हो जाता है।[३८] परन्तु यह निर्विवाद है कि समवायिकारण अथवा असमवायिकारण के नाश होने पर अवयवी का विनाश होता है। वस्तुतः समवायिकारण के नाश से उसमें समवेत असमवायिकारण का नाश अवश्यम्भावी है, परन्तु असमवायिकारण के नाश से अवयवी के समवायिकारण का नाश होना आवश्यक नहीं है। पट के तन्तुनाश से पट नष्ट होता है। तन्तुनाश होने पर तन्तुसंयोग अवश्य विनष्ट होता है। अतः लाघव की दृष्टि से सर्वत्र असमवायिकारण के नाश को ही अवयवी के विनाश के कारण के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। पुनश्च, रासायनिक प्रक्रियाओं में यौगिकाणु घटक परमाणु अथवा आयनों का विनाश नहीं होता है, केवल उनके परस्पर बन्धनरूपी असमवायिकारण के विनाश से ही यौगिकाणुओं का विनाश होता है। साधारण रासायनिक प्रक्रिया से परमाणुओं के नाभिकोषों में प्रोटान एवं न्यूट्रानों के परस्पर बन्धन, अत्यन्त सुदृढ़ता के कारण, अप्रभावित रहते हैं, यद्यपि परमाणुओं के वालेन्सकोष से एवं उसके समीपस्थ कोष से इलेक्ट्रानों का निष्कासन से अपचय एवम् उपचय सम्भव होता है। परमाणु एवं यौगिकाणु दोनों अवयवी कोटि के होने पर भी घटक तत्त्वों के बन्धन रूपी असमवायिकारण के भेद से परमाणुओं की स्थिति यौगिकाणुओं की स्थिति की तुलना में अनेक गुणा स्थिरतर होती है। अतः परमाणु एवं यौगिकाणुओं की संरचना तथा विनाशविषयक भौतिक एवं रसायनशास्त्रीय प्रक्रियानिर्वाह के लिये असमवायी एवं निमित्त कारणों में भेद करना आवश्यक है।

---

३८. देखिये, *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली,* पृ. ८२-८३

२.६ कारणता एवं अन्यथासिद्धि

२.६.१ कारणता का स्वरूप

जिस कार्य का जो नियत रूप में पूर्ववर्ती परन्तु अन्यथासिद्ध नहीं होता है वह उस कार्य का कारण होता है। घटोत्पत्ति के स्थल में रासभ की उपस्थिति नियत नहीं है, आकस्मिक है; परन्तु दण्ड-चक्रादि की उपस्थिति आकस्मिक नहीं है। 'नियत' पद का अर्थ 'व्यापक' है। जहाँ-जहाँ घट की उत्पत्ति होती है वहाँ-वहाँ दण्ड-चक्रादि रहते हैं। 'पूर्ववर्ती' पद का अभिप्रेत अर्थ है– 'कार्य की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्ववर्ती क्षण में कार्योत्पत्तिस्थल में उपस्थित रहना'। कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्योत्पत्ति के अधिकरण में कारणता के अवच्छेदक धर्म से सम्बद्ध होकर कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में रहना ही कारण का कार्य के पूर्ववर्ती होने का परिष्कृत अर्थ है। पट रूपी कार्य की कार्यता का अवच्छेदक धर्म है 'पटत्व' जाति एवं कार्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध है समवाय। जब पटोत्पादक सभी कारण, प्रतिबन्धक के अभाव के साथ एकत्र रहते हैं, अर्थात् जब पटोत्पादक सामग्री उपस्थित रहती है तब पट की उत्पत्ति अवश्य होती है। सामग्री की उपस्थिति का क्षण *सामग्रीक्षण* नाम से भी जाना जाता है। यह क्षण पटोत्पत्ति का अव्यवहित पूर्ववर्ती क्षण है। उस क्षण में तन्तु, 'तादात्म्य' सम्बन्ध से समवाय सम्बन्ध रूपी कार्यता के अवच्छेदक से पटरूपी कार्य के अधिकरण में अवश्य रहता है। उस पट (p) से भिन्न अन्य एक पट (p*) का समवायसम्बन्ध से अधिकरण रूपी तन्तु (t*) का, उस पट (p) के समवाय सम्बन्ध से अधिकरण तन्तु (t) के साथ तादात्म्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है। उसी प्रकार समवाय सम्बन्ध से पट रूपी कार्य के अधिकरण तन्तु में समवाय रूपी कारणता के अवच्छेदक सम्बन्ध से तन्तुसंयोग भी, पटोत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में अर्थात् सामग्रीक्षण में अवश्य रहता है। उसी प्रकार साक्षात् अथवा परम्परा सम्बन्ध से पट के निमित्त कारण, उसके समवायिकारण से सम्बद्ध होकर सामग्रीक्षण में उपस्थित रहते हैं। पहले बताया गया है कि 'नियत' पद का अर्थ है 'व्यापक'। 'कारण कार्य का नियत पूर्ववर्ती होता है'– ऐसा कहने का परिष्कृत अर्थ यह है कि कार्यता के अवच्छेदक सम्बन्ध से कार्य के अधिकरण में कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में कारणता-अवच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिक जो अभाव रहता है उस अभाव

का प्रतियोगी न होना।[३९] पटोत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में समवायसम्बन्धावच्छिन्न तन्तुसंयोग का अभाव तन्तु में कभी नहीं रहता है एवं इसीलिये तन्तुसंयोग पटोत्पत्ति का व्यापक है।

२.६.२ अन्यथासिद्धिविषयक विचार

कार्य के नियतपूर्ववर्ती को कारण मान लेने पर तन्तुरूप एवं तन्तुत्व जाति को भी पट के कारण के रूप में स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है जो कि अभीष्ट नहीं है। इसीलिये कारण के लक्षण में 'अनन्यथासिद्ध' अर्थात् 'जो अन्यथासिद्ध नहीं है' रूपी विशेषण की आवश्यकता पड़ती है। कारिकावली एवं न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार विश्वनाथ पञ्चानन पाँच प्रकार के अन्यथासिद्ध[४०] स्वीकार करते हैं।

जिस कार्य के प्रति जिस कारण का पूर्ववर्तित्व जिस धर्म से अवच्छिन्न होकर ज्ञात होता है वह धर्म उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है।[४१] उदाहरणस्वरूप अन्वयव्यतिरेक से तन्तुत्व धर्म से अवच्छिन्न होकर तन्तु पट के कारण के रूप में गृहीत होने से तन्तुत्व जाति पट के प्रति अन्यथासिद्ध है। पट रूपी कार्य के अधिकरण तन्तु में तन्तुत्वजाति समवाय सम्बन्ध से रहकर पट की नियत पूर्ववर्ती होने पर भी तन्तुसंयोग के समान पट की असमवायिकारण अथवा तन्तुवाय के समान निमित्तकारण नहीं होती है। उसी प्रकार अन्वयव्यतिरेक से घट के प्रति दण्ड की कारणता, दण्डत्व धर्म से अवच्छिन्न होकर ज्ञात होने पर ही, घट के प्रति दण्डत्व की नियतपूर्ववृत्तिता गृहीत होती है। अतः घट रूपी कार्य के प्रति दण्डत्व अन्यथासिद्ध है।

जिस कार्य के प्रति जो पदार्थ का नियतपूर्ववृत्तित्व, स्वतन्त्र रूप में अन्वयव्यतिरेक के द्वारा गृहीत न होकर किसी अन्य कारण के

---

३९. "कार्यतावच्छेदकसम्बन्धेन कार्याधिकरणे कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन विद्यमानात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकतद्धर्मवत्त्वं तेन रूपेण कारणत्वमिति समुदितोऽर्थः बोध्यः।" तर्कसङ्ग्रहदीपिका टीका *नीलकण्ठप्रकाशिका*, पृ. २३०

४०. *कारिकावली-मुक्तावली*, पृ. ८६-८९

४१. "यत्कार्यं प्रति कारणस्य पूर्ववृत्तिता येन रूपेण गृह्यते, तत्कार्यं प्रति तद्रूपमन्यथासिद्धमित्यर्थः। यथा घटं प्रतिदण्डत्वस्य।" *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*, पृ.८६

पुच्छलग्न के रूप में होता है, वह पदार्थ कार्य का नियतपूर्ववृत्ति होने पर भी उसके प्रति अन्यथासिद्ध है।[४२] उदाहरणस्वरूप तन्तु रूप पट के प्रति अन्यथासिद्ध है, क्योंकि तन्तु रूप पट का नियतपूर्ववृत्ति होने पर भी उसकी पूर्ववृत्तिता तन्तु की पट के साथ अन्वयव्यतिरेक द्वारा गृहीत होती है, न कि स्वतन्त्र रूप में।

पदार्थव्यवस्था में किसी कार्य अथवा कार्यकोटिविशेष के प्रति नियतपूर्ववर्ती रूप में गृहीत होने पर ही जिसका नियतपूर्ववृत्तित्व उस कोटि में अन्तर्भूत न होने वाले कार्यों के प्रति गृहीत होता है वह उस कोटि से भिन्न कार्यों के प्रति अन्यथासिद्ध होता है।[४३] उदाहरणस्वरूप सूर्य की गुरुत्वाकर्षण शक्ति तथा पृथिवी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति सभी रासायनिक प्रक्रियाओं में नियत पूर्ववर्ती के रूप में रहने पर भी यौगिकाणुओं रूपी कार्यों के प्रति अन्यथासिद्ध है; क्योंकि उनके अस्तित्व यथाक्रम पृथिवी द्वारा सूर्य की परिक्रमा तथा आकाश से गतिहीन अवस्था में विमुक्त मूर्तद्रव्यों की नियन्त्रित वेगवृद्धि के असमवायिकारण के रूप में ही अनुमित हुई हैं।

जिस कार्य का कारण विशेष के प्रति पूर्ववृत्तित्व ग्रहण होने पर ही जिसका पूर्ववृत्तित्व गृहीत होता है, वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है।[४४] उदाहरणस्वरूप हाइड्रोजन द्व्यणुक रूपी अवयवी (H_2) दो हाइड्रोजन परमाणुओं (H) में समवेत रहता है। हाइड्रोजन परमाणु (H) स्वयं एक प्रोटान एवं एक इलेक्ट्रान रूपी मौलिक तत्त्वों में समवेत रहता है। परन्तु वे प्रोटान एवं इलेक्ट्रान हाइड्रोजन द्व्यणुक (H_2) के नियत पूर्ववर्ती होने पर भी उसके प्रति अन्यथासिद्ध हैं। पट के प्रति तन्तुवाय की

---

४२. "यस्य स्वातन्त्र्येणाऽन्वयव्यतिरेकौ न स्तः, किन्तु कारणमादायैवान्वयव्यतिरेकौ गृह्येते, तदन्यथासिद्धम्। यथा– दण्डरूपम्।" *वही,* पृ. ८६

४३. "अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते, तस्य तत्कार्यं प्रति अन्यथासिद्धत्वम्। यथा घटादिकं प्रति आकाशस्य।" *वही,* पृ.८७

४४. "यत्कार्यजनकं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववर्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रति अन्यथासिद्धत्वम्। यथा कुलालपितुर्घटं प्रति..." *वही,* पृ.८८

निमित्तकारणता गृहीत होने पर ही तन्तुवायपिता के तन्तुवाय का नियतपूर्ववृत्ति होने के कारण, पट के प्रति तन्तुवायपिता का नियतपूर्ववृत्तित्व ज्ञात होता है। अतः तन्तुवाय का पिता पट रूपी कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है।

२.६.३ लाघवन्याय एवं अन्यथासिद्धि

अवश्यक्लृप्त एवं नियतपूर्ववर्ती तत्त्वों से कार्योत्पत्ति सम्भव होने से उनसे भिन्न तत्त्व कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होते हैं।[४५] अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्ती पद से 'लघुनियतपूर्ववर्ती' विवक्षित है। कार्योत्पादक सामग्री के निरूपण में लाघव वाञ्छनीय है। जितने तत्त्व स्वीकार करने पर प्रक्रिया का निर्वाह सम्भव हो जाता है उससे अधिक तत्त्वों में कारणता स्वीकार करना अनावश्यक है। दिनकर भट्टाचार्य इस सन्दर्भ में तीन प्रकार का लाघव स्वीकार करते हैं– शरीरकृत, उपस्थितिकृत एवं सम्बन्धकृत।[४६] द्रव्य के प्रत्यक्ष में महत्त्व की कारणता स्वीकार्य है, न कि अनेकद्रव्यवत्त्व, अर्थात् परमाणु एवं द्व्यणुकों से भिन्न होने का धर्म, क्योंकि उससे शरीरकृत लाघव होता है। गन्धोत्पत्ति के स्थल में गन्ध के प्रागभाव की कारणता स्वीकार्य है न कि रूप के प्रागभाव की, क्योंकि प्रागभाव के प्रतियोगी रूपी गन्ध का ज्ञान पहले रहने से उपस्थितिकृत लाघव होता है। घट की कारणता दण्डरूप एवं दण्डत्वादि में स्वीकार करने पर दण्ड के कपाल के साथ संयोग के स्थान पर दण्डत्व एवं दण्डरूप का घटोत्पत्ति के अधिकरण कपाल के साथ स्वसमवायिदण्डसंयोग रूपी परम्परा सम्बन्ध की आवश्यकता होने से सम्बन्धकृत गौरव होता है। तत्त्वचिन्तामणिकार तीन प्रकार के अन्यथासिद्ध स्वीकार करते हैं एवं तर्कसङ्ग्रहकार उनके मत का अनुसरण करते हैं।[४७]

---

४५. "अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तद्भिन्नमन्यथासिद्धमित्यर्थः।" *वही,* पृ.८८-८९

४६. "लघुनियतपूर्ववर्तित्वरूपमवश्यक्लृप्तत्वमिह बोध्यम्। लघुत्वं च शरीरकृतमुपस्थितिकृतं सम्बन्धकृतं च। तत्र प्रथममनेकद्रव्यसमवेतत्वापेक्षया महत्त्वे। द्वितीयं गन्धं प्रति रूपप्रागभावापेक्षया गन्धप्रागभावे, गन्धात्मकप्रतियोगिज्ञानसत्त्वेन शीघ्रं तदुपस्थितेः। तृतीयं दण्डत्वदण्डरूपाद्यपेक्षया दण्डे। स्वाश्रयदण्डसंयोगादिघटितपरम्पराया गुरुत्वात्।" *दिनकरी,* पृ.८९

४७. (क) देखिये *तर्कसङ्ग्रहदीपिका,* पृ. २२५

वस्तुतः अन्यथासिद्धिविषयक विचार मूल रूप में लाघवविषयक विचार है। इसीलिये बाद के विचारकों ने लघुनियतपूर्ववर्ती से भिन्न को ही अन्यथासिद्ध माना है।[४८]

२.७ न्यायवैशेषिक कारणतासिद्धान्त की समीक्षा– रसायन शास्त्रीय तथ्यों के अनुसार

२.७.१ कारणसामग्री एवं तज्जन्य कार्यसङ्घात

जगत् में आकस्मिकत्व के प्रसङ्ग का परिहार एवं निरन्तर परिवर्तन की शास्त्रीय व्यवस्था के लिये कार्यकारण के सम्बन्ध तथा कारण एवं कार्यों की अनादि परम्परा को स्वीकार करना आवश्यक है। सामान्यतया कारणसामग्री केवल एक कार्य को उत्पन्न नहीं करती है। जिस प्रकार सामग्री सर्वदा एकाधिक तत्त्वों से घटित होती है उसी प्रकार सामग्री से जन्य भाव एवं अभावरूपी कार्यों की सङ्ख्या भी प्रायशः एकाधिक होती है। उदाहरणस्वरूप मोमबत्ती जलाने पर प्रकाश प्राप्त होता है। पाराफिन परिवार के द्रव्यों के यौगिकाणु $C_{१०}H_{२२}$ से $C_{१६}H_{३४}$ आकार के हो सकते हैं। प्रज्वलन की रासायनिक प्रक्रिया के सरल उदाहरणस्वरूप एसिटिलिन ($C_२H_२$) का प्रज्वलन लिया जा सकता है। तेज-संयोग से एसिटिलिन वाष्पीय आकार धारण करता है। वाष्पीय एसिटिलिन-यौगिकाणु, सन्निकृष्ट वायुमण्डल के आक्सीजन यौगिकाणु $O_२$ के साथ, रासायनिक प्रक्रिया से निम्न सूत्रानुसार, कार्बनडाइक्साइड ($CO_२$) एवं जल ($H_२O$) के साथ-साथ तेज एवं प्रकाश भी देते हैं।

$$२C_२H_२+५O_२ = ४CO_२+२H_२O$$

(ख) "निबन्धान्तरेषु अन्यथासिद्धेः पञ्चविधत्वेऽपि मणिकारमताभिप्रायेण आह– त्रिविधेति।" *तर्कसङ्ग्रहदीपिका* की *नीलकण्ठप्रकाशिका* टीका, पृ.२३०

(ग) वर्धमानोपाध्याय पाँच प्रकार के अन्यथासिद्ध स्वीकार करते हैं। देखिये *न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश*, पृ. ६५

४८. (क) "नवीनाः पुनरेवमाहुः– लघुनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तद्भिन्नत्व-मन्यथासिद्धत्वम्।" *नीलकण्ठप्रकाशिका*, पृ. २३२

(ख) "तथा च प्रकृतकार्यसजातीयप्रकृतकार्यभिन्नकार्यनिरूपितलघुधर्मावच्छिन्न-नियतपूर्ववृत्तिताशून्यत्वं तत्कार्यसजातीयनिरूपितान्यथासिद्धत्वमिति फलितार्थः।" *तर्कसङ्ग्रहदीपिका* की *नृसिंहप्रकाशिका* टीका, पृ. २३२

स्थूल दृष्टि से देखने पर कारणसामग्री से केवल प्रकाश प्राप्त होता है। वस्तुतः यहाँ पर तेज, प्रकाश, कार्बनडाइक्साइड एवं जल रूपी चार कार्यों का सङ्घात प्राप्त होता है।

२.७.२ सजातीय कार्यों की विजातीयसामग्रीजन्यता

न्यायवैशेषिक परम्परा, सामग्री एवं कार्य के बीच एक-एक सम्बन्ध स्वीकार करती है। इसीलिये यह परम्परा कारण-कार्य के सम्बन्ध की सिद्धि के लिये अन्वय सहचार एवं व्यतिरेक सहचार की माँग करती है एवं विजातीय सामग्री से सजातीय कार्योत्पत्ति की सम्भावना को नकारती है।[४९] परन्तु परम्परागत यह मान्यता प्रमाणसिद्ध नहीं है। वस्तुतः परम्परा का अभीष्ट एक-एक सम्बन्ध, केवल सामग्रीप्रकार एवं सामग्री जन्य कार्यसङ्घातप्रकार के मध्य ही स्थापित किया जा सकता है, न कि सामग्रीप्रकार एवं कार्यसङ्घातघटक कार्यजातियों के मध्य। उदाहरणस्वरूप जिंक धातु (Zn) एवं हाइड्रोक्लोरिक एसिड की रासायनिक प्रतिक्रिया से जिंक क्लोराइड (ZnCl) एवं वाष्पाकार में हाइड्रोजन द्व्यणुक प्राप्त होते हैं–

$$Zn + २HCl = ZnCl_२ + H_२$$

पुनश्च, सोडियम धातु (Na) खण्ड को जल में ($H_२O$) में रखने पर सोडियम हाइड्रोक्साइड (NaOH) एवं वाष्पाकार में हाइड्रोजन द्व्यणुक प्राप्त होते हैं–

$$२Na + २H_२O = २NaOH + H_२$$

उसी प्रकार लौह धातु कण (Fe), सॅल्फ्युरिक एसिड ($H_२SO_४$) में रखने पर हाइड्रोजन वाष्प ($H_२$) तथा फैरोसल्फेट ($FeSO_४$) प्राप्त होते हैं–

$$Fe + H_२SO_४ = FeSO_४ + H_२$$

उपर्युक्त तीन रासायनिक प्रक्रियाओं में हाइड्रोजन द्व्यणुकों को कार्य के रूप में लेने पर यह स्पष्ट होता है कि Zn, HCl, Na, $H_२O$, Fe एवं $H_२SO_४$ में से किसी को भी $H_२$ का नियत पूर्ववर्ती नहीं कहा

---

४९. ''यदि हि विजातीयेष्वपि एकजातीयकार्यकारणशक्तिः समवेयात्, न कार्यात् कारणविशेषः क्वाप्यनुमीयेत। कारणव्यावृत्त्या च न तज्जातीयस्यैव कार्यस्य व्यावृत्तिरवसीयेत। तदभावेऽपि तज्जातीयशक्तिमतोऽन्यस्मादपि तदुत्पत्तिसम्भवात्।'' *न्यायकुसुमाञ्जलि* १.६, पृ.२१-२२

जा सकता है। यह अवश्य सत्य है कि रासायनिक प्रक्रिया के प्रारम्भ में जिंक खण्ड हाइड्रोक्लोरिक एसिड में डालने पर हाइड्रोजन द्व्यणुक (H_2) उत्पन्न होते हैं, अर्थात् यहाँ पर हाइड्रोजन का सहचार है। जिंक (Zn) एवं हाइड्रोक्लोरिक एसिड (HCl) हाइड्रोजन द्व्यणुक के न तो समवायी न असमवायी कारण हैं। उनमें केवल H_2 की निमित्तकारणता स्वीकार की जा सकती है। परन्तु किसी प्रकार की कारणता स्वीकार करने के लिये परम्परागत न्यायवैशेषिक मतानुसार व्यतिरेकसहचार भी आवश्यक है जिसका अभाव यहाँ पर स्पष्ट है, क्योंकि जिंक (Zn) को हाइड्रोक्लोरिक (HCl) में न डालकर भी सोडियम (Na) खण्ड जल (H_2O) में डालने पर हाइड्रोजन (H_2) द्व्यणुक वाष्पाकार में उत्पन्न होते हैं। अतः अनुभव के आधार पर यह स्वीकार करना आवश्यक है कि रासायनिक प्रक्रियाओं में विजातीय वस्तु सन्निवेश से एकजातीय कार्य की उत्पत्ति होती है। अन्य शब्दों में कारण-कार्यसम्बन्ध के निरूपण के लिये व्यतिरेकसहचार अपरिहार्य नहीं है।

२.७.३ रासायनिक प्रक्रियाओं में पदार्थों का विघटन एवं संरचना– अवयवी के नाश से अवयव की प्राप्ति एवं समवायिकारणों से अवयव की उत्पत्ति

यह सत्य है कि रासायनिक प्रक्रिया के समीकरण रूपी स्थूल सूत्र में केवल प्रक्रिया के प्रथम एवं अन्तिम सोपान के तत्त्व यथाक्रम समीकरण के वाम एवं दक्षिण भाग में उल्लिखित होते हैं। सामान्यतया रासायनिक प्रक्रिया में दो से अधिक सोपान रहते हैं एवं प्रथम सोपान के रासायनिक तत्त्वों में अन्तिम सोपान के कार्यरूपी तत्त्वों के समवायिकारण प्राप्त नहीं होते हैं। प्रक्रिया के मध्यवर्ती सोपानों में ही अन्तिम सोपान के अवयवी रूपी कार्य तत्त्वों के समवायिकारण परिलक्षित होते हैं। पुनश्च, रासायनिक प्रक्रिया के स्थूल समीकरण से प्रक्रिया के लिये तेज पदार्थ की आवश्यकता अथवा प्रक्रिया के फलस्वरूप तेज का उद्गमन तथा प्रक्रिया के लिये आवश्यक अथवा प्रक्रिया से उद्गत तेज के परिमाण आदि ज्ञात नहीं होते हैं। रासायनिक प्रक्रिया के सूक्ष्म विश्लेषण आयोनिक एवं थर्मल (तेज तत्त्वमूलक) समीकरणों के द्वारा सूचित किया जाता है। यहाँ पर मध्यवर्ती सोपानों के द्वारा रासायनिक प्रक्रिया के प्रथम सोपान के तत्त्वों के विघटन तथा अन्तिम सोपान के तत्त्वों की निर्माणप्रक्रिया को आयोनिक समीकरणों

द्वारा बताना पर्याप्त होगा। हाइड्रोक्लोरिक एसिड सल्युसन में सोडियम हाइड्रोक्साइड (NaOH) सल्युसन डालने पर सोडियम क्लोराइड (NaCl) एवं जल, तेज के उद्‌गम के साथ-साथ प्राप्त होते हैं। इस प्रक्रिया का स्थूल ममीकरण है–

$$HCl + NaOH = NaCl + H_2O$$

इसका आयोनिक समीकरण है–

$$H^+ + Cl^- + Na^+ + (OH)^- = Na^+ + Cl^- + H_2O$$

$$H^+ + (OH)^- = H_2O$$

जल के साथ हाइड्रोक्लोरिक एसिड (HCl) मिलाने पर HCl यौगिकाणुओं का विघटन H^+ एवं Cl^- में हो जाता है, क्योंकि जल यौगिकाणु H_2O का ऋणात्मकविद्युत्शक्तिसमृद्ध आक्सीजन परमाणु (O) भाग, यौगिकाणु HCl के असन्तुलित विद्युत्-चुम्बकीय बन्धन से हाइड्रोजन परमाणु के नाभिकोष H^+ को अपनी तरफ आकृष्ट कर लेता है। फलस्वरूप हाइड्रोनियम केटायन $(H_3O)^+$ की उत्पति होती है। सङ्क्षेप में $HCl+H_2O=(H_3O)^++Cl^-$। H_2O और H^+ $(H_3O)^+$ के समवायिकारण हैं तथा H_2O और H^+ के परस्पर आयोनिक बन्धन $(H_3O)^+$ का असमवायिकारण है। सोडियम हाइड्रोक्साइड (NaOH) एवं जल के मिश्रण से NaOH यौगिकाणुओं का विघटन, सोडियम केटायन (Na^+) एवं हाइड्रोक्साइड एनायन $(OH)^-$ के रूप में होता है। तत्पश्चात्, हाइड्रोनियम केटायन $(H_3O)^+$ एवं हाइड्रोक्साइड एनायन के परस्पर आकर्षण से $(H_3O)^+$ का हाइड्रोजन प्रोटान (H^+) उससे अलग होकर $(OH)^-$ से मिलता है एवं जल यौगिकाणु H_2O की उत्पत्ति होती है। अन्य शब्दों में, $(H_3O)^+ + (OH)^- = H_2O + H^+ + (OH)^- = H_2O + H_2O$। अतः यह स्पष्ट है कि $(H_3O)^+$ के विघटन से प्राप्त H_2O यौगिकाणु के अतिरिक्त अन्य H_2O यौगिकाणु की उत्पत्ति भी होती है। हाइड्रोजन प्रोटान H^+ एवं हाइड्रोक्साइड एनायन $(OH)^-$, इस उत्पन्न जल यौगिकाणु के समवायिकारण हैं। विपरीत विद्युत्शक्तियुक्त आयनों का परस्पर आयोनिक बन्धन, उत्पन्न जलयौगिकाणु H_2O का असमवायिकारण है। H^+ एवं $(OH)^-$ के परस्पर आकर्षण आदि निमित्तकारण हैं। H_2O एवं H^+ के परस्पर कोवेलेन्ट बन्धन का नाश होने पर $(H_3O)^+$ का विनाश होता है।

$(H_3O)^+$ के विनाश से प्राप्त H_2O एवं H^+, वस्तुतः उत्पन्न नहीं कहे जा सकते हैं। तन्तुसंयोग के नाश से जन्य पटविनाश से प्राप्त तन्तुओं की उत्पत्ति स्व स्व अवयवों से नहीं होती है, क्योंकि पट के स्थितिकाल में भी उसके अवयवरूपी तन्तु विद्यमान रहते हैं एवं विद्यमान वस्तु की पुनरुत्पत्ति सम्भव नहीं है। ध्वंसरूपी कार्य का केवल निमित्त कारण होता है, न कि भाव कार्य जैसा समवायी एवं असमवायिकारण भी। ध्वंस का प्रतियोगी ध्वंस का निमित्त कारण कहलाता है।[५०] अवयव-अवयवी की धारा में कहीं पर भी असमवायिकारण के नाश से जन्य अवयव के विनाश से परम्परया तत् तत् जन्य अवयवियों का विनाश अवश्यम्भावी है। अंशु के संयोगनाश से तन्तुनाश होता है एवं तन्तुनाश से तदाश्रित तन्तुसंयोग का नाश होता है एवं फलतः उस तन्तुरूपी अवयव से उत्पन्न पट का भी विनाश होता है। ध्वंस से प्राप्त द्रव्यरूपी कार्यों के निमित्त कारण के रूप में वह ध्वंस स्वीकार्य है, परन्तु ध्वंसजन्य द्रव्यरूपी कार्यों के समवायिकारण उन द्रव्यों के स्व स्व अवयव हैं एवं उन अवयवों के परस्पर संयोग उनके असमवायिकारण हैं। उदाहरणस्वरूप हाइड्रोनियम केटायन $(H_3O)^+$ के विनाश से प्राप्त H_2O एवं H^+ के निमित्त कारण के रूप में $(H_3O)^+$ का विनाश स्वीकार्य है। हाइड्रोजन परमाणु से उसके एकमात्र इलेक्ट्रान के अलग होने से अथवा $(H_3O)^+$ के विनाश से H^+ प्राप्त होता है। परन्तु H^+ के समवायिकारण के रूप में प्रोटान के विघटन से प्राप्त न्यूट्रान एवं पजिट्रन ही स्वीकार्य हैं। H_2O के समवायिकारण के रूप में दो हाइड्रोजन परमाणु एवं एक आक्सीजन परमाणु ही स्वीकार्य हैं। उसके असमवायिकारण के रूप में, आक्सीजन परमाणु के दो हाइड्रोजन परमाणुओं के साथ कोवेलेन्ट बन्धन ही स्वीकार्य हैं। घटध्वंस से उत्पन्न कपालिकायें घट के अवयव कपालों की अवयव इस दृष्टि से नहीं है कि वास्तविक स्थिति में उन कपालिकाओं से वे कपाल निर्मित हुये हैं, अपितु इस अर्थ में कपालिकायें कपालों के अवयव हैं कि उन कपालिकाओं के विशेष प्रकार के संयोग से उन कपालों का निर्माण किया जा सकता था। कार्य की उत्पत्ति में सक्रिय भाग लेने वाले कारणों

---

५०. "ध्वंसत्वावच्छिन्नं प्रति प्रतियोगिनः कारणत्वं प्रतियोगित्वेन रूपेण, तत्त-द्ध्वंसत्वावच्छिन्नं प्रति तत्तत्प्रतियोगिव्यक्तेस्तत्तद्व्यक्तित्वेन कारणत्वमित्येवं ध्वंसप्रतियोगिनोः कार्यकारणभावः।" *तर्कसङ्ग्रह* टीका *न्यायबोधिनी*, पृ. ७४

की कारणता *फलोपधायक कारणता* कहलाती है। एक घट की उत्पत्ति में कुम्भकार के द्वारा प्रयुक्त दण्डनिष्ठ निमित्तकारणता फलोपधायक कारणता है। परन्तु अरण्यस्थ दण्डनिष्ठ, घट की निमित्त कारणता, केवल *स्वरूपयोग्यता रूपी कारणता* है। उसी प्रकार कपालिकानिष्ठ कपाल की समवायिकारणता स्वरूपयोग्यता रूपी कारणता है, न कि फलोपधायकता रूपी कारणता।

२.७.४ सजातीय कार्यों की विजातीयसमवायिकारणजन्यता

जल में द्रवीभूत सोडियम हाइड्रोक्साइड (NaOH) तथा जल में द्रवीभूत हाइड्रोक्लोरिक एसिड (HCl) के मिश्रण से आरब्ध रासायनिक प्रक्रिया के आयन तत्त्वों पर आधारित उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि उस प्रक्रिया में Na^+ एवं Cl^- सक्रिय भाग न लेकर केवल मूकदर्शक के रूप में विद्यमान रहते हैं और अन्तिम सोपान के पहले H^+ एवं $(OH)^-$ के परस्पर आयोनिक बन्धन से $H_२O$ यौगिकाणु उत्पन्न होता है। जल में द्रवीभूत पोटासियम हाइड्रोक्साइड एवं नाइट्रिक एसिड ($HNO_३$) के मिश्रण से आरब्ध प्रक्रिया से तेज के उद्गम के साथ-साथ पोटासियम नाइट्रेट ($KNO_३$) एवं जल ($H_२O$) प्राप्त होते हैं। स्थूल रूप में यह प्रक्रिया है–

$$KOH + HNO_३ = KNO_३ + H_२O$$

इस प्रक्रिया का आयोनिक विश्लेषण ऊपर दिये गये विश्लेषण के अनुरूप है। सामान्य रूप से जल में द्रवीभूत किसी भी एसिड एवं एलकालिक के मिश्रण से आरब्ध रासायनिक प्रक्रिया के अन्तिम सोपान में उस एसिड से सम्बद्ध लवण एवं जल प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की सभी प्रक्रियाओं में H^+ एवं $(OH)^-$ के बन्धन से जल यौगिकाणु ($H_२O$) उत्पन्न होते हैं।

अत्यन्त उत्तप्त क्युप्रिक ऑक्साइड (CuO) पर शुद्ध हाइड्रोजन वाष्प ($H_२$) की धारा प्रवाहित करने पर धातु रूपी कॉपर (Cu) चूर्ण तथा जल यौगिकाणु ($H_२O$) प्राप्त होते हैं। सङ्क्षेप में– $CuO + H_२ = Cu + H_२O$। शुद्ध हाइड्रोजन ($H_२$) एवं आक्सीजन (O) वाष्प दो-एक के अनुपात में एक पात्र में आबद्ध करने से एवं उस मिश्रित वाष्पपिण्ड को ७००°C तक उत्तप्त करने पर जल यौगिकाणु ($H_२O$) अविलम्ब प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त दो रासायनिक प्रक्रियाओं में जल यौगिकाणु ($H_२O$) की उत्पत्ति दो हाइड्रोजन परमाणु (H) एवं एक आक्सीजन परमाणु (O) रूपी समवायिकारण

तथा कोवेलेन्ट बन्धन रूपी असमवायिकारण से सम्भव होती है। परन्तु जल में द्रवीभूत एसिड एवं एल्कालिक सम्मिश्रण से आरब्ध रासायनिक प्रक्रिया के अन्तिम सोपान में प्राप्त जल यौगिकाणु की उत्पत्ति H^+ एवं $(OH)^-$ रूपी समवायिकारणों से सम्भव होती है। अतः यह स्वीकार करना आवश्यक है कि विजातीय समवायिकारणों से सजातीय कार्योत्पत्ति सम्भव है। अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि कारण की कार्यनियतपूर्ववृत्तिता सिद्ध करने के लिये परम्परागत न्यायवैशेषिक के अन्वय-साहचर्य के साथ-साथ व्यतिरेक-साहचर्य की माँग न केवल निमित्तकारणता के स्थल में, अपितु समवायिकारणता तथा असमवायिकारणता के स्थलों में भी सर्वथा अस्वीकार्य है। रासायनिक प्रक्रियाओं के प्रथम सोपान के तत्त्वसङ्घात एवं उनके अन्तिम सोपान में प्राप्त तत्त्वसङ्घात के बीच अन्वय तथा व्यतिरेक-सहचार से एक-एक सम्बन्ध अवश्य सिद्ध होता है। परन्तु परम्परागत न्यायवैशेषिक मत के अभीष्ट कार्यविशेष से कारणविशेष का अनुमान एवं कारणाभाव से कार्याभाव का अनुमान सिद्ध नहीं हो पाते हैं।

३. अवयवितत्त्व की तत्त्वमीमांसीय अपरिहार्यता

३.१ परम्परागत मत के अनुसार अवयविसिद्धिप्रक्रिया

न्यायवैशेषिकतत्त्वमीमांसा का अवयव-अवयविसिद्धान्त सन्तानवादी बौद्ध तथा याज्ञवल्क्यीय परम्परा के दार्शनिकों के लिये सर्वथा अस्वीकार्य रहा है। महर्षि गौतम एवं उनके परवर्ती नैयायिकगण प्रारम्भ से ही बौद्ध दार्शनिकों के अभीष्ट सङ्घातवाद के खण्डन के द्वारा अवयव-अवयविसिद्धान्त एवं आरम्भवाद की सिद्धि के लिये प्रयत्नशील रहे हैं।[५१] अवयवी की सिद्धि के लिये, उदाहरणस्वरूप व्योमशिवाचार्य द्वारा न्यायपरम्परा से सङ्गृहीत एक युक्ति का यहाँ पर उल्लेख करना पर्याप्त होगा।

> "रूपं हि चक्षुषैव गृह्यते स्पर्शस्त्वगिन्द्रियेण। द्वीन्द्रियग्राह्यं तु द्रव्यम्। कथमेतत्? प्रतिसन्धानात्। तथा हि– यमहमद्राक्षं चक्षुषा तमेव स्पृशामि, यं चास्पृशम् तमेव पश्यामीति। न च द्वाभ्यामि-न्द्रियाभ्यामेकार्थग्रहणं विना प्रतिसन्धानं न्याय्यम्। रूपस्पर्शयोश्च

---

५१. देखिये, *न्यायसूत्र* २.१.३३ से २.१.३६ एवं ४.२.४ से ४.२.१५ तथा उन पर *भाष्य, वार्तिक* एवं *तात्पर्यटीका* ।

प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यत्वादेतन्न सम्भवतीति।" (*प्रशस्तपादभाष्य* पर *व्योमवती* टीका, पृ. ४४)

[रूप केवल चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है एवं स्पर्श केवल त्वगिन्द्रिय के द्वारा। परन्तु रूप एवं स्पर्शविशिष्ट द्रव्य चक्षु एवं त्वगिन्द्रिय दोनों से गृहीत होता है। इसके लिये क्या प्रमाण हैं? प्रतिसन्धान अर्थात् पूर्वानुभूत पदार्थ को पहचानना ही इसका प्रमाण है। जिसको मैंने चक्षुरिन्द्रिय से देखा उसी को ही स्पर्शेन्द्रिय द्वारा स्पर्श कर रहा हूँ। जिसको स्पर्श किया उसी को ही देख रहा हूँ। यदि दोनों इन्द्रियों के द्वारा एक ही विषय गृहीत न होता, तो इस प्रकार का प्रतिसन्धान अर्थात् विषय का परामर्श सम्भव नहीं होता, क्योंकि रूप एवं स्पर्श नियत रूप में यथाक्रम केवल चक्षुरिन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रिय द्वारा गृहीत होते हैं।]

३.२ शुद्ध एवं द्रव्यारम्भकव्यूहबद्ध सङ्घात

रसायनशास्त्रीय तथ्यों के द्वारा स्वीय अवयवों से भिन्न अवयवी अर्थात् जन्य द्रव्य रूपी तत्त्व अनायास से सिद्ध होता है। एक हाइड्रोजन द्व्यणुक ($H_२$) दो हाइड्रोजन परमाणु (H) के सङ्घात मात्र नहीं है। वस्तुतः द्व्यणुक $H_२$ दो भिन्न हाइड्रोजन परमाणुओं के एक कोवेलेन्ट बन्धन के द्वारा व्यूहबद्ध सङ्घात है। शुद्ध सङ्घात एवं व्यूहबद्ध सङ्घात में भेद न करने पर लौकिक एवं शास्त्रीय व्यवस्था का निर्वाह नहीं हो पाता है। शब्दप्रक्रिया की दृष्टि से 'राज' एवं 'जरा' शब्दों में अन्तर क्रम के बिना केवल वर्णसङ्घात के आधार पर करना सम्भव नहीं है।

३.३ रसायनशास्त्रीय आइसोमेरिज़्मविषयक तथ्यों के आधार पर सङ्घातवाद का खण्डन एवं अवयव-अवयविसिद्धान्त की स्थापना

रसायन शास्त्र की दृष्टि से दो परमाणु सजातीय कहलाते हैं यदि उनके नाभिकोषों में प्रोटानों की सङ्ख्या समान है। दो परमाणुसङ्घात सजातीय कहे जा सकते हैं जब उनमें परमाणुओं की सङ्ख्या समान है तथा दोनों सङ्घातों में प्रत्येक सजातीय परमाणुओं की सङ्ख्या भी समान है। उदाहरणस्वरूप H, $N_३$ का सङ्घात $H_३$, N के विजातीय है। सजातीय परमाणु सङ्घातों में परमाणुओं की सङ्ख्या एक होने के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि यदि एक में किसी एक जाति के परमाणु के

k परमाणु हैं तो द्वितीय सङ्घात में भी उस जाति के केवल k परमाणु हैं। एक यौगिकाणु को उसके घटक परमाणुओं के सङ्घात से भिन्न स्वीकार न करने पर सजातीय परमाणु सङ्घातों से विजातीय यौगिकाणुओं की उत्पत्ति की व्यवस्था सम्भव नहीं हो पाती है। रसायन शास्त्र की जैविक रसायन शास्त्र रूपी शाखा में सजातीय परमाणु सङ्घातों से विजातीय यौगिकाणुओं की उत्पत्ति रूपी तथ्य *आइसोमेरिज़्म*[५२] नाम से सुपरिचित है।

सजातीय परमाणु सङ्घातों से उत्पन्न विजातीय यौगिकाणु परस्पर के *आइसोमोर* कहलाते हैं।[५३] जैविक रसायन शास्त्र में अधीत यौगिकाणु बहुतायत में कार्बन (C), हाइड्रोजन (H), आक्सीजन (O), नाइट्रोजन (N), फॉस्फोरस (P), सॅल्फर (S) एवं हेलोजन परिवार के फ्लोरिन (F), क्लोरिन (Cl) एवं आयोडिन (I) परमाणुओं के कोवेलेन्ट बन्धन से उत्पन्न होते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर प्रत्येक जैविक यौगिकाणु में एक या एकाधिक कार्बन-कार्बन अथवा कार्बन-हाइड्रोजन कोवेलेन्ट बन्धन अवश्य प्राप्त होते हैं। अत्यन्त सीमितसङ्ख्यक मौलिक परमाणु तत्त्वों से स्वाभाविक रूप में प्राप्त अथवा कृत्रिम उपाय से उत्पन्न किये गये जैविक यौगिकाणुओं की बहुलता कार्बन एवं हाइड्रोजन तत्त्वों की विशेषताओं के कारण सम्भव हो पाती है। जैविक यौगिकाणुओं की उत्पत्ति में कोवेलेन्ट बन्धन रूपी असमवायिकारण विशेष भूमिका निभाता है। परमाणुओं के वालेन्सकोष के भिन्न-भिन्न इलेक्ट्रोनों को परमाणु प्रतीक के चारों ओर भिन्न-भिन्न बिन्दुओं द्वारा तथा यौगिकाणु घटक दो परमाणुओं के साधारण परस्पर सङ्क्रमी इलेक्ट्रान युगलों को उन दो परमाणुओं के प्रतीकों के मध्य एक बिन्दु युगल द्वारा अभिहित करके, यौगिकाणुओं की कोवेलेन्ट बन्धन रूपी असमवायिकारण की चित्रण प्रक्रिया सङ्क्षेप में पहले बताई गयी है। जैविक रसायन शास्त्र में यौगिकाणु घटक दो परमाणुओं के मध्य कोवेलेन्ट बन्धन, उन दो परमाणुओं के प्रतीकों के मध्य एक बिन्दुयुगल के स्थान पर एक खण्डरेखा के द्वारा सूचित करने पर चित्रण में सामान्यतया स्पष्टता एवं लाघव प्राप्त होते हैं। उदाहरणस्वरूप, मिथेन ($CH_४$) एवं इथेन ($C_२H_६$) यौगिकाणुओं के असमवायिकारण रूपी कोवेलेन्ट

---

५२. *जनरल केमेष्ट्रि*, भाग २, पृ. १२१-१२२, १३२-१३५
५३. देखिये, रोबोर्ट टि. मरिसम् एवं रोबर्ट. एन्. बयड, *ऑर्गनिक केमेष्ट्रि*, प्रेन्टिस-हल इण्डिया, नई दिल्ली, १९९४, अध्याय १, पृ. ३६

बन्धन यथाक्रम निम्न प्रकार से चित्रित किये जा सकते हैं–

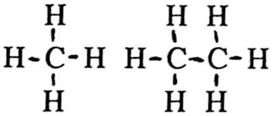

केवल कार्बन एवं हाइड्रोजन तत्त्वों से उत्पन्न यौगिकाणु हाइड्रोकार्बन कहलाते हैं। हाइड्रोकार्बन भी अनेक प्रकार के होते हैं। उदाहरणस्वरूप, $C_nH_{२n}$, $n \geq १$, आकार के यौगिकाणु *आलकेन* शृङ्खला के हैं। मिथेन ($CH_४$) एवं इथेन ($C_२H_६$) आलकेन शृङ्खला के सरलतम यौगिकाणु हैं। प्रोपेन ($C_३H_८$), ब्यूटेन ($C_४H_{१०}$) एवं पेन्टेन ($C_५H_{१०}$) यथाक्रम आलकेन शृङ्खला के तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम यौगिकाणु हैं। परन्तु $C_४H_{१०}$ आकार के वस्तुतः दो यौगिकाणु प्राप्त होते हैं एवं वे हैं एन-ब्युटेन एवं आइसो-ब्युटेन, जिनका असमवायिकारण भेद निम्नलिखित प्रकार से चित्रित किया जाता है–

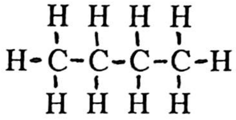

एन-ब्युटेन

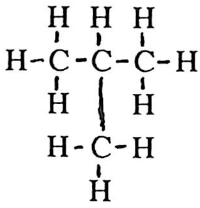

आइसो-ब्युटेन

एन-ब्युटेन एवं आइसो-ब्युटेन वस्तुतः विजातीय यौगिकाणु हैं क्योंकि उनके रासायनिक तथा भौतिक शास्त्रीय धर्म निर्विवाद रूप में भिन्न हैं।[५४] उदाहरणस्वरूप, एन-ब्युटेन शून्य डिग्री सेन्टिग्रेड पर वाष्पीय आकार धारण करता है। परन्तु आइसो-ब्युटेन -१२°C पर ही वाष्पीय आकार धारण कर लेता है। अतः एन-ब्युटेन एवं आइसो-ब्युटेन परस्पर के आइसोमोर हैं। उसी प्रकार तीन परस्पर के आइसोमोर पेन्टेन ($C_५H_{१२}$) यौगिकाणु प्राप्त होते हैं जिनकी संरचना निम्नलिखित प्रकार की है[५५]–

---

५४. देखिये, *ऑर्गनिक केमेस्ट्रि*, पृ. ८३-८४

५५. देखिये, *वही*, पृ. ८७ एवं *जनरल केमेस्ट्रि*, भाग २, पृ. १३०-१३१

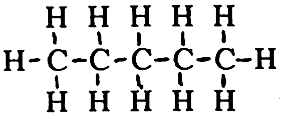

एन-पेन्टेन

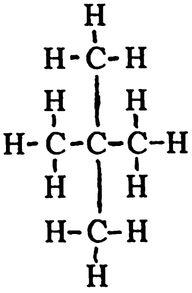

नियो-पेन्टेन

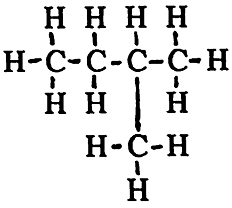

आइसो-पेन्टेन

वस्तुतः एन-पेन्टेन, आइसो-पेन्टेन एवं नियो पेन्टेन परस्पर विजातीय यौगिकाणु हैं, क्योंकि वे यथाक्रम ३६°C, २८°C एवं ९.५°C ताप में वाष्पीय आकार धारण करते हैं। उसी प्रकार हाइड्रोकार्बन परिवार से बाहर जाकर, *इथाइल एलकोहल* एवं *डाइमिथायल इथर* रूपी परस्पर आइसोमोर यौगिकाणु के उदाहरण के रूप में लिये जा सकते हैं। इन दोनों यौगिकाणुओं के परिमाणात्मक विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि उनके आकार C_2H_6O है। परन्तु इन दोनों यौगिकाणुओं की विजातीयता रसायनशास्त्रीय प्रयोग से सिद्ध होती है।[५६] इथाइल एलकोहल ७८°C पर वाष्पीय आकार धारण करता है, जबकि डाइमिथाइल इथर -२४°C पर वाष्पीय आकार धारण करता है। इथाइल एलकोहल में सोडियम खण्ड डालने पर हाइड्रोजन वाष्प तथा C_2H_5ONa नामक यौगिकाणु प्राप्त होते हैं। परन्तु डाइमिथायल इथर सोडियम के साथ किसी भी प्रकार की रासायनिक प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं करता हे। सजातीय परमाणु सङ्घात से उत्पन्न उपर्युक्त दो विजातीय जैविक यौगिकाणुओं की उत्पत्ति की शास्त्रीय व्यवस्था केवल असमवायिकारण भेद के आधार पर ही की जा सकती है। जैविक रसायन शास्त्र में उनके संरचना भेद निम्न प्रकार से चित्रित किये जाते हैं–

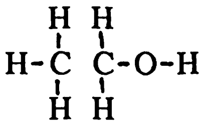

एथायल एलकोहल

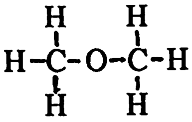

डाइमिथायल इथर

---

५६. देखिये, *ऑर्गनिक केमेस्ट्रि*, पृ.३६

महर्षि गौतम के यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय के साथ सङ्गत रहते हुए, जिन सामान्य रासायनिक पद्धतियों के आधार पर यौगिकाणुओं के घटक तत्त्व निरूपित होते हैं[५७] उनको नकारना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय के आधार पर सजातीय परमाणु सङ्घातों से विजातीय यौगिकाणुओं की उत्पत्तिविषयक सारे तथ्य (जो आयसोमेरिज़्म नाम से रसायन शास्त्र में जाने जाते हैं) अवश्य स्वीकार्य हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, सङ्घातवाद के आधार पर पदार्थविषयक लौकिक एवं रसायनशास्त्रीय प्रक्रिया का निर्वाह सम्भव नहीं है। लौकिक तथा रसायनशास्त्रीय पदार्थव्यवस्था के लिये अवयव-अवयवी सिद्धान्त तथा आरम्भवाद रूपी न्याय-वैशेषिक सिद्धान्तों को स्वीकार करना आवश्यक है। सजातीय परमाणुसङ्घातों से विजातीय अवयवी तत्त्वों की उत्पत्तिविषयक रसायनशास्त्रीय तथ्यों के आधार पर सङ्घातवाद के खण्डन के साथ-साथ न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा का आरम्भवाद सिद्ध होता है, क्योंकि अन्यथा घटक परमाणुओं के धर्मों से यौगिकाणुओं के अत्यन्त विलक्षणधर्मविषयक तथ्यों की उपपत्ति नहीं हो पाती है।

***

५७. देखिये, *ऑर्गेनिक केमेस्ट्रि*, पृ. ७२-७५

अष्टम अध्याय
सङ्ख्या, परिमाण एवं समुच्चयविषयक विचार

पदार्थव्यवस्था में सङ्ख्या एवं परिमाणविषयक सिद्धान्त लोकव्यवहार तथा शास्त्रों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। सङ्ख्या एवं परिमाणविषयक सिद्धान्तों में अपेक्षित सङ्गति की समस्या उपेक्षित रहने से वैशेषिक तत्त्वमीमांसा का यह क्षेत्र अविकसित रहा है। कणाद एवं प्रशस्तपाद ने सङ्ख्या एवं परिमाण को गुणकोटि के पदार्थों में अन्तर्भूत किया है। उन्होंने अपने विचारों को गणना व्यवहार के लिये आवश्यक धनात्मक पूर्ण सङ्ख्या एवं लोकव्यवहार सिद्ध दैर्घ्य तथा घनफल रूपी परिमाणों तक सीमित रखा है। प्रशस्तपाद ने जन्यद्रव्यनिष्ठ अनित्य एकत्व, द्वित्व, त्रित्वादि सङ्ख्याओं की उत्पत्तिप्रक्रिया तथा उनके अपेक्षाबुद्धिजन्यत्व पर विशेष ध्यान दिया है। परवर्ती वैशेषिक दार्शनिकों ने इस प्रसङ्ग में उनका अविचारित अनुसरण मात्र किया है।

न्यायवैशेषिक परम्परा में सङ्ख्या एवं परिमाणविषयक परम्परागत सिद्धान्तों की परीक्षा एवं विकास के लिये न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ द्वारा किया गया प्रयास दूरदर्शितापूर्ण होने पर भी परवर्ती रूढ़िवादी विचारकों की समालोचना एवं उपेक्षा का विषय मात्र बनकर रह गया। भासर्वज्ञ के मत में सङ्ख्या गुणकोटि का पदार्थ नहीं है। उनके मत में सङ्ख्या की उत्पत्तिप्रक्रियाविषयक

परम्परागत क्लिष्ट कल्पना शास्त्रीय व्यवस्था के लिये आवश्यक भी नहीं है। भासर्वज्ञ द्वारा की गई गणना प्रक्रिया का विश्लेषण उनकी दार्शनिक सूक्ष्मदर्शिता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। परिमाण का गुणत्वविषयक मत भी उनका अभिप्रेत प्रतीत नहीं होता है।

प्रस्तुत अध्याय में भासर्वज्ञ के द्वारा किये गये प्रयास से अनुप्राणित होकर परम्परागत वैशेषिक तत्त्वमीमांसा के सङ्ख्या एवं परिमाणविषयक सिद्धान्तों के विकास के लिये एक आधार प्रस्तुत किया गया है। इस आधार के दृढ़ीकरण के लिये तत्त्वमीमांसा में समुच्चय एवं परिमाण रूपी दो स्वतन्त्र पदार्थकोटि स्वीकार करना आवश्यक है। इस अध्याय में गणना प्रक्रियोपयोगी धनात्मक पूर्ण सङ्ख्यायें, समुच्चयघटकपदार्थ-स्वरूपनिरपेक्ष समुच्चयनिष्ठ शुद्ध परिमाण के रूप में अङ्गीकृत हुयी हैं। दैर्घ्य, क्षेत्रफल, घनफल आदि परिमाण, पदार्थस्वरूपसापेक्ष परिमाण के रूप में स्वीकृत हुये हैं। न्यायवैशेषिक दर्शन की आधारभूत मान्यताओं पर निर्मित प्रमेयस्वातन्त्र्यवाद के साथ विसङ्गत होने के कारण सङ्ख्याओं के अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वविषयक परम्परागत मत का खण्डन किया गया है।

१. सङ्ख्या की पदार्थत्वसिद्धि

लोकव्यवहार तथा शास्त्रीय व्यवस्था के लिये सङ्ख्या एवं परिमाणविषयक विचार तत्त्वमीमांसा में अपरिहार्य है। परम्परागत न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में सङ्ख्या एवं परिमाण गुण कोटि के पदार्थों में परिगणित हैं।[१] 'यह वृक्ष है', 'यह वृक्ष है', एवं 'वह वृक्ष है' इत्यादि स्थलों में परस्पर भिन्न पदार्थों में एक ही विशेषण से विशिष्ट होने के ज्ञान के निमित्त कारण के रूप में वृक्षत्वरूपी सामान्य स्वीकार्य होता है। उसी प्रकार 'एक वृक्ष', 'दो वृक्ष', 'तीन वृक्ष' आदि वृक्षगणना-सन्दर्भ में विशिष्ट ज्ञान तथा शब्दप्रयोगों में एक, दो एवं तीन आदि विशेषण ज्ञान के निमित्तकारण के रूप में धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं को भी पदार्थ के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। विषयभेद के बिना ज्ञान में भेद सम्भव

---

१. "गुणाश्च रूपरसगन्धस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वबुद्धिसुख-दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चेति कण्ठोक्ताः सप्तदश।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. २६

नहीं है एवं विषयों में समानता के बिना ज्ञानों में एकाकारता सम्भव नहीं है।

आचार्य प्रशस्तपाद सङ्ख्या का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये सङ्क्षेप में कहते हैं– "एकादिव्यवहारहेतुः सङ्ख्या"[२]। टीकाकारों के अनुसार व्यवहार शब्द का अर्थ है, ज्ञान अथवा शब्द प्रयोग। एक, दो, तीन, चार, पाँच आदि ज्ञान के विषय रूपी निमित्तकारण के रूप में सङ्ख्या सिद्ध होती हैं, क्योंकि निर्विषय ज्ञान असम्भव है एवं सङ्ख्याविषयक ज्ञान सर्वत्र भ्रमात्मक नहीं होता है।[३]

कार्य की उत्पत्ति किसी कारणसामग्री के विद्यमान होने पर ही होती है, अन्यथा नहीं। कार्य का यह धर्म *कादाचित्कत्व* नाम से जाना जाता है। सजातीय कारणसामग्री से केवल सजातीय कार्यसङ्घात की उत्पत्ति सम्भव है। विजातीय कार्यसङ्घातों की उत्पत्ति विजातीय कारणसामग्रियों से ही होती है। नीलविषयक ज्ञान रूपी कार्य पीतविषयक ज्ञान रूपी कार्य से स्वभावतः भिन्न है। विषय की दृष्टि से सभी नीलविषयक ज्ञान (एवं उसी प्रकार सभी पीतविषयक ज्ञान) परस्पर सजातीय हैं। परन्तु नील रूप का ज्ञान एवं पीत रूप का ज्ञान, विषय की दृष्टि से परस्पर विजातीय हैं। अतः उनकी कारणसामग्रियाँ भी अवश्य विजातीय हैं। उनकी विजातीयता केवल कारणसामग्री-घटक नील एवं पीत रूपी अर्थ भेद के कारण ही हो सकती है। पुनश्च, प्रत्यक्ष ज्ञान रूपी कार्य का विषय नियमतः ज्ञानजनक सामग्री में प्रविष्ट होता है। नीलविषयक ज्ञान एवं पीतविषयक ज्ञान रूपी कार्यों की कारणसामग्रियों की नील एवं पीत रूपी अर्थपरक विजातीयता स्वीकार न करने पर आकस्मिकत्व प्रसङ्ग उपस्थित होता है। अन्य शब्दों में प्रमात्मक नील रूप के ज्ञान एवं पीत रूप के ज्ञान रूपी कार्यों के भेद नील एवं पीत रूपी अर्थ भेद के कारण होता है– यह स्वीकार न करने पर उन कार्यों का कादाचित्कत्व बाधित होता है एवं आकस्मिकत्व का प्रसङ्ग भी उपस्थित होता है। अनुरूप युक्ति से 'एक वृक्ष', 'दो

---

२. *वही*, पृ. २६७

३. "व्यवह्रियतेऽनेन इति हानोपानादि क्रियते इति व्यवहारो विज्ञानम्। एकं, द्वे, त्रीणीत्याकारम्, तस्य विषयतया हेतुः सङ्ख्येति प्रमाणमुक्तम्। न ह्येकादिविज्ञानं निर्विषयं व्याघातात्। नाप्यलीकविषयमबाधनात्।" *किरणावली*, पृ. १२४

वृक्ष', 'तीन वृक्ष' आदि प्रमात्मक प्रतीतियों के परस्पर भेद एवं कादाचित्कत्व भी केवल वस्तुनिष्ठ सङ्ख्या रूपी धर्म भेद द्वारा ही बोधगम्य होता है।[४]

सङ्ख्या सङ्ख्येय पदार्थों का धर्म होने से अवश्य उनसे भिन्न है, क्योंकि धर्म स्वीय आश्रय रूपी धर्मी से भिन्न होता है। यह कहना कि पाँच वृक्षों के सङ्घात से भिन्न रूप में सङ्ख्या (पाँच) का ग्रहण नहीं होने से सङ्ख्या (पाँच) उस वृक्षसङ्घात से अतिरिक्त पदार्थ नहीं हो सकती है, वस्तुतः युक्ति सङ्गत नहीं है, क्योंकि पास-पास खडे हुये गायों के झुण्ड का ज्ञान दूर से गोसङ्घात के रूप में होने पर भी, उस झुण्ड में वस्तुतः कितनी गाये हैं उसका ज्ञान नहीं होता है।[५] जिस प्रकार एक वर्तुलाकार लौह पिण्ड को हाथ से उठाने पर भी उसके गुरुत्व एवं घनफल के परिमाण ज्ञात नहीं हो जाते हैं, अपितु तुलादि उपकरण एवं व्यास की लम्बाई की माप एवं गणनादि की अपेक्षा रखते हैं, उसी प्रकार, सङ्घात का चाक्षुष ज्ञान होने पर भी कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर सामान्यतया सङ्घातनिष्ठ सङ्ख्यारूपी धर्म का चाक्षुष ज्ञान नहीं होता है। यह ज्ञान गणना रूपी प्रक्रिया की अपेक्षा रखता है।

उपर्युक्त पर्यालोचना से सङ्ख्या की वस्तुनिष्ठता सिद्ध होती है। परन्तु सङ्ख्यातत्त्व का पदार्थकोटिविषयक प्रश्न विचार के लिये स्वतः उपस्थित होता है। परम्परागत न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में सङ्ख्या गुण कोटि में परिगणित हुई है। गुण केवल द्रव्य में समवेत होकर रहता है। अतः एकत्व सङ्ख्या एक द्रव्य में समवेत रहती है एवं द्वित्व-त्रित्वादि सङ्ख्यायें दो, तीन, चार आदि द्रव्यों के समुदायघटक समुदायियों में समवेत होकर रहती हैं।

---

४. "असति बाह्ये वस्तुनि स्वसन्तानमात्राधीनजन्मनो वासनापरिपाकस्य कादाचित्कत्वानुपपत्तौ तन्मात्रहेतोर्नीलाद्याकारस्य कादाचित्कत्वासम्भवान्नीलादिकल्पनेति चेत्, एकद्वित्र्याकारस्यापि बाह्यवस्त्वननुरोधिनो न कादाचित्कत्वमुपपद्यत इति सङ्ख्यापि कल्पनीया, उपपत्तेरुभयत्राप्यविशेषात्।" *न्यायकन्दली*, पृ. २७०

५. "यदपि द्रव्यव्यतिरिक्ता सङ्ख्या न विद्यते, भेदेनाग्रहणादित्युक्तम्, तदपि अयुक्तम्, परस्परप्रत्यासन्नानां वृक्षाणां दूरादेकत्वाद्यग्रहणेऽपि स्वरूपग्रहणस्य सम्भवात्।" *वही*, पृ. २७०

२. सङ्ख्या के गुणत्वविषयक मत का खण्डन

वस्तुतः सङ्ख्या का गुणत्वविषयक परम्परागत मत युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि सभी प्रकार के पदार्थ, गणनाव्यवहार के विषय होते हैं, न केवल द्रव्य कोटि के पदार्थ। 'मञ्च पर पाँच नृत्याङ्गनायें नाच रही हैं' एवं 'मञ्च पर एक ही नृत्याङ्गना पाँच बार नाची' इन दोनों में अन्तर करना आवश्यक है। प्रथम वाक्य में नृत्याङ्गनाओं के एक सङ्घात के धर्म के रूप में पञ्चत्व सङ्ख्या भासित होती है। परन्तु द्वितीय वाक्य में एक नृत्याङ्गना द्वारा किये गये परस्पर भिन्न नृत्यक्रियाओं के सङ्घात के धर्म के रूप में पञ्चत्व सङ्ख्या भासित होती है। संस्कृत भाषा की वर्णमाला के त-वर्ग में 'त', 'थ', 'द', 'ध' एवं 'न'– ये पाँच वर्ण हैं। यहाँ पर वस्तुतः वर्णत्व की अवान्तर पाँच वर्णजातियों की गणना की गई है, न कि उत्पन्न-विनाशशील ध्वनियों की। उसी प्रकार 'नीलत्व, पीतत्व, हरितत्व, रक्तत्वादि सात रूपत्व की साक्षात् व्याप्य जातियाँ हैं'– यहाँ पर सात जातियों की गणना अभिप्रेत है। उसी प्रकार '१, २, ३, ५, ६, १०, १५, ३० ये आठ ३० के धनात्मक भाजक हैं'– यहाँ पर सङ्ख्यायें स्वयं गणना के विषय के रूप में भासित होती हैं। अतः केवल द्रव्यनिष्ठ धर्म के रूप में नहीं, अपितु किसी भी पदार्थ अथवा पदार्थसङ्घातनिष्ठ धर्म के रूप में ही सङ्ख्यातत्त्व स्वीकार्य है। इसीलिये प्रभाकर के मीमांसासम्प्रदाय में शालिकनाथ के परवर्ती काल में सङ्ख्या एक स्वतन्त्र कोटि के पदार्थ के रूप में स्वीकृत होने लगी।[६] कुमारिल के अनुयायियों ने न्यायवैशेषिक पक्ष का समर्थन करते हुए सङ्ख्या को सभी द्रव्यों के सामान्य गुण के रूप में स्वीकार किया है।[७]

न्यायवैशेषिक परम्परा में भासर्वज्ञ के द्वारा सङ्ख्या के परम्परागत गुणत्वविषयक मत के खण्डन के लिये प्रयास किया गया था। उनके मत में 'एक' एवं 'अभिन्न' शब्द तथा 'अनेक' एवं 'भिन्न' शब्द पर्यायवाची हैं। द्वित्वादि सङ्ख्या, 'भेद' के भिन्न-भिन्न प्रकार मात्र हैं एवं अभेद

---

६. *प्रकरणपञ्चिका* पर *न्यायसिद्धि*, पृ. ७८ एवं गङ्गानाथझाकृत *पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेस्*, का परिशिष्ट पृ. ४१-४२

७. ''सङ्ख्या पुनरेकादिव्यवहारहेतुः सर्वद्रव्यवर्तित्वात् सामान्यगुणः।'' *मानमेयोदय*, पृ. २२८

ही एकत्व है। भेद एवं अभेद न केवल द्रव्यों में अपितु रूपादि गुणों में भी आश्रित होने से सङ्ख्या गुणकोटि का पदार्थ नहीं हो सकती है। उसके लिये एक स्वतन्त्र पदार्थकोटि का प्रावधान करना भी आवश्यक नहीं है।[८] भासर्वज्ञ के सङ्ख्याविषयक सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों का विचार आगे किया जायेगा। यहाँ पर इतना कहना पर्याप्त है कि न केवल उनके दृष्टिकोण का महत्त्व, उनके परवर्ती न्यायवैशेषिक आचार्यों द्वारा अनादृत हुआ है, अपितु परम्परा के प्रतिकूल विचार का प्रारम्भ करने के कारण उन्हें तीव्र कटाक्षोक्ति का निशाना भी बनाया गया है।[९]

शालिकनाथ के परवर्ती आचार्य चन्द्र[१०] आदि प्राभाकर मीमांसकों के मत का समर्थन करते हुए रघुनाथ शिरोमणि सङ्ख्या के स्वतन्त्र पदार्थत्व की सिद्धि के पक्ष में युक्ति प्रस्तुत करते हैं।[११] 'एक रूप', 'दो रस', 'तीन ध्वनियाँ', 'चार आलिङ्गन' एवं 'पाँच प्रहार' आदि प्रतीतियाँ अबाधित रहने पर प्रमात्मक होती हैं। द्रव्यादि में गणना व्यवहार मुख्य है एवं गुण, कर्म, जात्यादि में गणना व्यवहार गौण मात्र है– यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है। परम्परागत मत के अनुसार सङ्ख्या गुणकोटि का पदार्थ है एवं गुण केवल द्रव्यसमवेत होकर रहता है। अतः द्रव्येतर गुणादि पदार्थों में गणना व्यवहार की उपपत्ति उस मत में नहीं होती है। 'ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार, सुख, दुःख, धर्म एवं अधर्म' ये नौ आत्मा के विशेष गुण हैं– इस वाक्य में एकार्थ समवाय अर्थात् स्वसमवायिसमवेतत्व प्रत्यासत्ति के आधार पर आत्मा के विशेष गुणों का गणनाव्यवहार बोधगम्य नहीं होता है, क्योंकि नवत्व सङ्ख्या के आश्रय के रूप में आत्मा

---

८. ''अभेदभेदौ च स्वात्मपरात्मापेक्षौ रूपादिष्वपि भवत इति न तयोर्गुणत्वादिकल्पनेति। यथा चैकमभिन्नमिति पर्यायस्तथानेकं भिन्नमिति च पर्यायस्ततश्च द्वित्वादिरप्यनेकपर्यायः तस्योत्पत्त्यादिकल्पना न कार्या।'' *न्यायभूषण,* पृ. १५९

९. (क) ''एतेन स्वरूपाभेद एकत्वं स्वरूपभेदस्तु नानात्वं द्वित्वमिति भूषणः प्रत्याख्यातः।'' *किरणावली,* पृ. १२४

(ख) ''तदिदं चिरन्तनवैशेषिकमतदूषणं भूषणकारस्यातित्रपाकरम्। तदियमनाम्नातता भासर्वज्ञस्य यदियमाचार्यमप्यवमन्यते।'' *न्यायलीलावती,* पृ. ३५७-३५८

१०. देखिये *पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेस्* का उमेशमिश्रकृत परिशिष्ट, पृ.४१

११. ''सङ्ख्या च पदार्थान्तरं न तु गुणः गुणादिष्वपि तद्वत्त्वप्रत्ययात्। न चासौ भ्रमः बाधकाभावात्।'' *पदार्थतत्त्वनिरूपण,* पृ.४३

के विशेष गुणों के प्रकारों का सङ्घात ही यहाँ पर विवक्षित विशेष्य है। पुनश्च 'रूपत्व, रसत्व, गन्धत्व एवं स्पर्शत्व– ये परस्पर भिन्न चार जातियाँ हैं'– इस वाक्य में रूपत्वादि जातियों के आश्रय रूपादि गुणों में सङ्ख्यासमवायित्व भी परम्परागत मतानुसार सम्भव न होने से तथा रूपत्व, रसत्वादि जातियाँ स्वभाव से परस्पर असमानाधिकरण होने से स्वसमवायिसमवेतत्व रूपी प्रत्यासत्ति के द्वारा उनकी गणना की उपपत्ति नहीं हो पाती है। रघुनाथ के पूर्ववर्ती विचारक वर्धमानोपाध्याय सङ्ख्या के स्वतन्त्र पदार्थत्वविषयक मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[१२] इस पूर्वपक्ष के अनुसार द्वित्वादि सङ्ख्यायें अपेक्षाबुद्धि द्वारा अभिव्यक्त होती हैं, न कि उत्पन्न।

वैशेषिक मत में परमाणु एवं आत्मा आदि नित्यद्रव्यनिष्ठ एकत्व सङ्ख्या नित्य है एवं घट, पट, वृक्षादि जन्यद्रव्यनिष्ठ एकत्व सङ्ख्या अनित्य है।[१३] द्वित्वादि सङ्ख्यायें अनेक द्रव्यनिष्ठ तथा अनित्य होती हैं। नित्यद्रव्यनिष्ठ एकत्व सङ्ख्या के अतिरिक्त अन्य सभी एकत्व एवं द्वित्वादि सङ्ख्यायें अनित्य होने से उत्पन्नविनाशशील हैं। वैशेषिक दार्शनिकों ने अनित्य सङ्ख्याओं की उत्पत्तिविषयक विचार पर विशेष ध्यान दिया है। परम्परागत मतानुसार भावकार्य की उत्पत्ति के लिये समवायी, असमवायी एवं निमित्तकारण रूपी तीन प्रकार के कारणों की सामग्री आवश्यक है। अतः जन्यद्रव्यनिष्ठ एकत्व सङ्ख्या तथा द्वित्वादि सङ्ख्या रूपी कार्यों की उत्पत्ति में भी इन तीन प्रकार के कारणों की सामग्री अपेक्षित है। पटनिष्ठ एकत्व सङ्ख्या का समवायिकारण पट है एवं पटसमवायिकारणतन्तुनिष्ठ जितने एकत्व सङ्ख्यायें हैं, वे सभी उसके असमवायिकारण हैं। सामान्य रूप में अवयवनिष्ठ एकत्व सङ्ख्यायें अवयविनिष्ठ एकत्व के असमवायिकारण होते हैं एवं स्वयं अवयवी उसमें आश्रित एकत्व का समवायिकारण होता है। अवयवी का नाश होने पर उसमें आश्रित एकत्व का भी विनाश होता है।[१४] जब 'यह एक

---

१२. "ननु सङ्ख्याया गुणत्वमसिद्धम् वस्तुमात्र एवैकादिव्यवहारात् गौणमुख्यभावस्य च दुर्निरूपत्वात् द्वित्वादेश्चापेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यत्वात्। ततः पदार्थान्तरमेवेति केचित्। *न्यायलीलावतीप्रकाशः*, पृ. ३४३

१३. "'नित्येषु'-परमाण्वादिषु एकत्वं नित्यम्। 'अनित्ये'-घटादावेकत्वमनित्यमित्यर्थः।" *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*, पृ. ४२५

१४. (क) "यथा च कार्यसलिलस्य रूपादयोऽनित्या आश्रयविनाशाद् विनश्यन्ति कारण-

है', 'यह एक है', 'ये दो हैं' इस प्रकार से किसी व्यक्ति द्वारा घटद्वय की गणना की जाती है, तब घटद्वयनिष्ठ द्वित्वसङ्ख्या उस व्यक्ति के द्वित्वज्ञान का विषय रूपी निमित्तकारण है। घटद्वय का प्रत्येक घट द्वित्वसङ्ख्या रूपी कार्य का समवायिकारण, प्रत्येक घटनिष्ठ एकत्व सङ्ख्याद्वय उस द्वित्व सङ्ख्या का असमवायिकारण एवं 'यह एक है', 'यह एक है' यह एकत्वज्ञानद्वय उस घटद्वयनिष्ठ द्वित्वसङ्ख्या का निमित्त कारण होता है। यहाँ पर 'यह एक है' एवं 'यह एक है' इस आकार के एकत्वद्वय का ज्ञान *अपेक्षा बुद्धि* नाम से जाना जाता है।[१५] उसी प्रकार त्रित्व सङ्ख्या ज्ञान तीन द्रव्यों में त्रित्व की उत्पत्ति की अपेक्षा रखता है। द्रव्यत्रय में त्रित्व की उत्पत्ति द्रव्यत्रयरूपी समवायिकारण, प्रत्येक द्रव्यनिष्ठ एकत्वत्रय रूपी असमवायिकारण तथा 'यह एक है', 'यह एक है' एवं 'यह एक है' इन तीन एकत्वज्ञान रूपी अपेक्षाज्ञानात्मक निमित्तकारणों से सम्भव होती है। वैशेषिक आचार्यों ने अनित्य सङ्ख्याओं की उत्पत्ति एवं विनाश प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण तथा द्वित्वादि सङ्ख्या के अपेक्षाबुद्धिजन्यत्व सिद्धि के लिये प्रयास किया है।[१६]

गुणप्रक्रमेण च निष्पद्यन्ते, तथैकत्वसङ्ख्यापि।" *न्यायकन्दली,* पृ.२७१। आपाततः अवयवी के असाधारण निमित्तकारण भी तन्निष्ठ रूप एवं एकत्वादि के भी असाधारण निमित्तकारण के रूप में स्वीकार्य है।

(ख) ..."यथा सलिलपरमाणौ रूपं नित्यं तथैकत्वमपि। यथा द्व्यणुकादौ रूपं कारणगुणप्रक्रमेणौत्पद्यते तथैकत्वमपि। यथा द्व्यणुकादावाश्रयस्य विनाशात् तद्रूपं विनश्यति तथैकत्वमपीति।" *किरणावली*, पृ. १२५

(ग) रघुनाथ शिरोमणि के मत में एकत्व द्वित्वादि सङ्ख्याओं के असमवायिकारण नहीं होता है। उनके मत में सभी भावकार्यों के लिये समवायी, असमवायी एवं निमित्तकारण भेद से तीन प्रकार के कारण स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। देखिये, *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ.१९-२०

१५. "स्वाश्रययोः समवायिकारणत्वम्, एकगुणयोरसमवायिकारणत्वम्, अनेकविषयाया बुद्धेर्निमित्तकारणत्वम्।" *न्यायकन्दली,* पृ. २७४

१६. जिज्ञासु पाठक *न्यायकन्दली,* पृ. २७०-२९५, देखें, द्वित्वादि सङ्ख्या की उत्पत्ति प्रक्रिया के सरल उपस्थापन के लिये पाठक नारायण चन्द्र गोस्वामी विरचित *तर्कसङ्ग्रहः अध्यापना* सहित, कलकत्ता में प्रकाशित ग्रन्थ का पृ. २२७-२३३ देखें।

३. गणना प्रक्रिया एवं सङ्ख्याविषयक ज्ञान

सङ्ख्याविषयक परम्परागत वैशेषिक मत की समीक्षा के लिये भेद, अभेद, समुच्चय, गणना प्रक्रिया, अपेक्षाबुद्धि एवं सङ्ख्याज्ञानविषयक सङ्क्षिप्त विचार आवश्यक है। यह सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है कि सङ्ख्या का प्रत्यक्ष ज्ञान केवल चक्षुरिन्द्रिय अथवा स्पर्शेन्द्रिय द्वारा नहीं होता है अपितु घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय तथा अन्तरिन्द्रिय द्वारा भी होता है। प्रत्येक इन्द्रिय से उस इन्द्रिय के विषयों का भेद, अभेद तथा सादृश्यादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं। भेद एवं अभेदविषयक ज्ञान के स्रोत से गणना प्रक्रिया जन्य सङ्ख्याज्ञान भी सम्भव होता है। उदाहरणस्वरूप, श्रवणेन्द्रिय द्वारा वाक्य में पदों की सङ्ख्या तथा पद में वर्णों की कुल सङ्ख्या अथवा विजातीय वर्णों की सङ्ख्याविषयक प्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। उसी प्रकार रसनेन्द्रिय से तिक्त, मधुर एवं अम्लादि रसों के परस्पर भेद का ज्ञान होता है। कुछ प्रजाति के फलों में अम्ल एवं मधुर दोनों रसों का अनुभव होता है। घ्राणेन्द्रिय से पुष्पित उद्यान में रजनीगन्धा, मोगरा तथा रात की रानी के तीन परस्पर विजातीय सुगन्धों का ग्रहण होता है। उसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय द्वारा दन्तवेदना तथा सिर-पीड़ा रूपी दो विजातीय वेदनाओं का ग्रहण होता है।

पहले बताया गया है कि गणना व्यवहार के विषय केवल द्रव्यकोटि के नहीं होते हैं अपितु किन्हीं एक या एकाधिक सजातीय अथवा विजातीय पदार्थों का सङ्घात गणना प्रक्रिया का विषय हो सकता है। किसी पदार्थ को एक के रूप में जानने का अर्थ उसको सभी तदितर सजातीय एवं विजातीय पदार्थों से भिन्न रूप में ग्रहण करना है। पदार्थों की गणना सङ्ख्येय पदार्थों के परस्पर व्यावर्तन के बिना सम्भव नहीं होती है। पदार्थों का व्यावर्तन व्यावर्तक धर्म की अपेक्षा रखता है। उदाहरणस्वरूप, पशुओं के एक झुण्ड में कुल कितनी गायें हैं यह जानने के लिये गायों को अन्य पशुओं से तथा परस्पर अलग करना आवश्यक है। एक उद्यान विशेष में कुल कितने आम के पेड़ हैं— यह जानने के लिये आम के पेड़ों को तदितर नींबू, अमरूद आदि पेड़ों से तथा उनको परस्पर अलग करना आवश्यक है। एक पूर्ण सङ्ख्या के कुल कितने धनात्मक भाजक हैं— यह जानने के लिये भाज्य-भाजक सम्बन्ध की परिभाषा तथा पूर्ण सङ्ख्याओं का योग, वियोग एवं गुणनादि प्रक्रिया का ज्ञान

आवश्यक है। धर्म विशेष के द्वारा व्यावर्तित सङ्ख्येय पदार्थों की गणना के लिये उन पदार्थों में से प्रत्येक को उसके विलक्षण धर्मों के आधार पर अन्य सङ्ख्येय पदार्थों से व्यावर्तित करना आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप, एक उपवन के आमों के पेड़ों की गणना के लिये आम के पेड़ों को विजातीय पेड़ों से अलग करने के अतिरिक्त उपवन के प्रदेश विशेष अथवा पेड़ों की विलक्षणता के आधार पर आम के पेड़ों को परस्पर व्यावर्तित करना भी आवश्यक है।

न्यायवैशेषिक परम्परा में द्विपदी सम्बन्धों का महत्त्व तथा आधारभूतता प्रारम्भ से स्वीकृत हुए हैं। प्रत्येक द्विपदी सम्बन्ध का एक प्रतियोगी एवं एक अनुयोगी होता है। जब एक द्विपदी सम्बन्ध के प्रतियोगी के साथ सजातीय सम्बन्ध से एकाधिक अनुयोगी सम्बद्ध नहीं होते हैं एवं सम्बन्ध के प्रतियोगी के साथ एक एवं केवल एकमात्र अनुयोगी सम्बद्ध रहता है तब वह *एकानुयोगिक* अथवा *फलनात्मक* कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप, मनुष्यों में पितृत्व एवं मातृत्व सम्बन्ध एकानुयोगिक हैं। रामनिष्ठ मातृत्वसम्बन्ध की प्रतियोगिता द्वारा निरूपित अनुयोगिता केवल कौशल्या में रहती है। लक्ष्मणनिष्ठ मातृत्वसम्बन्ध की प्रतियोगिता तथा शत्रुघ्ननिष्ठ मातृत्व सम्बन्ध की प्रतियोगिता द्वारा निरूपित अनुयोगिता केवल सुमित्रा में रहती है। अन्य शब्दों में राम की माँ होने का धर्म एक एवं केवल एक व्यक्ति में रहता है, लक्ष्मण की माँ होने का धर्म केवल सुमित्रा में रहता है तथा शत्रुघ्न की माँ होने का धर्म भी केवल सुमित्रा में रहता है। सुमित्रा में लक्ष्मणनिष्ठ मातृत्वसम्बन्ध की प्रतियोगिता द्वारा निरूपित अनुयोगिता तथा शत्रुघ्ननिष्ठ मातृत्वसम्बन्ध की प्रतियोगिता द्वारा निरूपित अनुयोगिता रूपी अनुयोगिताद्वय रहता है। सामान्य रूप में एक व्यक्तिविशेषनिष्ठ मातृत्वसम्बन्ध की प्रतियोगिता द्वारा निरूपित अनुयोगिता अवश्य अन्य एक नारी में रहती है परन्तु कभी एकाधिक नारी में नहीं रह सकती है। इसलिये मातृत्व सम्बन्ध एकानुयोगिक है। उसी प्रकार पितृत्व सम्बन्ध भी एकानुयोगिक है। परन्तु भ्रातृत्व सम्बन्ध एकानुयोगिक नहीं है क्योंकि कुछ व्यक्तियों के एकाधिक भाई होते हैं एवं कुछ व्यक्तियों के भाई नहीं होते हैं।

जब एक द्विपदी सम्बन्ध के प्रतियोगी परस्पर भिन्न होने पर उसके अनुयोगी भी अवश्य परस्पर भिन्न होते हैं, अर्थात् जब एक एकानुयोगिक सम्बन्ध की परस्पर भिन्न प्रतियोगिनिष्ठ प्रतियोगिता द्वारा निरूपित अनुयोगिता

कभी समानाधिकरण नहीं होती है, तब वह सम्बन्ध *प्रतियोगिव्यावर्तक* अथवा *एक-एक* कहलाता है। उदाहरणस्वरूप, पूर्ण सङ्ख्याओं के सङ्घात में वर्गत्व सम्बन्ध, एकानुयोगिक होने पर भी प्रतियोगिव्यावर्तक नहीं है, क्योंकि +३ तथा -३ का वर्ग होने का धर्म +९ में रहता है। परन्तु अव्यवहित उत्तरवर्तित्व सम्बन्ध एकानुयोगिक होने के साथ-साथ प्रतियोगिव्यावर्तक भी है, क्योंकि भिन्न-भिन्न पूर्ण सङ्ख्याओं के अव्यवहित उत्तरवर्ती सङ्ख्यायें भी भिन्न-भिन्न होती हैं। एकानुयोगिक प्रतियोगिव्यावर्तक द्विपदी सम्बन्धों की एक विशेषता यह है कि इस प्रकार के सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रतियोगियों के साथ भिन्न-भिन्न अनुयोगियों को सम्बद्ध कराते हैं एवं फलतः प्रतियोगिभेद एवं अनुयोगिभेद परस्पर के नियामक होते हैं। उदाहरणस्वरूप धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं में वर्गत्व सम्बन्ध के स्थल में दो धनात्मक पूर्ण सङ्ख्यायें परस्पर भिन्न होने पर उनकी वर्ग सङ्ख्यायें भी परस्पर भिन्न होती हैं एवं दो वर्ग सङ्ख्यायें परस्पर भिन्न होने पर उनके धनात्मक वर्गमूल भी परस्पर भिन्न होते हैं। गणना प्रक्रिया के परिष्कृत विश्लेषण में एकानुयोगिक प्रतियोगिव्यावर्तक द्विपदी सम्बन्ध विशेष भूमिका निभाते हैं, क्योंकि इस प्रकार के सम्बन्धों की एकाधिक प्रतियोगिनिष्ठ प्रतियोगितानिरूपित अनुयोगिता कभी एक ही पदार्थ में न रहने से अर्थात् एतादृश परस्पर भिन्न प्रतियोगिनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपित अनुयोगिता सर्वदा असमानाधिकरण होने से सम्बन्ध के प्रतियोगि-अनुयोगियों के युगल परस्पर से पूर्णतया व्यवच्छिन्न अर्थात् असंलग्न रहते हैं। उदाहरणस्वरूप मातृत्व सम्बन्ध एकानुयोगिक होने पर भी प्रतियोगिव्यावर्तक नहीं होता है क्योंकि मातृत्व सम्बन्ध की लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न रूपी परस्पर भिन्न प्रतियोगिनिष्ठ प्रतियोगितानिरूपित अनुयोगिता सुमित्रारूपी एक ही अधिकरण में रह जाती है। फलतः लक्ष्मण-सुमित्रा एवं शत्रुघ्न-सुमित्रा रूपी प्रतियोगि-अनुयोगियों के युगल परस्पर से भिन्न होने पर भी परस्पर व्यवच्छिन्न या असंलग्न नहीं होते हैं। दो *युगल परस्पर व्यवच्छिन्न या असंलग्न* तभी कहे जाते हैं जब उनके प्रथम या वाम पाद भिन्न होने पर उनके द्वितीय या दक्षिण पाद भी परस्पर भिन्न होते हैं एवं उनके द्वितीय या दक्षिण पाद परस्पर भिन्न होने पर उनके प्रथम या वाम पाद भी परस्पर भिन्न होते हैं। धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं के वर्गत्व सम्बन्ध के परस्पर भिन्न प्रतियोगि-अनुयोगियों के युगल नियमतः परस्पर व्यवच्छिन्न (असंलग्न) भी होते हैं, क्योंकि यदि a, b धनात्मक पूर्ण सङ्ख्यायें हैं, तब

a ≠ b उसी एवं केवल उसी स्थिति में सत्य होता है जब $a^२ \neq b^२$।

गणना प्रक्रिया के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रक्रिया, मूलरूप में धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं के स्वाभाविक सादि एवं अनन्त अनुक्रम १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११,... का १, २, ३, ४,..., n-१, n रूपी किसी एक सादि एवं सान्त आदि भाग के घटक रूपी सङ्ख्या १, २, ३ आदि को प्रतियोगियों के रूप में एवं सङ्ख्येय पदार्थों को अनुयोगियों के रूप में लेकर एकानुयोगिक प्रतियोगिव्यावर्तक सम्बन्ध स्थापना करने की प्रक्रिया मात्र ही है। सङ्ख्येय पदार्थ सङ्घात के परिशेषरहित हो जाने पर ही यह प्रक्रिया समाप्त होती है, अन्यथा नहीं।

जब उपर्युक्त प्रकार की गणना प्रक्रिया से सङ्ख्येय पदार्थ सङ्घात का परिशेषरहित करना व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव नहीं होता है तब पदार्थसङ्घात, जैसा कि गगन में ग्रह नक्षत्रों के सङ्घात अथवा एक नदी में बालू कणों के सङ्घात, लोक व्यवहार में *असङ्ख्येय* कहलाते हैं। जब तक सङ्ख्येय पदार्थों का एक सङ्घात A को गणना प्रक्रिया से १, २, ३,..., n-१, n रूपी धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं के एक सादि एवं सान्त अनुक्रम द्वारा परिशेषरहित करना सिद्धान्ततः सम्भव है तब तक A को *परिमित* कहना युक्तिसङ्गत है, अन्यथा A *अपरिमित* कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, क-वर्णत्व, ख-वर्णत्वादि जातिविशिष्ट वर्णव्यक्तियों के सङ्घात असङ्ख्येय होने पर भी संस्कृत भाषा के व्यञ्जन वर्णों के क-वर्ग में अन्तर्भूत वर्णत्व– साक्षाद्व्याप्य वर्णजातियों की सङ्ख्या केवल पाँच है, क्योंकि उक्त वर्ग के वर्ण जाति सङ्घात को (१, क-त्व), (२, ख-त्व), (३, ग-त्व), (४, घ-त्व), (५, ङ-त्व) रूपी परस्पर असंलग्न युगलों के द्वितीय पाद घटक तत्त्वों के रूप में परिशेषरहित किया जा सकता है। सूर्य के ग्रहों की सङ्ख्या ९ है, क्योंकि बुध, शुक्र, पृथिवी, मङ्गल, बृहस्पति, शनि, यूरेनस, नेपचून एवं प्लूटो घटित सङ्घात को गणना प्रक्रिया से धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं के स्वाभाविक अनन्त अनुक्रम के आदि भाग १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ द्वारा परिशेषरहित किया जा सकता है। गणना प्रक्रिया से परिमित सङ्ख्येय पदार्थ सङ्घातों की इयत्ता (सदस्यों की सङ्ख्या) निरूपण के लिये सङ्ख्येय पदार्थों के किसी विशेष क्रम से परिगणन की आवश्यकता नहीं होती है। n सदस्य-विशिष्ट किसी

भी परिमित सङ्घात के सदस्यों को कुल n×(n-१)×(n-२)×...×२×१ अर्थात् n! (n-फेक्टोरियल) भिन्न-भिन्न पुनरुक्ति रहित पङ्क्तिक्रम में सज्जित करके रखा जा सकता है। इनमें से किसी भी क्रम से परिगणन करने पर भी गणना प्रक्रिया १, २, ३,..., n-१, n रूपी धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं के स्वाभाविक आदि एवं अनन्त अनुक्रम के आदि भाग के द्वारा सङ्ख्येय पदार्थों का सङ्घात परिशेषरहित हो जाता है।

वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में परार्ध बृहत्तम पूर्ण सङ्ख्या के रूप में स्वीकृत है। प्रशस्तपादाचार्य अनेक द्रव्याश्रित सङ्ख्याओं के सम्बन्ध में लिखते हैं– "अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिका परार्धान्ता" (*प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ.२७०)। इसकी व्याख्या करते हुए व्योमशिवाचार्य लिखते हैं–

> "परार्धमेवान्तेऽवसाने यस्याः सा परार्धान्ता। न हि परार्धादूर्ध्वमियत्ताव्यवहारः सम्भवतीत्यागमे पठ्यते" (*व्योमवती,* पृ.४५६)। [द्वित्वसङ्ख्या से आरम्भ होने वाली एवं क्रमशः एकाधिक होने वाली अनेकाश्रित सङ्ख्याओं का अनुक्रम परार्ध सङ्ख्या में परिसमाप्त होता है, क्योंकि सम्बद्ध आगमानुसार परार्ध से बृहत्तर सङ्ख्या का व्यवहार सम्भव नहीं है।]

गणित शास्त्र के अनुसार एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, लक्ष, प्रयुत, कोटि, अर्बुद, अब्ज, खर्व, निखर्व, महापद्म, शङ्कु, जलधि, अन्त्य, मध्य एवं परार्ध क्रमशः दश गुणोत्तर सङ्ख्याओं की संज्ञा गणना व्यवहार के लिये पूर्वाचार्यों के द्वारा की गई है।[१७] धनात्मक पूर्ण सङ्ख्या $१०^{१७}$ परार्ध कहलाती है। परन्तु सङ्ख्या शास्त्र के अनुसार बृहत्तम पूर्ण सङ्ख्या का अस्तित्व असम्भव है, क्योंकि प्रत्येक पूर्ण सङ्ख्या n से उसकी अव्यवहित उत्तरवर्ती सङ्ख्या n+१ स्वभावतः बृहत्तर होती है। प्रतीत होता

---

१७. "एकदशशतसहस्रायुतलक्षप्रयुतकोटयः क्रमशः।
अर्बुदमब्जं खर्वनिखर्वमहापद्मशङ्कवस्तस्मात्॥२
जलधिश्चान्त्यं मध्यं परार्धमिति दशगुणोत्तरं संज्ञाः।
सङ्ख्यायाः स्थानानां व्यवहारार्थं कृताः पूर्वैः॥३"
भास्कराचार्य, *लीलावती*, दामोदरमिश्रकृत *वासना* सहित, मिथिलाविद्यापीठ प्रकाशन, दरभङ्गा, १९५९, पृ.२

है कि धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं के स्वाभाविक अनुक्रम के आनन्त्यविषयक मत के पक्ष में कुछ न्यायवैशेषिक दार्शनिकों ने उपर्युक्त तथ्य प्रस्तुत किये थे।[१८]

४. सङ्ख्या का अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वविषयक मत का खण्डन

वैशेषिक सङ्ख्या सिद्धान्त का एक अन्य परीक्षणीय पक्ष है द्वित्वादि अनेकाश्रित सङ्ख्याओं का अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वविषयक निष्कर्ष। रूप, रस, गन्ध, महत्त्वादि परिमाण रूपी धर्म एक साथ एकाधिक प्रमाताओं के द्वारा गृहीत होते हैं। इसके विपरीत सुख, दुःख आदि पुरुषनिष्ठ धर्म एकाधिक प्रमाताओं के प्रत्यक्ष के विषय नहीं होते हैं। प्रथम प्रकार के धर्म बुद्धिजन्य नहीं होते हैं, अन्यथा जिस प्रमाता की बुद्धि के द्वारा रूप, रसादि धर्म उत्पन्न होते हैं वे केवल उसी प्रमाता के द्वारा ही गृहीत होते, न कि अनेक प्रमाताओं के ज्ञान के साधारण विषय के रूप में। ज्ञान से सुख-दुःखादि धर्मों की उत्पत्ति होती है– यह सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है। जिस ज्ञान से जो अर्थ उत्पन्न होता है, उस ज्ञान के आश्रय रूपी प्रमाता के अन्य एक ज्ञान के विषय के रूप में वह अर्थ भासित होता है, न कि उस प्रमाता से भिन्न अन्य प्रमाता के ज्ञान के विषय के रूप में। जब चैत्र अपने किसी प्रियजन की मृत्यु के समाचार को प्राप्त करने से दुःखार्त होता है, तब उस दुःखरूपी अर्थ का साक्षात्कार केवल चैत्र को ही होता है, यद्यपि चैत्रनिष्ठ दुःख का ज्ञान अनुमान प्रमाण से मैत्रादि को भी होता है।

वैशेषिक दार्शनिकों ने द्वित्वादि सङ्ख्यारूपी धर्म को उपर्युक्त दो कोटियों के धर्मों में से द्वितीय कोटि के धर्मों में परिगणित करना युक्तिसङ्गत माना है। न्यायकन्दलीकार लिखते हैं कि द्वित्व सङ्ख्या यदि बुद्धिजन्य नहीं होती तब रूप, रसादि जैसे भिन्न-भिन्न प्रमाताओं द्वारा साधारण विषय के रूप में गृहीत होती, क्योंकि जिस अर्थ की उत्पत्ति में प्रमाता की बुद्धि कोई कारणता की भूमिका नहीं निभाती है वह अर्थ, विभिन्न प्रमाताओं में उत्पन्न ज्ञानों के साधारण विषय के रूप में भासित होता है। अर्थ बुद्धिजन्य होने के कारण ही जिसकी बुद्धि से वह उत्पन्न होता है केवल

---

१८. "अन्ये तु परार्धत्वं जातिविशेष एव, तदुत्तरसङ्ख्यानामेकाधिकपरार्ध-त्वादिपदप्रतिपाद्यतया मूलस्य परार्धपदस्य च एकशेषकल्पनेन सङ्ग्रह इत्याहुः, तच्चिन्त्यम्।" राजेश्वर शास्त्री प्रपूरित *रामरुद्री*, पृ. ४३०

उसी के ज्ञान के विषय के रूप में भासित होता है।[१९] वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में द्वित्वादि अनेकाश्रित सङ्ख्याओं के अतिरिक्त, परत्व-अपरत्व एवं द्विपृथक्त्वादि धर्मों का अपेक्षाबुद्धिजन्यत्व भी अङ्गीकृत हुआ है।[२०] प्रशस्तपादाचार्य लिखते हैं कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भावना एवं शब्द केवल अपने आश्रय में समवेत होकर उत्पन्न होने वाले अन्य सजातीय अथवा विजातीय गुणों की निमित्त कारणता की भूमिका निभाने की योग्यता रखते हैं।[२१] केवल असमवायिकारणता की भूमिका निभाने की योग्यता रूप, रस, गन्ध, अनुष्ण स्पर्श, सङ्ख्या, परिमाण, एकपृथक्त्व, स्नेह एवं शब्दों में रहती है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म एवं भावना में केवल निमित्तकारणता अङ्गीकृत है। असमवायिकारणता तथा निमित्तकारणता उभय, संयोग, विभाग, उष्णस्पर्श, गुरुत्व, द्रवत्व एवं वेग में स्वीकृत हुई हैं।[२२] परन्तु सङ्ख्या प्रकरण में प्रशस्तपाद बुद्धि में, अपने आश्रय से भिन्न द्रव्यों में, द्वित्वादि सङ्ख्याओं की निमित्त कारणता स्वीकार करते हैं।[२३]

वस्तुतः बुद्धि में अपने आश्रय से अन्यत्र कार्य को उत्पन्न करने की योग्यता स्वीकार करना न्यायवैशेषिक परम्परा के मूलभूत मान्यताओं के प्रतिकूल प्रतीत होता है। सङ्ख्या का वस्तुनिष्ठत्व, रूप, रस एवं परिमाण आदि के वस्तुनिष्ठत्व से भिन्न कोटि का नहीं है। बृहस्पति रूपी सदस्य से विशिष्ट होना जिस प्रकार सूर्य के ग्रहसमुच्चय का एक वस्तुनिष्ठ धर्म है, उसी प्रकार नौ-सदस्यविशिष्ट होना भी उसका एक वस्तुनिष्ठ धर्म है। सप्तर्षि मण्डल का सात तारों से विशिष्ट होने का धर्म किसी व्यक्ति द्वारा उस मण्डल के तारकाओं की गणना रूपी व्यापार पर आश्रित नहीं

---

१९. "यदि हि द्वित्वमबुद्धिजं स्याद्रूपादिवत्पुरुषान्तरेणापि प्रतीयेत, नियमहेतोरभावात्। बुद्धिजत्वे तु यस्य बुद्ध्या यज्जन्यते तत् तेनैवोपलभ्यत इति नियमोपपत्तिः। प्रयोगस्तु द्वित्वं बुद्धिजं नियमेनैकप्रतिपत्तुवेद्यत्वाद्, यन्नियमेनैकप्रतिपत्तुवेद्यं तद् बुद्धिजं यथा सुखादिकम्। नियमेनैकप्रतिपत्तुवेद्यं च द्वित्वं तस्मादिदमपि बुद्धिजम्।" *न्यायकन्दली,* पृ. २७५

२०. "परत्वापरत्वद्वित्वद्विपृथक्त्वादयो बुद्ध्यपेक्षाः।" *प्रशस्तपादभाष्य, किरणावली* सहित, पृ. १०८

२१. "बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषभावनाशब्दाः स्वाश्रयसमवेतारम्भकाः" *वही,* पृ. १०९

२२. *वही, प्रशस्तपादभाष्य,* पृ. १११

२३. देखिये, *न्यायकन्दली,* पृ. २७४

रहता है। जिस प्रकार किसी बालक द्वारा उस तारका मण्डल में कुल आठ तारकायें हैं– इस निष्कर्ष में गणना प्रक्रिया से पहुँचने पर भी तारकामण्डल का सप्तत्व धर्म बाधित नहीं होता है, उसी प्रकार जब किसी भी व्यक्ति के द्वारा मण्डल के तारकाओं की गणना नहीं की जाती है तब भी उसका सात-तारकाविशिष्ट होने का धर्म अर्थात् सप्तत्व धर्म अव्याहत रहता है। इतना स्वीकार न करने पर रूप, रस, गन्ध एवं परिमाणादि धर्मों के अस्तित्व को भी ज्ञानव्यापार-सापेक्ष मानना पड़ेगा।

द्वित्वादि अनेकाश्रित सङ्ख्याओं का बुद्धिजन्यत्व सिद्ध करने के लिये न्यायकन्दलीकार द्वारा ऊपर प्रस्तुत की गयी युक्ति स्वीकार करने योग्य नहीं है। एक पट की लम्बाई, एक भूखण्ड का क्षेत्रफल एवं एक सुवर्ण पिण्ड के गुरुत्वादि का साक्षात् रूप में ज्ञान केवल माप करने वाले को अथवा उसके द्वारा अपनाई गयी प्रक्रिया का अनुसरण करने वाले को ही होता है न कि अन्य व्यक्तियों को। परन्तु इससे दैर्घ्य, क्षेत्रफल एवं गुरुत्वादि धर्मों का बुद्धिजन्यत्व सिद्ध नहीं होता है। जब किसी व्यक्ति द्वारा पदार्थों की गणना, निर्धारित पद्धति से एक, दो, तीन आदि सङ्ख्यावाचक शब्दों का क्रमशः उच्चारण करके सङ्ख्येय पदार्थों के परिशेषरहित होने तक की जाती है, तब वहाँ पर उपस्थित अन्य व्यक्तियों को भी सङ्ख्येय पदार्थसङ्घात की इयत्ताविषयक ज्ञान होता है। अवयव वाक्यों के द्वारा अनभिलपित स्वार्थानुमान के स्थल में भी केवल अनुमाता में अनुमिति उत्पन्न होती है। सामग्री के अभाव में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। परन्तु उससे ज्ञान का वस्तुतन्त्रत्व बाधित नहीं होता है। व्याप्तिस्मरणादि के बिना अनुमिति नहीं होती है। उससे पक्ष के साध्यवत्ता रूपी धर्म का बुद्धिजन्यत्व सिद्ध नहीं होता है।

जिन युक्तियों के द्वारा भाट्ट मीमांसक सम्मत प्राकट्य या ज्ञातता धर्म का खण्डन न्यायवैशेषिक दार्शनिकों के द्वारा किया जाता है उन्हीं के द्वारा अतीत एवं अनागत पदार्थविषयक गणनाव्यवहार भी असम्भव सिद्ध होता है।[२४] परन्तु अतीत एवं अनागत पदार्थविषयक गणनाव्यवहार अबाधित

---

२४. ''ननु गुणिनमन्तरेण कथं गुणोत्पत्तिः? सङ्ख्यावदिति ब्रूमः। न च सङ्ख्यैव भूतभविष्यतोर्नास्तीति वाच्यम्, तिस्र आहुतयो हुताः षड़पूपा भक्षिताः, दश मोदकाः कार्या इत्यादि व्यवहाराणां भ्रान्तिमूलकत्वप्रसङ्गात्।'' *मानमेयोदय*, पृ. २४५

होने से प्रामाणिक होता है। बीसवीं शताब्दी में जयपुर में कुल कितनी बार पूर्ण सूर्यग्रहण दिखाई दिया है यह खगोलशास्त्रीय गणना से तय किया जा सकता है। उसी प्रकार, इक्कीसवीं शताब्दी में जयपुर में कुल कितनी बार पूर्ण चन्द्रग्रहण दिखाई देगा यह भी खगोलशास्त्रीय गणना द्वारा तय किया जा सकता है। कुछ विचारकों के मत में 'मैंने एक शत पिपीलिकाओं को मार डाला' इत्यादि स्थल में समवायिकारण का अभाव रहने से शत सङ्ख्या की उत्पत्ति नहीं होती है। रूपादि गणनाव्यवहार के समान केवल गौण रूप में ही गणना होती है। अन्य कुछ विचारकों के मत में वर्तमान द्रव्यविषयक गणना एवं अतीत अथवा अनागत द्रव्यविषयक गणनाप्रक्रियाओं में स्वरूपतः कोई अन्तर परिलक्षित न होने से एक को मुख्य एवं अपर को गौण कहना निराधार है। उनके मत में अतीत एवं अनागतादि सङ्ख्येय पदार्थ वर्तमान काल सम्बन्धरहित होने पर भी स्वरूपसत् हैं। स्मृतिसन्निहित होने पर वे समवायिकारण की भूमिका निभाने में समर्थ होते हैं। जिस प्रकार शाब्दबोध के स्थल में एक वाक्य के अन्त्य पद के अन्त्यवर्ण की प्रतीति के समय वाक्य के अन्त्यपद के पूर्ववर्ती सभी पद तथा अन्त्य पद के अन्त्यवर्ण के पूर्ववर्ती सभी वर्ण, विनष्ट होने पर भी, स्मृति से उपनीत होकर अर्थबोध कराने में समर्थ होते हैं उसी प्रकार विनष्ट द्रव्यों की गणनास्थल में स्मृति के द्वारा उपनीत द्रव्यों की समवायिकारणता की उपपत्ति होती है।[२५]

उपर्युक्त समाधान युक्ति सङ्गत नहीं है, क्योंकि द्वित्वादि अनेकाश्रित सङ्ख्यारूपी कार्यों की वर्तमानता उनकी समवायिकारण रूपी सङ्ख्येय द्रव्यों की वर्तमानता के बिना सम्भव नहीं है। अन्य शब्दों में विनष्ट अथवा अनुत्पन्न द्रव्यों में वर्तमान कार्य की समवायिकारणता रहना असम्भव है। इसी प्रकार की युक्ति द्वारा ही ज्ञातता या प्राकट्य रूपी ज्ञानविषयनिष्ठ गुण की अप्रामाणिकता सिद्ध होती है। अतः ज्ञातता रूपी गुण के खण्डन की पद्धति के साथ सङ्गत रहने के लिये तथा अतीत एवं अनागत कार्यपदार्थविषयक गणनाव्यवहार की प्रामाणिकता की रक्षा करने के लिये द्वित्वादि अनेकाश्रित सङ्ख्याओं का बुद्धिजन्यत्वविषयक परम्परागत वैशेषिक मत का प्रत्याख्यान आवश्यक है।

---

२५. देखिये, *न्यायकन्दली*, पृ. २८३-२८४

५. गणनाव्यवहार का भासर्वज्ञकृत विश्लेषण

दो घटों में 'ये दो हैं' इस प्रकार के प्रामाणिक ज्ञान का विशेषण है घटद्वयनिष्ठ द्वित्वसङ्ख्या। परम्परागत मतानुसार यह द्वित्व सङ्ख्या प्रत्येक घट में समवेत होकर प्रत्येक घटनिष्ठ एकत्व सङ्ख्याद्वय रूपी असमवायिकारण एवं उभय घटक प्रत्येक घटनिष्ठ एकत्व सङ्ख्याविषयक उभय में अपेक्षा बुद्धि रूपी निमित्त कारण से उत्पन्न होती है। यहाँ पर 'यह एक है' एवं 'यह एक है' यह अपेक्षा बुद्धि का आकार है।[२६] सजातीय द्रव्य तीन घटों में अथवा विजातीय घट पटादि तीन द्रव्यों में 'ये तीन हैं' इस प्रकार के ज्ञान के विषय के रूप में भासित त्रित्व सङ्ख्या की उत्पत्ति भी, उसी प्रकार 'यह एक है' 'यह एक है' 'यह एक है'– तीन एकत्व सङ्ख्याओं में अनेक विषयक एकत्वज्ञान या अपेक्षाज्ञान रूपी निमित्त कारण की अपेक्षा रखती है।

वस्तुतः द्वित्वादि सङ्ख्याविषयक ज्ञान तथा गणना प्रक्रिया की वैशेषिक परम्परा में किये गये विश्लेषण को पर्याप्त नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि विश्लेषण सूक्ष्म होने पर भी उसमें एकत्वाश्रय रूपी सङ्ख्येय पदार्थों के परस्पर भेद तथा तद्विषयक ज्ञान को अपेक्षित महत्त्व नहीं दिया गया है। 'ये आम हैं', 'ये पाँच आम हैं' में अन्तर, ज्ञानों के विषय के रूप में भासित आमों के परस्पर भेद के अनिरूपण एवं परिष्कृत निरूपण में ही निहित है। दो पदार्थों को 'यह एक', 'यह एक', 'यह एक', इस रूप में तीन बार जान लेने मात्र से वे तीन नहीं हो जाते हैं।

इस सन्दर्भ में भासर्वज्ञ द्वारा किया गया गणना प्रक्रिया का विश्लेषण, तृतीय परिच्छेद में बताये गये एकानुयोगिक प्रतियोगिव्यावर्तक द्विपदी सम्बन्ध पर आधारित विश्लेषण के अनुरूप है। भासर्वज्ञ के मत में 'एक' एवं 'अभिन्न' पर्यायवाची शब्द हैं तथा 'अनेक' एवं 'भिन्न' पर्यायवाची हैं। अपेक्षाबुद्धिनिष्ठ विलक्षणता पर आश्रित रहकर द्वित्वादि सङ्ख्याओं के तथा

---

२६. ''यदाबोद्धुश्चक्षुषा समानासमानजातीययोर्द्रव्ययोः सन्निकर्षे सति तत्संयुक्तसमवेत-समवेतैकत्वसामान्यज्ञानोत्पत्तावेकत्वसामान्यतत्सम्बन्धज्ञानेभ्य एकगुणयोरनेकविषयिण्येकाबुद्धिरुत्पद्यते तदा तामपेक्ष्य एकत्वाभ्यां स्वाश्रययोर्द्वित्वमारभ्यते। ततः पुनस्तस्मिन् द्वित्वसामान्यज्ञानमुत्पद्यते।'' *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. २७२-२७४

तद्विषयक द्वित्वादि ज्ञानों के परस्पर भेद को समझना सम्भव नहीं है, क्योंकि तब द्रव्यों की गणना, अपेक्षाबुद्धि में प्रविष्ट एकत्व ज्ञानों की गणना पर आश्रित रह जायेगी। उस स्थिति में अनवस्था प्रसङ्ग उठने के साथ-साथ अपेक्षाबुद्धिजन्य द्वित्वादि का कोई प्रयोजन भी नहीं रह जायेगा। अपेक्षाबुद्धिनिष्ठ जिन विशेषताओं से द्वित्व, त्रित्व आदि भिन्न-भिन्न सङ्ख्याओं की उत्पत्ति सम्भव होती है उन्हीं विशेषताओं के द्वारा द्वित्व, त्रित्व आदि व्यवहारभेद की व्यवस्था भी सम्भव हो जाती है। अतः द्वित्व, त्रित्व आदि सङ्ख्यारूपी गुणों की तत्त्वमीमांसीय आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस मार्ग से चलने पर द्रव्य से भिन्न पदार्थों की गणना को गौण भी कहना नहीं पड़ता है।[२७] द्वित्व, त्रित्व आदि सभी अनेकाश्रित सङ्ख्या, अनेकत्व के अवान्तर भेद हैं। जिस परस्पर भेद के कारण द्वित्व, त्रित्व आदि अनेकत्व का अवान्तर भेद सम्भव होता है उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए भासर्वज्ञ लिखते हैं–

> "तस्मादभिन्नं तावदेकमित्युच्यते, तदपरेणाभिन्नेन सह द्वे इति, ते तदपरेणाभिन्नेन सह त्रीणीति, तान्यपरेणाभिन्नेन सह चत्वारीत्येवमादिः समयो गणितशास्त्रप्रसिद्धश्च द्वित्वादिव्यवहारहेतुर्द्रष्टव्य इति।" (*न्यायभूषण,* पृ. १५९)
>
> [इसलिये, अभिन्न पदार्थ एक कहलाता है। वह अभिन्न पदार्थ स्वयं से भिन्न अन्य एक पदार्थ के साथ गणना का विषय होने पर वे दो कहलाते हैं। वे दो पदार्थ, उन दोनों से व्यक्तिशः भिन्न अन्य एक पदार्थ के साथ परिगणित होने पर, वे मिलकर तीन कहलाते हैं। उसी प्रकार वे तीन पदार्थ, उन तीन पदार्थों से व्यक्तिशः भिन्न अन्य एक पदार्थ के साथ परिगणित होने पर, वे सब मिलकर चार कहलाते हैं। उसी प्रकार पाँच, छः आदि सङ्ख्याओं के गणितशास्त्रीय संज्ञानुसार प्रसिद्ध व्यवहार का आधार समझ लेना चाहिये।]

---

२७. "यथानेकविषयित्वाविशेषेऽपि काचिदपेक्षाबुद्धिर्द्वित्वोत्पादिका काचित् त्रित्वोत्पादिकेति। न च अपेक्षाबुद्धेः पूर्ववद् द्वित्वादिगुणोऽस्ति, अनवस्थाप्रसङ्गात्। अपेक्षाबुद्धिजनितस्य च द्वित्वादेरानर्थक्यप्रसङ्गात्। यत एव विशेषादपेक्षाबुद्धिविशेषस्तत एव द्वित्वादिव्यवहारोऽस्त्विति किमन्तर्गडुना द्वित्वादिगुणेन कल्पितेनेति? एवं हि गुणादिष्वपि द्वित्वव्यवहारोऽकष्टकल्पनः स्यात्।" *न्यायभूषण,* पृ.१५९

सङ्ख्या शास्त्र के तत्त्वमीमांसीय आधार की दृष्टि से सङ्ख्याओं की उत्पत्ति एवं विनाशविषयक वैशेषिक दार्शनिकों का विचार महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता है। भासर्वज्ञ के मत में सङ्ख्या के अभेद अथवा भेद पदार्थ में अन्तर्भूत हो जाने से उसकी उत्पत्ति एवं विनाशविषयक विचार निर्मूल है।

भासर्वज्ञ के द्वारा किये गये गणनाव्यवहार का विश्लेषण मूलभूत रूप में एकानुयोगिक प्रतियोगिव्यावर्तक द्विपदी सम्बन्धमूलक विश्लेषण ही है। जिस प्रकार एक रस्सी की लम्बाई जानने के लिये इकाई के रूप में मीटर, दण्ड आदि की आवश्यकता होती है एवं रज्जु को पूर्ण रूप में एक सरल रेखा में प्रसारित करना पड़ता है, उसी प्रकार एक सुनिर्दिष्ट परिमित पदार्थ समुदाय विशेष के परिगणन के लिये सङ्ख्या १ से प्रारब्ध क्रमशः उत्तरोत्तर एकाधिक होने वाले धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं का सादि एवं अनन्त अनुक्रम १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०,.... के किसी एक आदि खण्ड १, २, ३,..., n-१, n रूपी मानक की आवश्यकता होती है तथा समुदाय घटक रूपी प्रत्येक समुदायी को एक एवं केवल एक बार परिगणित करना होता है। सङ्ख्येय पदार्थों के समुदाय के परिगणन का अर्थ यह है कि उस समुदाय का प्रत्येक समुदायी किसी धनात्मक सङ्ख्या n से अबृहत्तर एक एवं केवल एक सङ्ख्या i, $i \leq i \leq n$ रूपी प्रतियोगी के अनुयोगी के रूप में गणनाप्रक्रिया में भासित होता है।

६. सङ्ख्यातन्त्रों का तत्त्वमीमांसीय आधार एवं समुच्चय तत्त्व

सङ्ख्येय पदार्थों के परस्पर भेद पर आधारित गणनाप्रक्रिया का उपर्युक्त विश्लेषण धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं के तत्त्वमीमांसीय स्वरूपनिरूपण के लिये पर्याप्त होने पर भी शून्य सङ्ख्या ०, ऋणात्मक पूर्ण सङ्ख्या -१, -२, -३,..., आनुपातिक सङ्ख्या - १/२, + १/२, - १/३, + १/३, - १/४, + १/४,... तथा ± √२, ± √३, ± √५,... आदि अनानुपातिक सङ्ख्याओं के तत्त्वमीमांसीय स्वरूप निरूपण के लिये अपर्याप्त है। लोकव्यवहार तथा शास्त्रों में प्रसिद्ध सभी पदार्थों के लिये अनुभव एवं तर्क के साथ सङ्गत व्यवस्था का निर्माण करना तत्त्वमीमांसकों का अपरिहार्य उत्तरदायित्व है। अतः गणित शास्त्र की प्रमुख शाखा सङ्ख्याशास्त्र के विषय रूपी विजातीय सङ्ख्यातत्त्वों के स्वरूपनिरूपण के लिये न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में आधार प्रस्तुत करना आवश्यक है। परन्तु प्रतीत होता है समुच्चय

(समुदाय, सङ्घात) रूपी स्वतन्त्र कोटि का पदार्थ स्वीकार न करने पर सङ्ख्या शास्त्र तथा गणित शास्त्र की अन्य शाखाओं के विषय रूपी पदार्थों के लिये तत्त्वमीमांसीय आधार प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। गणित शास्त्र भौतिकी, रसायन शास्त्र, वनस्पति एवं प्राणिशास्त्र के समान स्वयं एक विज्ञान है। परन्तु विज्ञान के रूप में गणित शास्त्र की विलक्षणता यह है कि उस शास्त्र में उपादाननिरपेक्ष रूप में केवल शुद्ध आकृतियों का स्वरूप एवं उनके परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। गणितेतर विज्ञानों को शास्त्रीय व्यवस्था निर्माण के लिये गणित शास्त्र प्रारम्भ से ही सैद्धान्तिक उपकरण उपलब्ध कराता रहा है। गणितशास्त्रीय उपकरणों से निर्मित परिष्कृत प्रारूप के बिना भौतिकी एवं रसायन शास्त्र आदि विज्ञानों का विकास सम्भव नहीं हो पाता। अतः गणित शास्त्र का तत्त्वमीमांसीय आधार गणितेतर विज्ञानों के तत्त्वमीमांसीय आधार के लिये भी परोक्ष रूप में प्रासङ्गिक है।

खिष्टाब्द १८७० में जर्मन गणितज्ञ जर्ज कान्टोर ने गणित शास्त्र की एक नवीन शाखा के रूप में समुच्चय शास्त्र की स्थापना की। इस शास्त्र की परिधि के अन्दर रहकर सङ्ख्या शास्त्र के धनात्मक पूर्ण सङ्ख्या, अनृणात्मक पूर्ण सङ्ख्या, पूर्ण सङ्ख्या, आनुपातिक सङ्ख्या, आनुपातिक एवं अनानुपातिक सङ्ख्याओं के सङ्घात रूपी परिमाणमापक एवं -१ के तथाकथित काल्पनिक वर्गमूल रूपी सङ्ख्या √-१ तथा परिमाणमापक सङ्ख्या से संरचित a+b√-१ आकार की मिश्र सङ्ख्याओं के लिये परिष्कृत व्यवस्था प्रदान करना सम्भव है। उसी शास्त्र की परिधि में रहकर कान्टोर ने गणित शास्त्र में व्यवहारयोग्य अपरिमित तत्त्व का स्वरूपनिरूपण किया था। कान्टोर का समुच्चय शास्त्र गणित शास्त्र की प्रत्येक शाखा का आधार प्रस्तुत करने के लिये तथा सामान्य रूप में समग्र गणित शास्त्र तथा उसके द्वारा समस्त विज्ञान के क्षेत्र में परिष्कार प्राप्ति के लिये अपरिहार्य सिद्ध हुआ है।

समुच्चय शास्त्र में मूलभूत अर्थात् अपरिभाषित तत्त्वों के रूप में समुच्चय (समुदाय, सङ्घात, वर्ग) एवं समुच्चय तथा उसके घटक तत्त्व रूपी सदस्यों (समुदायियों) के मध्य सदस्यता सम्बन्ध स्वीकृत हैं। अन्तर्बोध की दृष्टि से परस्पर भिन्न इन्द्रियग्राह्य अथवा बुद्धिग्राह्य तत्त्वों का सङ्घात *समुच्चय* (*समुदाय*) पदार्थ कहलाता है। सदस्यता सम्बन्ध का प्रतियोगी

समुदाय होता है एवं अनुयोगी समुदायी होते हैं। सम्बन्ध के प्रतियोगि-अनुयोगी रूपी युगल में प्रतियोगी को प्रथम या वामपाद एवं अनुयोगी को द्वितीय या दक्षिण पाद के रूप में लेने पर एवं द्विपदी सम्बन्ध S का प्रतियोगि-अनुयोगियुगल (a, b) होने पर 'aSb' को 'a का S b है' या 'b, a का S है' के रूप में पढ़ा जा सकता है। सम्बन्धवाचक पद के द्वारा निरूपित सामान्य धर्म जिस सम्बन्धी में रहता है वह उस सम्बन्ध का अनुयोगी होता है। उदाहरणस्वरूप 'कौशल्या राम की माँ है' में राम मातृत्व सम्बन्ध का प्रतियोगी एवं कौशल्या अनुयोगी है। परन्तु सम्बन्ध के प्रतियोगि-अनुयोगियुगल में अनुयोगी को प्रथम या वाम पाद एवं प्रतियोगी को दक्षिण पाद के रूप में लेने पर, जब द्विपदी सम्बन्ध S का अनुयोगि-प्रतियोगियुगल (a, b) होता है, तब 'aSb' को 'a, b का S है' या 'b का S a है' के रूप में पढ़ा जा सकता है। वस्तुतः यह सङ्केत का विषय है न कि सिद्धान्त का। सम्बन्ध S के सम्बन्धिद्वय रूपी युगल (a, b) में कौनसा पाद प्रतियोगी को एवं कौनसा पाद अनुयोगी को अभिहित करेगा वह सङ्केत से निर्धारित कर दिये जाने पर उस सङ्केत के अनुरूप आगे चलना पड़ता है, अन्यथा प्रतीकों में अनेकार्थकता दोष उत्पन्न हो जाता है। समुच्चय शास्त्र में 'a, A का सदस्य है' को प्रतीक में '$a \in A$' द्वारा अभिहित किया जाता है। यहाँ पर सदस्यता सम्बन्ध का प्रतियोगी A है एवं अनुयोगी a है।

समुच्चय शास्त्र के विषयरूपी समुच्चयों का स्वरूप उनके सदस्य रूपी तत्त्वों के उपादान पर आश्रित न होकर केवल उनके एकत्वविशिष्ट होने तथा समुच्चयघटक सदस्यों का परस्पर भिन्न होने के धर्म पर आश्रित रहता है। अन्य शब्दों में, इस शास्त्र का विषयभूत समुच्चय, एकत्वविशिष्ट परस्पर भिन्न पदार्थों के सङ्घात रूपी शुद्ध आकृतितत्त्व है। इसीलिये यह शास्त्र गणित की शाखा है तथा इस शास्त्र का विषयभूत शुद्ध आकृतितत्त्व गणित की अन्य सभी शाखाओं में उपयोगी सिद्ध हुआ है। समुच्चय शास्त्र गाणितिक तत्त्वों एवं ज्ञान के व्यवस्थापन में मूलभूत भूमिका भी निभाता है। यह शास्त्र समुच्चय रूपी स्वतन्त्र आकृतितत्त्वों की पदार्थ कोटि को स्वीकार करते हुए आगे बढ़ता है।

समुच्चयों के धर्म के रूप में द्वित्वादि अनेकाश्रित पूर्ण सङ्ख्या भासित होती हैं, न कि समुच्चय घटक किसी समुदायी (सदस्य) के

धर्म के रूप में। 'यह एक है', 'यह एक है' 'यह एक है' एवं 'वे तीन हैं'– यहाँ पर परस्पर भिन्न तीन पदार्थों से घटित समुच्चय बहुवचनान्त पद 'वे' द्वारा अभिहित हुआ है। 'वह तृतीय है' एवं 'ये तीन हैं' में यथाक्रम एकवचनान्त एवं बहुवचनान्त पदों का प्रयोग निरर्थक नहीं है। प्रथम वाक्य में 'यह' पद से अभिहित पदार्थ, अनुक्रम विशेष के तृतीय पद के रूप में गृहीत हुआ भासित होता है। परन्तु, 'ये तीन हैं' में विशेष्य के रूप में तीन परिगणित पदार्थों में से कोई एक पदार्थविशेष भासित न होकर सभी तीन परिगणित पदार्थ एक साथ ज्ञान में भासित होते हैं। उदाहरणस्वरूप, 'परिणाम' शब्द में क्रमानुसार 'प्', 'अ', 'र्', 'इ', 'ण्', 'आ', 'म्', 'अ' ये आठ वर्ण हैं। रकार उसका तृतीय वर्ण है। उसमें कुल 'प्', 'अ', 'र्', 'इ', 'ण्', 'आ' एवं 'म्' ये सात विजातीय वर्ण हैं।

७. न्यायवैशेषिक दर्शन में समुच्चय तत्त्व की भूमिका

समुच्चय तत्त्व स्वभावतः न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के विचार के विषय के रूप में उपस्थित होता है। अवयवी अवयवाश्रित होने पर भी अपने अवयवों से भिन्न हैं। तन्तुओं के सङ्घात मात्र से प्रमात्मक पटबुद्धि एवं पटकार्य निर्वाह सम्भव नहीं है। तन्तुओं का व्यूहविशेष ही पट है। अवयवी का असमवायिकारण उसके अवयव रूपी समवायिकारणसङ्घात को व्यूहबद्ध करता है। रसायन शास्त्र के मौलिक मूर्त्ततत्त्व रूपी परमाणुओं के तथा रासायनिक प्रक्रिया से उत्पन्न यौगिकाणुओं के संरचनाविषयक विचार से यह स्पष्ट होता है कि उनके घटक तत्वों के परस्पर विद्युत्-चुम्बकीय आकर्षण एवं विकर्षण शक्ति के सन्तुलन से जन्य बन्धन रूपी असमवायिकारण ही उनके घटक तत्वों को व्यूहबद्ध करते हैं।

न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के कारणता सिद्धान्त में संयोग पदार्थ विशेष भूमिका निभाता है।[२८] परस्पर स्वतन्त्र एवं असंश्लिष्ट द्रव्यों का संश्लेष या प्राप्ति संयोग नाम से जाना जाता है।[२९] संयोग संयुक्त द्रव्यद्वय में समवेत होकर रहता है। असमवायिकारण के आश्रय अवयवी का कोई

२८. "संयोगः संयुक्तप्रत्ययनिमित्तम्। स च द्रव्यगुणकर्महेतुः।" *प्रशस्तपादभाष्य*, *किरणावली* सहित, पृ. १४३

२९. "अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः।" *वही*, पृ. १४४

एक विशिष्ट अवयव नहीं होता है, अपितु प्रत्येक अवयव असमवायिकारण रूपी एक या एकाधिक संयोग का आश्रय होता है। तन्तुसङ्घात में तन्तुओं का परस्पर संयोग रहने पर भी उस प्रकार का संयोग द्रव्यारम्भक नहीं होता है। द्रव्य-अनारम्भक संयोगविशिष्ट सङ्घात को *शुद्ध सङ्घात* नाम से अभिहित किया जा सकता है। अवयवी एवं उसके अवयवों के शुद्धसङ्घात में अन्तर करना आवश्यक है। अवयवों का परस्पर दैशिक अवस्थान द्वारा अपेक्षित द्रव्यारम्भक संयोग रहने पर, वे द्रव्यारम्भक असमवायिकारण के आश्रय की भूमिका निभाते हुए व्यूहबद्ध होते हैं। शुद्धसङ्घात का द्रव्यारम्भक संयोग के द्वारा व्यूहबद्ध होना ही अवयवी की उत्पत्ति है।

वृक्षों का बृहत् समुदाय, समुदायी रूपी वृक्षों के परस्पर दैशिक प्रत्यासत्तिविशेष रहने पर वन कहलाता है। परन्तु वहाँ पर दैशिक प्रत्यासत्ति द्रव्यारम्भक नहीं होती है। शिविरों में सैनिकों का सङ्घात एवं युद्ध क्षेत्र में उनके व्यूहबद्ध सङ्घात में अवश्य अन्तर है। सैनिकों का सङ्घात युद्ध क्षेत्र में दैशिक प्रत्यासत्तिविशेष से विशिष्ट होने पर ही व्यूहबद्ध कहलाता है। वहाँ पर भी वन में वृक्षों के सन्निकर्ष की तरह दैशिक प्रत्यासत्ति द्रव्यारम्भक नहीं होती है। अवयवी की उत्पत्ति के लिये प्रत्येक अवयव को उससे भिन्न अवयवों के साथ साक्षात् अथवा परम्परया द्रव्यारम्भक संयोग से सम्बद्ध रहना आवश्यक है। अतः n-अवयवविशिष्ट, $n \geqslant २$, एक अवयवी की उत्पत्ति के लिये कम से कम n-१ द्रव्यारम्भक संयोग की आवश्यकता होती है। उदाहरणस्वरूप, n-पर्वविशिष्ट एक दण्ड को अवयवी के रूप में लेने पर उन पर्वों के मध्य रहने वाले n-१ पर्वसन्धि, द्रव्यारम्भक संयोग के रूप में देखे जा सकते हैं।

प्राचीन न्याय के अनुसार अवयवी में आश्रित धर्म के रूप में आकृति तत्त्व स्वीकृत हुआ है।[३०] परन्तु आकृति केवल अवयवी के धर्म के रूप में भासित नहीं होती है, अपितु सङ्घात के धर्म के रूप में भी भासित होती है। उदाहरणस्वरूप, सप्तर्षिमण्डल की आकृति प्रश्नवाचक चिह्न जैसी है। यह प्रश्नवाचकचिह्नाकृति, सप्तर्षि मण्डल के क्रतु, पुलह,

---

३०. "सत्त्वावयवानां तदवयवानां च नियतो व्यूह आकृतिः" *न्यायसूत्र* २.२.६२ पर *वात्स्यायनभाष्य*, पृ. १८४। *न्यायसूत्र* २.२.६७ पर *वात्स्यायनभाष्य* भी द्रष्टव्य है।

पुलस्त्य आदि किसी एक नक्षत्र में आश्रित होकर नहीं रहती है न ही यह आकृति इनमें से किन्हीं दो या तीन नक्षत्रों में रहती है। वस्तुतः यह दैशिक आकृति सप्तर्षि मण्डल के सात नक्षत्रों के सङ्घात रूपी पदार्थ में आश्रित है एवं उससे भिन्न है। सङ्घातनिष्ठ धर्म प्रमात्मक ज्ञान के विषय के रूप में भासित होते हैं। 'कालपुरुष नक्षत्रमण्डल की आकृति सप्तर्षि मण्डल की आकृति से भिन्न है'– यह एक प्रत्यक्षसिद्ध तथा अबाधित तथ्य है। सजातीय अथवा विजातीय वर्णों (रङ्गों) के चूर्णों से भूमि पर रचित चित्रों की आकृतियाँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। सङ्गणक टङ्कण से प्राप्त लिप्याकृतियाँ वस्तुतः बिन्दुसङ्घातनिष्ठ धर्म हैं। चक्षुरिन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रियग्राह्य दैशिक आकृतिरूपी प्रतीतिसिद्ध धर्म आश्रयरहित नहीं हो सकते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों में दैशिक प्रत्यासत्ति द्रव्यारम्भक न होने के कारण अवयवी आकृतियों का आश्रय नहीं हो सकता है। अतः इन उदाहरणों में अवयवों के सङ्घात को ही आकृति के आश्रय के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है।

८. लोकव्यवहार एवं शास्त्रीय विचारों में समुच्चय तत्त्व की भूमिका

सङ्घात पदार्थ लोकव्यवहार तथा शास्त्रों में प्रसिद्ध है। 'नक्षत्र पुञ्ज', 'धान्यराशि', 'गज यूथ', 'गो यूथ', 'पक्षियों का झुण्ड' आदि प्रसिद्ध सार्थक अभिव्यक्तियाँ सङ्घातवाचक हैं। जिस प्रकार व्यक्ति एवं अवयवियों की प्रत्यभिज्ञा होती है उसी प्रकार सङ्घात भी प्रत्यभिज्ञा का विषय होता है। 'गायों का यह झुण्ड, जो अब चैत्र के खेत में चर रहा है, वही झुण्ड है जिसको हमने एक घण्टे पहले मैत्र के खेत में चरते हुये देखा था'– इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा सर्वत्र भ्रमात्मक नहीं होती है। समुदाय की प्रत्यभिज्ञा समुदायियों की सङ्ख्या एवं प्रत्यभिज्ञा पर आश्रित अवश्य होती है, परन्तु इससे समुदाय की अपने समुदायियों के साथ अभिन्नता सिद्ध नहीं होती है। 'सप्तर्षि मण्डल सात नक्षत्र विशिष्ट है', परन्तु सप्तर्षि मण्डल का क्रतु-पुलहादि नक्षत्रों में सात नक्षत्रों का समुदाय होने का धर्म नहीं है। धर्म भेद रहने पर धर्मिभेद स्वीकार करना आवश्यक है। पुनश्च, समुदाय स्वयं भी गणना व्यवहार में सङ्ख्येय पदार्थ के रूप में भासित होते हैं। 'पक्षियों के पाँच झुण्ड' रूपी ज्ञान में पक्षियों की सङ्ख्या भासित नहीं होती है अपितु उनके झुण्डों की सङ्ख्या। अनेक में प्रमात्मक एक बुद्धि सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है। इस प्रकार की बुद्धि के

विषय के रूप में समुदाय अथवा अवयवी भासित होते हैं। 'गजयूथ', 'यूथपति', 'यूथमुख्य', 'सङ्घमुख्य' आदि समस्त पदों में यूथ एवं सङ्घ आदि पदों के द्वारा अभिहित पदार्थों की प्रामाणिकता स्वीकार करना आवश्यक है। लाघव शास्त्र में वाञ्छनीय अवश्य है, परन्तु पदार्थबहुलता से भयभीत होकर अनुभव एवं युक्तियों को नकारते हुये लाघव को अपनाना न्यायवैशेषिक दर्शन की आधारभूत मान्यताओं के प्रतिकूल है।

समूहालम्बन ज्ञान के विषय के रूप में समुदायियों से भिन्न समुदाय रूपी स्वतन्त्र पदार्थ अवश्य स्वीकार्य है। 'घट और पट' इस ज्ञान का विषय केवल घट नहीं है, केवल पट भी नहीं है अपितु घटपट उभय है। इस ज्ञान में न तो घट पट के विशेषण के रूप में भासित होता है न पट घट के विशेषण के रूप में। शुद्ध सङ्घात एवं व्यूहबद्ध सङ्घात में अन्तर करना जितना आरम्भवाद एवं अवयविसिद्धान्त की रक्षा के लिये आवश्यक है उतना ही ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों की रक्षा के लिये भी। इस भेद के बिना 'दण्डी पुरुष' रूपी विशिष्ट ज्ञान 'पुरुष, दण्ड तथा दण्ड पुरुषसंयोग' रूपी समूहालम्बन ज्ञान में अन्तर को समझना सम्भव नहीं है। समूहालम्बन ज्ञान में भासित परस्पर असंसृष्ट तीन पदार्थों का समूह, विशिष्ट ज्ञान में व्यूहबद्ध होकर भासित होता है।

अनेकाश्रित द्वित्वादि सङ्ख्या पर्याप्ति सम्बन्ध से उभय आदि में रहती हैं न कि उभयघटक तत्त्वों में। परम्परागत मत के अनुसार द्वित्वादि सङ्ख्या परिगणित द्रव्यव्यक्तियों में समवेत होकर रहती है। नव्यन्याय में समवाय के अतिरिक्त पर्याप्ति नामक स्वरूप सम्बन्ध स्वीकृत हुआ है।[३१] द्वित्व, त्रित्व आदि पर्याप्ति सम्बन्ध के प्रतियोगी हैं एवं दो एवं तीन समुदायिविशिष्टसमुदाय यथाक्रम उसके अनुयोगी हैं। द्वित्वप्रतियोगिक पर्याप्तिसम्बन्ध का अनुयोगी उभय है एवं त्रित्वप्रतियोगिक पर्याप्ति का अनुयोगी त्रितय है इत्यादि। महानसीयवह्न्यभाव का प्रतियोगी महानसीयवह्नि है एवं उसकी

---

३१. (क) "पर्याप्तिश्च अयमेको घटः इमौ द्वौ इति प्रतीतिसाक्षिकः स्वरूपसम्बन्धविशेष एव।" *दीधिति*, जगदीशतर्कालङ्कार की *अवच्छेदकत्वनिरुक्ति* एवं उस पर *लक्ष्मी* टीका सहित, काशी संस्कृत सिरीज २०३, वाराणसी, पृ. ३८

(ख) "द्वित्वत्रित्वादिकं पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्र्यादिष्वेव वर्तते न प्रत्येकस्मिन्। समवायेन तु प्रत्येकवृत्ति।" *न्यायकोश*, पृ. ४९०

प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म महानसीयत्व एवं वह्नित्व घटित उभय है। उक्त अभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता महानसीयत्व एवं वह्नित्व घटित उभय में पर्याप्तिसम्बन्ध से रहती है। अतः यह स्पष्ट है कि उभय, त्रितय, चतुष्टय, पञ्चतयादि सङ्घात रूपी पदार्थ को स्वीकार न करने पर पर्याप्तिसम्बन्ध अनुयोगिशून्य हो जायेगा जो कि सम्भव नहीं है। यह भी स्पष्ट है कि घट एवं पट का उभय घट से भिन्न है तथा पट से भी भिन्न है। अतः समुदाय को अपने समुदायियों से भिन्न पदार्थ के रूप में स्वीकार न करने पर शास्त्रप्रक्रियानिर्वाह नहीं हो सकता है।

प्रकरणपञ्चिका की टीका *न्यायसिद्धि* के अनुसार क्रम एक स्वतन्त्र पदार्थ है।[३२] लोकव्यवहार तथा शास्त्रों में क्रम पदार्थ महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणस्वरूप व्याकरण में वर्णों का अनुक्रम विशेष ही पद कहलाता है एवं पदों का अनुक्रम विशेष ही वाक्य कहलाता है। क्रिया पदार्थ तथा काल का स्वरूप निरूपण भी क्रम पदार्थ की अपेक्षा रखता है। पद एवं वाक्यरूपी परिमित अनुक्रम का स्वरूप; आदि, मध्य, अन्त, अव्यवहित-उत्तरवर्तित्व, अव्यवहित-पूर्ववर्तित्वादि सम्प्रत्ययों की अपेक्षा रखता है। एकवर्णविशिष्ट पद एवं एक वर्ण में अन्तर करना आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप संस्कृत भाषा में 'आ' एक स्वरवर्ण है परन्तु 'आ' एकवर्णविशिष्ट पद के रूप में एक अव्यय है एवं एक उपसर्ग भी है। तीन वर्ण a, b, c से कुल $३^{२}$=९ युगल अर्थात् दो पाद विशिष्ट अनुक्रम, $३^{३}$=२७ त्रितय अर्थात् तीन पाद विशिष्ट अनुक्रम एवं सामान्य रूप में ३^{n} n-पादविशिष्ट अनुक्रम सम्भव हैं। समुदाय की दृष्टि से a, b का समुदाय b एवं a का समुदाय के साथ अभिन्न होने पर भी युगल (a, b) युगल (b, a) से क्रम की दृष्टि से भिन्न हैं। n परस्पर भिन्न पदार्थ दिये जाने पर उनको कुल n! n-पादविशिष्ट पुनरुक्तिरहित अनुक्रम (पङ्क्ति) में रखा जा सकता है। उसी प्रकार n परस्पर भिन्न पदार्थों को k-स्थान विशिष्ट पङ्क्ति में अर्थात् k-पाद विशिष्ट अनुक्रम के रूप में, $i \leq k \leq n$, कुल $n \times (n-१) \times \ldots \times (n-k+१) = n!/(n-k)!$ प्रकारों से पुनरुक्ति के बिना रखा जा सकता है। सम्भावनाओं की उपर्युक्त प्रकार के कलन के लिये एक समुदाय एवं उसके समुदायिघटित

---

३२. "अत्र चेयं प्राभाकराणां पदार्थप्रक्रिया– नवधा पदार्थाः– द्रव्यं, गुणः कर्म, सामान्यं, समवायः, शक्तिः, सङ्ख्या, सादृश्यम्, क्रमश्चेति।" *प्रकरणपञ्चिका* पर *न्यायसिद्धि*, पृ. ७८

विभिन्न अनुक्रमों में अन्तर करना आवश्यक है। उपर्युक्त प्रकार की गणितीय प्रक्रियाओं को व्यवस्थित करने के लिये समुदाय रूपी स्वतन्त्र पदार्थ को स्वीकार करना भी आवश्यक है।

९. समुच्चयनिरूपण

न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा धर्मधर्मिभेद पर आधारित है। धर्मी में सम्बन्ध विशेष के द्वारा धर्म रहता है। अतः इस तत्त्वमीमांसा में धर्मविशेष के सम्बन्धविशेष से सभी धर्मी रूपी आश्रय या अधिकरणों के सङ्ग्रह की कल्पना स्वाभाविक है। उदाहरणस्वरूप, संयोग सम्बन्ध से वह्निपिण्डों के सभी अधिकरणों के सङ्ग्रह की कल्पना से वह्निपिण्डों का यावत् अधिकरण रूपी तत्त्व अर्थात् जितने सारे अधिकरण हैं उनका समुदाय रूपी तत्त्व प्राप्त होता है। स्पन्दत्व जाति का समवाय सम्बन्ध से यावत् अधिकरणों के सङ्ग्रह से अतीत, अनागत एवं वर्तमान स्पन्द व्यक्तियों का समुदाय प्राप्त होता है। स्पन्दत्वावच्छिन्न स्पन्द का समवाय सम्बन्ध से यावत् अधिकरणों के सङ्ग्रह से अतीत, अनागत एवं वर्तमान सभी मूर्त द्रव्यों का समुदाय प्राप्त होता है। विपरीत दिशा में धर्मी विशेष को अधिकरण के रूप में लेकर समवाय, संयोग, स्वरूप सम्बन्धादि एक या एकाधिक वृत्तिनियामक सम्बन्धों के माध्यम से उसमें आधेय रूप में अतीत, अनागत अथवा वर्तमान काल में रहने वाले सभी धर्मों का समुदाय प्राप्त होता है। उदाहरणस्वरूप, जल से पूर्ण एक घट में संयोग एवं समवाय सम्बन्ध से समानाधिकरण धर्मों के समुदाय में जल, घट का रूप, मूर्तत्व एवं घटत्वादि जाति समुदायी के रूप में अवश्य होते हैं। पदार्थधर्मसङ्ग्रहकार प्रशस्तपादाचार्य की तत्त्वमीमांसीय-व्यवस्थानिर्माणपद्धति के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उनके द्वारा निर्मित व्यवस्था, माल्यग्रन्थन-पद्धति से पदार्थों के परिगणन द्वारा समुदायसंरचना एवं उन समुदायघटक समुदायियों के समान धर्मों के पुनश्च माल्यग्रन्थन-पद्धति से परिगणन के द्वारा समुदायसंरचना पर आधारित है।

प्रशस्तपादाचार्य ने मूल कोटि के पदार्थों का परिगणन– 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय' रूपी क्रमविशेष के साथ छः– पदविशिष्ट एक पङ्क्ति में किया है। उक्त क्रमबद्ध परिगणन भिन्न-भिन्न पदार्थ कोटि के पदार्थों में आश्रित समान धर्मों के परिगणन द्वारा समुदायसंरचना सहज साध्य होता है तथा ग्रन्थ का लाघव भी सम्भव होता है। उदाहरणस्वरूप अभिधेयत्व, अस्तित्व एवं ज्ञेयत्व सभी पदार्थों में रहने वाले धर्म हैं एवं

नित्य द्रव्यों को छोड़कर आश्रितत्व अन्य सभी पदार्थों का समान धर्म हैं। द्रव्यादि प्रथम पाँच परिगणित पदार्थों का समवाय सम्बन्ध के द्वारा सम्बद्ध होना तथा अनेकत्व विशिष्ट होना समान धर्म हैं।[३३] गुण से प्रारम्भ करके शेष पाँच पदार्थों का समवाय सम्बन्ध से गुण एवं कर्म पदार्थ का अधिकरण न होना समान धर्म हैं। द्रव्य एवं गुण प्रकरण में भी आचार्य उपर्युक्त पद्धति से यथाक्रम द्रव्यत्व अवान्तर जाति के पदार्थों के समान धर्मों का तथा गुणत्व अवान्तर जाति के पदार्थों के समान धर्मों का सङ्ग्रह करते हैं।[३४] विजातीय पदार्थों के समान धर्मों के परिगणन के द्वारा उनके असमान धर्म समुदाय स्वतः व्यावृत्त हो जाते हैं।[३५] मूल कोटि के पदार्थ द्रव्यादि के पृथिव्यादि के असाधारण धर्मों का सङ्ग्रह वस्तुतः धर्मिप्रकारमूलक असाधारण धर्मों के प्रकारों का सङ्ग्रह है। अतः प्रशस्तपादाचार्य द्वारा अपनाई गई पद्धति निर्विवाद रूप में पदार्थप्रकार-सङ्ग्रह द्वारा प्राप्त समुदाय की अपेक्षा रखती है। दर्शनेतर शास्त्रों के विषयभूत पदार्थों के तत्त्वमीमांसीय कोटिविषयक विचार अथवा उन शास्त्रों में प्रयुक्त सिद्धान्तस्थापनाविषयक विचार उन शास्त्रों में किया जाना न तो आवश्यक, न सम्भव होता है। परन्तु तत्त्वमीमांसा के निर्माण में अपनायी गयी पद्धति में प्रयुक्त अथवा अपेक्षित पदार्थों का तत्त्वमीमांसीय स्वरूपनिरूपण तत्त्वमीमांसा के लिये अपरिहार्य है। अतः समुदाय रूपी पदार्थ का स्वरूप तथा कोटिविषयक विचार, वैशेषिक तत्त्वमीमांसा का गलेलग्न हो जाता है।

धर्मविशेष के सम्बन्धविशेष से सभी आश्रयरूपी धर्मियों के सङ्ग्रह से प्राप्त पदार्थ के रूप में समुदाय, शास्त्रीय विचार में सहज भाव से प्रवेश करता है। लोकव्यवहार में अनेक सजातीय अथवा विजातीय प्रत्यक्षग्राह्य पदार्थ दैशिक सान्निध्यादि सम्बन्ध के कारण एक समूह के रूप में भासित होते हैं। इन स्थलों में समुदायनिष्ठ एकत्वप्रत्यय को भ्रमात्मक नहीं कहा

---

३३. "षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि। आश्रितत्वञ्चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः। द्रव्यादीनां पञ्चानां समवायित्वमनेकत्वञ्च। गुणादीनां पञ्चानामपि निर्गुणत्वनिष्क्रियत्वे।" *प्रशस्तपादभाष्य*, *न्यायकन्दली* सहित, पृ. ४१-४३

३४. देखिये, *वही*, द्रव्यसाधर्म्य प्रकरण पृ. ५४-६७ एवं गुणसाधर्म्यप्रकरण, पृ. २२७-२५०

३५. "एवं सर्वत्र साधर्म्यं विपर्ययाद् वैधर्म्यञ्च वाच्यमिति।" *प्रशस्तपादभाष्य*, *किरणावली* सहित, पृ. २७

जा सकता है। जब एक धर्म का एक सम्बन्धविशेष से केवल एक ही अधिकरण होता है, तब समुदाय को शास्त्रप्रक्रिया में सरलता लाने की दृष्टि से एकसमुदायिविशिष्ट स्वीकार करना आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप एकानुयोगिक द्विपदी सम्बन्ध का प्रतियोगिविशेषनिष्ठ उस सम्बन्ध की प्रतियोगितानिरूपित अनुयोगिता का आश्रय समुदाय– जैसा कि रामपितृत्व, एक का साक्षात् उत्तरवर्तित्व रूपी धर्मों का आश्रय समुदाय एकसमुदायिविशिष्ट हैं। जब धर्म विशेष सम्बन्ध विशेष से अधिकरणशून्य होता है, तब उसका आश्रय समुदाय के रूप में एक रिक्त समुदाय अर्थात् समुदायिशून्यसमुदाय, शास्त्रप्रक्रिया में लाघव लाने के लिये स्वीकार्य होता है। उदाहरणस्वरूप, संयोगसम्बन्ध से घटत्वाभाव का अधिकरण असम्भव होने से तादृश अधिकरणों का समुदाय रिक्त है, जबकि घटभेद का अधिकरण घटभिन्न सभी पदार्थ होने से उनका समूह अघट समुदाय है।

तत्त्वमीमांसा में एक स्वतन्त्र कोटि के पदार्थ को स्वीकार करने से पहले उस कोटि के पदार्थों के लिये भेद एवं अभेद का मानदण्ड प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। धर्मों के अधिकरणों का समुदाय या समुच्चय रूपी पदार्थों को उनके व्यावर्तक धर्मों के सामानाधिकरण्य, असामानाधिकरण्य, अव्यापकता, व्यापकता, अन्योन्यव्यापकता या समनियतता एवं असमनियतातादि सम्बन्धों की दृष्टि से विचार करने पर समुदाय या समुच्चयों के लिये अपेक्षित भेद एवं अभेद का मानदण्ड प्राप्त होता है। सम्बन्ध विशेष से समनियत अर्थात् अन्योन्यव्याप्त धर्मों का अधिकरण समुदाय अभिन्न होता है एवं सम्बन्ध विशेष से दो असमनियत धर्मों के अधिकरण समुदाय परस्पर भिन्न होते हैं। अतः धर्म D का सम्बन्ध S से अधिकरणसमुदाय को A(D,S) द्वारा अभिहित करने पर एवं उसी प्रकार धर्म D′ का सम्बन्ध S′ से अधिकरण समुदाय को 'A(D′,S′)' द्वारा अभिहित करने पर उपर्युक्त निष्कर्ष को निम्न प्रकार से उपस्थापित किया जा सकता है–

$A(D,S) = A(D',S')$ उसी एवं केवल उसी स्थिति में (प्रतीक में $\leftrightarrow$) जब सम्बन्ध S से धर्म D सम्बन्ध S′ से धर्म D′ के साथ समनियत है। अतः $A(D,S) \neq A(D',S') \leftrightarrow$ सम्बन्ध S से D, सम्बन्ध S′ से D′-व्याप्य नहीं है अथवा सम्बन्ध S′ से D′, सम्बन्ध S से D-व्याप्य नहीं है। अन्य शब्दों में A(D,S) एवं A(D′,S′) अभिन्न होने के लिये यह आवश्यक

एवं पर्याप्त है कि सम्बन्ध S से D का प्रत्येक अधिकरण, S′ से D′ का भी अधिकरण है एवं सम्बन्ध S′ से D′ का प्रत्येक अधिकरण, सम्बन्ध S से D का भी अधिकरण है। फलतः $A(D,S) \neq A(D',S')$ उसी एवं केवल उसी स्थिति में, जब सम्बन्ध S से D का कम से कम एक ऐसा अधिकरण है जो सम्बन्ध S′ से D′ का अधिकरण नहीं है अथवा सम्बन्ध S′ से D′ का कम से कम एक ऐसा अधिकरण है जो सम्बन्ध S से D का अधिकरण नहीं है। उदाहरणस्वरूप, समवाय सम्बन्ध से कार्यपदार्थ का अधिकरण होना तथा समवाय सम्बन्ध से संयोग का अधिकरण होना परस्पर समनियत धर्म हैं। अतः समवाय सम्बन्ध से कार्याधिकरणों का समुदाय तथा संयोगाधिकरणों का समुदाय वस्तुतः द्रव्यसमुदायस्वरूप होने से अभिन्न हैं। ३० की धनात्मकभाजकता धर्म के आश्रय हैं– १, २, ३, ५, ६, १०, १५, ३० एवं ४० की धनात्मकभाजकता धर्म के आश्रय हैं– १, २, ४, ५, ८, १०, २०, ४०। ये दो धर्म परस्पर असमनियत होने से उनके अधिकरण समुदायद्वय परस्पर भिन्न हैं।

सामान्य रूप में दो समुदाय A, B अभिन्न कहलाते हैं यदि एवं केवल यदि (प्रतीक में $\leftrightarrow$) A का प्रत्येक समुदायी (सदस्य) B का भी समुदायी है एवं B का प्रत्येक समुदायी A का भी समुदायी है। अन्य शब्दों में: $(A=B) \leftrightarrow$ चाहे x कोई भी पदार्थ हो (प्रतीक में (x)) $(x \in A \leftrightarrow x \in B)$।

समुच्चय शास्त्र की दृष्टि से, सम्बन्ध S से धर्म D, सम्बन्ध S′ से धर्म D′-व्याप्य होता है $\leftrightarrow A(D,S) \subseteq A(D',S')$, अर्थात् $\subseteq$ की परिभाषा से, $\leftrightarrow$ $(x)\ (x \in A(D,S) \rightarrow x \in A(D',S'))$। अतः $(A=B) \leftrightarrow (A \subseteq B\ \&\ B \subseteq A)$।

अभिन्न पदार्थों का धर्म भेद सम्भव नहीं है। अतः समुदायों के लिये दिये गये उपर्युक्त भेद एवं अभेद के मानदण्ड एवं अभेद एवं भेद के मूलभूत तत्त्वमीमांसीय स्वरूप के साथ सङ्गत रहने के लिये यह स्वीकार करना आवश्यक है कि यदि A एवं B अभिन्न हैं, तो जो धर्म A में है वह B में भी है एवं जो धर्म B में है वह A में भी है। समुच्चय शास्त्र की परिधि में रहकर इसको सिद्ध करने के लिये यह स्वीकार करना पर्याप्त है कि $(A=B) \rightarrow (X)(A \in X \leftrightarrow B \in X)$।

समुच्चय शास्त्र में समुच्चयनिरूपण सामान्यतया *माल्यग्रन्थनपद्धति* के

द्वारा अथवा धर्मविशेष का सम्बन्धविशेष से सभी अधिकरणों के सङ्ग्रह के द्वारा अर्थात् *अवच्छेदकपद्धति* से किया जाता है। कुछ विशिष्ट समुच्चयों को अभिहित करने के लिये व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को काम में लिया जाता है। उदाहरणस्वरूप रिक्त समुच्चय '∅' के द्वारा एवं सभी धनात्मक पूर्ण सङ्ख्या १, २, ३, ४, ५,... के समुच्चय 'N' द्वारा अभिहित किये जाते हैं। माल्यग्रन्थनपद्धति से समुच्चयनिरूपण के लिये समुदायियों का नाम अलग-अलग लिखकर ',' के द्वारा परस्पर से विच्छिन्न किया जाता है एवं समुदायियों की नामावली को धनुष्कोष्ठकद्वय '{', '}' द्वारा आबद्ध किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, ४० के धनात्मक भाजक समुच्चय = {१, २, ४, ५, ८, १०, २०, ४०}, प्रशस्तपादाचार्य द्वारा विरचित ग्रन्थ समुदाय = {पदार्थधर्मसङ्ग्रह} एवं उदयनाचार्य द्वारा विरचित ग्रन्थसमुदाय = {*न्यायकुसुमाञ्जलि, आत्मतत्त्वविवेक, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिटीका, लक्षणावली, लक्षणमाला, किरणावली*}। जब परिमित समुदाय के सभी समुदायियों के नाम लिखना व्यावहारिक नहीं होता है एवं सन्दर्भ में न लिखे गये नाम स्पष्ट हो जाते हैं, तब परिमित समुदाय के कुछ समुदायियों के नाम प्रारम्भ से लिख कर एवं अन्त के कुछ नाम लिखकर मध्यवर्ती नामों को केवल '...' द्वारा सूचित कर दिया जाता है। उदाहरणस्वरूप, १०१ से न्यून सभी धनात्मक पूर्ण समसङ्ख्याओं का समुदाय = {२, ४, ६, ८, १०,..., ९६, ९८, १००}। माल्यग्रन्थनपद्धति से कुछ विशेष प्रकार के अपरिमित समुच्चयों को भी अभिहित किया जा सकता है। अपरिमित समुच्चय के सभी समुदायियों के नाम लिखना सैद्धान्तिक रूप में असम्भव होने से एक अनादि एवं अनन्त अनुक्रम में समुदायियों के आदि के कुछ नाम लिखकर सन्दर्भ से स्पष्ट शेष नामों को '...' द्वारा सूचित कर दिया जाता है तथा इस पङ्क्ति को धनुष्कोष्ठक-युगल के अन्दर रखा जाता है। उदाहरणस्वरूप, N = {१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८,...}। धनात्मक पूर्ण विषमसङ्ख्याओं का समुदाय = {१, ३, ५, ७, ९, ११,...}। उन सब धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं के समुदाय जिनके केवल १ एवं स्वयं रूपी दो ही धनात्मक भाजक होते हैं = {२, ३, ५, ७, ११, १३, १७, १९, २३, २९, ३१, ३७, ४१, ४३, ४७,...}। अवच्छेदकपद्धति से निर्मित समुच्चयनामों का प्रयोग एवं समुदायों की अभेद की परिभाषा से {१, २, ३, ५, ६, १०, १५, ३०} = {a∈N। a, ३० का धनात्मक भाजक है}, {१, २, ३, ४, ५, ८, १०, २०, ४०} = {a∈N। a, ४० का धनात्मक

भाजक है} एवं {१, ३, ५, ७, ९, ११,...} = {a∈N। २, a का भाजक नहीं है}।

समुदाय अन्तर्बोध की दृष्टि से धर्म एवं सम्बन्ध विशेष से अवच्छिन्न होता है। परन्तु सामान्य रूप में प्रत्येक धर्म एवं सम्बन्धरूपी युगल से अवच्छिन्न एक अधिकरणसमुदाय स्वीकार करने पर समुच्चय शास्त्र व्याघातदोषग्रस्त हो जाता है। इसलिये अवच्छेदकपद्धति से समुदाय प्राप्त करने के लिये कुछ अङ्कुश स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है।[३६] उदाहरणस्वरूप धर्म, धर्मी से भिन्न होने के कारण अपने में आश्रित होकर नहीं रह सकता है। अतः अपने में आश्रित होकर न रहने का धर्म अर्थात् स्वयं का अधिकरण न होने का धर्म अर्थात् स्वानाश्रितत्व रूपी धर्म केवलान्वयि या सार्वत्रिक है– यह स्वीकार करना स्वाभाविक है। परन्तु स्वानाश्रितत्व रूपी धर्म को स्वानाश्रित अर्थात् स्वानाश्रितत्ववान् स्वीकार करने पर उसको इस मान्यता के आधार पर स्वाश्रितत्ववान् होना अर्थात् स्वानाश्रित नहीं होना स्वीकार करना पड़ता है। पुनश्च स्वानाश्रितत्वरूपी धर्म को, 'स्वानाश्रितत्ववान् नहीं है' ऐसा स्वीकार करने पर इस मान्यता के आधार पर उसको 'स्वानाश्रित' अर्थात् 'स्वानाश्रितत्ववान्' स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु जो अभिकथन अपने प्रतिषेध का गमक होता है तथा स्वयं अपने प्रतिषेधगम्य होता है वह अवश्य व्याघाती होता है। धर्म के स्थान पर समुदाय लेने पर अन्तर्बोध की दृष्टि से समुदाय अपने समुदायियों की अपेक्षा रखता है। अतः एक समुदाय के लिये स्वयं का समुदायी होना या दो समुदायों का एक दूसरे का समुदायी होना अन्तर्बोध के प्रतिकूल प्रतीत होता है।[३७]

---

३६. (क) एब्राहम ए. फ्रेन्केल, *एब्स्ट्राक्ट सेट थ्योरी,* नॉर्थहालैण्ड पब्लिशिंग कम्पनी, एमष्टरडम, १९६१, पृ. १६

(ख) एब्राहम ए. फ्रेन्केल एवं योशुहा बारहिलेल, *फाउण्डेसन्स् आफ सेट थ्योरी,* नॉर्थहालैण्ड पब्लिशिंग कम्पनी, एमष्टरडम, १९५८, पृ.३८-३९

३७. केन्टोर के अनौपचारिक समुच्चय शास्त्र का अन्तर्विरोधशून्य करने के लिये बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में अर्नष्ट जेर्मोले ने उसे निगमनात्मक रूप प्रदान किया था जो बाद में अन्य समुच्चय शास्त्रियों द्वारा परिष्कृत किया गया है। निगमनात्मक समुच्चय शास्त्र में एक विशेष आधारभूत अभिकथन (एक्सियम्) द्वारा समुदायों के लिये अपने का समुदायी होना असम्भव सिद्ध किया जाता है। देखिये, *फाउण्डेसनस् आफ सेट थ्योरी,* पृ.९१

स्वयं के समुदायी न होने वाले सारे समुदायों के सङ्घात (समुदाय) को R (*रसेल-सङ्घात*) नाम से अभिहित करने पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि– $(R\in R)\leftrightarrow\sim(R\in R)$। परन्तु, $(p\leftrightarrow\sim p)$ आकार के सभी अभिकथन व्याघाती होते हैं, क्योंकि (p या ~ p) तर्कतः सत्य हैं। समुच्चय शास्त्र को व्याघातरहित करने के लिये अर्न्स्ट जेरमेलो ने धर्माश्रयसङ्ग्रह द्वारा समुदायों की अस्तित्वसिद्धि की पद्धति को सङ्कुचित किया था।[३८]

अनौपचारिक समुच्चय शास्त्र में उत्पन्न उपर्युक्त प्रकार के अन्तर्विरोधों से यह स्पष्ट है कि न्यायवैशेषिक दर्शन के धर्म-धर्मी सम्प्रत्यय पर परिष्कृत विचार की आवश्यकता है। जब धर्म, धर्मी में स्वरूप सम्बन्ध से रहता है एवं अनुयोगी स्वरूप होता है, तब पदार्थ के रूप में वह अपने धर्मी से भिन्न नहीं होता है। उदाहरणस्वरूप, जातित्व रूपी उपाधि सभी जातियों में रहने पर भी पदार्थ के रूप में उनसे भिन्न नहीं है। न्यायवैशेषिक परम्परा में इस समस्या के समाधान के लिये पाश्चात्य तर्कशास्त्र के उद्देश्य-विधेय सम्बन्ध तथा न्यायवैशेषिक परम्परा की धर्म-धर्मी व्यवस्था पर परिष्कृत तुलनात्मक विचार आवश्यक है। इस सन्दर्भ में स्वरूप सम्बन्ध की भूमिका पर परिष्कृत विचार की आवश्यकता भी स्पष्ट है।

गणित शास्त्र में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार की सङ्ख्याओं की परिष्कृत परिभाषा देना, गणितशास्त्र में प्रसिद्ध उनके धर्मों का निगमनात्मक व्यवस्थापन करना तथा परिमित एवं अपरिमित सम्प्रत्ययों के भेद को परिष्कृत परिभाषाओं द्वारा स्पष्ट करना तथा अपरिमित सङ्घात एवं सङ्ख्याविषयक शास्त्रीय व्यवस्था प्रदान करना समुच्चय शास्त्र के प्रमुख लक्ष्य रहे हैं।

पहले बताया गया है कि धर्मों के मध्य व्याप्ति सम्बन्ध के आधार पर उनके धर्मी रूपी अधिकरण समुच्चयों के मध्य उपसमुच्चय ($\subseteq$) सम्बन्ध, अभेद एवं भेद सम्बन्धों की परिभाषा देना सम्भव है। जब सम्बन्ध S से धर्म D सम्बन्ध S′ से धर्म D′-व्याप्य है, परन्तु उसके साथ समनियत नहीं है, अर्थात् जब $A(D,S)\subseteq A(D',S')$, परन्तु $A(D,S)\neq A(D',S')$ [प्रतीक में, $A(D,S)\subset A(D',S')$] तब $A(D,S)$ $A(D',S')$ का *असमान उपसमुच्चय* कहलाता है। उसी प्रकार, समुच्चय-वियोग, समुच्चय-योग, समुच्चय-प्रतिच्छेद आदि समुच्चयशास्त्रीय सङ्क्रियायें यथाक्रम अभाव, अन्यतरत्व, उभयत्व एवं

---

३८. देखिये, *वही,* पृ. ३८-४०

सामानाधिकरण्य के द्वारा परिभाषित की जा सकती हैं। उदाहरणस्वरूप–

३० का धनात्मक भाजक समूह ($B^+_{३०}$)—४० के धनात्मक भाजक समुच्चय ($B^+_{४०}$)

= $B^+_{३०}$ – $B^+_{४०}$

= {१,२,३,५,६,१०,१५,३०} – {१,२,४,५,८,१०,२०,४०}

= {३,६,१५,३०}। वस्तुतः यह समुच्चय (स्वरूपसम्बन्ध से) ३० का भाजकत्वधर्मसमानाधिकरण ४० का भाजकत्वाभाव रूपी धर्म का (स्वरूपसम्बन्ध से) अधिकरण समुच्चय है। उसी प्रकार, $B^+_{३०} \cap B^+_{४०}$ = {१,२,५,१०}। वस्तुतः यह समुच्चय (स्वरूपसम्बन्ध से) ३० का भाजकत्वधर्मसमानाधिकरण ४० का भाजकत्व रूपी धर्म का (स्वरूपसम्बन्ध से) अधिकरण समुच्चय है।

१०. सङ्ख्याओं के न्यूनतरत्व एवं बृहत्तरत्व सम्बन्ध

दो परस्पर भिन्न धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं में एक अवश्य अपर से न्यूनतर (बृहत्तर) होती है। वस्तुतः यह केवल धनात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं के सङ्घात में नहीं अपितु, सभी पूर्ण सङ्ख्याओं, आनुपातिक तथा परिमाणमापक सङ्ख्याओं के सङ्घातों में परस्पर भिन्न सङ्ख्या युगलों के सार्वत्रिक (केवलान्वयी) धर्म है। यदि एक अरिक्त समुच्चय A में सम्बन्ध S परिभाषित है एवं $\{a,b\} \subseteq A$ जहाँ पर $a=b$ या $a \neq b$ तो 'aSb' को, a, b का S (अथवा तुलनात्मक सम्बन्ध के स्थल में a, b से S) है, के रूप में पढ़ा जा सकता है। यदि सम्बन्ध S *भेद-व्याप्य* होता है, अर्थात् यदि $(a)(b)(aSb \rightarrow (a \neq b))$, तो $(a)\sim(aSa)$, अर्थात् सम्बन्ध S *अपुनरावर्ती* (*इररिफलेक्सिव*) भी होता है। वस्तुतः भेदव्याप्यत्व एवं अपुनरावर्तित्व समनियत धर्म हैं।

सङ्ख्याओं में परिभाषित न्यूनतरत्व सम्बन्ध तथा उसके प्रतिगामी बृहत्तरत्व सम्बन्ध भेद-व्याप्य होते हैं। जब एक सम्बन्ध स्वयं के परम्परा सम्बन्ध का व्यापक होता है तब वह *सञ्चारी* (ट्रान्जिटिव) कहलाता है। प्रतीक में सम्बन्ध S सञ्चारी कहलाता है $\leftrightarrow (a)(b)(c)[(aSb \& bSc) \rightarrow aSc]$। जब a, b-निष्ठ सम्बन्धप्रतियोगितानिरूपित अनुयोगिता का आश्रय होने पर, b कभी a-निष्ठ सम्बन्धप्रतियोगितानिरूपित अनुयोगिता का आश्रय नहीं होता है, अर्थात् जब $(aSb) \rightarrow \sim(bSa)$, तब सम्बन्ध *अप्रतिगामी* (*एसीमेट्रिक*) कहलाता है। वस्तुतः अप्रतिगामी सम्बन्ध स्वतः अपुनरावर्ती होता है। जब S एक अरिक्त समुच्चय A में परिभाषित अप्रतिगामी एवं सञ्चारी सम्बन्ध है

एवं प्रत्येक $\{a,b\} \subseteq A$, $a \neq b$, के लिये यह सत्य होता है कि, a में b-निष्ठ सम्बन्ध S की प्रतियोगिता-निरूपित-अनुयोगिता अथवा b-निष्ठ सम्बन्ध S की अनुयोगिता-निरूपित-प्रतियोगिता अवश्य रहती है, अर्थात् जब a स्वभिन्ननिष्ठ सम्बन्ध की प्रतियोगिता-निरूपित-अनुयोगिता, स्वभिन्ननिष्ठ सम्बन्ध की अनुयोगिता-निरूपित-प्रतियोगिता अन्यतर का आश्रय होता है या (प्रतीक में $(a)(b)\ [(a \neq b) \rightarrow (aSb) \vee (bSa)]$), तब सम्बन्ध *तुलनात्मक* (*कम्पेयार्टि*) कहा जाता है।

प्रत्येक तुलनात्मक अपुनरावर्ती सञ्चारी सम्बन्ध अपने सम्बन्धिसमुच्चय को एक अनुक्रम में व्यूहबद्ध करता है। प्रत्येक कोटि की सङ्ख्याओं में न्यूनतरत्व (बृहत्तरत्व) सम्बन्ध उपर्युक्त धर्मत्रयविशिष्ट होने से एवं प्रत्येक सङ्ख्या में न्यूनतरत्व सम्बन्ध की अनुयोगिता अथवा प्रतियोगिता रहने से उस कोटि के सङ्ख्यासमुच्चय न्यूनतरत्व सम्बन्ध द्वारा एक अनन्त अनुक्रम में व्यूहबद्ध होता है। केवल धनात्मक एवं अनृणात्मक पूर्ण सङ्ख्याओं के अनुक्रम सादि एवं अनन्त हैं। पूर्ण, आनुपातिक एवं परिमाणमापक सङ्ख्याओं के न्यूनतरत्वसम्बन्धनिरूपित अनुक्रम अनादि एवं अनन्त हैं।

धनात्मक, अनृणात्मक एवं पूर्ण सङ्ख्याओं के अनुक्रमों को *पङ्क्तिक्रम* कहा जा सकता है, क्योंकि इस कोटि की प्रत्येक सङ्ख्या की एक एवं एकमात्र अव्यवहित उत्तरवर्ती सङ्ख्या होती है, जो उससे स्वतः बृहत्तर होती है। परन्तु, केवल पूर्ण सङ्ख्या समुच्चय में ही प्रत्येक सङ्ख्या की एक एवं एकमात्र अव्यवहित उत्तरवर्ती सङ्ख्या होने के अतिरिक्त एक एवं एकमात्र अव्यवहित पूर्ववर्ती सङ्ख्या भी होती है जो स्वतः उससे न्यूनतर होती है। उदाहरणस्वरूप ० का अव्यवहित उत्तरवर्ती एवं पूर्ववर्ती सङ्ख्या यथाक्रम +१ एवं -१ हैं। धनात्मक पूर्ण सङ्ख्या कोटि में १ की कोई अव्यवहित पूर्ववर्ती सङ्ख्या न होने से एवं अनृणात्मक सङ्ख्या कोटि में ० की कोई अव्यवहित पूर्ववर्ती सङ्ख्या न होने से इन दो सङ्ख्या कोटियों के न्यूनतर (बृहत्तर) सम्बन्ध मूलक अनुक्रम सादि एवं अनन्त होते हैं। उपर्युक्त तीन कोटि की सङ्ख्याओं के न्यूनतर (बृहत्तर) सम्बन्धमूलक पङ्क्तिक्रम नीचे दिये जाते हैं—

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११,...

०, १, २, ३, ४, ५,...

...,-५, -४, -३, -२, -१, ०, +१, +२, +३, +४, +५,...

परन्तु आनुपातिक एवं परिमाणमापक सङ्ख्याओं की कोटि में किन्हीं भी दो परस्पर भिन्न सङ्ख्याओं के मध्य अनन्त अन्य सजातीय सङ्ख्या के अवस्थित रहने से उनकी कोटि में न्यूनतर (बृहत्तर) सम्बन्धमूलक अनुक्रम पङ्क्तिक्रम नहीं होते हैं।

११. परिमाण एवं सङ्ख्या

एक परिमित समुच्चय के लिये यह सदैव एक सार्थक प्रश्न है कि उसमें कितने सदस्य हैं? समुच्चयों के स्वरूप से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक अरिक्त परिमित समुच्चय A के सदस्यों की अवश्य एक सङ्ख्या होती है जो धनात्मक एवं पूर्ण है। पुनश्च, A की सदस्यों की सङ्ख्या एकाधिक नहीं हो सकती है, अन्यथा यह स्वीकार करना पड़ जायेगा कि दो धनात्मक सङ्ख्या m एवं n हैं जिनके लिये यह सत्य है कि $m < n$ तथा $m=n$, जो वस्तुतः असम्भव है। रिक्त समुच्चय $\emptyset$ को परिमित मानकर उसकी सदस्यसङ्ख्या के रूप में ० को स्वीकृत किया जा सकता है। समुच्चय शास्त्र की दृष्टि से एक अविशिष्ट अरिक्त परिमित समुच्चय, उपादाननिरपेक्ष रूप में ज्ञान का विषयीभूत अपने परस्पर भिन्न सदस्यरूपी पदार्थों की सङ्ग्रहात्मक शुद्ध आकृति मात्र है। अतः उसका परिमाण अवश्य एक धनात्मक पूर्ण सङ्ख्या द्वारा निरूपित होता है। आम की एक टोकरी में कुल कितने आम हैं एवं उसमें कुल कितने किलो आम हैं– ये प्रश्न द्वय परिमाणविषयक होने पर भी प्रथम प्रश्न के उत्तर के लिये केवल टोकरी के आमों की गणना की आवश्यकता होती है, जबकि द्वितीय प्रश्न के उत्तर के लिये गणना अपरिहार्य नहीं होने पर भी तुला आदि उपकरण तथा योग वियोगादि की आवश्यकता होती है। टोकरी में आमों की सङ्ख्या अर्थात् उस टोकरीनिष्ठ संयोगसम्बन्धविशेषावच्छिन्न-अधिकरणतानिरूपित-आधेयता रूपी धर्म के आश्रय समुच्चय के सदस्यों की सङ्ख्या, वस्तुतः उस टोकरी के परस्पर भिन्न सभी आमनिष्ठ, एकत्व सङ्ख्याओं का कुल योग ही है। परन्तु इस एकत्व-योग में एकत्वों की गणना कुल इतनी बार होती है जितनी टोकरी में आमों की सङ्ख्या होती है। उपादान निरपेक्ष रूप में ज्ञान के विषयीभूत किसी भी पदार्थ के *निरपेक्ष परिमाण* (*शुद्ध परिमाण*) के रूप में एकत्व सङ्ख्या ली जा सकती है। अतः एक समुच्चय के शुद्ध परिमाण या निरपेक्ष परिमाण के रूप में उसके भिन्न-भिन्न सदस्यनिष्ठ निरपेक्ष परिमाण रूपी एकत्व सङ्ख्याओं

के कुल योग को ही लिया जा सकता है। इसीलिये टोकरी के प्रत्येक आम के स्थान पर एक-एक बेर अथवा एक-एक अङ्गूर रख देने पर भी टोकरी में फलों की सङ्ख्या अपरिवर्तित रहती है, परन्तु टोकरी में रखे गये फलों का गुरुत्व अपरिवर्तित नहीं रहता है। टोकरी के एक आम के गुरुत्व का परिमाण केवल तन्निष्ठ शुद्ध परिमाण रूपी एकत्व सङ्ख्या के द्वारा निरूपित न होकर उसका आकार, जैविक संरचना, गुरुत्व-परिमापक किलोग्राम आदि इकाई विशेष तथा धनात्मक पूर्ण सङ्ख्यातिरिक्त आनुपातिक सङ्ख्यादि की भी अपेक्षा रखता है।

पदार्थों के उपर्युक्त प्रकार के परिमाण पदार्थ के उपादान स्वरूप पर आश्रित परिमेय धर्म विशेष तथा इकाई विशेष द्वारा निरूपित होने से *उपादानसापेक्षपरिमाण* (*सापेक्ष परिमाण*) कहे जा सकते हैं। टोकरी के आमों का कुल वजन, गुरुत्व की किलोग्राम रूपी इकाई तथा टोकरी के भिन्न-भिन्न आमों के व्यक्तिशः गुरुत्व के परिमाण के कुल योग फल के रूप में प्राप्त किया जा सकता है। उस योग सङ्क्रिया में कुल उतने ही चरण रहते हैं जितनी टोकरी में आमों की सङ्ख्या है। सापेक्ष परिमाण अनेक प्रकार के होते हैं। उदाहरणस्वरूप, मूर्त द्रव्यों के गुरुत्व (मास) का परिमाण, सापेक्ष परिमाण की अवान्तर जाति है। उसी प्रकार मूर्त द्रव्यों की गति का दिशानिरपेक्ष परिमाण, काल परिमापक इकाई तथा दूरत्व परिमाण की इकाई आदि की अपेक्षा रखने से सापेक्षपरिमाण की अन्य एक अवान्तर जाति है।

यह स्पष्ट है कि पदार्थों के परिमेय धर्म विशेष के सापेक्षपरिमाण का निरूपण, इकाई विशेष के योग एवं समांश में विभाजन प्रक्रियादि पर आश्रित है। परिमाण मात्र का निरूपण, चाहे वह परिमाण निरपेक्ष अथवा सापेक्ष हो, सङ्ख्या के बिना सम्भव नहीं है। सजातीय परिमाण में न्यूनतरत्व, बृहत्तरत्व एवं समानता सम्बन्धों का ज्ञान, परिमाण निरूपक सङ्ख्याओं से अनुमेय होने पर भी, सङ्ख्या ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता है। उदाहरणस्वरूप, एक ही सरल रेखा पर चिह्नित दो भिन्न बिन्दु a एवं c दिये जाने पर, जब b, a तथा c का मध्यवर्ती बिन्दु है, तब a से b की दूरी अवश्य a से c की दूरी से कम है एवं a से c की दूरी b की दूरी से अधिक है। उपर्युक्त तथ्य प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है। दूरियों के न्यूनतरत्व एवं बृहत्तरत्वविषयक इस प्रकार के तुलनात्मक

ज्ञान के लिये दूरी मापने के लिये किसी इकाई अथवा किसी प्रकार के सङ्ख्याविषयक ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। उसी प्रकार एक ही केन्द्र बिन्दु से अङ्कित दो भिन्न वृत्तों के चाक्षुष प्रत्यक्ष से अन्दर के वृत्त का क्षेत्रफल बाहर के वृत्त के क्षेत्रफल से न्यूनतर होना सिद्ध होता है, यद्यपि दोनों वृत्तों के क्षेत्रफलों के अन्तर के परिष्कृत ज्ञान के लिये वृत्तों के क्षेत्रफलविषयक रेखागणितीय ज्ञान के साथ-साथ वृत्तों के अर्ध-व्यासों की लम्बाई का ज्ञान तथा कुछ कलन की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार एक नाट्यशाला में दर्शकों के लिये उपलब्ध आसनों की सङ्ख्या तथा नाट्यशाला में उपस्थित दर्शकों के सङ्ख्याविषयक तुलनात्मक ज्ञान गणनाव्यापार के बिना केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष से भी सम्भव होता है। उदाहरणस्वरूप, जब नाट्यशाला में उपलब्ध प्रत्येक आसन पर केवल एक ही दर्शक आसीन है एवं प्रत्येक दर्शक एक आसन पर बैठा है तब अवश्य आसनों की सङ्ख्या जितनी है दर्शकों की सङ्ख्या भी उतनी है। अर्थात् आसनों की सङ्ख्या एवं दर्शकों की सङ्ख्या समान है। जब नाट्यशाला में उपस्थित प्रत्येक दर्शक एक आसन पर बैठा है परन्तु कुछ आसन रिक्त हैं, तब अवश्य दर्शकों की सङ्ख्या आसनों की सङ्ख्या से कम है। जब प्रत्येक आसन पर एक एवं एकमात्र दर्शक बैठा है परन्तु कुछ दर्शकों के लिये आसन उपलब्ध नहीं है, तब अवश्य आसनों की सङ्ख्या दर्शकों की सङ्ख्या से कम है। समुच्चयों के शुद्धपरिमाण अर्थात् सदस्यों का सङ्ख्याविषयक तुलनात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान, दोनों समुच्चयों के मध्य प्रत्यक्षग्राह्य एकानुयोगिक तथा प्रतियोगिव्यावर्तक अर्थात् एक-एक सम्बन्धज्ञान पर ही आधारित है।

एक समुच्चय X के सदस्यों की सङ्ख्या अर्थात् समुच्चयशास्त्रीय शुद्धपरिमाण को '$|X|$' द्वारा अभिहित करने पर इस कोटि के अनृणात्मक पूर्ण सङ्ख्यारूपी शुद्ध परिमाण तथा उन परिमाणों के लिये समानता, न्यूनतरत्व एवं बृहत्तरत्वादि को निम्न प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है–

दो समुच्चय A एवं B परस्पर *सदृश* या *तुल्य* कहलाते हैं (प्रतीकों में, $A \simeq B) \leftrightarrow$ A के सदस्यों को प्रतियोगी के रूप में लेकर एवं B के सदस्यों को अनुयोगी के रूप में लेकर एक एकानुयोगिक एवं प्रतियोगिव्यावर्तक सम्बन्ध अर्थात् एक एक-एक फलनात्मक सम्बन्ध f परिभाषित किया जा सकता है जिससे A का प्रत्येक सदस्य f के प्रतियोगी के रूप में

तथा B का प्रत्येक सदस्य f के अनुयोगी के रूप में उपयोग में आया है।

प्रत्येक समुच्चय में अभेद सम्बन्ध स्वतः एकानुयोगिक एवं प्रतियोगिव्यावर्तक होता है। प्रत्येक एकानुयोगिक प्रतियोगिव्यावर्तक सम्बन्ध का प्रतिगामी सम्बन्ध भी एकानुयोगिक प्रतियोगिव्यावर्तक होता है। पुनश्च उक्त प्रकार के दो सम्बन्धघटित परम्परा सम्बन्ध भी एकानुयोगिक एवं प्रतियोगिव्यावर्तक होता है। अतः समुच्चयों के लिये परिभाषित उपर्युक्त सादृश्य सम्बन्ध ($\simeq$) वस्तुतः अभेद-व्यापक (रिफ्लेक्सिव) स्वप्रतिगाम्यभिन्न (सममित, सिमेट्रिक) तथा सञ्चारी हैं। अन्तर्बोध की दृष्टि से सदृश समुच्चय अवश्य समसङ्ख्यक हैं, क्योंकि यदि A, B सदृश हैं तो A के सदस्यों को युगलों के प्रतियोगी या प्रथम चरण के रूप में एवं B के सदस्यों को अनुयोगी या द्वितीय चरण के रूप में लेकर परस्पर व्यवच्छिन्न युगलों के निर्माण से A एवं B को परिशेष रहित करना सम्भव है। अतः समुच्चयों के शुद्धपरिमाणों के लिये अभेद की निम्न परिभाषा तर्कसङ्गत है—

$$(A)(B)\quad (A \simeq B \rightarrow |A| = |B|)$$

यदि A के सदस्यों को प्रतियोगियों के रूप में लेकर एवं B के एक उपसमुच्चय $B_१$ के सदस्यों को अनुयोगी के रूप में लेकर एक एकानुयोगिक एवं प्रतियोगिव्यावर्तक सम्बन्ध अर्थात् एक-एक फलन परिभाषित किया जा सकता है परन्तु B के सदस्यों को प्रतियोगियों के रूप में तथा A के किसी भी उपसमुच्चय $A_१$ के सदस्यों को अनुयोगी के रूप में लेकर एक-एक फलन परिभाषित नहीं किया जा सकता है तो $|A| < |B|$

समुच्चय शास्त्र की आधारभूत मान्यताओं से यह सिद्ध होता है कि यदि A, B के एक उपसमुच्चय के सदृश है तथा B भी A के एक उपसमुच्चय का सदृश है तो A एवं B परस्पर सदृश हैं।[३९] पुनश्च उन आधारभूत मान्यताओं से यह भी सिद्ध होता है कि दो समुच्चय दिये जाने पर उनमें से अवश्य एक अपर के एक उपसमुच्चय के सदृश है।[४०] अतः दो असदृश समुच्चय दिये जाने पर उनमें से एक एवं केवल एक समुच्चय का शुद्धपरिमाण अपर के शुद्धपरिमाण से न्यूनतर

---

३९. देखिये, *एबस्ट्राक्ट सेट थ्योरी*, पृ. ७३-७७

४०. *वही*, पृ. २२७-२३३

होता है। ऊपर परिभाषित शुद्धपरिमाणों के न्यूनतरत्व सम्बन्ध $<$ केवल परिमित समुच्चयों के लिये नहीं अपितु सभी समुच्चयों के लिये सार्थक है। पुनश्च $<$ भेद-व्याप्य, सञ्चारी तथा अप्रतिगामी तथा तुलनात्मक है अर्थात् सामान्य रूप में शुद्धपरिमाणों के लिये परिभाषित $<$ धनात्मक पूर्ण सङ्ख्या तथा पूर्ण सङ्ख्या आदि के लिये न्यूनतरत्व सम्बन्ध के समान वस्तुतः एक अनुक्रम देने वाला सम्बन्ध है।

परिमित एवं अपरिमित समुच्चयों का अन्तर ऊपर बताया गया है। परिमित समुच्चयों के शुद्धपरिमाण अर्थात् सदस्यों की सङ्ख्याओं के रूप में N={०,१,२,३,४,५,...} प्राप्त होता है। स्मर्तव्य है कि रिक्त समुच्चय $\emptyset$ को परिमित कोटि में रखकर उसके सदस्यों की सङ्ख्या के रूप में ० को स्वीकार करने से शास्त्रप्रक्रियानिर्वाह सरल होता है। निगमनात्मक समुच्चय शास्त्र में अपरिमित समुच्चयों का अस्तित्व, प्रत्येक समुच्चय के सभी उपसमुच्चयों के समुदाय का अस्तित्व, दो परस्पर भिन्न पदार्थों के क्रमनिरपेक्ष युगल रूपी समुच्चय का अस्तित्व, एकाधिक समुच्चयों के वर्गयोगादि का अस्तित्व, आधारभूत अभिकथनों (एक्सियमस्) के द्वारा सुनिश्चित किये जाते हैं। अपरिमित समुच्चयों की अस्तित्वविषयक मान्यता तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से विवादास्पद अवश्य है, परन्तु गणित शास्त्र की सङ्ख्याविषयक शाखाओं के निगमनात्मक व्यवस्थापन तथा सामान्य रूप में गणित शास्त्र में प्रक्रियालाघव के लिये अपरिमित समुच्चयों को स्वीकार करना आवश्यक प्रतीत होता है। केन्टोर के एक प्रसिद्ध प्रतिपाद्य (थियोरम्) के अनुसार प्रत्येक समुच्चय का शुद्धपरिमाण अर्थात् सदस्यों की सङ्ख्या, अवश्य रूप में उसके सभी उपसमुच्चयों के सङ्घात के शुद्धपरिमाण से न्यूनतर होती है। आधारभूत अभिकथनों से N={०,१,२,३,...} अथवा तत्सदृश एक अपरिमित समुच्चय प्राप्त होने से समुच्चयों के उपसमुच्चयसङ्घातविषयक आधारभूत मान्यताओं से क्रमशः बृहत्तर शुद्धपरिमाण विशिष्ट अपरिमित समुच्चय प्राप्त होते हैं एवं यह क्रम अन्तहीन रहता है।

अपरिमित समुच्चयों की एक विलक्षणता यह है कि प्रत्येक अपरिमित समुच्चय स्वयं के किसी एक उपसमुच्चय के सदृश होता है। उदाहरणस्वरूप, N={०,१,२,३,४,...}$\simeq${०,२,४,६,८,...} एवं N$\simeq${१,३,५,७,९,...}। परन्तु परिमित समुच्चयों में इस धर्म का अभाव रहता है। एक परिमित समुच्चय कभी अपने असमान उपसमुच्चय के सदृश नहीं होता है। वस्तुतः उपर्युक्त

धर्म के आधार पर अपरिमितता एवं परिमितता के लिये वैकल्पिक परिभाषा देना सम्भव है।[४१] अपरिमित समुच्चयों के शुद्धपरिमाण के रूप में अपरिमित सङ्ख्यायें प्राप्त होती हैं। सङ्ख्याओं की कोटि में रखने से पहले इन नूतन तत्त्वों में धनात्मक सङ्ख्या आदि के समान योग-वियोग एवं गुणनादि सङ्क्रियाओं को परिभाषित करना तथा उन सङ्क्रियाओं के अपेक्षित धर्म सिद्ध करना आवश्यक है। स्वयं केन्टोर ने यह सिद्ध किया था। अपरिमित सङ्ख्याओं में धनात्मक पूर्ण सङ्ख्या समूह तथा उसके सदृश सभी समुदायों के शुद्धपरिमाण रूपी तत्त्व |N| सबसे न्यूनतम है।

समुच्चय शास्त्र की परिधि में रहकर अनृणात्मक पूर्ण सङ्ख्या, पूर्ण सङ्ख्या, आनुपातिक सङ्ख्या एवं परिमाणमापक सङ्ख्या आदि तन्त्रों की परिष्कृत परिभाषा द्वारा उनके गणितशास्त्रप्रसिद्ध धर्मों को सिद्ध किया जा सकता है।[४२]

क्रम पदार्थ का शास्त्रीय तथा व्यावहारिक महत्त्व निर्विवाद है। समुच्चय कोटि के पदार्थ तथा सदस्यता सम्बन्ध स्वीकार करने पर द्वितय या युगल, त्रितय, चतुष्टय आदि पदार्थों की परिष्कृत परिभाषा देना सम्भव होता है। सामान्य रूप में n-पद विशिष्ट दो अनुक्रम $(a_१, a_२,..., a_{n-१}, a_n) = (b_१, b_२,... b_{n-१}, b_n) \leftrightarrow (a_१=b_१) \,\&\, (a_२=b_२) \,\&...\, \&(a_{n-१}=b_{n-१}) \,\&\, (a_n=b_n), n \geqslant २)$। अन्य शब्दों में दो अनुक्रम परस्पर अभिन्न कहलाते हैं यदि एवं केवल यदि उनके पदों की सङ्ख्या समान होती है तथा प्रथम अनुक्रम के प्रथम पद द्वितीय अनुक्रम के प्रथम पद के साथ, प्रथम अनुक्रम के द्वितीय पद द्वितीय अनुक्रम के द्वितीय पद के साथ.... एवं प्रथम अनुक्रम के अन्तिम पद द्वितीय अनुक्रम के अन्तिम पद के साथ यथाक्रम अभिन्न होती हैं। क्रमबद्ध युगल से आरम्भ करके अन्य अनुक्रमों की परिभाषा निम्न प्रकार से दी जा सकती है–

$$(a_१, a_२) = \{\{a_१\}, \{a_१, a_२\}\}$$

$$(a_१, a_२, a_३) = ((a_१, a_२), a_३)$$

$$(a_१, a_२, a_३,..., a_{n-१}, a_n) = ((a_१, a_२,..., a_{n-१}), a_n) \quad n \geqslant ३$$

४१. देखिये, *वही,* पृ. ३१-३२ एवं ४३-४५

४२. देखिये, एलेक्जेन्डर एविआन्, *दि थ्योरी आफ सेट्स एण्ड ट्रान्सफाइनाडट एरिथमेटिक,* डब्ल्यू. वि. सण्डरस् कम्पनी, फिलाडेल्फिया एण्ड लण्डन, १९६५, अध्याय ५, पृ. २०१-२४३

क्रमबद्ध युगल की कुराटोस्कि-भियेनर द्वारा दी गई उपर्युक्त परिभाषा तथा समुच्चयों के अभेद सम्बन्ध की परिभाषा से यह सिद्ध किया जा सकता है कि $(u, v) = (u', v') \leftrightarrow (u=u') \,\&\, (v=v')$। इसके आधार पर n-पदविशिष्ट अनुक्रमों की उपर्युक्त परिभाषा से उनके भेद एवं अभेद के मानदण्ड भी सिद्ध किये जा सकते हैं।[४३]

तत्त्वमीमांसा में समुच्चय रूपी पदार्थों की स्वतन्त्र कोटि स्वीकार करने पर उनका नित्यत्व एवं अनित्यत्वत्वविषयक विचार भी अपरिहार्य हो जाता है। गणित शास्त्र की शाखा के रूप में समुच्चय शास्त्र के विषयीभूत समुच्चय, शुद्ध आकृति मात्र होने से उनको अनित्य कहना निरर्थक है। परन्तु तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से अनतिबृहत् समुच्चयों के स्थल में भी समुच्चयशास्त्रीय शुद्ध आकृति रूपी समुच्चय पदार्थ का ग्रहण, इन्द्रियग्राह्य पदार्थों के समुच्चयों की सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति रूपी प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखता है। जिस प्रकार पीपल के एक पत्ते को देखने से सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति से सकल पीपल पत्तों का ग्रहण होता है, उसी प्रकार पाँच अङ्गुलियों के समुच्चय के प्रत्यक्ष से सभी पाँच सदस्य विशिष्ट समुच्चयों का ग्रहण सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति से होता है। सभी समुच्चयों को नित्य कहना स्पष्टतया अनुभव एवं युक्तिविरुद्ध होगा। किसी अरिक्त समुच्चय के एक सदस्य को उपादाननिरपेक्ष रूप में ग्रहण करने का अर्थ है कि उसको केवल एकत्व एवं भेद के आश्रय के रूप में ही ग्रहण करना है। जब $a \neq b$ $(a,b) = \{\{a\}, \{a,b\}\}$ एवं $(b,a) = \{\{b\}, \{a,b\}\}$ दोनों दो-सदस्यविशिष्ट होने पर भी उनके परस्पर भेद a एवं b के परस्पर भेद पर आश्रित है, यद्यपि उभय a एवं b समान रूप में एकत्व के आश्रय हैं। यदि दो परस्पर से भिन्न पदार्थ c एवं d का सङ्घात लिया जाये, तो $(c,d) = \{\{c\}, \{c,d\}\}$ एवं $(d,c) = \{\{d\}, \{c,d\}\}$। वस्तुतः जिस प्रकार (a,b) एवं (b,a) परस्पर के विपरीत युगल हैं, ठीक उसी प्रकार (c,d) एवं (d,c) भी परस्पर के विपरीत युगल हैं। (a,b) एवं (c,d) के भेद केवल उपादानपरक है न कि आकृतिपरक। परन्तु इन शुद्ध आकृतिपरक विषयों के भेद एवं अभेद के ज्ञान इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थों के भेद एवं अभेद के सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति रूपी प्रत्यक्ष पर आश्रित है। अतः समुच्चय शास्त्र के तत्त्वमीमांसीय आधार के रूप में

---

४३. देखिये, *वही*, पृ. ८९

अनित्य-सदस्यघटित अनित्य समुच्चयों को स्वीकार करना आवश्यक है। नित्य-पदार्थघटित समुच्चयों को जैसा कि {प-वर्णत्व, फ-वर्णत्व, ब-वर्णत्व, भ-वर्णत्व, म-वर्णत्व} समुदाय को अपेक्षाबुद्धिजन्य अथवा अनित्य कहना युक्तिसङ्गत नहीं है। समुच्चयनिष्ठ परिमितत्व एवं अपरिमितत्वादि धर्मों को उपाधि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अनित्यसमुच्चयनिष्ठ सङ्ख्यारूपी धर्मों को अनित्य एवं नित्यसमुच्चयनिष्ठ सङ्ख्याओं को नित्य स्वीकार करना आवश्यक है। एकत्व, द्वित्व, त्रित्वादि नित्य एवं अनित्य सङ्ख्याओं में आश्रित एकत्वत्व, द्वित्वत्व, त्रित्वत्वादि उपाधि के रूप में स्वीकार्य हैं। विभिन्न प्रकार के सङ्ख्या-तन्त्रों के तत्त्वमीमांसीय आधार के रूप में नित्यसमुच्चयनिष्ठ एकत्व, द्वित्वादि नित्य धनात्मक सङ्ख्याओं का व्यूहबद्ध तन्त्र पर्याप्त है।

१२. परिमाणविषयक परम्परागत विचार की समीक्षा– परिमाण का गुणत्वखण्डन तथा स्वतन्त्रपदार्थत्वसिद्धि

तत्त्वमीमांसा में समुच्चयनिष्ठ सङ्ख्यारूपी शुद्ध परिमाणविषयक विचार से अतिरिक्त मूर्तद्रव्य अथवा उनमें आश्रित धर्मों की परिमाण व्यवस्था के लिये उपादान-सापेक्ष परिमाण भी आवश्यक है। परिमाण को गुण कोटि के पदार्थों में परिगणित करना युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि समुच्चय तेज, प्रकाश, कर्म तथा गुरुत्व आदि द्रव्यकोटि के पदार्थ न होने पर भी परिमेय हैं।

न्यायवैशेषिक परम्परा में, महत्, अणु, ह्रस्व एवं दीर्घविषयक प्रतीति तथा शब्दव्यवहार के निमित्त कारण के रूप में परिमाण, गुणकोटि के पदार्थों में परिगणित किया गया है।[४४] बडा, छोटा, लम्बा इत्यादि ज्ञान

---

४४. (क) ''परिमाणं मानव्यवहारकारणम्। तच्चतुर्विधम् अणु, महत्, दीर्घं, ह्रस्वं चेति।'' *प्रशस्तपादभाष्य, किरणावली* सहित, पृ. १३६

(ख) ''मानव्यवहारोऽणु महद् दीर्घं ह्रस्वमित्यादिज्ञानं शब्दश्च, तस्य कारणं परिमाणमित्यनेन प्रत्यक्षसिद्धस्यापि परिमाणस्य विप्रतिपन्नं प्रति कार्येण सत्तां दर्शयति। यथा तावत् ज्ञानस्य ज्ञेयप्रसाधकत्वं तथोक्तम्।'' *न्यायकन्दली,* पृ. ३१४

(ग) ''मानव्यवहारो विशेष्यज्ञानत्वाद् विशेषणमपेक्ष्यते दण्ड्यादिज्ञानवत्। न च रूपादीनामन्यतमः तद्विशेषणं तद्व्यवहारविलक्षणत्वादिति विलक्षेणेनैव निमित्तेन भवितव्यम्।'' *व्योमवती,* पृ. ४७२

के विषय रूपरसादि से भिन्न हैं, क्योंकि द्रव्य के रूप रसादि भिन्न-भिन्न होने पर भी द्रव्य महत् परिमाण विशिष्ट हो सकता है। अतः उपर्युक्त प्रकार के ज्ञान के विषय के रूप में एक विलक्षण धर्म को स्वीकार करना आवश्यक है। परिमाणविषयक ज्ञान अबाधित होने से उसका वस्तुनिष्ठत्व अवश्य स्वीकार्य है। परिमाण रूपी धर्म को उसके आश्रय से अभिन्न स्वीकार करना युक्ति सङ्गत नहीं है, क्योंकि विशेषण, विशेष्य से स्वरूपतः भिन्न होता है। उदाहरणस्वरूप, दण्ड, दण्डविशिष्ट पुरुष से भिन्न होता है एवं रक्त रूप, रक्तरूपविशिष्ट जपा पुष्प से भिन्न होता है। परिमाणरूपी धर्म को परिमाण के आश्रय द्रव्यरूपी धर्मी से भिन्न सिद्ध करने के लिये न्यायकन्दलीकार लिखते हैं कि दूर से द्रव्य का ग्रहण होने पर भी उसके परिमाण का ज्ञान नहीं होता है एवं इसीलिये दूर से बड़ी वस्तु भी छोटी दिखाई देती है जो कि भ्रान्ति मात्र ही है।[४५] धर्म को तदाश्रय धर्मी से भिन्न सिद्ध करने के लिये न्यायवैशेषिक परम्परा में उपलब्ध एक सामान्य युक्ति निम्न आकार की है–

जिस पदार्थ का ग्रहण जिस अन्य पदार्थ के ग्रहण के बिना सम्भव होता है, वह अन्य पदार्थ उस पदार्थ से अवश्य भिन्न होता है। अन्य शब्दों में, यदि पदार्थ a का ज्ञान पदार्थ b के ज्ञान के बिना सम्भव है, तो पदार्थ b अवश्य पदार्थ a से भिन्न है।

उपर्युक्त युक्ति के आधार पर, धर्म विशेष को उस धर्म के आश्रय रूपी धर्मी से भिन्न सिद्ध करने के लिये यह सिद्ध करना पर्याप्त है कि उस धर्मी का ज्ञान उस धर्म विशेष के ज्ञान के बिना भी सम्भव है। आचार्य उदयन, विशिष्ट एवं अविशिष्ट में व्यवहार भेद के आधार पर विशेष्य से विशेषण का भेद सिद्ध करते हैं। उनके मत में विशेष्य का निश्चय होने पर भी विशेषणविषयक संशय होना सम्भव है। अतः महत् परिमाण रूपी धर्मादि को तदाश्रय घटादि धर्मियों से भिन्न स्वीकार करना आवश्यक है।[४६]

---

४५. "यच्चोक्तं द्रव्यादव्यतिरिक्तं परिमाणम्, द्रव्याग्रहे तद्बुद्ध्यभावादिति, तदसिद्धम्। दूराद् द्रव्यग्रहणेऽपि तत्परिमाणविशेषस्याग्रहणात्। अत एव महानप्यणुरिव भ्रान्त्या दृश्यते।" *न्यायकन्दली*, पृ. ३१६

४६. "यदि च घटादिस्वरूपं परिमाणं स्याद् 'महदानय' इत्युक्ते यत्किञ्चिन्महदानयेत्।

परिमाण रूपी धर्म का वस्तुनिष्ठत्व तथा परिमाणाश्रय द्रव्य रूपी धर्मी से भेद सिद्ध होने के बाद परिमाण का पदार्थ कोटिविषयक प्रश्न स्वतः उपस्थित होता है। व्योमशिवाचार्य की युक्ति से विशेषण ज्ञान के विषयगत भेद के कारण परिमाण, द्रव्यनिष्ठ रूपरसादि से भिन्न है। आचार्य उदयन के अनुसार परिमाण में तरतमादि भेद सम्भव होने से वह जातिकोटि का पदार्थ नहीं हो सकता है। एक घट अन्य एक घट से अधिक बड़ा हो सकता है परन्तु उसको उस अन्य घट से 'अधिक घट' कहना निरर्थक है।[४७]

कुछ दार्शनिकों के विचार में परिमाण को गुणकोटि के पदार्थों में परिगणित करना तर्कसङ्गत नहीं है, क्योंकि द्रव्यनिष्ठ रूपरसादिगुण कभी सापेक्ष नहीं होते हैं। परन्तु, विल्व फल आँवले की अपेक्षा से बड़ा कहा जाता है एवं कुष्माण्ड फल की अपेक्षा से छोटा। उक्त प्रकार के शब्द व्यवहार एवं ज्ञान को केवल गौण कहने के पक्ष में कोई युक्ति भी नहीं है।[४८] परम्परागत मतानुसार, परमाणु द्व्यणुकों में अणु व्यवहार मुख्य है एवं आमलकादि में विल्व फलादि की अपेक्षा से अणु व्यवहार केवल भाक्त या गौण है। इस मत पर प्रहार करते हुए परिमाण के गुणत्व खण्डन पक्ष से प्रत्युत्तर के रूप में भासर्वज्ञ लिखते हैं–

> "न हि यथा सिंहमाणवकादिषु मुख्यगौणप्रतिपत्तिः सर्वेषामस्ति, तथा द्व्यणुके एव अणुत्वह्रस्वत्वे मुख्येऽन्यत्र भाक्ते इति कस्यचित् प्रतिपत्तिरस्ति। प्रक्रियामात्रस्य च सर्वशास्त्रेषु सुलभत्वात्, न तत एव विवादनिवृत्तिरिति।" (*न्यायभूषण*, पृ. १६०)
>
> [यह लोकप्रतीतिसिद्ध है कि पशु विशेष में 'सिंह' शब्द का प्रयोग मुख्य है एवं 'सिंहो माणवकः' इस वाक्य में विद्यार्थी विशेष के विशेषण के रूप में प्रयुक्त सिंह शब्द तेज एवं

तथा च प्रेष्यप्रेषकसम्प्रतिपत्ती विरुद्ध्येयाताम्। घटशब्दात् घटनिश्चयवत् परिमाणनिश्चयोऽपि स्यात्; परिमाणसन्देहवत् घटसन्देहोऽपि स्यादिति तर्कः।" *किरणावली*, पृ. १३६

४७. "न चैतत्सामान्यमात्रम्, सातिशयत्वात्।" *वही*, पृ. १३६

४८. "अन्ये तु परिमाणस्यापि गुणत्वं नेच्छन्ति। महदादिव्यवहारस्य अपेक्षानिबन्धनत्वात्। न च गुणेष्वेवं व्यवहारोऽस्ति, न हि रूपादिषु शुक्लादिव्यवहारः कृष्णाद्यपेक्षया इति।" *न्यायभूषण*, पृ. १६०

ऐश्वर्यादि धर्मों के आधार पर केवल भाक्त है। परन्तु परमाणु एवं द्व्यणुक में अणु शब्द का व्यवहार मुख्य है एवं अन्यत्र भाक्त है, यह भेद लोकप्रतीतिसिद्ध नहीं है। केवल वैशेषिक शास्त्रप्रक्रिया के आधार पर अणु एवं महत् आदि शब्दव्यवहार में मुख्य-भाक्त भेद का समर्थन करने पर विवाद की निवृत्ति नहीं हो जाती है, क्योंकि सभी शास्त्रों में प्रक्रिया विशेषों के प्रति शास्त्रकारों का आग्रह प्रायः देखा जाता है।]

परिमाण का निर्धारण वस्तुतः पदार्थ के परिमेय धर्म विशेष की अपेक्षा रखता है। एक वर्तुलाकार लौहपिण्ड का परिमाण क्या है?– इस प्रश्न का उत्तर तभी दिया जा सकता है, जब लौहपिण्ड के परिमाण से उसका कौनसा परिमेय धर्म विवक्षित है– यह स्पष्ट किया जाये। वर्तुलाकार ठोस लौहपिण्ड का गुरुत्व (मास) घनफल एवं सतह का क्षेत्रफल आदि धर्म परिमेय हैं। यदि वर्तुलाकार लौहपिण्ड का अर्धव्यास १० सेन्टिमीटर है, तब उसकी सतह का क्षेत्रफल $४\pi r^२$ वर्ग से.मी. = ३.१४१×४०० वर्ग से.मी. = १२५६.४ वर्ग से.मी. है, उसका घनफल = $४/३\pi r^३$ = ४/३×३.१४१× $१०^३$ घन से.मी. = ४,१८८ घन से.मी. है एवं उसका गुरुत्व ४,१८८d ग्राम है, जहाँ पर d, १ घन से.मी. लौह के गुरुत्व रूपी परिमाण की निरूपक सङ्ख्या है।

मूर्त पदार्थों का दैशिक व्यवधान, दैर्घ्य के परिमाण निरूपण, मीटर आदि इकाई तथा परिमाणनिरूपक सङ्ख्याओं की अपेक्षा रखता है। लम्बाई, चौडाई एवं ऊँचाई आदि, बिन्दुद्वय के मध्य दैशिक व्यवधान रूपी परिमेय तत्त्व ही हैं। क्रिया के धर्म के रूप में काल भासित होता है। किसी भी अपरिवर्तनशील कालिक-व्यवधान से विशिष्ट पुनरावृत्तिपरक क्रिया द्वारा निरूपित खण्डकाल को इकाई के रूप में लेकर खण्डकाल के परिमाणनिरूपण करना सम्भव है। भौतिक शास्त्र तथा अन्य विज्ञान के विषय रूपी परिमेय धर्मों के लिये इकाईयों की परिष्कृत परिभाषा की आवश्यकता होती है। क्रियाधर्म खण्डकाल रूपी परिमेय पदार्थ की इकाई के रूप में सन् १९०० सौर संवत्सर का १/३१,५५६,९२५,९७४७ को एक *सैकण्ड* नामक इकाई के रूप में वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है।[४९] इस इकाई के ६० गुणा

४९. रबर्ट रेस्नुनिक एवं डेविड हाल्लिडे, *फिजिक्स,* प्रथम भाग, वाइलि ईष्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली, १९९०, पृ.५-१२

से एक *मिनिट* एवं उसके ६० गुणा से एक *घण्टा* प्राप्त होता है। लम्बाई की इकाई के रूप में पेरिस अन्तरराष्ट्रीय मानक संस्था में सुरक्षित एक प्लेटिनम दण्ड की लम्बाई को एक *मीटर* नाम से वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है। उसी प्रकार, गुरुत्व (मास) की इकाई के रूप में एक सुरक्षित धातु पिण्ड की मूर्तता एक *किलोग्राम* के रूप में स्वीकृत हुई है। एक मीटर का एकशतांश एवं एकसहस्रांश यथाक्रम *सेन्टिमीटर* एवं *मिलिमीटर* कहलाते हैं। एक किलोग्राम का एक सहस्रांश एक *ग्राम* नाम से जाना जाता है। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में, मीटर-किलोग्राम-सैकण्ड (mks) अथवा सेन्टिमीटर-ग्राम-सैकण्ड (cgs) नित्य व्यवहार्य इकाई तन्त्र के रूप में प्रचलित हैं। खण्डकाल, दैर्घ्य एवं गुरुत्व रूपी मौलिक परिमेय तत्त्वों के परिमाणनिरूपण के लिये भिन्न-भिन्न देश में प्रचलित इकाईयों को उपर्युक्त इकाईयों के द्वारा परिभाषित किया जा सकता है।

भौतिक शास्त्र आदि विज्ञानों में उपर्युक्त इकाईयों के शतसहस्रांश से भी सूक्ष्मतर इकाईयों की आवश्यकता होने के कारण, विशेष व्यवस्था करनी पड़ती है। उदाहरणस्वरूप, लम्बाई की सूक्ष्म इकाई के रूप में क्रिप्टन परमाणु (^{८६}Kr) द्वारा विकीर्ण सन्तरा एवं लाल प्रकाश की तरङ्गों की लम्बाई ली जाती है, जिसका १,६५०,७६३.७३ गुणा से एक मीटर होता है। ताप मापने के लिये इकाई के चयन एवं तापमापक उपकरणों के सैद्धान्तिक आधार के लिये उत्तप्त अवस्था में विभिन्न मूर्त द्रव्यों में परिवर्तन के स्वरूप पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। जिस अवस्था में चाप विशेष के साथ जल का तरल घन तथा वाष्पीय आकार सन्तुलित रहते हैं उस अवस्था की तापमात्रा २७३.१६°K (केलविन) रूप में स्वीकृत होती है। सेन्टिग्रेड़ तापमान व्यवस्था का ०°C एवं फेरेनहाइट तापमान व्यवस्था के ३२°F जल उस अवस्था की ही तापमात्रा बताते हैं।

भौतिक शास्त्र में परिमाणों का एक महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण दिशायुक्तता के आधार पर किया जाता है। खण्डकाल, पृथिवी, चन्द्रमा आदि की गुरुत्वाकर्षणशक्ति निरपेक्ष रूप में मूर्त पदार्थों के गुरुत्व तथा दैर्घ्य का परिमाण *दिशा-अस्पृष्ट* (*स्केलार*) एवं मूर्तद्रव्यों का स्थानान्तरण वेग (वेलोसिटि), वेग परिवर्तन का अनुपात (एक्सिलरेसन) एवं बल (फोर्स) आदि *दिशायुक्त* (*वेक्टर*) परिमाण हैं। मूर्त द्रव्य का स्थानान्तरण दैशिक व्यवधान तथा

दिशा द्वारा निरूपित होता है। वेग का परिमाण, स्थानान्तरण तथा स्थानान्तरण व्यापार के अधिकरण रूपी खण्डकाल के परिमाणों के अनुपात के रूप में परिभाषित होता है। वेगपरिवर्तन (acceleration) का परिमाण भी एक अनुपात विशेष के रूप में प्राप्त होता है।[५०] एक किलोग्राम वस्तु पर जिस बल के सतत प्रयोग से उसके वेगपरिवर्तन का मान एक मीटर प्रति सैकण्ड होता है वह बल *न्यूटन* के रूप में जाना जाता है। बलों की योग वियोगादि सङ्क्रिया अन्य दिशायुक्त परिमाणों के समान सिद्ध होने से उसको एक दिशायुक्त परिमाण के रूप में स्वीकार करना पड़ता है।

भौतिक शास्त्र में परिमाणों का अन्य एक महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण उनकी परिभाषा के स्वरूप के आधार पर किया जाता है। खण्डकाल, गुरुत्व एवं दैर्घ्य के परिमाण का मान अन्य परिमाणों पर आश्रित न होने से वे *मौलिक परिमाण* कहलाते हैं। जिस परिमाण की परिभाषा तथा इकाई का चयन अन्य परिमाणों तथा उनकी मानों पर आश्रित रहते हैं वे *यौगिक परिमाण* कहलाते हैं। उदाहरणस्वरूप क्षेत्रफल, घनफल, वेग, बल आदि परिमाण यौगिक हैं। वस्तुतः यह वर्गीकरण सापेक्षिक है।[५१]

शब्द रूपी स्पन्दतत्त्व के कुछ धर्म भी मात्राभेदविशिष्ट होते हैं। उदाहरणस्वरूप, एक ट्युनिंफोर्क के तीव्र अभिघात से उत्पन्न शब्द अथवा एक घण्टे पर अभिघात से उत्पन्न शब्दसन्तान क्षीण से क्षीणतर हो जाते हैं। शब्द की इस प्रकार की .महत्ता अथवा अल्पता शब्दतरङ्गों की ऊँचाई (एम्प्लिच्युड) पर आश्रित होती हैं। किसी भी प्रकार की तरङ्ग का एक शीर्ष से अव्यवहित तरङ्ग के शीर्ष तक खण्डकाल उसके *पिरियड* नाम से जाना जाता है। प्रति सैकण्ड उत्पन्न तरङ्गों की सङ्ख्या उसकी *फ्रिक्वेन्सि* कहलाती है। उदाहरणस्वरूप, ट्युनिंफोर्क जितना छोटा होता है उसके अभिघात द्वारा उत्पन्न शब्द तरङ्ग की फ्रिक्वेन्सि उतनी ही अधिक होती है, अर्थात् तरङ्ग का खण्डकाल उतना कम होता है। शब्द का तीव्रता रूपी धर्म उसकी तरङ्ग के खण्डकाल की सूक्ष्मता अर्थात् उसकी एक सैकण्ड में तरङ्गों की सङ्ख्या पर आश्रित रहता है। शब्द तरङ्ग का खण्डकाल जितना

---

५०. देखिये, *वही*, पृ. ३३-४१

५१. देखिये, *वही*, पृ. २

सूक्ष्म होता है अर्थात् प्रति सैकण्ड शब्द तरङ्गों की सङ्ख्या जितनी अधिक होती है शब्द उतना तीव्रतर होता है।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट है कि परम्परागत वैशेषिक तत्त्वमीमांसा के परिमाण का गुणत्वविषयक मत सर्वथा अस्वीकार्य है। परिमाण का परम्परागत वर्गीकरण भी लोकव्यवहार तथा विज्ञान की परिमाणविषयक व्यवस्था प्रदान करने के लिये सर्वथा अपर्याप्त होने से अस्वीकार्य है। परिमाण को एक स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करके उसका वर्गीकरण निम्नोक्त प्रकार से किया जा सकता है।

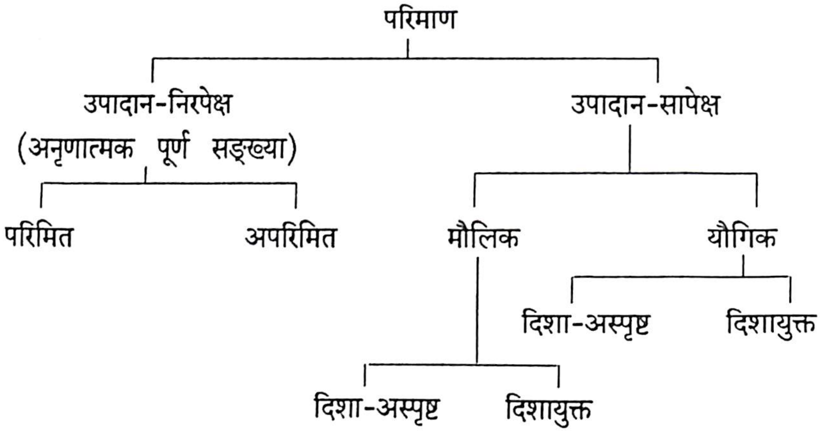

परम्परागत वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में परिमाणों को नित्य एवं अनित्य भेद से दो कोटियों में बाँटा गया है। परमाणुनिष्ठ अणुत्व नित्य है एवं द्व्यणुकनिष्ठ अणुत्व अनित्य है। त्रसरेणु एवं घटपटादिनिष्ठ महत्त्व अनित्य है एवं आकाशकालदिगादिनिष्ठ महत्त्व निरतिशय तथा नित्य है। परिमाण के आश्रय रूपी द्रव्य के नित्य अथवा अनित्य होने के अनुसार परिमाण यथाक्रम नित्य अथवा अनित्य होता है।

वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में अनित्य परिमाण की असमवायिकारणविषयक समस्या पर विशेष ध्यान दिया गया है। अवयव का परिमाण अवयवी के परिमाण से अवश्य न्यूनतर होता है।[५२] परन्तु परम्परा में परिमाण

---

५२. "द्व्यणुकपरिमाणं तावदणु, महत्परिमाणोत्पत्तौ कारणाभावात्। तस्माच्च परमाणु-परिमाणमपकृष्टम्, कार्यपरिमाणात् कारणपरिमाणस्य हीनत्वदर्शनात्। ततश्च परमाणोः

का स्वसजातीय उत्कृष्ट परिमाणजनकत्व भी स्वीकृत है।[५३] अतः द्व्यणुक परिमाण के असमवायिकारण के रूप में द्व्यणुकावयव परमाणुनिष्ठ परिमाण स्वीकार्य नहीं है। परन्तु भावकार्यमात्र का असमवायिकारण होना परम्परागत मत में स्वीकृत है। परमाणुगत रूपरसादि में द्व्यणुकनिष्ठ अणुपरिमाण का असमवायिकारणत्व नहीं रह सकता है। अतः द्विपरमाणुनिष्ठ द्वित्व सङ्ख्या ही द्व्यणुक परिमाण के असमवायिकारण के रूप में स्वीकार्य है। अनुरूप युक्ति से त्रसरेणुनिष्ठ महत् कोटि के न्यूनतम परिमाण के असमवायिकारण के रूप में त्रसरेणु की अवयवरूपी त्रिद्व्यणुकनिष्ठ त्रित्वसङ्ख्या स्वीकृत हुई है।

भासर्वज्ञ कार्यरूपी परिमाण के असमवायिकारण के रूप में सङ्ख्या को स्वीकार नहीं करते हैं, यद्यपि सङ्ख्या की वहाँ निमित्तकारणता उन्हें स्वीकार्य है।[५४] उनके अनुसार द्व्यणुक त्र्यणुकादि स्थल में भी कारणगत परिमाण ही कार्यगत परिमाण के असमवायिकारण के रूप में स्वीकृत होना चाहिये, क्योंकि कार्यपरिमाण सर्वत्र कारणपरिमाण से अधिक होता है। सजातीय उत्कृष्ट कार्यारम्भकत्व के आधार पर द्व्यणुकगत परिमाण के परमाणु के परिमाण से न्यूनतरत्वविषयक निष्कर्ष अयौक्तिक एवं हास्यास्पद है। यहाँ पर भासर्वज्ञ का मत अनुभवसङ्गत एवं गणितशास्त्रीय सिद्धान्तानुगामी होने से अङ्गीकार योग्य है। सामान्य रूप में कितनी भी न्यूनतर धनात्मक सङ्ख्या k एवं कितनी भी बृहत् परिमित धनात्मक सङ्ख्या m दिये जाने पर अवश्य एक धनात्मक पूर्ण सङ्ख्या n प्राप्त की जा सकती है जिसको k से गुणन करने पर गुणनफल $n \times k$ सङ्ख्या m से बृहत्तर

परिमाणं द्व्यणुकपरिमाणाद् भिन्नम्।" *न्यायकन्दली*, पृ.३१७

५३. द्व्यणुकाणुपरिमाणानां चारम्भकत्वे त्र्यणुकस्याणुत्वमेव स्यान्न महत्त्वम्, परिमाणात् समानजातीयस्यैव परिमाणस्योत्पत्त्यवगमात्।" *वही*, पृ.३२३

५४. "न हि सङ्ख्यायाः परिमाणासमवायिकारणत्वे प्रमाणं किञ्चिदस्ति। परिशेष इति चेत्, न कारणपरिमाणस्यैवासमवायिकारणत्वसम्भवाद् रूपादिवत्। परमाणुपरिमाणजन्यत्वे द्व्यणुकेऽपि परमाणुत्वप्रसङ्ग इत्ययुक्तम्, कार्यकारणयोः तुल्यपरिमाणत्वे दृष्टान्ताभावात्। सर्वत्र हि कारणपरिमाणादधिकमेव कार्यपरिमाणं दृश्यते।" *न्यायभूषण*, पृ.१५९-१६०

होता है।[५५] उदाहरणस्वरूप, यदि $k=१/१०^{१२}$ एवं $m=१०^{३}$ तो n के रूप में $१०^{१६}$ चुना जा सकता है। अतः अत्यन्त सूक्ष्म अवयवों से क्रमशः बृहत्तर परिमाण विशिष्ट अवयवी को प्राप्त करना सर्वथा सम्भव है। अणुत्व एवं महत्त्व, ह्रस्वत्व एवं दीर्घत्व को परिमाण की अवान्तर जातियों के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

***

---

५५. यह गाणितिक तथ्य आर्किमिडिज की आधारभूत मान्यता (Archimedian Principle) नाम से परिचित है।
देखिये, एडविन मयस, *एलिमेन्टरी ज्योमेट्री फ्रॉम एन एडवान्स्ड् ष्टेन्डपयन्ट्*, एडिसन-वेस्लि पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली, १९७०, पृ.२५

नवम अध्याय

समवायनानात्व एवं अन्त्यविशेषादिविषयक विचार

परम्परागत न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के स्वरूपपरिचय के सन्दर्भ में पञ्चम अध्याय में सात पदार्थ कोटियों को चार तलों में व्यवस्थित किया गया था। द्रव्य कोटि के पदार्थों के लिये सुरक्षित प्रथम तल के निम्नार्धभाग में परम्परागत तत्त्वमीमांसा में स्वीकृत नित्य व्यक्तीभूत परमाणु आदि मूर्त द्रव्यों को तथा अमूर्त दिक्, काल, आकाश एवं आत्मा रूपी द्रव्यों को रखा गया था। प्रथम तल के ऊपर भाग में जन्य द्रव्य अर्थात् अवयवियों को स्थान दिया गया था। द्वितीय तल में केवल द्रव्याश्रित गुण एवं कर्म कोटि के पदार्थों को रखा गया था। तृतीय तल में द्रव्य, गुण एवं कर्म कोटि में आश्रित सामान्य या जाति रूपी नित्य तत्त्वों को रखा गया था। अभाव की प्रतियोगिता सभी कोटियों के पदार्थों में रहने से उसके लिये चतुर्थ तल की आवश्यकता हुई थी। अन्त्य विशेष एवं समवायों की विलक्षण तत्त्वमीमांसीय भूमिकाओं की दृष्टि से उनके लिये जन्य द्रव्य समान तलीय दो स्वतन्त्र कक्षाओं की व्यवस्था की गई थी। षष्ठ अध्याय में शब्दसमवायिकारण के रूप में स्वीकृत आकाश पदार्थ का खण्डन किया गया है। उसी अध्याय में दिक् एवं काल के द्रव्यत्व का भी खण्डन किया गया है तथा क्षण एक अतिरिक्त पदार्थ

के रूप में स्वीकृत हुआ है। सप्तम अध्याय में भौतिक एवं रसायन शास्त्रों में अङ्गीकृत परमाणु तत्त्व का अवयवित्व सिद्ध किया गया है एवं परमाणुघटक प्रोटान, न्यूट्रान एवं इलेक्ट्रान आदि मौलिक मूर्त तत्त्वों का नित्यत्व स्वीकृत नहीं हुआ है। चतुर्थ अध्याय में निरन्तर परिवर्तनशील प्राणवान् शरीर सन्तान के रूप में आत्मा स्वीकृत हुई है। अष्टम अध्याय में समुच्चय एवं परिमाण अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकृत हुये हैं। परन्तु धर्म भेद के बिना धर्मियों में भेद सम्भव नहीं है। पुनश्च धर्मधर्मिभेद पर आधारित पदार्थव्यवस्था के लिये तत्त्वमीमांसीय परतन्त्रता-अपरतन्त्रता भेद निरतिशय महत्त्वविशिष्ट है। प्रस्तुत अध्याय में समवाय सम्बन्ध के नानात्व पक्ष में तथा अन्त्यविशेष पदार्थ के खण्डन के लिये प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

१. समवायपदार्थविषयक विचार

१.१ सम्बन्ध का स्वरूप

यह स्पष्ट है कि वृक्ष, फल, पुष्प आदि प्राकृतिक इन्द्रियग्राह्य वस्तु, घट, पट आदि मानव निर्मित वस्तु तथा चैत्र मैत्रादि व्यक्तियों का स्वरूपनिरूपण सम्बन्धरूपी पदार्थ के बिना सम्भव नहीं है। 'दण्डी पुरुषः' इस विशिष्ट ज्ञान में पुरुष, दण्ड, दण्ड एवं पुरुष के बीच विशेष प्रकार का संयोग, यथाक्रम विशेष्य, प्रकार (विशेषण) एवं सम्बन्ध (संसर्ग) के रूप में भासित होते हैं। विशिष्ट ज्ञान की विषयता तीन प्रकार की होती है– विशेष्यता, प्रकारता एवं संसर्गता। उपर्युक्त उदाहरण में पुरुष में विशेष्यता, दण्ड में प्रकारता एवं पुरुष तथा दण्ड के मध्य विद्यमान विशेष प्रकार के संयोग सम्बन्ध में संसर्गता रहती है। जो पदार्थ, विशिष्ट ज्ञान का विषय होते हुये भी न तो उसके विशेष्य की, न उसके प्रकार की भूमिका निभाता है, वह *संसर्ग* कहलाता है।[१] सम्बन्ध जिन पदार्थद्वय को संसृष्ट करता है वे उस सम्बन्ध के *सम्बन्धी* कहलाते हैं। उनमें से एक सम्बन्ध का प्रतियोगी एवं अपर अनुयोगी होता है।

---

१. "विशेष्यविशेषणत्वान्यविशिष्टधीविषयत्वमेव सम्बन्धत्वमिति भावः।" *सिद्धान्त-लक्षणजागदीशी,* देखिये, पण्डितखड्गनाथमिश्रकृत *सिद्धान्तलक्षणतत्त्वालोकप्रकाश* भाग १, राजस्थान विश्वविद्यालय भारतीय दर्शन अध्ययन ग्रन्थ माला: २, जयपुर, १९९६, पृ. ४९

१.२ आधार-आधेयभाव एवं उसका नियामक सम्बन्ध

जब दो सम्बन्धी a एवं b के मध्य सम्बन्ध S रहने पर 'a में b है' अथवा 'a पर b है' आकार की प्रतीति होती है तब सम्बन्ध S आधार-आधेयभाव का नियामक कहलाता है। उदाहरणस्वरूप 'घड़े में पानी है', 'टोकरी में आम हैं', 'चैत्र घर में नहीं है', 'फूल में अभी भी सुगन्ध है', 'चन्द्रमा में पृथिवी की परिक्रमा तथा पृथिवी के साथ सूर्य की परिक्रमा रूपी दो प्रकार की गति है', 'पेड़ पर बन्दर बैठा है', 'महावत हाथी पर बैठा है' इत्यादि में आधार-आधेयभाव की प्रतीति सर्वमान्य है। जिस सम्बन्धी में अपर सम्बन्धी के अवस्थान की प्रतीति होती है वह *आधार* कहलाता है एवं जिस सम्बन्धी के अवस्थान की प्रतीति उस आधार में होती है वह उस आधार का *आधेय* कहलाता है। उदाहरणस्वरूप 'a में b है' अथवा 'a पर b है' आकार की प्रतीति में a आधार है एवं b आधेय है। तत्त्वमीमांसीय आवश्यकता के अनुसार न्यायवैशेषिक परम्परा में आधार-आधेयभाव के नियामक सम्बन्धों की वस्तुनिष्ठता तथा सम्बन्धि-भिन्नत्वसिद्धि के लिये निरन्तर प्रयास किया गया है।[२] आधार का एक अन्य नाम *अधिकरण* है। *आधारता* (*अधिकरणता*) रूपी धर्म आधार मात्र में रहता है। आधेयनिष्ठ सामान्य धर्म *आधेयता* या *वृत्तिता* नाम से जाना जाता है। उपर्युक्त उदाहरणों में घड़ा, टोकरी, घर, फूल, चन्द्रमा, पेड़ एवं हाथी आधार हैं एवं पानी, आम, चैत्र का अभाव, सुगन्ध, परिक्रमा-द्वय, बन्दर एवं महावत आधेय। *आधार-आधेयभाव* के स्थान पर *आश्रय-आश्रयिभाव* शब्द भी प्रयुक्त होता है, विशेष रूप में जब आधार-आधेय के बीच संयोग, आधेय का पतन अथवा फैलना, व्यापार को रोकता है। आधार-आधेयभाव का नियामक सम्बन्ध *वृत्तिनियामक* सम्बन्ध नाम से भी जाना जाता है।

जो सम्बन्ध आधार-आधेयभाव का नियामक नहीं होता है अर्थात् जो सम्बन्ध, विशिष्ट बुद्धि का निमित्तकारण होने पर भी आधार-आधेयभाव-प्रतीतिजनक नहीं होता है वह *वृत्ति-अनियामक* (*वृत्त्यनियामक*) सम्बन्ध कहलाता

---

२. "इयमिहबुद्धिः प्रवर्तमाना नर्ते सम्बन्धात् प्रवर्तते यथेह कुण्डे वदराणीति। नेयं वदरमात्रनिमित्ता न कुण्डमात्रनिमित्तेति यदस्या निमित्तं स संयोग इति। *न्यायवार्त्तिक, न्यायसूत्र* २.१.३१ पर, पृ. २२५

है। उदाहरणस्वरूप, 'यह ऊँट है' में इदन्त्वावच्छिन्न 'यह'-पदवाच्य सम्मुखस्थ पदार्थ तथा उष्ट्रत्वावच्छिन्न पदार्थ में अभेद की प्रतीति होती है। उसी प्रकार, 'धनवान् देवदत्तः' वाक्य से देवदत्त में धनस्वामित्व की प्रतीति होती है न कि स्वामित्वसम्बन्ध से धन की अधिकरणता। विषयता-विषयिता, प्रतियोगितादि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के अन्य उदाहरण हैं। 'दण्डी पुरुष' में दण्डनिष्ठ प्रकारता (विशेषणता) का भान पुरुष निष्ठ विशेष्यता की अपेक्षा से होता है एवं पुरुषनिष्ठविशेष्यता का भान दण्डनिष्ठ प्रकारता की अपेक्षा से होता है। विशेष्यता एवं प्रकारता में परस्पर निरूपक-निरूप्यभाव स्वीकृत है। विशेष्यता, प्रकारता की निरूपक होने के साथ-साथ उसके द्वारा निरूपित होती है एवं प्रकारता, विशेष्यता की निरूपक होने के साथ-साथ उसके द्वारा निरूपित होती है। उसी प्रकार संसर्ग या सम्बन्ध की अनुयोगिता एवं प्रतियोगिता, स्वामित्व एवं स्वत्व, आधारता एवं आधेयता आदि में परस्पर निरूप्य-निरूपकभाव स्वीकार करना आवश्यक है।

१.३ युतसिद्धता एवं अयुतसिद्धता

धर्मधर्मिभेदमूलक न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में धर्म एवं धर्मी यथाक्रम आधेय एवं आधार की भूमिका निभाते हैं। अतः आधार-आधेयभाव के नियामक सम्बन्धों को न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में स्वाभाविक रूप में विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। वृत्तिनियामक सम्बन्ध *स्वभावसिद्ध* या *नैसर्गिक* अथवा *आगन्तुक* हो सकते हैं।[३] उदाहरणस्वरूप, पुरुष एवं दण्ड के बीच संयोग सम्बन्ध, आम एवं टोकरी के संयोग सम्बन्ध, भूतल एवं घटाभाव के बीच विशेषणता या स्वरूप सम्बन्ध आगन्तुक हैं, न कि स्वभावसिद्ध, क्योंकि उपर्युक्त स्थलों में संयोग सम्बन्ध के बिना भी पुरुष एवं दण्ड, टोकरी एवं आम अपने-अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रह सकते हैं। घटाभाव का प्रतियोगी या विरोधी घटरूपी पदार्थ भूतल पर संयोग सम्बन्ध में रहने पर भी न तो भूतल, न घटाभाव अपने स्वरूप से विच्युत होते हैं। सामान्य रूप में, जब सम्बन्ध अपने अनुयोगी एवं प्रतियोगी के सत्तामीमांसीय स्वातन्त्र्य का अविरोधी होता है, तब उसके सम्बन्धी *युतसिद्ध* या *पृथक्सिद्ध*

---

३. "स्वभावत आधार्याधाराणां न त्वागन्तुकेन धर्मेण इत्यर्थः।" *किरणावली,* पृ.१८। आचार्य उदयन पदार्थों का अनेकवृत्तिक स्वाभाविक अर्थात् अनागन्तुक धर्म के रूप में सामान्य पदार्थ की व्याख्या करते हैं। देखिये, *वही,* पृ.१५

कहलाते हैं।[४] परन्तु जब एक कुल्हाड़ी से पेड़ काटा जाता है तब कुल्हाड़ी पर आश्रित होकर उत्पन्न काटनारूपी व्यापार एवं काटे जा रहे पेड़ के मध्य का सम्बन्ध आगन्तुक नहीं है, अपितु स्वभावसिद्ध है। काटना व्यापार काटे जाने वाले पदार्थ के बिना सम्भव नहीं है। काटे जाने वाला पदार्थ कहलाने के लिये काटना व्यापार का होना आवश्यक है।[५] यह सम्भव नहीं है कि यज्ञदत्त पढ़ रहा हो परन्तु कोई भी पाठ्य वस्तु उसके द्वारा पढ़ी नहीं जा रही हो। जब वृत्तिनियामक सम्बन्ध के अनुयोगी एवं प्रतियोगी युगल में से कम से कम एक, उस सम्बन्ध के बिना अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं रह पाता है, तब उस सम्बन्ध के सम्बन्धियुगल *अयुतसिद्ध* कहलाते हैं एवं स्वयं वह सम्बन्ध *समवाय* नाम से जाना जाता है।[६] अन्य शब्दों में, जब आधार-आधेयभाव का नियामक सम्बन्ध इस प्रकार का है कि आधार एवं आधेयों में से कम से कम एक उस सम्बन्ध के बिना अविनष्ट होती हुई अवस्था में नहीं रह सकता है, तब आधार एवं आधेय अयुतसिद्ध होते हैं एवं उनके मध्य आधार-आधेयभाव का नियामक सम्बन्ध समवाय कहलाता है।

वस्तुतः अयुतसिद्धता एवं आधार-आधेयभाव के सम्प्रत्यय परस्पर स्वतन्त्र हैं। कारण एवं कार्य सत्तामीमांसीय दृष्टि से परस्पर स्वतन्त्र नहीं कहे जा सकते हैं अर्थात् वे पृथक्सिद्ध नहीं हैं। ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्न एक

---

४. (क) "युतसिद्धिः पृथक्सिद्धिः, पृथगवस्थितिरुभयोरपि सम्बन्धिनोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वम्..." *न्यायकन्दली,* पृ. ३७

(ख) "यत्र तु द्वयोरपि सम्बन्धिनोः परस्परपरिहारेण व्यतिरिक्ताश्रयाश्रयित्वम्, तत्र युतसिद्धिः, यथा त्वगिन्द्रियशरीरयोः। शरीरं हि त्वगिन्द्रियपरिहारेण पृथगाश्रये स्वावयवे समाश्रितम्, तेनानयोः संयोगो न समवायः" *वही,* पृ.३७

५. "भिन्नयोश्च परस्परोपश्लेषस्य दहनायःपिण्डयोरिव विना सम्बन्धेनासम्भवात्। इयांस्तु विशेषः– वह्निरुत्पत्तेः पश्चादयःपिण्डेन सह सम्बद्ध्यते, इह तु स्वकारणसामर्थ्या-दुपजायमानमेव तत्र सम्बद्ध्यते, यथा छिदिक्रिया छेद्येनेत्यलम्।" *न्यायकन्दली,* पृ.३९

६. (क) "अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः इहप्रत्ययहेतुः स समवायः।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. ३७

(ख) "इहेति यतः कार्यकारणयोः स समवायः।" *वैशेषिकसूत्र* ७.२.२९, बड़ौदा संस्करण, पृ.६१

ही आत्मा में उत्पन्न होकर कारण-कार्य सम्बन्ध से सम्बद्ध होते हैं। जब भी दो पदार्थों के मध्य सम्बन्ध, चाहे वह वृत्तिनियामक अथवा वृत्त्यनियामक हो, उनका स्वरूपनिरूपक होता है तब वह सम्बन्ध अवश्य स्वभावसिद्ध (नैसर्गिक) ही होता है न कि आगन्तुक। सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों के स्वरूपनिरूपक होने पर भी सम्बन्धियुगल को युतसिद्ध कहना युक्तिसङ्गत नहीं है। उदाहरणस्वरूप, शिंशपात्व एवं वृक्षत्व जातियों के मध्य व्याप्ति सम्बन्ध अवश्य उनका स्वरूपनिरूपक है। एतद्वृक्षत्व एवं कपिसंयोग के बीच अथवा चैत्रतनयत्व एवं वैयाकरणत्व के बीच भी व्याप्ति सम्बन्ध रह सकता है। परन्तु इस प्रकार के व्याप्ति सम्बन्ध काकतालीयता के कारण केवल आगन्तुक होते हैं, न कि सम्बन्धिस्वरूपनिरूपक। न्यायकन्दलीकार एवं व्योमवतीकार एकार्थ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध पदार्थों को अयुतसिद्धता के उदाहरण के रूप में लेते हैं।[७]

धर्मधर्मिभेद पर आधारित न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के पद्धतिमूलक आधार को सुदृढ़ करने के लिये युतसिद्धि एवं अयुतसिद्धि सम्प्रत्ययों को आधार-आधेयभावनिरपेक्षरूप में परिभाषित करना आवश्यक है।[८] परस्पर निरूप्यनिरूपकभावापन्न पदार्थ जैसे कि आधारता-आधेयता, अनुयोगिता-प्रतियोगिता, विशेष्यता-प्रकारता आदि स्वरूपतः अयुतसिद्ध हैं। संयोग सम्बन्ध केवल पृथक्सिद्ध द्रव्य जैसे कि भूतल एवं घट, टोकरी एवं आम आदि के मध्य सम्भव होता है। स्थूल रूप में जब पदार्थ का धर्म उसका स्वरूपनिरूपक होता है अथवा अन्य एक पदार्थ के साथ उसका सम्बन्ध स्वरूपनिरूपक होता है, तब वह पदार्थ एवं उसका धर्म तथा वह पदार्थ एवं उससे सम्बद्ध

---

७. (क) "अयुतसिद्धयोः सम्बन्ध इत्युच्यमाने धर्मस्य सुखस्य च यः कार्यकारणभावलक्षणः सम्बन्धः, सोऽपि समवायः प्राप्नोति, तयोरात्मैकाश्रितयोर्युतसिद्ध्यभावात्।" *न्यायकन्दली*, पृ. ३८

(ख) "एवमिच्छाद्यालम्बनं विज्ञानमात्मनि समवेतमिच्छादयश्च तत्रैवेत्युतसिद्धत्वे सति एषां विषयविषयिभाव इत्यनयोर्व्यवच्छेदार्थमाधार्याधारपदम्।" *व्योमवती*, पृ. १०८

८. आधार-आधेयभाव घटित अयुतसिद्धि के लक्षण के उदाहरण के रूप में अन्नम्भट्ट कृत निम्न लक्षण लिया जा सकता है– "ययोर्मध्य एकमविनश्यदवस्थमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ।" *तर्कसङ्ग्रह, न्यायबोधिनी* आदि सहित, पृ. ७६

अपर पदार्थ अयुतसिद्ध कहे जा सकते हैं। उदाहरणस्वरूप द्वित्व का अव्यवहित उत्तरवर्ती होना त्रित्व का स्वरूप है एवं त्रित्व का अव्यवहित पूर्ववर्ती होना द्वित्व का स्वरूप है। अतः द्वित्व एवं त्रित्व तथा सामान्य रूप में दो पूर्ण सङ्ख्यायें अयुतसिद्ध हैं। जब दो अयुतसिद्ध पदार्थों में से एक आधार एवं अपर आधेय होता है, तब उनके आधार-आधेयभाव का नियामक सम्बन्ध धर्मधर्मिभेदमूलक न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में विशेष रूप में महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि धर्मी आधारस्वरूप होता है एवं धर्म आधेयस्वरूप। पदार्थ का लक्षण उस पदार्थरूपी आधार के अयुतसिद्ध आधेयभूत धर्मों के उपयोग से ही दिया जा सकता है। परन्तु पदार्थ के सभी आधेयभूत धर्म जो उस पदार्थ के साथ अयुतसिद्ध हैं उसके लक्षण की दृष्टि से समान रूप में महत्त्वपूर्ण नहीं होते हैं। मूर्तद्रव्य के अयुतसिद्ध धर्मों में से स्पन्द, मूर्तत्व के लक्षण के लिये पर्याप्त सिद्ध होता है। मूर्तद्रव्यनिष्ठ दैशिक आकृति रूपी धर्म उसके साथ अयुतसिद्ध है एवं मूर्तत्व का लक्षण उसके आधार पर भी देना सम्भव है। अधिकरण रूपी धर्मी में उसके साथ अयुतसिद्ध एवं उसमें आधेय या धर्म के रूप में विद्यमान धर्मों में से पदार्थ का लक्षण घटक तत्त्वों का चयन, लाघवगौरवविचार पर आधारित होता है।

१.४ समवाय का स्वरूप

अयुतसिद्धों के मध्य आधार-आधेयभाव के नियामक सम्बन्ध के रूप में समवाय सम्बन्ध न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में अङ्गीकृत हुआ है। कणाद एवं प्रशस्तपाद ने धर्मधर्मिभेद पर आधारित तत्त्वमीमांसा के निर्माण के लिये समवाय का महत्त्व पहचानकर उसके लिये एक स्वतन्त्र पदार्थकोटि का प्रावधान किया है। अवयव एवं अवयवी, द्रव्य एवं गुण, द्रव्य एवं कर्म, व्यक्ति एवं जाति, नित्य द्रव्य एवं अन्त्यविशेष के सम्बन्ध समवाय है।[९] प्रशस्तपादाचार्य अयुतसिद्धों को आधार-आधेयभावविषयक विशिष्ट ज्ञान

---

९. (क) "अवयवावयविनामनित्यद्रव्यतद्गुणानां नित्यद्रव्यतत्समवेतानामनित्यगुणानां कर्मतद्वतां कार्यकारणभूतानां समवायः, नित्यद्रव्यतद्गुणानां सामान्यतद्वतामन्त्यविशेषतद्वतां चाकार्यकारणभूतानां समवायोऽयुतसिद्धानामिति नियमः।" *न्यायकन्दली,* पृ. ७७३-७७४

(ख) "अवयवावयविनोः, जातिव्यक्त्योः, गुणगुणिनोः, क्रियाक्रियावतोः, नित्य-

के लिये आवश्यक विशेष्य एवं विशेषण से भिन्न संसर्ग रूपी विषय के रूप में समवाय की सिद्धि करते हैं। जिस प्रकार 'मटके में दही' यह विशिष्ट ज्ञान, मटका एवं दही के बीच विशेष प्रकार के संयोग सम्बन्ध के बिना सम्भव नहीं होता है, उसी प्रकार 'फूल में महक', 'अश्व में गति', 'व्यक्ति में जाति' आदि अयुतसिद्धों के मध्य आधार-आधेयभाव रूपी विशिष्टज्ञान नियामक सम्बन्ध के बिना भी सम्भव नहीं है। यहाँ पर विशिष्टज्ञान के लिये अपेक्षित सांसर्गिक विषय समवाय है।[१०] यह समवाय, स्पष्टतया संयोग से भिन्न है, क्योंकि संयोग केवल युतसिद्धों के मध्य ही रहता है।[११] पुनश्च समवाय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य अथवा अन्त्यविशेष कोटि का पदार्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि समवाय भिन्न रूप में ज्ञान

द्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः, स समवायः।" *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली,* कारिका ११ की व्याख्या, पृ. ६५

१०. (क) देखिये *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. ७७४-७७५

(ख) "इह तन्तुषु पट इत्यादि प्रत्ययाः सम्बन्धनिमित्तका अवधारितप्रत्ययत्वात्, इह कुण्डे दधीतिप्रत्ययवत्।" *न्यायकन्दली*, पृ. ७७५

(ग) "तत्र प्रमाणं तु गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया, विशिष्ट-बुद्धित्वात्, दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिवदित्यनुमानेन संयोगादिबाधात् समवायसिद्धिः।" *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली,* कारिका ११ की व्याख्या, पृ.६६

(घ) प्रत्येक कार्य एक धर्म एवं एक सम्बन्ध द्वारा अवच्छिन्न होता है। कार्य का अवच्छेदक धर्म एवं सम्बन्ध यथाक्रम कार्यता-अवच्छेदकधर्म एवं कार्यता-अवच्छेदकसम्बन्ध नाम से जाने जाते है। भावकार्य की उत्पत्ति, एक अधिकरण एवं उस अधिकरण के साथ कार्य के सम्बन्ध की अपेक्षा रखती है। दिनकर भट्टाचार्य भावकार्य का कार्यता-अवच्छेदकसम्बन्ध के रूप में समवाय की सिद्धि करते हैं— "अत्र समवायसम्बन्धेन पटत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन तन्तुत्वेन हेतुत्वात् कार्यतावच्छेदकसम्बन्धविधया समवायसिद्धिः।" (*दिनकरी*, पृ. ६६)। दिनकर भट्टाचार्य की समवायसिद्धि प्रक्रिया महर्षि कणाद सम्मत समवाय की मौलिक तत्त्वमीमांसीय आवश्यकता के अनुरूप है। वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में समवायविषयक विचार का विकास विषय में देखिये, *क्रिटिक् ऑफ इण्डियन रियलिज्म*, पृ.३७७

११. "संयोगो हि युतसिद्धानामेव भवति।" *न्यायकन्दली*, पृ. ७७६

में भासित होता है। न्यायमत में जिस प्रकार अभाव का प्रत्यक्ष विशेषण-विशेष्यभाव रूपी सन्निकर्ष से सम्भव होता है, उसी प्रकार समवाय का प्रत्यक्ष भी विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष से सम्भव होता है।[१२]

जिस प्रकार द्रव्य गुण एवं कर्म भिन्न-भिन्न होने पर भी सत्ता की अनुगत प्रतीति के आधार एक सत्ता जाति स्वीकृत होती है, उसी प्रकार आधार-आधेय भिन्न-भिन्न होने पर भी समवाय की अनुगत प्रतीति के आधार पर केवल एक समवाय स्वीकार करना पर्याप्त है। तत्त्वमीमांसीय व्यवस्था निर्माण के लिये अनेक समवाय स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।[१३] समवाय के नानात्वप्रतिषेध से उसका नित्यत्व सिद्ध होता है, क्योंकि अन्यथा एक स्थल पर दो अयुतसिद्धों के आधार-आधेयभाव विनष्ट होने पर अन्य कहीं पर अयुतसिद्धों के आधार-आधेयभाव की प्रतीति सम्भव नहीं होती।

आधार ही नियमतः आधार-आधेयभाव का नियामक सम्बन्ध का अनुयोगी होता है एवं आधेय उस नियामक सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है। 'रक्त पुष्प' इस प्रतीति के सांसर्गिक विषय समवाय का अनुयोगी पुष्प एवं प्रतियोगी रक्तरूप है। समवाय सम्बन्ध भिन्न पदार्थों के तत्त्वमीमांसीय स्वातन्त्र्य अर्थात् युतसिद्धता का निषेध करते हुए परतन्त्रता का बोध कराता है।[१४] पदार्थभेद के लिये उनका देशभेद अपरिहार्य नहीं है। प्रतीतिभेद भी पदार्थभेदसिद्धि के लिये पर्याप्त है। अयुतसिद्धों के आधार-आधेयभाव के स्थल में देशभेद न रहने पर भी आधार एवं आधेय का भेद केवल

---

१२. (क) "न्यायनये तु प्रत्यक्ष एव समवायः जातिव्यक्तिभ्यां सह स्वरूपेणानुभूयते। अननुभवे गौरयमिति गोत्वपुरोवर्तित्वयोः सामानाधिकरण्यबोधो न स्यात्। द्वयोः समानेनाधिकरणेन सम्बन्धः सामानाधिकरण्यम्। अयमयं गोत्वं च गोत्वमिति व्यधिकरणोऽनुभवः स्यात्।" *न्यायलीलावती*, पृ. ७१८

(ख) "एवं समवायोऽपि। चक्षुसम्बद्धस्य तन्तोविशेषणभूतः पटसमवायो गृह्यते 'इह तन्तुषु पटसमवायः' इति।" केशवमिश्र, *तर्कभाषा*, सन्निकर्ष विभाग प्रकरण, पृ. ८४

१३. "इह इति समवायनिमित्तस्य ज्ञानस्यान्वयदर्शनात् सर्वत्रैकः समवाय इति गम्यते।" *प्रशस्तपादभाष्य*, *न्यायकन्दली* सहित, पृ. ७८०

१४. "परस्परोपसंश्लेषो भिन्नानां यत्कृतो भवेत्।
समवायः स विज्ञेयः स्वातन्त्र्यप्रतिरोधकः॥" *न्यायकन्दली*, पृ. ७८६

प्रतीतिभेद द्वारा सिद्ध होता है। अन्य शब्दों में समवाय सम्बन्ध के स्थल में अनुयोगी एवं प्रतियोगियों का परस्पर भेद, देशभेद की अपेक्षा न रखकर केवल प्रतीतिभेद से सिद्ध होता है।[१५] अपने अनुयोगी एवं प्रतियोगी से भिन्न एवं नित्य सम्बन्ध समवाय हैं।[१६] अनेक नित्य समवाय स्वीकार करने के पक्ष में कोई युक्ति नहीं है। जिस प्रकार, द्रव्य, गुण, कर्म में सत्ता का अनुभव एक रूप में होता है; उसी प्रकार अवयव एवं अवयवी, द्रव्य एवं गुण, द्रव्य एवं कर्म तथा व्यक्ति एवं जाति आदि में समवाय एक एवं अभिन्न तत्त्व के रूप में अनुमित होता है।

संयोग अपने अनुयोगी एवं प्रतियोगी में समवेत होकर रहता है। अन्य शब्दों में संयोग अपने सम्बन्धियों के साथ सम्बद्ध होने के लिये सम्बन्धान्तर की अपेक्षा रखता है। परन्तु समवाय अपने अनुयोगी एवं प्रतियोगी के साथ सम्बद्ध होने के लिये सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं रखता है। यहाँ पर सम्बन्धियों से भिन्न सम्बन्धान्तर की कल्पना से अनवस्था उत्पन्न होती है। जिस प्रकार अभाव अपने अधिकरण में स्वरूप सम्बन्ध से रहता है, उसी प्रकार समवाय अपने अनुयोगी एवं प्रतियोगी के साथ स्वरूप सम्बन्ध से सम्बद्ध रहता है। स्वरूप सम्बन्ध स्वीकार करने पर समवाय निष्प्रयोजन नहीं हो जाता है। अयुतसिद्धों के आधार-आधेयभाव के नियामक सम्बन्ध के रूप में अनुमित समवाय के अधिकरण एवं अभाव के सम्बन्ध से भेद अनुभवसिद्ध है। अयुतसिद्धता का स्वरूप आधार-आधेयभाव अथवा समवाय सम्बन्ध पर आश्रित नहीं रहता है। स्थूल रूप में, जहाँ पर प्रतीति में विशेष्य-विशेषणभाव स्पष्टतया भासित होता है, परन्तु विशेष्य एवं विशेषण रूपी सम्बन्धियों से भिन्न सम्बन्ध स्वीकार न करने पर भी तत्त्वमीमांसीयप्रक्रिया का निर्वाह सम्भव होता है, वहाँ पर लाघव के लिये स्वरूपसम्बन्ध स्वीकार्य होता है। जहाँ पर सम्बन्धितद्वय अपने से भिन्न सम्बन्ध तत्त्व के अपेक्षा न रखकर विशिष्टज्ञान उत्पन्न करने की योग्यता

---

१५. "प्रतीतिभेदात् भेदोऽस्ति देशभेदस्तु नेष्यते।
तेनात्र कल्प्यते वृत्तिः समवायः स उच्यते॥" *न्यायमञ्जरी*, भाग २, पृ.२३

१६. "तथा च सम्बन्धप्रतियोग्यनुयोगिभिन्नत्वे सति नित्यत्वे सति सम्बन्धत्वं समवायलक्षणम्, अतः प्रतियोग्यनुयोग्यात्मकस्वरूपसम्बन्धे नातिव्याप्तिः। ....सम्बन्धत्वं च सांसर्गिकविषयतावत्त्वमेव।" *रामरुद्री*, पृ.६६

रखते हैं वहाँ पर वह सम्बन्धिद्वय का स्वरूप स्वयं सम्बन्ध के रूप में स्वीकृत होता है।[१७]

१.५ समवाय एवं भेदाभेदसम्बन्ध

कुमारिल भट्ट एवं उनके अनुयायियों ने समवाय सम्बन्ध के स्थान पर भेदाभेद सम्बन्ध के द्वारा ही व्यक्ति एवं जाति, अवयव एवं अवयवी, द्रव्य एवं गुण तथा द्रव्य एवं कर्मों के संश्लेष की विलक्षणता को समझाने का प्रयास किया है। कुमारिल केवल युतसिद्ध पदार्थों के मध्य ही सम्बन्ध की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। उनके मत में अयुतसिद्धों के मध्य सम्बन्ध की कल्पना विसङ्गत है।[१८] समवाय के साथ उसके अनुयोगी एवं प्रतियोगी के धर्मधर्मिभाव की उपपत्ति के लिये सम्बन्धान्तर की कल्पना करने पर अनवस्था उत्पन्न होती है। यह अनवस्था तत्त्वमीमांसीय व्यवस्था के लिये घातक है। यदि इस अनवस्था के परिहार के लिये यह कहा जाये कि समवाय सम्बन्धस्वरूप होने से अपने अनुयोगी एवं प्रतियोगी के साथ सम्बद्ध होने के लिये सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं रखता है, तब प्रकारान्तर में धर्म एवं धर्मी का अभेद स्वीकृत होता है। समवाय तब धर्मधर्मिस्वरूप मात्र ही है। अयुतसिद्धों से भिन्न समवाय सम्बन्ध की कल्पना तब निरर्थक है।[१९] पार्थसारथि मिश्र अयुतसिद्धों की आधार-आधेयभाव

---

१७. "सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वस्य स्वरूपसम्बन्धत्वात्। न च घटवद्भूतल-चत्वरीयाभावयोः परस्परं विशिष्टप्रत्ययः।" गङ्गेशोपाध्याय, *तत्त्व-चिन्तामणि* प्रथम भाग (प्रत्यक्ष खण्ड), चौखम्बा, वाराणसी, १९९०, पृ.७१८

१८. (क) "न चाप्ययुतसिद्धानां सम्बन्धित्वेन कल्पना।
नानिष्पन्नस्य सम्बन्धो निष्पत्तौ युतसिद्धता॥
कुमारिल भट्ट, *मीमांसाश्लोकवार्तिक*, सुचरितमिश्र की *काशिका* सहित, त्रिवेन्द्रम्, पुनर्मुद्रण १९९०, प्रत्यक्षपरिच्छेद, कारिका १४६, पृ.२६२

(ख) ..."सिद्धयोर्हि सम्बन्धिनो सम्बन्धो भवति, नासिद्धयोः।" उपर्युक्त कारिका पर *काशिका*, पृ. २६२

१९. "समवायवियोगाच्च विश्लेषः स्यात् परस्परम्।
तत्क्लृप्तावव्यवस्था स्यात् तस्य तस्यान्यसङ्गतेः॥
अथ तस्यात्मरूपत्वान्नान्यसम्बन्धकल्पना।
अभेदात् समवायोऽस्तु स्वरूपं धर्मधर्मिणोः॥ *वही*, कारिका १४८-१४९, पृ.२६३-२६४। पृष्ठ २६४ पर कारिका १४९ की *काशिका* व्याख्या द्रष्टव्य है।

की अनुभवसिद्धता को अस्वीकार करते हैं। अपने शास्त्र में स्वीकृत सिद्धान्तों के प्रति पूर्वाग्रह के कारण अनुभव का अपलाप करना पद्धतिमूलक दृष्टि से अनुचित है। 'यह गाय है' इस प्रकार का अनुभव सभी को होता है न कि 'यहाँ गोत्व है'।[२०] 'यह गाय है'– इस ज्ञान में 'यह' एवं 'गाय' असमानार्थक पद के रूप में भासित होकर एक ही वस्तु को दो भिन्न रूप में उपस्थापित करते हैं। इन दो पदों का एक ही पदार्थ को अभिहित करना अर्थात् उनका समानाधिकरण होना एवं उनका असमानार्थकत्व यथाक्रम उनके अभेद एवं भेद का प्रतिपादन करते हैं।[२१]

१.६ विरोध के कारण भेदाभेदसम्बन्ध की अस्वीकार्यता

वस्तुतः भाट्टमीमांसकों के भेदाभेदविषयक पक्ष के निरीक्षण करने पर वहाँ समवाय पक्ष की अपेक्षा अधिक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। 'दण्डी पुरुषः' एवं 'नीलो घटः'– इन दो विशिष्ट ज्ञानों में संसर्ग के स्तर पर जो अन्तर है उसको विशेषण-सम्बन्धविषयक एवं अभेदविषयक कहकर समझना सम्भव नहीं है। 'नीलो घटः' में 'नीलः' एवं 'घट' पद यदि एक ही अर्थ को अभिहित करते तो उनका सहप्रयोग नहीं होता। घटत्व एवं नीलत्व धर्म यदि एक ही धर्मी में रहते, तब रूप, रस, गन्ध आदि केवल एक-एक बाह्येन्द्रिय द्वारा गृहीत नहीं होते। उस स्थिति में एक ही द्रव्यग्राहक त्वगिन्द्रिय द्वारा रूप, रस, गन्धादि का भी ग्रहण हो जाता, जो कि वस्तुतः नहीं होता है। यह सामान्य नियम है कि जो पदार्थ

---

२०. "इयं गौरिति सर्वदा सर्वेषां प्रतीतिर्नेह गोत्वमिति।" *शास्त्रदीपिका*, पृ.१००

२१. (क) "इयं गौरितिबुद्धिद्वयमपर्यायेण प्रतिभासमानमेकं वस्तु द्व्यात्मकं व्यवस्था-पयति– सामानाधिकरण्यं ह्यभेदमापादयति अपर्यायत्वं च भेदम्, अतः प्रतीतिबलादविरोधः।" *शास्त्रदीपिका*, पृ. १०१

(ख) मानमेयोदयकार समवायवादी की शङ्का के समाधान हेतु लिखते हैं– "ननु पयःपावकयोरिवात्यन्तविरुद्धयोर्भेदाभेदयोः कथमेकत्र समुच्चयः? दर्शनबलादिति ब्रूमः। तत्र तावदयं गौरिति अत्र इदं शब्देन व्यक्तिरभिधीयते गोशब्देन तु जातिः। तत्र यदि जातिजातिमन्तावत्यन्तभिन्नौ, तर्हि इदंगोत्वे इति प्रतीतिः स्याद्, अत्यन्तभिन्नेषु घटपटादिषु तथा प्रतीतिदर्शनात्। यद्यत्यन्ताभिन्नौ, तर्हि हस्तः कर इत्यादिवत् पर्यायत्वमिदंगोपदयोः प्रसज्येत। तस्मादिमगोपदयोरपर्यायत्वे सति सामानाधिकरण्यदर्शनाद् भेदाभेदसमुच्चयमेव वयं जातिजातिमतोराश्रयामहे।" *मानमेयोदय*, प्रमेय खण्ड, पृ. २२३

जिस इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है उसमें रहने वाली जाति भी उसी इन्द्रिय द्वारा गृहीत होती है। 'नीलो घटः' के स्थल में अभेद प्रतीति को प्रमात्मक स्वीकार करने पर 'घट का नील रूप', 'पट का शुक्ल रूप' आदि भेदबुद्धि की भ्रमात्मकता को भी स्वीकार करना होगा। इसलिये, रूपत्व, रसत्व, गन्धत्वादि के केवल एक-एक इन्द्रिय द्वारा गृहीत होने की योग्यता को ध्यान में रखते हुए गुण-गुणी भेद को स्वीकार करना आवश्यक है। 'नीलो घटः'– इस वाक्य में 'नीलः' पद का प्रयोग वस्तुतः 'नीलरूपवान्' के स्थान पर मतुप् प्रत्यय के लोप से होता है। यहाँ पर अभेद का केवल उपचार होता है। वस्तुतः, 'नीलः' एवं 'घटः' पदों के अर्थों के बीच अभेद सम्बन्ध नहीं है।[२२] यहाँ पर अव्याप्यवृत्ति संयोगादि स्थलों में एवं श्याम घट की, कुम्हार के भट्ठे से निकलने के बाद रक्त घट के रूप में प्रतीतिविषयक भेदाभेदवादी भाट्टमीमांसकों की शङ्का का समाधान तत्त्वचिन्तामणिकार के द्वारा अवच्छेदक भेद के आधार पर किया गया है। श्यामरूपावच्छिन्न घट का रक्तरूपावच्छिन्न घट से भेद अवश्य स्वीकार्य है। उसी प्रकार घटत्वावच्छिन्न घट से अवश्य नीलरूप भिन्न है, क्योंकि नीलरूप से भेद का अभाव घटत्वावच्छिन्न घट में स्वीकार करने पर विरोध उत्पन्न होता है।[२३]

जैन परम्परा की तत्त्वमीमांसा धर्म-धर्मी विश्लेषण मूलक होने पर भी वहाँ द्रव्य तथा गुण एवं पर्याय के मध्य भेदाभेद सम्बन्ध स्वीकृत हुआ है। द्रव्य के बिना उसके पर्यायों के अस्तित्व की कल्पना एवं

---

२२. "शुक्लत्वमधुरत्वसुरभित्वोष्णत्वादीनां द्रव्यवृत्तित्वे द्रव्यग्राहकत्वगादिभिर्ग्रहणप्रसङ्गात्। रूपत्वादीनां प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यत्वनियमान्नैवमिति चेत्, रूपत्वादीनां द्रव्यवृत्तित्वे प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यतैव न स्यात् योग्यवृत्तित्वेन जातेर्ग्रहणयोग्यत्वात्।" ...."तस्मात् रूपत्वादीनां प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यतापि गुणगुणिभेदे मानम्। अभेदे च कथं पटस्य शुक्लं रूपमिति भेदबुद्धिः? पटो नीलिमेति बुद्धिप्रसङ्गश्च।" *तत्त्वचिन्तामणि*, प्रत्यक्षखण्ड, *समवायवाद*, पृ. ६५८-६५९

२३. "तस्यैव तत्राभावोऽवच्छेदकभेदेन वर्तते ज्ञायते च यथा संयोगाद्यभावः, श्यामावच्छिन्नस्य तस्यैवान्योन्याभावस्तत्रैव रक्तावच्छिन्ने, तदन्योन्याभावाभावश्च श्यामावच्छेदेन। तदिहापि नीलस्यान्योन्याभावो घटत्वावच्छेदेनेति नीलात् घटस्य भेदोऽस्तु, अभेदस्तु नीलान्योन्याभावाभावरूपो न घटे घटत्वावच्छेदेनैव विरोधात्।" *वही*, पृ. ६६०

पर्यायों के बिना द्रव्य के अस्तित्व की कल्पना सम्भव नहीं है। गोरस दूध, दही, मक्खन आदि के बिना अन्य कुछ नहीं है एवं दूध-दही आदि गोरस रहित नहीं होते है अपितु गोरस के पर्याय भेद ही होते हैं। पुद्गल रूपी द्रव्य से उसके स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण आदि गुण भिन्न नहीं होते हैं एवं अपने उन गुणों से पुद्गल भिन्न नहीं होता है। सामान्य रूप में द्रव्य अपने गुणों से भिन्न होकर अपनी सत्ता में प्रतिष्ठित नहीं रहता है एवं गुण भी द्रव्य के बिना नहीं रहते हैं।[२४] जैन तत्त्वमीमांसा की उपर्युक्त उक्तियाँ श्रुतिमधुर होने पर भी भाट्टमीमांसकों के भेदाभेद सम्बन्ध जैसी परीक्षा में खरी नहीं उतर पाती हैं।

१.७ प्राभाकर मीमांसक एवं रघुनाथ शिरोमणि के द्वारा समवाय की नानात्वसिद्धि

प्राभाकरमीमांसकों ने अयुतसिद्धों के आधार-आधेयभाव के नियामक सम्बन्ध के रूप में समवाय पदार्थ को स्वीकार किया है। परन्तु उनके अनुसार समवाय एक नहीं है, अपितु संयोग जैसे अनुयोगिप्रतियोगियों के युगलों के भेद से भिन्न-भिन्न होता है। तन्तु एवं पट के मध्य विद्यमान समवाय सम्बन्ध एवं सामान्य रूप में अवयव एवं अवयवी के मध्य विद्यमान समवाय सम्बन्ध अनित्य होता है, क्योंकि सम्बन्धी नाश से सम्बन्ध का विनाश अवश्यम्भावी है। परन्तु समवाय सम्बन्ध के अनुयोगी एवं प्रतियोगी नित्य होने पर समवाय सम्बन्ध भी नित्य होता है। उदाहरणस्वरूप नित्य द्रव्य एवं तन्निष्ठ जातियों के मध्य रहने वाले समवाय सम्बन्ध नित्य होते हैं। परन्तु अनित्य व्यक्ति एवं तन्निष्ठ जातियों में रहने वाले सम्बन्ध अनित्य होते हैं। उसी प्रकार आत्मा आदि नित्य द्रव्य एवं उनमें समवेत ज्ञान इच्छादि अनित्य गुण तथा परमाणु एवं उनमें समवेत कर्म के मध्य रहने वाले समवाय सम्बन्ध अनित्य हैं। अवयवी एवं उसमें रहने वाले गुण एवं कर्मों के मध्य समवाय सम्बन्ध अनित्य होता है। अनित्य समवाय

---

२४. (क) देखिये, आचार्य कुन्दकुन्द, *पञ्चास्तिकायसङ्ग्रह*, अमृतचन्द्राचार्यदेव की *समयव्याख्या* सहित, जयपुर, १९८४, गाथा १२-१३, पृ. ३०-३१

(ख) "ततो द्रव्यगुणानामप्यादेशवशात् कथञ्चिद्भेदेऽप्येकास्तित्वनियतत्वादन्योन्या-जहद्वृत्तीनां वस्तुत्वेनाभेद इति।" *वही, समयव्याख्या*, पृ. ३१-३२

की उत्पत्ति अपने सम्बन्धियों में से एक की उत्पत्ति के कारणों से ही होती है।[२५]

रघुनाथशिरोमणि *पदार्थतत्त्वनिरूपण* ग्रन्थ में समवाय नानात्वविषयक प्राभाकरमीमांसक पक्ष के समर्थन में युक्ति प्रस्तुत करते हैं।[२६] पहले बताया गया है कि समवाय सम्बन्ध से जो आधेय जहाँ पर रहता है वह आधेय समवाय का प्रतियोगी होता है एवं उस अधिकरण समवाय का अनुयोगी होता है। 'रसप्रतियोगिक' का अर्थ है– रस जिसका प्रतियोगी है। उसी प्रकार, 'रूपप्रतियोगिक' एवं 'गन्धप्रतियोगिक' के यथाक्रम अर्थ हैं– 'रूप जिसका प्रतियोगी है' एवं 'गन्ध जिसका प्रतियोगी है'। प्रतियोगी अथवा अनुयोगी भिन्न होने पर संयोग भिन्न-भिन्न होता है। परन्तु समवाय एक है। अतः प्रतियोगी भिन्न-भिन्न होने पर समवाय भिन्न नहीं होता है। अतः रसप्रतियोगिक समवाय, रूपप्रतियोगिक एवं स्पर्शप्रतियोगिक समवाय से भिन्न नहीं है। वायु में स्पर्श समवेत होकर रहता है, अर्थात् वायु में स्पर्श का समवाय रहता है। स्पर्श का समवाय रूप के समवाय से भिन्न नहीं है। अतः वायु में रूप का समवाय रहता है, अर्थात् वायु रूपवान् है। परन्तु वायु में रूप नहीं रहता है। उसी प्रकार गोत्वप्रतियोगिक समवाय, अश्वत्वप्रतियोगिक समवाय के साथ अभिन्न होने से गो रूपी प्राणी में अश्वत्व का प्रमात्मक ज्ञान हो जाना चाहिये, जो कि वस्तुतः नहीं होता है। अतः अनेक समवाय स्वीकार करना आवश्यक है।

समवाय नानात्वसिद्धि के लिये रघुनाथ के द्वारा प्रस्तुत युक्ति 'न हि विशिष्टः शुद्धादतिरिच्यते'– इस सामान्य नियम पर आश्रित है। जब

---

२५. (क) "समवायश्च न वयं काश्यपीया इव नित्यमुपेमः। विनष्टायामपि व्यक्तौ न जातिरन्यत्र याति, न च तत्रावतिष्ठते, न विनश्यति, केवलं तद्व्यक्तिसमवायस्तस्या निवर्तते तेन तस्यानुपलम्भनम्।" *प्रकरणपञ्चिका*, पृ. ९२-९३

(ख) "समवायं च वैशेषिकादय इव न वयं नियमेन नित्यमभ्युपेमः। समवायो नित्ययोराकाशमहत्त्वयोर्नित्यः, अनित्ययोरवयवावयविनोरनित्यः। अनित्ययोरन्यतरोत्पत्तिकारणादुत्पद्यते। तस्मात् प्रतिसम्बन्धि समवायो भिन्नः, सम्बन्धरूपत्वात्, संयोगवदिति।" *न्यायसिद्धि*, पृ. ९२

२६. "समवायोऽपि च नैको जलादेर्गन्धादिमत्त्वप्रसङ्गात् परन्तु नानैव, समवायत्वं तु पुनरनुगतमखण्डोपाधिरिति।" *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ. ४५

एक फूल वस्तुतः लाल है एवं अपर्याप्त प्रकाश के कारण केवल 'फूल' के रूप में ज्ञान में भासित होता है एवं प्रकाश पर्याप्त होने पर 'लाल फूल' के रूप में भासित होता है, तब दोनों ज्ञानों में भासमान विशेष्य या धर्मी एक है, यद्यपि प्रथम ज्ञान में फूल रूपी धर्मिनिष्ठ विशेष्यता निरवच्छिन्न है एवं द्वितीय ज्ञान में विशेष्यता पुष्पत्व धर्म से अवच्छिन्न है।

समवाय-नानात्ववाद के पक्ष में रघुनाथ शिरोमणि के द्वारा प्रस्तुत आपत्ति को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए उनके पूर्ववर्ती विचारक वर्धमान उपाध्याय एवं शङ्कर मिश्र उसके समाधान का प्रयास करते हैं। वर्धमान उपाध्याय लिखते हैं कि वायु में रूप समवाय के साथ-साथ रूप का अत्यन्ताभाव भी रहता है, जबकि घटपटादि में रूप समवाय के साथ-साथ रूप का अत्यन्ताभाव नहीं रहता है। अधिकरण के स्वभाव तथा अबाधित रूपवत्ता एवं रूपाभाव की प्रतीति के आधार पर यह स्वीकार करना आवश्यक है कि समवाय अपने आप विशिष्टज्ञान का नियामक नहीं होता है अपितु स्पर्श एवं रूपादिनिष्ठ विशेषणता भी नियामक की भूमिका निभाती है। कहाँ पर किस विशेषणता का नियामकत्व है वह केवल प्रतीति के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। वर्धमान समवाय नानात्व-वाद के पक्ष से उठाई गई आपत्ति का अन्य एक समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। 'दण्डी पुरुषो नास्ति' इस आकार के ज्ञान में भासित अभाव *विशिष्टाभाव* कहलाता है। धर्म विशेष से विशिष्ट धर्मी का अभाव ही विशिष्टाभाव है। विशिष्टाभाव तीन प्रकार का होता है– *विशेषणाभावप्रयुक्त*, *विशेष्याभावप्रयुक्त* एवं *उभयाभावप्रयुक्त*। पुरुष होने पर भी दण्ड न होने के कारण दण्डी पुरुष का अभाव विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव है। दण्ड होने पर भी पुरुष न होने के कारण दण्डी पुरुष का अभाव विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव है। जब पुरुष तथा दण्ड उभय के अभाव होने के कारण दण्डी पुरुष का अभाव प्रतीत होता है, तब वह उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव कहलाता है। वायु में स्पर्श के साथ रूप का अभाव है। अन्य शब्दों में वायु में रूपविशिष्ट स्पर्श का अभाव है। यह अभाव विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव का उदाहरण है। उसी प्रकार वायु में स्पर्शविशिष्ट रूप का भी अभाव है क्योंकि वहाँ स्पर्श होने पर भी रूप नहीं है। उसी प्रकार वायु में जलत्व विशिष्ट रूपाभाव भी है जो उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव है। उपर्युक्त उदाहरणों में 'दण्डी पुरुषः' के स्थल में विशेष्य एवं विशेषणों

के बीच विशेष प्रकार का संयोग सम्बन्ध है। वायु में रूपविशिष्ट स्पर्शादि के अभाव के स्थल में समवाय सम्बन्ध से सामानाधिकरण्य ही विशेष्य एवं विशेषणों के मध्य विवक्षित सम्बन्ध है। अब वायु में शुद्ध समवाय से अभिन्न रूपसमवाय होने पर भी रूपविशिष्ट समवाय का अभाव है। वायु में रूपविशिष्ट समवाय का अभाव है, क्योंकि सामान्य रूप में विशेष्य के होने पर भी विशेषण के अभाव के कारण विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव रहता है।[२७] शङ्कर मिश्र के मत में जिस प्रकार काल एक होने पर भी उपाधि भेद से वर्तमान, अतीत एवं अनागतादि भेद सम्भव होता है, उसी प्रकार समवाय एक होने पर भी निरूपक भेद से समवायभेद सम्भव है। यदि स्पर्शनिरूपित समवाय रूपनिरूपित समवाय से भिन्न नहीं होता, तो वायु में रूपसमवाय नहीं है इस प्रकार की अबाधित प्रतीति नहीं होती। उनके मत में रूप समवाय नहीं है एवं 'रूप नहीं है' इन दोनों ज्ञानों में भासित अभाव वस्तुतः एक नहीं है, क्योंकि प्रथम में 'नहीं' पद का अन्वय समवाय पद के साथ करना आवश्यक है।[२८]

वस्तुतः निरूपक भेद से समवाय भेद की कल्पना अथवा निरूपक भेद से समवाय के अधिकरण भेद की कल्पना से, अनुयोगि-प्रतियोगियुगलों के भेद से संयोग भेद के समान समवाय भेद की कल्पना अधिक युक्तिसङ्गत है।[२९] जिस प्रकार संयोगत्व धर्म से अवच्छिन्न संयोग अनेक हैं, उसी

---

२७. ''ननु समवायस्यैकत्वे कथं रूपवन्निरूपव्यवस्था? न च घटेन सह रूपसम्बन्धरूपत्वं समवायस्य न वाय्वादिनेति वाच्यम्, रूपसम्बन्धरूपत्वं हि समवायस्य यदि स्वरूपमेव तदा रससम्बन्धरूपत्वं न स्यात्, तयोर्विरोधात् अन्यच्च दुर्वचम्। उच्यते। वायौ रूपसमवायेऽपि रूपस्यात्यन्ताभावोऽस्ति न घटे। कथमेवम्? अधिकरणस्वभावात् अबाधितरूपवन्नीरूपप्रतीतेश्च। वायौ रूपविशिष्टस्य समवायस्याभावो भवत्येव, विशेषणाभावे विशिष्टाभावस्यावश्यकत्वादित्यन्ये।'' *न्यायलीलावतीप्रकाश*, पृ. ६९०-६९१

२८. ''ननु समवायस्यैक्ये कथमेवं स्यात्, न हि स्पर्शसमवायादन्यो रूपसमवायो, न वा अश्वत्वसमवायादन्यो गोत्वसमवाय इति चेन्न। एकोऽपि समवायो निरूपकभेदाद् भिन्नः कालवत्, न हि य एव रूपनिरूपितसमवायः स एव स्पर्शनिरूपितः, अन्यथा वायौ रूपसमवायो नास्तीति प्रतीतिर्न स्यात्।'' शङ्करमिश्रकृत *न्यायलीलावतीकण्ठाभरण*, पृ. ६९०

२९. ''न च जले गन्धनिरूपितत्वविशिष्टसमवायाभावान्न गन्धवत्ताप्रतीतिरिति वाच्यम्।

प्रकार समवायत्वावच्छिन्न समवाय भी अनेक हैं। समवाय नानात्वसिद्धि के लिये दी गयी युक्ति वस्तुतः किसी भी द्विपदी सम्बन्ध (जिसके कम से कम दो भिन्न-भिन्न अनुयोगि-प्रतियोगियुगल हैं) की नानात्वसिद्धि के लिये पर्याप्त है। माना कि xSy का अर्थ है x y-प्रतियोगिक सम्बन्ध S-वान् है। माना कि b≠c एवं aSb परन्तु ~(aSc) एवं dSc। अब सम्बन्ध S को एक मानने पर b-प्रतियोगिक सम्बन्ध S = c-प्रतियोगिक सम्बन्ध S। परन्तु aSb सत्य होने से a b-प्रतियोगिक सम्बन्ध S-वान् है। अतः a c-प्रतियोगिक सम्बन्ध S-वान् भी है। अर्थात् aSc, जो कि मान्यता ~(aSc) का विपरीत है। मान्यता dSc केवल c-प्रतियोगिक S की प्रसिद्धि के लिये है। उसी प्रकार अनुरूप युक्ति से भिन्नानुयोगिक एवं एक प्रतियोगिक S भी सम्भव नहीं होता है।

१.८ समवाय का नित्यत्व-अनित्यत्वविषयक विचार और उपाधि के रूप में समवायत्व

रघुनाथ प्राभाकरमीमांसकों के समवाय-नानात्ववाद का समर्थन करते हैं, परन्तु समवाय के नित्यत्व एवं अनित्यत्व विषय में मौन रहते हैं। सम्बन्ध का अस्तित्व सम्बन्धियों के अस्तित्व की अपेक्षा रखता है, अर्थात् सम्बन्धिद्वय के बिना सम्बन्ध का होना असम्भव है। पुनश्च समवाय सम्बन्ध के अनुयोगी एवं प्रतियोगी दोनों भाव पदार्थ होते हैं। उत्पत्तिमान् भाव पदार्थ विनाशी भी होता है। अतः समवाय सम्बन्ध के अनुयोगी अथवा प्रतियोगी दोनों में कम से कम एक उत्पत्तिशील होने पर समवाय को भी उत्पत्तिशील मानना होगा। अनित्य समवाय भावकार्य है। परम्परागत न्यायवैशेषिक कारणतासिद्धान्त के अनुसार भावकार्य मात्र के समवायी, असमवायी एवं निमित्त कारण भेद से तीन प्रकार के कारण होते हैं। उत्पत्तिमान् समवाय के समवायिकारण की कल्पना अनवस्थाप्रसङ्ग उपस्थित करती है। अतः ध्वंस के समान समवाय का भी केवल निमित्त कारण ही सम्भव है एवं उत्पत्तिमान् सम्बन्धी का निमित्तकारण एवं विद्यमान सम्बन्धी ही उत्पद्यमान समवाय के निमित्तकारण के रूप में स्वीकार्य हैं। अतः समवाय

विशिष्टस्यातिरिक्तत्वाभावेन जलेऽपि तत् सत्त्वात् तथाविधविशिष्टनिरूपिताधिकरणताया अतिरिक्तत्वे किमपराद्धं विभिन्नसमवायैरिति।" *पदार्थतत्त्वनिरूपण* की रघुदेवकृत *टीका*, पृ. १०७

नानात्ववाद एवं अनित्य समवाय स्वीकार करने पर परम्परागत न्यायवैशेषिक कारणतासिद्धान्त में कुछ परिवर्तन करना भी आवश्यक हो जाता है।[३०]

नाना समवाय स्वीकार करने पर सभी समवाय सम्बन्धों में रहने वाले एक अनुगत सामान्य धर्म को स्वीकार करना भी आवश्यक है। परन्तु समवायत्व को जाति कोटि में नहीं रखा जा सकता है, क्योंकि जाति अपने आश्रय रूपी व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से रहती है एवं समवायव्यक्तियों के भेद से समवायत्व जाति के लिये उतने अन्य समवाय सम्बन्ध की कल्पना करना आवश्यक हो जाता है। फलतः अन्य एक समवायत्व जाति की कल्पना एवं इस प्रकार से अनन्त भिन्न-भिन्न समवायत्व जाति की कल्पना करने की आवश्यकता होती है। अतः समवायत्व अभावत्व की तरह एक अखण्डोपाधि के रूप में ही स्वीकार्य है।

२. अन्त्यविशेषपदार्थविषयक विमर्श

२.१ सादृश्य एवं अभेद

धर्मभेद के बिना धर्मिभेद सम्भव नहीं है। दो पदार्थों को परस्पर भिन्न सिद्ध करने के लिये उनके धर्मसङ्घातों में भेद सिद्ध करने की आवश्यकता होती है, क्योंकि अन्यथा उनको परस्पर भिन्न कहना तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से निराधार होता है। सादृश्य एवं अभेद में अन्तर अवश्य स्वीकार्य है। सादृश्य अथवा उसके अभाव का ज्ञान सर्वत्र धर्मसङ्घात विशेष की अपेक्षा रखता है। सादृश्य भेद की अपेक्षा रखता है।[३१] लोकव्यवहार एवं साहित्य में उपमा का महत्त्व सर्वविदित है। गणित शास्त्र की विभिन्न शाखाओं के निर्माण में सादृश्य सम्प्रत्यय महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उदाहरणस्वरूप, रेखा गणित में समानाकृतित्व (सिमिलेरिटि) एवं रेखा गणित तथा बीज गणित के प्रतिलिपित्व (कनग्रुएन्स) एवं समुच्चय शास्त्र के तुल्यत्व (समसङ्ख्यकता)

---

३०. रघुनाथशिरोमणि अवयवनिष्ठ एकत्वसङ्ख्या को अवयविनिष्ठ अनित्य एकत्व सङ्ख्या के असमवायिकारण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उनके मत में सभी भाव कार्य के लिये असमवायिकारण स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। – "भावकार्यमात्रस्य असमवायिकारणजन्यत्वे मानाभावात्।" *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ. १९

३१. "सादृश्यमपि न पदार्थान्तरं, किन्तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्।" *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*, कारिका २ की व्याख्या, पृ. ४३

सम्बन्ध लिये जा सकते हैं, यद्यपि वहाँ पर शास्त्रप्रक्रिया के लाघव की दृष्टि से उपर्युक्त सम्बन्ध सादृश्य की तरह भेदव्याप्य (भेदगमक) सम्बन्ध के रूप में परिभाषित नहीं किये जाते हैं। दो परस्पर भिन्न समभुजत्रिभुज जिनकी भुजाओं की लम्बाई समान है (अथवा दो भिन्न वृत्त जिनकी व्यास की लम्बाई एक है) एक दूसरे की प्रतिलिपिमात्र होते हैं, यद्यपि रेखा गणितीय आकृतियों को विशिष्ट बिन्दुसङ्घात के रूप में देखने पर, वे दो समभुजत्रिभुज (दो वृत्त) समुच्चयशास्त्रीय भेद सम्बन्ध की दृष्टि से भिन्न हैं। गणित की शाखाओं में पद्धतिमूलक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अभेदेतर सादृश्य सम्बन्ध वस्तुतः धर्मसङ्घात विशेषों की अपेक्षा रखने से *सापेक्ष अभेद सम्बन्ध* के रूप में देखे जा सकते हैं। तत्त्वमीमांसा में अभेद एवं भेद सम्बन्ध की निरपेक्ष परिभाषायें अपेक्षित हैं। अभेद एवं भेद में से एक के परिभाषित होने पर अपर की परिभाषा प्रतिषेध के द्वारा प्राप्त होती है। अभेद की निरपेक्ष परिभाषा कुछ विशेष रूप में उपयोगी धर्मों के सङ्घात पर आश्रित न रहकर सभी प्रमाणसिद्ध धर्मों के सङ्घात अर्थात् यावत् धर्मों के सङ्घात पर ही आश्रित होनी चाहिये। यावत् धर्म सङ्घात के सम्प्रत्यय की व्याघातशून्यता के लिये उसका परिष्कार आवश्यक है। तत्त्वमीमांसा को औपचारिक रूप प्रदान किये बिना यावद्धर्मसङ्घात सम्प्रत्यय का परिष्कार सम्भव नहीं है।

२.२ पदार्थों की व्यावर्तनप्रक्रिया

भारतीय दार्शनिक परम्परा में प्रत्यक्ष का ज्ञानमीमांसीय प्राधान्य सर्ववादी सम्मत है। प्रत्यक्षज्ञान में विषय अपने से भिन्न सभी सजातीय तथा विजातीय पदार्थों से व्यावृत्त होकर ही भासित होता है। स्वविषयों को अत्यन्त व्यावृत्त रूप में प्रकाशित करने की प्रत्यक्षज्ञान की योग्यता, उसकी अपने विषयों में अनुवृत्त धर्मों को अर्थात् समानता को ग्रहण करने की समानान्तर योग्यता की अपेक्षा रखती है। तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से न केवल प्रमात्मक प्रत्यक्षज्ञान में अपितु प्रमात्मक ज्ञान मात्र में भासित व्यावृत्ति एवं अनुवृत्ति का निमित्त या हेतु केवल विषयनिष्ठ ही हो सकता है, क्योंकि विषय को प्रकाशित करना ही ज्ञान का कार्य है न कि उसको उद्भावित अथवा अलङ्कृत करना। जहाँ पर भी ज्ञान उद्भावन अथवा अलङ्करण में प्रवृत्त प्रतीत होता है, वहाँ उसका स्रोत प्रमाता के विशेष अभिप्राय में अथवा ज्ञानजनकसामग्रीनिष्ठ दोष में पाया जाता है।

एक गाय को निर्जीव वस्तु, वनस्पति, विजातीय प्राणी तथा सजातीय अन्य गो व्यक्तियों से व्यावृत्त करने के लिये द्रव्य, जाति, गुण एवं क्रियादि धर्मों पर आश्रित रहना पड़ता है। उदाहरणस्वरूप, यह गाय प्राणी है, अतः प्राणहीन निर्जीव घट पटादि से तथा प्राणवान् वनस्पतियों से भी प्रजननादि धर्मों से विशिष्ट होने के कारण भिन्न है। यह गाय अश्व, गज, उष्ट्र आदि गो-भिन्न सभी प्राणियों से गोत्व जाति का आश्रय होने के कारण भिन्न है। यह गाय काली, अरुण आदि रङ्ग की गायों से भी भिन्न है, क्योंकि यह सफेद रङ्ग की है। यह गाय यहाँ पर उपस्थित अन्य सफेद गायों से भिन्न है, क्योंकि यह चल रही है, जबकि अन्य सभी सफेद गायें खड़ी हैं या बैठी है, अथवा इसका ककुद् अन्य सभी सफेद गायों के ककुद् से बड़ा है, अथवा इस गाय के गले में एक घण्टी है जबकि अन्य किसी सफेद गाय के गले में घण्टी नहीं है। व्यावृत्ति की सिद्धि के लिये हेतुओं की शृङ्खला भिन्न-भिन्न हो सकती है। एक स्थूल मूर्त द्रव्य को तदितर पदार्थों से व्यावृत्त करने के लिये केवल उसी पदार्थ में रहने वाले एक विलक्षण धर्म अर्थात् तद्व्यक्तिमात्रनिष्ठधर्म की आवश्यकता होती है। उपर्युक्त प्रकार की विलक्षणता के आधार पर ही लोकव्यवहार की नामकरण-प्रक्रिया खड़ी रहती है। प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय की विलक्षणता मूर्तिमती होकर अवतरित होती है एवं शृङ्गग्राहकता न्याय से हमारे द्वारा गृहीत होती है। प्रत्यक्ष में भासित विषय की विलक्षणता अनुमान प्रमाण के द्वारा हेतु शृङ्खला के माध्यम से उस विषयनिष्ठ एकव्यक्तिमात्रवृत्तिक धर्म के रूप में सिद्ध किया जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्यभिज्ञा तथा व्यक्ति, प्राणी एवं वस्तुओं की स्वस्वविलक्षणता पर आधारित लोक व्यवहार सर्वत्र हेतुशृङ्खला रूपी यष्टि के सहारे से चलता है। एक बछड़ा भी गायों के बड़े झुण्ड में अपनी माँ को अनायास पहचान कर उसी के पास ही स्तनपान के लिये दौड़ता है। व्यावहारिकता की दृष्टि से घट, पट, वृक्षादि स्थूल मूर्त द्रव्यों की व्यावृत्ति में द्रव्यों की दैशिक आकृति विशेष भूमिका निभाती है। कोयल के कूजन से उसको अन्य पक्षियों से व्यावृत्त किया जा सकता है, यद्यपि एक कोयल को दूसरी कोयल से केवल कूजन के आधार पर व्यावृत्त करना ध्वनिविश्लेषक उपकरण के बिना सम्भव नहीं होता है। सामान्यतया व्यक्ति की आकृति अथवा स्वर उसकी विलक्षणता सिद्धि के लिये पर्याप्त होता है।

दो जातियों के परस्पर भेद उनके आश्रय सङ्घात के भेद अर्थात् उनके अन्योन्यव्यापकता के अभाव पर आश्रित रहता है। रूप, रस, गन्ध, शब्द एवं कर्म आदि के परस्पर प्रकारभेद उनमें समवेत रूपत्व, रसत्व आदि जातियों के परस्पर भेद के आधार पर अथवा उनके आश्रयरूपी द्रव्यों के भेद से सिद्ध किया जा सकता है। एक लाल गेन्द में आश्रित वर्तुलाकृति एवं रक्त रूप का परस्पर भेद वर्तुलाकृतित्व एवं रक्तत्व जातियों के भेद से सिद्ध होता है। घट, पट आदि अवयवियों के परस्पर भेद उनमें समवेत घटत्व, पटत्वादि जातियों के भेद के आधार से सिद्ध किया जा सकता है। एक अवयवी का सजातीय अवयवियों से, जैसा कि एक ग्रन्थ के एक ही संस्करण की दो भिन्न प्रतियों का भेद, उनके अवयव भेद से सिद्ध किया जा सकता है।

२.३ पारम्परिक मत में अन्त्यविशेष का स्वरूप एवं आवश्यकता

अवयव-अवयविधारा के अन्तिम चरण के रूप में अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध सजातीय परमाणुओं का परस्पर भेद, परम्परागत न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के अनुसार धर्म भेद के आधार पर सिद्ध करना सम्भव नहीं है, क्योंकि सजातीय परमाणुओं के परस्पर भेद परमाणुओं के निरवयवत्व के कारण अवयव भेद के आधार पर सम्भव नहीं है। सजातीय परमाणुओं का परस्पर भेद जाति, गुण एवं क्रियादि के भेद द्वारा भी सम्भव नहीं है। परन्तु मूर्त द्रव्यों की परिमाणविषयक व्यवस्था के लिये अनेक सजातीय परमाणु स्वीकार करना आवश्यक है। पुनश्च धर्म भेद के बिना धर्मियों में परस्पर भेद स्वीकार करना तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से विसङ्गत है। अतः सभी नित्य द्रव्यों में अन्त्यविशेष रूपी एक स्वतो-व्यावर्तक धर्म स्वीकार करना आवश्यक है।[३२] प्रशस्तपाद के अनुसार सजातीय परमाणुओं तथा

---

३२. (क) "नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः। ते खलु अत्यन्ताव्यावृत्तिहेतुत्वाद्विशेषा एव।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. ३६

(ख) "यथा अस्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिगुणक्रियाविषयसंयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा, गौः शुक्लः शीघ्रगतिः पीनककुद्मान् महाघण्ट इति। तथा अस्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनस्सु चान्यनिमित्तासम्भवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः, देशकालविप्रकर्षे च परमाणौ स एवायमिति

मुक्तात्माओं के परस्पर भेद का साक्षाद् अनुभव एवं उनकी प्रत्यभिज्ञा केवल योगिप्रत्यक्ष के द्वारा सम्भव होती है। उनके मत में सजातीय एवं विजातीय द्रव्यों से नित्यद्रव्यों के भेद का योगज प्रत्यक्ष तथा नित्यद्रव्यों के योगज प्रत्यभिज्ञान भी धर्मभेद के बिना उपपन्न नहीं होते हैं।[३३]

अनुमान प्रमाण से ही अन्त्यविशेष सिद्ध होता है, न कि योगियों के प्रत्यक्ष के द्वारा। प्रशस्तपाद योगजप्रत्यक्ष में भासित परमाणुओं के परस्पर व्यावृत्तिज्ञान को हेतु के रूप में लेकर अन्त्यविशेष की सिद्धि करते हैं।[३४] अन्त्यविशेषों के परस्पर व्यावर्तन के लिये उनमें विशेषान्तर कल्पना करने पर अनवस्थाप्रसङ्ग उपस्थित होता है। अतः अन्त्यविशेष पदार्थ की तत्त्वमीमांसीय भूमिका की दृष्टि से उसको स्वतो-व्यावर्तक स्वीकार करना आवश्यक है। यहाँ पर स्वाभाविक रूप में एक शङ्का उपस्थित होती है। यदि अन्त्यविशेषरूपी पदार्थों में अन्य किसी व्यावर्तक धर्म के बिना उनकी परस्परव्यावृत्ति सम्भव है, तो परमाणुओं को स्वतो-व्यावृत्त मान लेना चाहिये, क्योंकि तब अन्त्यविशेष पदार्थ की आवश्यकता नहीं रह जाती है एवं फलतः पदार्थलाघव होता है।[३५] प्रशस्तपाद उपर्युक्त स्वभाविक शङ्का को ध्यान में रखते हुए उसके समाधान के लिये चाक्षुषप्रत्यक्ष में विषयों के परप्रकाशितत्व एवं स्वप्रकाशितत्व

प्रत्यभिज्ञानं च भवति, तेऽन्त्या विशेषाः।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. ७६६-७६९

३३. "यथा न योगजाद् धर्मादशुक्ले शुक्लप्रत्ययः सञ्जायते, अत्यन्तादृष्टे च प्रत्यभिज्ञानम्। यदि स्यान्मिथ्या भवेत्। तथेहाप्यन्त्यविशेषमन्तरेण योगिनां न योगजाद् धर्मात् प्रत्ययव्यावृत्तिः प्रत्यभिज्ञानं वा भवितुमर्हति।" *वही,* पृ. ७७०

३४. (क) "यो यो व्यावृत्तज्ञानविषयः स स विशेषसम्बद्धो यथा स्थाण्वादि, तथा च व्यावृत्तज्ञानविषयाः परमाणवः तस्माद् विशेषयोगिन इति।" *व्योमवती,* पृ. ५८

(ख) "नित्येषु च द्रव्येषु आश्रयरहितेषु समानजातीयेषु समानगुणकर्मसु च भवितव्यं व्यावर्तकेन धर्मेण, व्यावृत्तत्वात्।" *किरणावली,* पृ. १७

३५. "अथान्त्यविशेषाणां परमाणूनामिव व्यावृत्तज्ञानविषयत्वाद् विशेष्यान्तरसम्बन्धे तत्राप्यन्यो विशेषः तत्राप्यन्य इत्यनवस्था स्यात्। न च व्यावृत्तप्रत्ययविषयत्वे समानेऽपि परमाणूनामेवायं विषयसम्बन्धो न विशेषाणामिति विशेषहेतुरस्तीति। अभ्युपगमे वा विशेषेषु विशेषान्तरसम्बन्धं विना व्यावृत्तप्रत्ययवत् परमाणुष्वपि स्यादित्याह–", *व्योमवती,* पृ. ६९४

रूपी धर्मों के भेद को प्रारूप के रूप में लेते हैं। उनके अनुसार अन्त्यविशेष पदार्थ की तत्त्वमीमांसीय भूमिका चाक्षुषप्रत्यक्ष में प्रदीपादि की भूमिका जैसी है, जबकि परमाणु आदि की भूमिका प्रत्यक्ष ज्ञान में घटपटादि की भूमिका के अनुरूप है।[३६]

अन्त्यविशेष पदार्थ के परिष्कृत लक्षण के रूप में सूक्तिकार जगदीश लिखते हैं– जो पदार्थ केवल द्रव्यों में समवेत होकर रहता है परन्तु नित्य द्रव्य में रहने वाले गुण एवं जातियों से भिन्न होता है वह अन्त्यविशेष है।[३७] परन्तु यह लक्षण परमाणुनिष्ठ स्पन्द में अतिव्याप्त है। *तर्कसङ्ग्रह* की टीका *न्यायबोधिनी* के अनुसार जो धर्म नित्यद्रव्यनिष्ठ विशेष्यता द्वारा निरूपित एकमात्रवृत्ति-भेदानुमितिजनकता-अवच्छेदक की प्रकारता का आश्रय होता है वह अन्त्यविशेष है।[३८] *तर्कसङ्ग्रह* के व्याख्याकार मेरुशास्त्री के अनुसार जो पदार्थ जाति से भिन्न होता है तथा जिसमें जाति समवेत नहीं होती है परन्तु जो स्वयं अन्यत्र समवेत होकर रहता है वह अन्त्यविशेष है।[३९] उदयनाचार्य सभी अन्त्यविशेषनिष्ठ एक उपाधि स्वीकार करते हैं।[४०]

न्यायवैशेषिक परम्परा में जगत् की सृष्टि एवं प्रलय स्वीकृत हुए हैं।[४१] प्रलय के बाद द्रव्यारम्भक परमाणुओं से जन्य द्रव्यों की उत्पत्ति

---

३६. "अथान्त्यविशेष्विव परमाणुषु कस्मान्न स्वतः प्रत्ययव्यावृत्तिः कल्प्यत इति चेत्? न, तादात्म्यात्। इहातदात्मकेष्वन्यनिमित्तः प्रत्ययो भवति यथा घटादिषु प्रदीपात्, न तु प्रदीपे प्रदीपान्तरात्।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. ७७०-७७१। यहाँ पर प्रशस्तपाद गोमांसादि का स्वतो-अशुचित्व एवं स्वतो-अशुचिपदार्थसम्पर्कज अशुचित्व रूपी धार्मिक विश्वासमूलक भेद का सहारा भी लेते हैं।

३७. "...सर्वदा द्रव्यसमवेतत्वे सति नित्यद्रव्यवृत्तिजातिगुणाभ्यां भिन्नत्वमेव प्रकृते विशेषत्वमिति फलितार्थः।" *सूक्ति*, पृ. ५५

३८. "नित्यद्रव्यनिष्ठविशेष्यतानिरूपितैकमात्रवृत्तिभेदानुमितिजनकतावच्छेदकप्रकारताश्रयत्वं विशेषाणां लक्षणमिति भावः।" *तर्कसङ्ग्रह* टीका *न्यायबोधिनी*, पृ. ७६

३९. "लक्षणं तु, सामान्यभिन्नत्वे सति सामान्यशून्यत्वे सति समवेतत्वम्।" *तर्कसङ्ग्रह* व्याख्या *वाक्यवृत्ति*, पृ. ७६

४०. "एवं च निःसामान्यत्वेऽपि विशेषोऽयं विशेषोऽयमित्यनुगतव्यवहार उपाधेर्लक्षणं च उपाधिरध्यवसेय इति।" *किरणावली*, पृ.१७

४१. देखिये, *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. १२१-१३१

की कल्पना करने पर अवयवियों की परस्पर भेद सिद्धि के लिये उनके अवयवों के भेद पर आश्रित रहना स्वाभाविक है। यदि a, b का अवयव है परन्तु c का अवयव नहीं है तो b एवं c परस्पर अवश्य भिन्न हैं। जन्यद्रव्याश्रित गुणों के परस्पर भेद की सिद्धि उनके आश्रय भेद पर अथवा आश्रय अभिन्न होने पर गुणनिष्ठ जातियों के भेद पर आश्रित रहकर करना सम्भव है। रूप एवं रस समानाधिकरण हैं। रूपत्व एवं रसत्वों का असमानाधिकरण्य उनकी प्रतीति मात्र से सिद्ध होता है, क्योंकि रूपसाक्षात्कार रससाक्षात्कार से स्वभावतः ही भिन्न है। इसलिये जातियों की परस्पर भेदसिद्धि सर्वत्र उनके आश्रय सङ्घातों के भेदसिद्धि पर आश्रित नहीं रहती है। चक्राकृति एवं वर्गाकृति के भेद, रूप एवं रस अथवा नील एवं पीत के भेद की तरह, सामान्यलक्षणा रूपी प्रत्यक्ष से स्वभावसिद्ध है। अतः चक्राकृतित्व एवं वर्गाकृतित्व रूपी जातियों के परस्पर भेद भी प्रतीतिसिद्ध है। जन्यद्रव्यनिष्ठ क्रियायों का परस्पर भेद उनके आश्रयों के भेद के द्वारा सिद्ध होता है। जातियों का परस्पर भेद प्रतीतिसिद्ध होता है अथवा उनमें अन्योन्यव्याप्यता के अभाव अर्थात् उनके आश्रय सङ्घातों के परस्पर भेद द्वारा सिद्ध होता है। अभावों का परस्पर भेद उनके प्रतियोगिता-अवच्छेदक-धर्म अथवा प्रतियोगिता-अवच्छेदकसम्बन्ध भेद द्वारा सिद्ध होता है। अतः परम्परागत न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में पदार्थों की भेदाभेदव्यवस्था पदार्थ कोटियों के लक्षण एवं विभाग से अतिरिक्त सजातीय नित्यद्रव्यों के परस्पर भेद पर आश्रित रहती है। परन्तु सजातीय नित्यद्रव्यों के परस्पर भेद उनके लक्षण अथवा अवयव भेद के द्वारा सिद्ध नहीं किये जा सकते हैं। धर्मभेद के बिना धर्मी भेद की कल्पना भी विसङ्गत है। अतः नित्य द्रव्यों में स्वतोव्यावर्तक अन्त्यविशेष पदार्थ रूपी धर्म की कल्पना तत्त्वमीमांसीय भेदाभेदव्यवस्था के लिये अपरिहार्य प्रतीत होती है।

२.४ अन्त्यविशेष पदार्थ का खण्डन

परम्परागतवैशेषिक तत्त्वमीमांसा की द्रव्य कोटि में दिक् नामक एक ही द्रव्य स्वीकृत हुआ है। उसी प्रकार महाकाल रूपी द्रव्य केवल एक है एवं आकाश द्रव्य भी केवल एक है। शब्द के समवायिकारण के रूप में आकाश रूपी द्रव्य सिद्ध होने से तथा अनेक आकाश स्वीकार करना अनावश्यक होने से, आकाश स्वतः शेष द्रव्यों से व्यावृत्त हो जाता है। अतः आकाश में अन्त्यविशेष रूपी धर्म की कल्पना अनावश्यक है।

उसी प्रकार दिक् एवं काल में अन्त्यविशेष की कल्पना भी अनावश्यक है। अन्य शब्दों में दिक्त्व, कालत्व एवं आकाशत्व रूपी धर्म वैशेषिक तत्त्वमीमांसा के अनुसार एकमात्रवृत्तिक होने से दिक्, काल एवं आकाश के परस्पर भेद तथा शेष छः प्रकार के द्रव्यों से उनके भेद सिद्ध करने के लिये उनमें अन्त्यविशेष की कल्पना अनावश्यक है। वस्तुतः जिन द्रव्यकोटियों में अनेक द्रव्य स्वीकृत हुए हैं केवल उन्हीं द्रव्यकोटियों के द्रव्यों के लिये सजातीय द्रव्यव्यक्तियों की परस्पर व्यावृत्ति की समस्या प्रासङ्गिक है। दो मुक्त आत्माओं का परस्पर भेद, जिन अन्तिम शरीरों के अवच्छेद से उनके द्वारा सुख-दुःख का भोग हुआ है उन्हीं शरीरों के भेद के आधार पर सिद्ध करना सम्भव है, क्योंकि शरीर विशेष से अवच्छिन्न होकर ही आत्मा सुख एवं दुःख का भोग कर सकती है एवं एक ही शरीर से एकाधिक आत्मा के सुख-दुःख भोग स्वीकार्य नहीं है। अतः मुक्तात्माओं के परस्पर भेद की सिद्धि के लिये उनमें अन्त्यविशेष की कल्पना अनावश्यक है। आत्मा से एकान्त रूप में असंसृष्ट मन की कल्पना अनावश्यक है। आत्मा के अवच्छेदक रूपी शरीर विशेष में एकाधिक मन के संयोग अस्वीकृत है। जन्म भेद से आत्मा के शरीर भेद स्वीकृत होने पर भी उन भिन्न-भिन्न शरीरों में एक ही मन का संयोग स्वीकृत है। अतः मन का भेद आत्माओं के भेद के द्वारा सिद्ध करना सम्भव है। इसलिये मन कोटि के द्रव्यों में भी अन्त्यविशेष की कल्पना अनावश्यक है।

सजातीय मूर्त परमाणुओं की परस्पर भेदसिद्धि के लिये दैशिक एवं कालिक उपाधियाँ पर्याप्त प्रतीत होती हैं। यह सत्य है कि यदि a, b का अवयव है परन्तु c का अवयव नहीं है तो b एवं c अवश्य परस्पर भिन्न हैं। परन्तु प्रत्यक्ष से युगपत् गृहीत परस्पर प्रतिकृति रूपी अत्यन्त सदृश दो तिल के बीजों, धान के बीजों अथवा दो सरसों के बीजों के परस्पर भेद उनके द्वारा अधिकृत देश भेद के द्वारा ही प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है, न कि उनके अवयवभेद के द्वारा। सामान्यतया प्रमाता के शरीर अथवा अन्य किसी विशेष मूर्त द्रव्य की अपेक्षा से लोकव्यवहार में प्रदेशभेद किया जाता है। परिष्कृत एवं सूक्ष्म प्रदेशभेद की व्यवस्था के लिये, किसी भी प्रत्यक्षग्राह्य स्थूल वर्तुलाकार अवयवी के केन्द्र बिन्दु में परस्पर अभिलम्बित तीन व्यासों की लम्बाई को आवश्यकतानुसार बढ़ाने

की कल्पना करके लम्बाई मापने की इकाई का चयन एवं परिमाण मापक सङ्ख्याओं के साथ परिवर्द्धित व्यासरूपी खण्डरेखाओं के एक-एक सम्बन्धस्थापन करना पर्याप्त है। उपर्युक्त प्रकार की देशभेद व्यवस्था सुप्रसिद्ध फ्रांसिसी दार्शनिक एवं गणितज्ञ रेने देकार्ते के द्वारा दी गई थी। यह व्यवस्था विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में उपयोगी सिद्ध हुई है। सजातीय परमाणुओं के परस्पर भेद अथवा परमाणुघटक प्रोटोन, न्यूट्रान एवं इलेक्ट्रान रूपी सजातीय मौलिक मूर्त तत्त्वों की परस्पर भेदसिद्धि के लिये उपर्युक्त प्रदेशभेद व्यवस्था एवं सूक्ष्म खण्डकालभेद के लिये उपलब्ध व्यवस्था पर्याप्त हैं, क्योंकि एक ही क्षण में एकाधिक परमाणु अथवा मौलिक मूर्ततत्त्व एक ही प्रदेश को अधिकृत नहीं कर सकते हैं। काल क्रिया के धर्म के रूप में भासित होता है एवं मूर्तद्रव्य में आश्रित पुनरावृत्तिस्वभावविशिष्ट क्रियाओं के परस्पर भेद एवं फलतः खण्डकालों के परस्पर भेद प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से सिद्ध होते हैं। अतः सजातीय सूक्ष्म मूर्त तत्त्वों के परस्पर भेद के लिये अन्त्यविशेष पदार्थ की आवश्यकता प्रमाणसिद्ध नहीं है।

वस्तुतः जिस अवयव-अवयविधाराविश्रान्ति की तत्त्वमीमांसीय आवश्यकतामूलक युक्ति से परमाणुओं की सिद्धि होती है उसी की सहायता तथा अवयव-अवयविसम्बन्ध के स्वरूप पर आधारित युक्ति के द्वारा सजातीय परमाणुओं का एवं सजातीय मूर्त मौलिक तत्त्वों का नानात्व भी सिद्ध हो जाता है। यदि a एक अवयवी है एवं एक अथवा एकाधिक परन्तु परिमित सङ्ख्यक सोपानों में साक्षाद् अवयव-अवयविसम्बन्धघटित परम्परा सम्बन्ध के द्वारा a से a_n तक पहुँचा जा सकता है, तो a_n को a का पूर्वज तथा a को a_n का वंशज कहा जा सकता है। अन्य शब्दों में, *मूर्तद्रव्य a_n मूर्तद्रव्य a का पूर्वज (a, a_n का वंशज)* है यदि एवं केवल यदि a_n, $a_{n-१}$ का साक्षाद् अवयव है; $a_{n-१}$, $a_{n-२}$ का साक्षाद् अवयव है;...; $a_२$, $a_१$ का साक्षाद् अवयव है; $a_१$, a_0 का साक्षाद् अवयव है एवं a_0=a तथा n एक धनात्मक परिमित पूर्ण सङ्ख्या है। पूर्वजत्व (वंशजत्व) सम्बन्ध की उपर्युक्त परिभाषा से यह सिद्ध होता है कि यदि x, y का पूर्वज है, तो x के सारे पूर्वज y के भी पूर्वज हैं एवं y के सारे वंशज x के भी वंशज हैं। अन्य शब्दों में पूर्वजों के पूर्वज एवं वंशजों के वंशज यथाक्रम पूर्वज एवं वंशज

होते हैं। उदाहरणस्वरूप पट का साक्षाद् अवयव तन्तु है एवं उन तन्तुओं के अंशु पट के पूर्वज होने पर भी साक्षाद् अवयव नहीं है। अवयवी के सभी साक्षाद् अवयव उसके पूर्वज हैं। परन्तु उसके साक्षाद् अवयवों के साक्षाद् अवयव अथवा उनके साक्षाद् अवयव, मूल अवयवी के पूर्वज होने पर भी उसके साक्षाद् अवयव नहीं होते हैं।

जब एक अवयवी a से प्रारम्भ करके अवयव-अवयविधारा से एक पूर्वज a_m प्राप्त होता है जो स्वयं निरवयव है, तब a_m, *a के आदि सोपान का पूर्वज* कहा जा सकता है। यह अवश्य स्वीकार्य है कि प्रत्येक जन्य द्रव्य (अवयवी) के कम से कम दो साक्षाद् अवयव होते हैं, क्योंकि यहाँ पर एकतन्तुक पट की समस्या प्रासङ्गिक नहीं है। अब परम्परागत वैशेषिक तत्वमीमांसा के अनुसार यह स्वीकार कर लिया जाये कि केवल सजातीय द्रव्यारम्भक परमाणुओं से ही जन्य द्रव्यों की उत्पत्ति सम्भव होती है एवं उन परमाणुनिष्ठ द्रव्यत्व-साक्षाद्-व्याप्य जाति उनसे एक या एकाधिक सोपानों में उत्पन्न सभी जन्यद्रव्यों में भी रहती है। अब अवयवी a के रूप में यदि एक पृथिवी त्रसरेणु t को लिया जाये, परम्परागत मत के अनुसार उस त्रसरेणु t के तीन परस्पर भिन्न द्व्यणुक रूपी साक्षाद् अवयव हैं। उनको यथाक्रम '$d_१$', '$d_२$' एवं '$d_३$' द्वारा अभिहित किया जा सकता है। वैशेषिक मतानुसार प्रत्येक द्व्यणुक के साक्षाद् अवयव के रूप में परस्पर भिन्न दो पृथिवी परमाणु होते हैं। अतः परस्पर भिन्न पृथिवी द्व्यणुकों के निरवयव पृथिवी परमाणु रूपी अवयवों को '$p_{११}$', '$p_{१२}$', '$p_{२१}$', '$p_{२२}$', '$p_{३१}$', एवं '$p_{३२}$', द्वारा अभिहित किया जा सकता है। द्व्यणुक की परिभाषा से $p_{i१} \neq p_{i२}$, $i = १, २, ३$। पुनश्च सामान्य रूप में यह सत्य है कि यदि a एवं b जन्य द्रव्य हैं, $a \neq b$; न तो a, b का पूर्वज है न b, a का पूर्वज है, तथा c, a का पूर्वज है एवं d, b का पूर्वज है, तो अवश्य $c \neq d$। अन्य शब्दों में, परस्पर भिन्न तथा पूर्वजत्व (वंशजत्व) सम्बन्ध से असम्बद्ध जन्य द्रव्यों के पूर्वज भी परस्पर भिन्न होते हैं। अतः $p_{११}$, $p_{१२}$, $p_{२१}$, $p_{२२}$, $p_{३१}$, $p_{३२}$, परस्पर भिन्न हैं, क्योंकि मान्यता के अनुसार $d_१$, $d_२$, $d_३$, परस्पर भिन्न हैं तथा उनमें से कोई अपर का पूर्वज (वंशज) नहीं है। अब वैशेषिक तत्त्वमीमांसा के अनुसार $p_{११}$, $p_{१२}$, $p_{२१}$, $p_{२२}$, $p_{३१}$, $p_{३२}$ सभी पृथिवी त्रसरेणु के आदि सोपान के सजातीय पूर्वज हैं। अतः वैशेषिकप्रक्रिया

के अनुसार एक त्रसरेणु से छः परस्पर भिन्न पृथिवी परमाणु प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार सामान्य रूप में n सजातीय पृथिवी त्रसरेणु, जिनके परस्पर भेद प्रत्यक्ष सिद्ध माना जा सकता है, लेने पर कुल ६n परस्पर से भिन्न पृथिवी परमाणु सिद्ध होते हैं। अनुरूप युक्ति से वैशेषिक परम्परा में स्वीकृत जल, तेज एवं वायु परमाणुओं के नानात्व सिद्ध किया जा सकता है। यहाँ पर द्रष्टव्य है कि सजातीय परमाणुओं की नानात्व सिद्धि के लिये दी गयी उपर्युक्त युक्ति अन्त्यविशेष पदार्थ पर आश्रित नहीं है, अपितु केवल अवयव-अवयविसम्बन्ध का स्वरूप, परिमित सङ्ख्यक सोपान में सभी अवयव-अवयविधारा की विश्रान्ति, जन्यद्रव्य एवं उसका समवायिकारण के सजातीयत्व पर आश्रित है। एक जन्यद्रव्य एवं उसका पूर्वज युतसिद्ध नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि जन्यद्रव्य अपने पूर्वजों में साक्षाद् अथवा परम्परया आश्रित रहता है। दो परस्पर से भिन्न द्रव्य a एवं b के युतसिद्ध होने के लिये यह आवश्यक एवं पर्याप्त है कि न तो a, b का पूर्वज हो, न b, a का पूर्वज हो। युतसिद्ध जन्यद्रव्यों के साधारण पूर्वज सम्भव नहीं है, अन्यथा अवयव-अवयविसम्बन्ध का स्वरूप बाधित होता है।

प्रत्येक अवयवी के कम से कम दो परन्तु परिमित सङ्ख्यक साक्षाद् अवयव होते हैं। रसायन एवं भौतिक शास्त्रों की दृष्टि से यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक प्रत्यक्षग्राह्य अवयवी का पूर्वज अथवा आदि सोपान का पूर्वज मूल अवयवी का सजातीय हो। कार्यकारणसिद्धान्तविषयक विचार के सन्दर्भ में सप्तम अध्याय में यह बताया गया है कि यथोपलब्धिन्याय के अनुसार विजातीय मूर्त परमाणुओं से यौगिकाणुओं की उत्पत्ति तथा विजातीय मौलिक मूर्त तत्त्वों से परमाणुओं की उत्पत्ति स्वीकार करना आवश्यक है। साधारण रासायनिक प्रतिक्रियाओं को ध्यान में रखते हुए मेण्डेल की सारिणी में निबद्ध सभी परमाणुओं को प्रत्यक्षग्राह्य जन्य द्रव्यों के आदि सोपान के पूर्वजों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, यद्यपि परमाणुओं की संरचना की दृष्टि से केवल प्रोटोन, न्यूट्रान एवं इलेक्ट्रान आदि परमाणुघटक मौलिक मूर्ततत्त्व ही अन्तिम रूप में प्रत्यक्ष ग्राह्य जन्य द्रव्यों के आदि सोपान के पूर्वज होते हैं। उपर्युक्त युक्ति के द्वारा सजातीय यौगिकाणुओं का नानात्व तथा यौगिकाणु घटक सजातीय परमाणुओं का नानात्व सिद्ध होता है। उदाहरणस्वरूप, एक लवणखण्ड

(NaCl क्रिष्टल) क्षुद्रतर लवणखण्ड रूपी साक्षाद् अवयवों से उत्पन्न होता है एवं क्रमशः उसके सोडियम एवं क्लोरिन आयन रूपी पूर्वज प्राप्त होते हैं। अन्तिम रूप में सोडियम एवं क्लोरिन आयन घटक प्रोटोन, न्यूट्रान एवं इलेक्ट्रान प्राप्त होते हैं।

न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा का अन्त्यविशेष पदार्थ वैदिक द्रव्यवादी मीमांसापरम्परा में स्वीकृत नहीं हुआ है। प्रभाकर के अनुयायियों के अनुसार नित्यद्रव्यवृत्ति पृथक्त्वरूपी गुण उनके परस्पर व्यावृत्ति के लिये पर्याप्त होने से अन्त्यविशेष अनावश्यक है।[४२] भाट्टमीमांसकों के अनुसार भी पृथक्त्व गुण के द्वारा सजातीय परमाणुओं के परस्पर भेद सिद्ध हो जाने से अन्त्यविशेष पदार्थ अनावश्यक है।[४३] रघुनाथशिरोमणि अतिरिक्त अन्त्यविशेष पदार्थ स्वीकार नहीं करते हैं।[४४]

२.५ स्वतोव्यावर्तकधर्म-कल्पना की तत्त्वमीमांसीय विसङ्गतता

नित्य द्रव्यों का स्वतो-व्यावर्तकत्वविषयक पक्ष स्वयं प्रशस्तपाद के द्वारा उत्थापित किया गया था, यद्यपि यह पक्ष उनको स्वीकार्य नहीं है। आपाततः रघुनाथ नित्य द्रव्यों को स्वतो-व्यावर्तक मानते हैं। परन्तु जिस प्रकार ज्ञान स्वप्रकाशवाद प्रमेयस्वातन्त्र्यवाद का प्रतिकूल सिद्धान्त होने से न्यायवैशेषिक दार्शनिकों को अस्वीकार्य है, उसी प्रकार स्वतो-व्यावृत्त पदार्थ की कल्पना भी अस्वीकार्य होनी चाहिये, क्योंकि यह कल्पना वस्तुतः धर्मभेद के बिना धर्मिभेद सम्भव नहीं है– इस मूलभूत तत्त्वमीमांसीय मान्यता के साथ विसङ्गत है। सूर्य एवं प्रदीपादि प्रकाश का स्रोत होने से चाक्षुषप्रत्यक्ष में अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखते हैं। परन्तु अन्त्यविशेष पदार्थ

---

४२. ''पृथक्त्वं तु गुणो नित्यद्रव्येषु परमाणुषु।
भवेद् व्यावर्तको धर्मः कार्यद्रव्येषु नेष्यते।''
पदार्थदीपिका, मानमेयोदय के पृ. २२९ पर उद्धृत है।

४३. ''समानजातीयाः समानगुणकार्याः परमाणवो मुक्तात्मानश्च, परस्परव्यावर्तक-धर्मसमवायिनः, द्रव्यत्वाद् घटवदिति, तदयुक्तम्, पृथक्त्वेन सिद्धसाध्यत्वात्।''
मानमेयोदय, पृ. २७१

४४. ''विशेषोऽपि च न पदार्थान्तरं मानाभावात्। विनापि व्यावर्तकं धर्मं परेषां विशेषाणामिव नित्यानां द्रव्याणामपि स्वत एव व्यावर्तकत्वात्।''
पदार्थतत्त्वनिरूपण, पृ. १२

को स्वतो-व्यावृत्त कहने का अर्थ केवल यह है कि नाना सजातीय परमाणु आदि स्वीकार करना आवश्यक होने पर भी धर्मभेद के आधार पर नानात्व की सिद्धि सम्भव नहीं है। वस्तुतः अन्त्यविशेष पदार्थ एवं स्वतो-व्यावृत्त पदार्थ स्वीकार न करने पर भी सजातीय परमाणुओं के नानात्व की सिद्धि सम्भव है।

योगज प्रत्यक्ष विषय के सन्दर्भ में इतना कहना पर्याप्त है कि योगज प्रत्यक्ष के आधार पर तत्त्वमीमांसीय निष्कर्ष पर पहुँचना पद्धतिमूलक दृष्टि से अस्वीकार्य है। रघुनाथ परिहास के साथ दर्शन शास्त्र में योगज प्रत्यक्ष की प्रमाणमीमांसीय उपादेयता का खण्डन करते हैं।[४५]

***

४५. "योगिनोऽतिरिक्तं विशेषमीक्षन्ते। एवं तर्हि त एव सशपथं पृच्छ्यन्तां किमेते अतिरिक्तं विशेषमीक्षन्ते न वेति।" *वही*, पृ.१२

दशम अध्याय

प्रकरणसङ्ग्रह

न्यायवैशेषिक परम्परा की आधारभूत मान्यताओं के साथ सङ्गति की रक्षा करते हुए अनुभव एवं युक्तियों के आधार पर कुछ परम्परागत सिद्धान्तों के खण्डन के द्वारा भासर्वज्ञ एवं रघुनाथ शिरोमणि ने विकास का मार्ग प्रशस्त किया था। उदयनाचार्य एवं श्रीवल्लभाचार्य विभिन्न प्रकरणों में न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ द्वारा सिद्धान्तित पक्ष का खण्डन करते हैं।[1] रघुनाथ शिरोमणि के परवर्तीकालीन न्यायवैशेषिक ग्रन्थों में सामान्यतया रघुनाथ के मत, 'दीधितिकारमत', 'नव्य मत' अथवा 'एकदेशी मत' के रूप में खण्डन के लिये उल्लिखित किये गये हैं।[2] न्यायवैशेषिक विचारधारा में परम्परावादियों का प्रभाव निर्णायक रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पूर्व अध्यायों में स्थल-स्थल पर भासर्वज्ञ एवं रघुनाथ शिरोमणि के मतों की पर्यालोचना की गयी

---

१. देखिये (क) *किरणावली*, पृ. ३०, १०४, १२४, १५१ एवं
(ख) *न्यायलीलावती*, पृ. ३५७-३५८, ४०५-४०६

२. देखिये (क) *न्यायसिद्धान्तमञ्जरी*, पृ. २८ एवं
(ख) महादेवभट्ट एवं दिनकरभट्टकृत *दिनकरी*, पृ. ६४, ६७, ६९, १०३, १४५, ४६५, ४७४

है। ग्रन्थ के इस अन्तिम अध्याय में भासर्वज्ञ एवं रघुनाथ शिरोमणि द्वारा उठाये गई पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व आदि कुछ विशेष तत्त्वमीमांसीय समस्याओं पर तथा रघुनाथ शिरोमणि के वैशिष्ट्य, विषयता, विषयिता, आधारता एवं आधेयता आदि के स्वतन्त्र पदार्थत्वविषयक मत पर विचार किया गया है।

१. वैशिष्ट्य का पदार्थान्तरत्वविषयक विचार

१.१ बाह्येन्द्रियों की प्राप्यकारिता

प्रत्यक्ष प्रमा की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण की भूमिका निभाता है। बाह्येन्द्रियाँ प्राप्यकारी होती हैं। प्रत्यक्ष प्रमा की उत्पत्ति के लिये इन्द्रिय का अपने विषय के साथ साक्षाद् अथवा परम्परा सम्बन्ध से सम्बद्ध रहना आवश्यक है।[३] उदाहरणस्वरूप रसनेन्द्रिय के साथ रस के आश्रयभूत द्रव्य का संयोग न रहने पर रसानुभव नहीं होता है। घ्राणेन्द्रिय के साथ गन्धाश्रय रूपी तत्त्वों का संयोग न रहने पर गन्धानुभव नहीं होता है। सुगन्ध के आश्रय रूपी फूलों के सूक्ष्मावयवय सामान्यतया वायु के द्वारा प्रवाहित होकर ही घ्राणेन्द्रिय से संयुक्त होते हैं। उसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय के साथ स्पर्शाश्रिय द्रव्य का संयोग होने पर ही स्पर्शानुभव सम्भव होता है। स्पर्शेन्द्रिय के साथ साक्षाद् रूप में असंयुक्त समीपस्थ उत्तप्त द्रव्य से निःसृत ताप का स्पर्शेन्द्रिय से अनुभव भी उत्तप्त वायु आदि माध्यम के संयोग से ही सम्भव होता है, क्योंकि स्पर्शेन्द्रिय एवं उत्तप्त द्रव्य के मध्य विशेष तापशोषक द्रव्य व्यवधान के रूप में रहने पर तापानुभव नहीं होता है। श्रवणेन्द्रिय भी प्राप्यकारी होती है, क्योंकि वीणा, घण्टा आदि से शब्द उत्पन्न होता है एवं क्रमशः कदम्ब-मुकुल न्याय से वायु के माध्यम से सञ्चरित होकर श्रवणेन्द्रिय प्रदेश में इन्द्रिय के सूक्ष्मपट्ट रूपी अवयव से अभिहित होने पर ही शब्दानुभव होता है। शब्द की उत्पत्ति स्थल एवं श्रवणेन्द्रिय के मध्य शब्द प्रतिघातक द्रव्य व्यवधान के रूप में रहने पर शब्दानुभव नहीं होता है। चक्षुरिन्द्रिय भी अन्य बाह्येन्द्रियों की तरह प्राप्यकारी होती है। चक्षुरिन्द्रिय को प्राप्यकारी

---

३. प्रत्यक्ष का वर्तमानविषयकत्व एवं इन्द्रियों का प्राप्यकारित्वविषयक सिद्धान्त न्यायवैशेषिकज्ञानमीमांसा के आधारभूत मान्यतायें होने पर भी इन्द्रियस्वरूपविषयक विचार एवं इन्द्रियार्थसन्निकर्ष रूपी व्यापार का परम्परागत विश्लेषण अनेक स्थल पर *यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय* के प्रतिकूल होने से अस्वीकार्य है।

नहीं मानने पर कुड्यादि से व्यवहित चक्षुर्ग्राह्य घटादि पदार्थों का समीप से भी अप्रत्यक्ष एवं व्यवधान के अभाव में दूरस्थ चन्द्रमा एवं ग्रहादियों के चाक्षुषप्रत्यक्ष की उपपत्ति नहीं हो पाती है। द्रव्य के चाक्षुषप्रत्यक्ष के लिये प्रकाशरश्मियों का साक्षात् स्रोत रूपी सूर्य, तारका, प्रदीपादि से अथवा अप्रकाशस्वभाव घट, पट, ग्रह, चन्द्रमादि से प्रतिफलित होकर नयनगोलक में प्रवेश करना आवश्यक है। नयनरश्मिविषयक परम्परागत न्यायवैशेषिक मत, प्राणिशास्त्र एवं मनोविज्ञान के इन्द्रियस्वरूपविषयक तथा चाक्षुषप्रत्यक्षविषयक एवं भौतिक शास्त्र के प्रकाशविषयक सिद्धान्तों के प्रतिकूल होने से अस्वीकार्य है। वस्तुतः इन्द्रियों की संरचना एवं इन्द्रियानुभव की उत्पत्ति प्रक्रिया के विषय में *यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय* रूपी पद्धतिमूलक आधारभूत मान्यता के अनुसार विज्ञान की सम्बन्धित शाखाओं पर आश्रित रहना आवश्यक है।[४] इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व रूपी धर्म इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की अपेक्षा रखता है। यह सन्निकर्ष इन्द्रिय के साथ उसके अर्थ का कोई साक्षात्सम्बन्धस्वरूप अथवा एकाधिकसम्बन्धघटित परम्परासम्बन्धस्वरूप होता है।

१.२ इन्द्रियार्थसन्निकर्षों के प्रकार

न्यायवार्त्तिककार उद्द्योतकर छः प्रकार के सन्निकर्ष स्वीकार करते हैं– संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय एवं विशेषण-विशेष्यभाव।[५] वृक्ष, लता एवं पुष्पादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष चक्षुरिन्द्रिय के साथ वृक्ष, लता एवं पुष्पादि के संयोग से सम्भव होता है। वस्तुतः सूर्य, तारका एवं प्रदीपादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष, चक्षुरिन्द्रिय का उनके साथ साक्षात् संयोग से नहीं, अपितु उनसे निःसृत रश्मियों के चक्षु पटल पर अभिघात रूपी संयोग विशेष से सम्भव होता है। वृक्ष, लता तथा पुष्पादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष उनके द्वारा प्रतिफलित रश्मियों के चक्षुपटल पर अभिघात से सम्भव होता है। एक रक्तपुष्पनिष्ठ रक्तरूप तथा उस रक्तरूपनिष्ठ रक्तत्व

---

४. (क) जी.एस. लेन्ड्सबर्ग सम्पादित *टेक्स्ट बुक ऑफ एलिमेन्टरी फिजिक्स*, मीर पब्लिशर्स, मॉस्को, १९७२, भाग ३, पृ. ३४५-३४७

(ख) राबर्ट एस. वुडवर्थ एवं हेरोल्ड स्लोस्बर्ग, *एक्सपेरिमेन्टल साइकोलोजी*, ऑक्सफोर्ड, दिल्ली, १९७६, अध्याय १०-१७, पृ. २६७-५२७

५. "सन्निकर्षः पुनः षोढा भिद्यते। संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः समवायः समवेतसमवायो विशेषणविशेष्यभावश्चेति" *न्यायवार्त्तिक, न्यायसूत्र* १.१.४ पर, पृ. ३२

जाति का चाक्षुष प्रत्यक्ष यथाक्रम संयुक्त-समवाय एवं संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष द्वारा सम्भव होता है, क्योंकि पुष्प का रक्तरूप चक्षुसंयुक्त पुष्प में समवेत है एवं रक्तत्व जाति चक्षुसंयुक्त पुष्प में समवेत जो रक्तरूप, उसमें समवेत है। उसी प्रकार वृक्ष से गिरते हुये एक पुष्प में पतन क्रिया का चाक्षुष प्रत्यक्ष, संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष द्वारा सम्भव होता है एवं उस पतन व्यापारनिष्ठ पतनत्व धर्म का चाक्षुषप्रत्यक्ष संयुक्त-समवेत-समवाय द्वारा होता है।

परम्परागत न्यायवैशेषिक मतानुसार शब्द आकाश का गुण होने से एवं श्रवणेन्द्रिय कर्णविवरावच्छिन्न आकाशप्रदेशस्वरूप होने से शब्द का प्रत्यक्ष समवाय सम्बन्ध से होता है एवं शब्दनिष्ठ तारत्व, मन्दत्वादि धर्मों का प्रत्यक्ष समवेत-समवाय सन्निकर्ष द्वारा सम्भव होता है। षष्ठ अध्याय के प्रथम परिच्छेद में यह सिद्ध किया गया है कि परम्परासम्मत आकाश रूपी द्रव्य पदार्थव्यवस्था के लिये अनावश्यक है। शब्द वस्तुतः श्रोत्र संयुक्त वायु आदि माध्यम से समवेत तरङ्गाकार का स्पन्दविशेष है। श्रवणेन्द्रिय के स्वरूपविषयक शरीरशास्त्रीय सिद्धान्त तथा शब्द के स्वरूप, उत्पत्ति एवं सञ्चरणविषयक वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर यह स्वीकार करना आवश्यक है कि शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष भी संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष द्वारा होता है। अतः समवाय एवं समवेत-समवाय रूपी सन्निकर्ष अनावश्यक हैं।

१.३ विशेषणविशेष्यभाव(वैशिष्ट्य) रूपी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष

न्यायमत में समवाय एवं अभाव प्रत्यक्षग्राह्य हैं, यद्यपि वैशेषिक मतानुसार समवाय अनुमान प्रमाण द्वारा ही सिद्ध होता है।[६] भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष संयुक्त-विशेषणता सन्निकर्ष से सम्भव होता है, क्योंकि घटाभाव चक्षुसंयुक्त भूतल के विशेषण के रूप में भासित होता है। रक्त पुष्प में श्वेतरूपाभाव की प्रतीति तथा प्राणिशरीर में गत्यभाव की प्रतीति भी संयुक्त-विशेषणता सन्निकर्ष द्वारा सम्भव होती है। पुष्प समवेत रक्तरूप

---

६. (क) "प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत्॥ ६१-(ख)
विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहो भवेत्।" ६२-(क)
कारिकावली-मुक्तावली, पृ. १८९

(ख) "अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे चेन्द्रियसम्बद्धविशेषणता हेतुः। वैशेषिकमते तु समवायो न प्रत्यक्षः।" *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*, पृ. १९२-१९३

में पीतरूपभेद की प्रतीति संयुक्त-समवेत-विशेषणता सन्निकर्ष द्वारा होती है। 'यह फूल पीला नहीं है' एवं 'इस फूल का रङ्ग पीले रङ्ग से भिन्न है'– इन वाक्यद्वय द्वारा अभिव्यक्त सविकल्पकज्ञान समानविषयक नहीं हैं। परस्परागत मत में शब्दाभाव की प्रतीति इन्द्रियविशेषणता द्वारा एवं क-वर्ण में ख-वर्णत्व के अभाव की प्रतीति इन्द्रिय-समवेत-विशेषणता द्वारा होती है। वस्तुतः उपर्युक्त अभाव प्रत्यक्ष में यथाक्रम संयुक्त-विशेषणता एवं संयुक्त-समवेत-विशेषणता स्वीकार्य हैं। त्वगिन्द्रिय द्वारा वायु का प्रत्यक्ष होता है। गतियुक्त अवस्था में वायु का त्वाच-प्रत्यक्ष स्पष्टतर होता है। उदाहरणस्वरूप, श्वास प्रश्वास रूपी शारीरिक प्रक्रियाजन्य वायु के त्वाच-प्रत्यक्ष, द्रुतगति में प्रवाहमान प्रतिकूल वायु के स्पर्शानुभव एवं यन्त्रोद्गत वायु स्रोत के शरीर पर अभिघात द्वारा उत्पन्न स्पर्शानुभव सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है।[७]

---

७. वस्तुतः वायु नाइट्रोजन ऑक्सीजन एवं कार्बनडाइऑक्साइड आदि अनेक प्रकार के मौलिक एवं यौगिक वाष्पीयरासायनिक तत्त्वों का सम्मिश्रण है। (देखिये, *जनरल केमेस्ट्री*, भाग २, पृ. ४२-४३) वायु का प्रत्यक्षविषयक मत वैदिक द्रव्यवादी परम्परा में विवाद का विषय रहा है। वैशेषिक मतानुसार वायु का अस्तित्व अनुमान से ही सिद्ध होता है, न कि प्रत्यक्ष से, यद्यपि व्योमवतीकार वायु का प्रत्यक्षत्व स्वीकार करते हैं (देखिये, *व्योमवती*, पृ. २७२-२७४)। किरणावलीकार के मत में प्रत्यक्षग्राह्य द्रव्यों के सङ्ख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व एवं कर्म भी प्रत्यक्षग्राह्य होते हैं। त्वगिन्द्रिय द्वारा वायु के सङ्ख्या परिमाणादि ग्रहण न होने से वायु स्पार्शन प्रत्यक्ष का विषय नहीं है– "तस्माद् द्रव्योपलम्भसहचरोपलम्भयोग्यताकानां सङ्ख्यादीनामनुपलम्भादवगच्छामो न स्पार्शनः पवन इति" (*किरणावली*, पृ. ५७)। वस्तुतः सङ्ख्या, परिमाण, संयोग एवं विभागादि का प्रत्यक्ष, सङ्ख्येय एवं परिमेय पदार्थों के भेदाभेदप्रत्यक्ष की अपेक्षा रखता है। तरल एवं वाष्पीय आकार में मूर्त द्रव्यों की भेदाभेदप्रतीति केवल आधार की अपेक्षा से ही सम्भव होती है। गगन में कितने तारे हैं? यह प्रश्न सार्थक होने पर भी भारतमहासागर में कितने जलपिण्ड हैं? यह प्रश्न सार्थक नहीं है। पुनश्च वायुनिष्ठ गति का त्वाच-प्रत्यक्ष सर्वलोकप्रसिद्ध है। अतः उदयनाचार्य का वायुस्पार्शनप्रत्यक्षखण्डन युक्तिसङ्गत नहीं है। भाट्टमीमांसक वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं (देखिये, *मानमेयोदय*, पृ. १४९-१५२)। रघुनाथ शिरोमणि के मत में

१.४ श्रीवल्लभाचार्य एवं गङ्गेशोपाध्याय के द्वारा वैशिष्ट्य के स्वतन्त्रपदार्थत्व-विषयक मत का खण्डन

विशेषण-विशेष्य भाव रूपी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष विशेषणता एवं वैशिष्ट्य नाम से भी जाना जाता है। समवाय को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करने के साथ-साथ वैशिष्ट्य की स्वतन्त्रपदार्थत्वविषयक समस्या भी उपस्थित होती है। न्यायवैशेषिक दार्शनिकों के सामने यह समस्या श्रीवल्लभाचार्य के पूर्ववर्ती काल से ही रही है, क्योंकि *न्यायलीलावती* में वैशिष्ट्य के स्वतन्त्र पदार्थत्वविषयक मत को पूर्वपक्ष के रूप में लेकर उसका खण्डन किया गया है।[८] इस पूर्वपक्ष के खण्डन के रूप में यह कहा गया है कि वैशिष्ट्य स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि घटाभाव, पटाभाव आदि अभाव पदार्थ तथा उनके भूतलादि अधिकरणों के मध्य अभाव एवं अधिकरण से भिन्न अन्य कोई सम्बन्धतत्त्व प्रतीति में भासित नहीं होता है। 'यहाँ भूतल पर घड़ा नहीं है' यह वाक्य घटाभाव एवं भूतल के मध्य वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध विशेष की अपेक्षा नहीं रखता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि 'यहाँ भूतल पर घट नहीं है' अर्थात् 'यहाँ भूतल पर घटाभाव है' एवं 'प्राङ्गण पर घटाभाव नहीं है' अर्थात् 'प्राङ्गण पर घट है'– इन वाक्यों का प्रयोग नियमनियन्त्रित नहीं है। इस भूतल एवं घटाभाव के मध्य कोई वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध न होने पर भी इस भूतल के साथ संयोगसम्बन्ध से सम्बद्ध आरोपित घट के द्वारा घटाभाव निरूपित होता है एवं इस वाक्य में अधिकरण वाचक 'भूतल' शब्द सप्तमी विभक्ति में प्रयुक्त होता है।

सामान्य रूप में जिस पदार्थ के साथ सम्बद्ध आरोपित प्रतियोगी के द्वारा अभाव निरूपित होता है वह पदार्थवाचक शब्द सप्तमी विभक्ति में प्रयुक्त होता है।[९] 'दण्डी पुरुषः' वाक्य में पुरुष में दण्ड के आश्रयत्व

वायु स्पार्शन प्रत्यक्ष का विषय है। उनके मत में द्रव्य के स्पार्शन प्रत्यक्ष के लिये केवल स्पर्शवत्ता की कारणता स्वीकार्य है न कि रूपवत्ता की भी (देखिये, *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ. २०-२२)।

८. देखिये, *न्यायलीलावती*, पृ. ६८-७२

९. "तथा च यत्सम्बद्धतयारोपितेन प्रतियोगिनाऽभावो निरूप्यते तत्र सप्तमी प्रयुज्यत इति तात्पर्यम्।" *न्यायलीलावतीप्रकाश*, पृ. ६९

की प्रतीति होती है। परन्तु 'दण्डः, पुरुषः, संयोगः' इस समूहालम्बन ज्ञान में पुरुष में दण्डाश्रयत्व की प्रतीति नहीं होती है। न्यायलीलावतीकार वैशिष्ट्य की ज्ञानस्वरूपता स्वीकार करते हैं।[१०] वैशिष्ट्य के ज्ञानस्वरूपत्व स्वीकार करने पर निम्नोक्त आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। यथार्थविशिष्टज्ञान विशेष्य एवं विशेषण के बीच विशेष्य एवं विशेषण से भिन्न सम्बन्ध के बिना सम्भव नहीं होता है। सम्बन्धियों से भिन्न वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध के बिना भी विशिष्टज्ञानोत्पत्ति की सम्भावना स्वीकार करने पर समवाय की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अतः अभाव एवं उसके अधिकरण के मध्य संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध स्वीकार्य न होने से वैशिष्ट्य रूपी सम्बन्ध को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है।[११] पुनश्च यदि अभाव का अधिकरण के साथ विशेषणता सम्बन्ध ज्ञानस्वरूप होता, तो अभाव का बहिरिन्द्रिय प्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं होता क्योंकि ज्ञान बहिरिन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है। वस्तुतः भूतल पर घटाभाव भिन्न-भिन्न प्रमाताओं के द्वारा ग्रहणयोग्य भूतल के प्रमातृनिष्ठज्ञाननिरपेक्ष धर्म के रूप में ही भासित होता है। वैशिष्ट्य को स्वरूपसम्बन्ध के रूप में स्वीकार करने पर भूतल पर घटाभाव एवं वायु में रूपाभाव आदि स्थलों में भिन्न-भिन्न अभाव

---

१०. (क) "तद्धि तस्य विशेषणं विशेष्यं च तत्सम्बन्धफलार्पकम्।
ज्ञानरूपं स्वसामर्थ्याद् वैशिष्ट्यमिति कीर्तितम्॥" *न्यायलीलावती*, पृ.७०-७१

(ख) "यद्वस्तुतो विशेषणं यच्च विशेष्यं तयोर्यत् सम्बन्धफलं विशिष्टव्यपदेशादि तदर्पकं तज्जनकं ज्ञानरूपमेव ज्ञानविशेष एवेत्यर्थः।" *न्यायलीलावतीकण्ठाभरण*, पृ. ७०-७१

(ग) उदयनाचार्य सम्बन्धान्तर के बिना विशिष्टप्रत्यय उत्पन्न करने की योग्यता को ही समवाय एवं अभाव के अपने-अपने अधिकरणों के साथ स्वरूपसम्बन्धरूपी विशेषणता के रूप में स्वीकार करते हैं– "विशेषणभावेन समवायाभावयोर्ग्रहणं, तथा ग्रहणमेव च विशेषणत्वमिति। तस्मात् सम्बन्धान्तरमन्तरेण तदुपश्लिष्टस्वभावत्वमेव हि तयोः। सैव च विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यता विशेषणतेति उच्यते।" *न्यायकुसुमाञ्जलि*, २.१, पृ. १३३-१३४, तिरुपति संस्करण, पृ. ८९

११. (क) *तत्त्वचिन्तामणि* प्रत्यक्ष खण्ड, *समवायवाद*, पृ. ६५३

(ख) *न्यायलीलावतीप्रकाश*, पृ. ७०

एवं उनके अधिकरणों के मध्य ज्ञान में भासित सम्बन्ध की अनुगतता अर्थात् समानरूपता की उपपत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि सम्बन्धियुगलों के भेद से स्वरूपसम्बन्ध स्वभाव से ही भिन्न-भिन्न होता है।

वैशिष्ट्य की पदार्थान्तरत्वविषयक समस्या तत्त्वचिन्तामणिकार के सामने भी थी।[१२] 'भूतलं घटाभाववद्' इस विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान में भूतल विशेष्य के रूप में एवं घटाभाव विशेषण के रूप में भासित होते हैं। जिस प्रकार 'दण्डी पुरुषः' एवं 'नीलो घटः' इत्यादि सविकल्पक प्रत्यक्ष के निमित्तकारण के रूप में यथाक्रम संयोग एवं समवाय रूपी सम्बन्धियों से भिन्न सम्बन्ध स्वीकार करना आवश्यक है उसी प्रकार अधिकरणरूपी विशेष्य एवं अभावरूपी विशेषणविषयक प्रत्यक्ष के स्थल में भी अधिकरण एवं अभाव से भिन्न सम्बन्धात्मक विषय स्वीकार करना आवश्यक है। परन्तु यह सम्बन्ध न तो संयोग और न समवाय हो सकता है, क्योंकि संयोगसम्बन्ध केवल दो द्रव्यों के बीच रहता है एवं अभाव समवाय सम्बन्ध का प्रतियोगी नहीं होता है अर्थात् अभाव कभी समवेत होकर कहीं नहीं रहता है। अतः वैशिष्ट्य रूपी एक स्वतन्त्र सम्बन्धात्मक पदार्थ स्वीकार करना आवश्यक है।

इस पूर्वपक्ष के खण्डन के लिये गङ्गेशोपाध्याय वैशिष्ट्य के एकत्व एवं नानात्वविषयक दो विकल्प प्रस्तुत करते हुए दोनों विकल्पों को अनुपपत्तिग्रस्त सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनके मत में यदि पूर्वपक्षी के अभिप्रेत वैशिष्ट्य सम्बन्ध को समवाय के समान एक माना जाये, तो जब एक अधिकरण में पट है परन्तु कोई घट नहीं है, तब वहाँ पर उस अधिकरण को पटाभाव-विशिष्ट भी मानना पड़ जायेगा, क्योंकि वैशिष्ट्य एक होने से पटाभाववैशिष्ट्य, घटाभाववैशिष्ट्य से भिन्न नहीं है एवं यह माना गया है कि अधिकरण घटाभावविशिष्ट है। परन्तु जो अधिकरण पटविशिष्ट है वह पुनः पटाभावविशिष्ट नहीं हो सकता है। अन्य शब्दों में गङ्गेश के मत में समवाय के जैसा एक ही वैशिष्ट्यसम्बन्ध स्वीकार करने पर सभी अत्यन्ताभावों को परस्पर समनियत धर्म मानना पड़ जायेगा, अर्थात् यह

---

१२. "ननु एवमभावविशिष्टप्रत्यक्षेऽपि विशिष्टबुद्धित्वात् संयोगसमवायबाधेऽनुगतं वैशिष्ट्यं सम्बन्धो विषयः निमित्तञ्च भवेदिति चेत्" *तत्त्वचिन्तामणि*, प्रत्यक्ष खण्ड, *समवायवाद*, पृ. ६५३

स्वीकार करना पड़ जायेगा कि जहाँ एक अत्यन्ताभाव रहेगा वहाँ अन्य सभी अत्यन्ताभाव भी रहेंगे चाहे वहाँ पर उनके प्रतियोगी उपस्थित रहें।[१३] यदि अभावविशिष्ट बुद्धि के सांसर्गिक विषय रूपी निमित्तकारण के रूप में अधिकरण एवं अभाव रूपी सम्बन्धियुगलों के भेद से भिन्न-भिन्न वैशिष्ट्य सम्बन्ध स्वीकार किये जावें, तो अनुगत कार्य की उत्पत्ति के लिये अनुगत कारण की आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती है। तब तो वैशिष्ट्य के स्थान पर अधिकरण एवं अभाव भेद से तत् तत् स्वरूप विशेषणता पहले से अङ्गीकृत होने से स्वीकार्य होनी चाहिये।[१४]

विश्वनाथ पञ्चानन वैशिष्ट्य के खण्डन के लिये उसके नित्यत्व और अनित्यत्व रूपी दो विकल्प प्रस्तुत करते हुए उन दोनों की अनुपपत्तिग्रस्तता सिद्ध करते हैं। घट अनित्य होने पर भी घट का अत्यन्ताभाव घटत्व की तरह नित्य है। पुनश्च, घटाभाव अनेक नहीं है अपितु एक है, क्योंकि वह संयोगसम्बन्ध एवं घटत्व धर्म से अवच्छिन्न घटप्रतियोगिताक अभाव है एवं अभाव का स्वरूप, प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म एवं प्रतियोगिता के अवच्छेदक सम्बन्ध रूपी तत्त्व युगल से निरूपित होता है। चूँकि घटाभाव एक है उसे उत्पन्न विनाशशील मानने पर एक अधिकरण में घटाभाव के विनाश से जगत् के सभी अधिकरणों में घटाभावविनाश का प्रसङ्ग उठता है। अब यदि घटाभाव एवं उसके अधिकरण भूतल के बीच वैशिष्ट्य सम्बन्ध को नित्य माना जाये, तो जहाँ एक समय भूतल पर घट का अभाव था वहाँ बाद में एक या एकाधिक घट लाने पर भी भूतल की घटवत्ता की प्रतीति सम्भव नहीं हो पायेगी, क्योंकि घटाभाव तथा वैशिष्ट्य सम्बन्ध नित्य होने से भूतल की घटाभाववत्ता

---

१३. (क) "तस्य हि समवायवदेकत्वे घटाभाववति पटवति पटाभावधीप्रसङ्गः। घटाभाववैशिष्ट्यमेव हि पटाभाववैशिष्ट्यम्।" *वही,* पृ. ६५३

(ख) देखिये *न्यायलीलावतीप्रकाश,* पृ. ७१ जहाँ पर ग्रन्थकार अपने पिताजी के वाक्यों को प्रायः अक्षरशः प्रस्तुत करते हैं।

१४. तत्त्वचिन्तामणिकार के आशय को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए वर्धमान उपाध्याय लिखते हैं– "वैशिष्ट्यस्य प्रत्यभावव्यक्ति नानात्वे विशिष्टबुद्धौ नैकः सम्बन्धो निमित्तमिति तत्तदभावविशिष्टज्ञाने तत्तत्स्वरूपा विशेषणतैवाननुगता निमित्तमस्तु किमनन्तवैशिष्ट्येनेति।" *न्यायलीलावतीप्रकाश*, पृ. ७२, इस सन्दर्भ में प्रत्यक्ष खण्ड *चिन्तामणि,* पृ. ६५४ भी द्रष्टव्य है।

पूर्ववत् रहेगी। यदि कहा जाये कि वैशिष्ट्य के स्थान पर स्वरूप सम्बन्ध स्वीकार करने पर भी उपर्युक्त अनुपपत्ति रहेगी, तो इसका समाधान यह है– तत् तत् अभाव का तत् तत् अभाववत्ताबुद्धिकालीन तत् तत् अधिकरण यहाँ पर तत् तत् अभाव का स्वरूप सम्बन्ध है, न कि केवल अधिकरण का शुद्धस्वरूपमात्र। अन्य शब्दों में, जो अधिकरण जिस खण्डकाल में जिस अभाव से विशिष्ट होकर ज्ञान में भासित होता है उस खण्डकाल से अवच्छिन्न वह अधिकरण ही उस अभाव का स्वरूप सम्बन्ध होता है, न कि खण्डकाल से अनवच्छिन्न अधिकरण। वैशिष्ट्य को अनित्य मानने पर अधिकरण एवं अभाव के तत् तत् स्वरूप से अतिरिक्त अनन्त वैशिष्ट्य सम्बन्ध स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यह मान्यता स्पष्टतया गौरव दोषग्रस्त है।[१५]

१.५ वैशिष्ट्य के पदार्थान्तरत्वविषयक रघुनाथ शिरोमणि मत की समीक्षा

रघुनाथ शिरोमणि वैशिष्ट्य को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं।[१६] जिस प्रकार रूपरसादि की प्रतीति के निमित्त कारण के रूप में समवाय सम्बन्ध स्वीकार्य होता है उसी प्रकार अभाववत्ताबुद्धि के निमित्त कारण के रूप में स्वतन्त्र वैशिष्ट्य स्वीकार करना आवश्यक है। यदि स्वरूप सम्बन्ध के द्वारा अभाववत्ता प्रतीति की उपपत्ति सम्भव है, तो अनुरूप युक्ति से समवाय की सिद्धि भी सम्भव नहीं हो पायेगी। यह भी कहना युक्तिसङ्गत नहीं है कि वैशिष्ट्य रूपी स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकार करने पर भी घटाभाव-वैशिष्ट्य के साथ भूतल रूपी अधिकरण का स्वरूप सम्बन्ध स्वीकार करना अनवस्था परिहार के लिये आवश्यक है। अतः पहले से ही वैशिष्ट्य के स्थान पर स्वरूप सम्बन्ध स्वीकार करने से लाघव होता है। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि अनुरूप लाघवमूलक युक्ति द्वारा समवाय के स्थान पर स्वरूपसम्बन्ध भी स्वीकार किया जा सकता है। 'नील घट' के स्थल में भी अनवस्था के परिहार

---

१५. देखिये, *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*, पृ. ६७-६८, *दिनकरी*, पृ.६८

१६. "वैशिष्ट्यमपि पदार्थान्तरम्। रूपादिप्रतीतिनिमित्ततया समवायस्येवाभाववत्ताप्रतीति-निमित्ततया तस्यापि सिद्धेः। स्वरूपसम्बन्धविशेष एव तथाप्रतीतिनिमित्तमिति चेन्न समवायोच्छेदप्रसङ्गात्। तत्रापि स्वरूपसम्बन्धविशेषस्य निमित्ततायाः सुवचत्वात्।" *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ. ४६

के लिये नीलरूपसमवाय एवं घट के बीच स्वरूपसम्बन्ध स्वीकार करना आवश्यक है। अतः पहले से ही समवाय के स्थान पर घट एवं नीलरूप के बीच स्वरूपसम्बन्ध स्वीकार करने पर लाघव होता है एवं फलतः समवाय की आवश्यकता नहीं रह जाती है।[१७] रघुनाथ समवाय एवं वैशिष्ट्य इन दोनों में से समवाय को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हुए अभाव के अधिकरण के साथ सम्बन्ध को स्वरूपसम्बन्ध मानने के पक्षधर नहीं है, क्योंकि उनके मत में यहाँ पर कोई विनिगमक नहीं है।

वस्तुतः, न्यायवैशेषिक दर्शन में समवायी, असमवायी एवं निमित्त कारण भेद की आवश्यकता एवं भाव कार्यों की कार्यता के अवच्छेदक सम्बन्ध के रूप में समवाय की सिद्धि ही विनिगमक है।[१८] निर्हेतुक विनाश सम्भव नहीं है। जन्यद्रव्य तथा उसमें आश्रित गुण एवं कर्म के विनाश की कारणकार्यव्यवस्था, समवायी, असमवायी एवं निमित्त कारण के भेद के बिना सम्भव नहीं होती है। समवाय को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार न करने पर न्यायवैशेषिक दर्शन के कारणता सिद्धान्त के साथ-साथ उसकी समग्र तत्त्वमीमांसा भी मूलभूत रूप में प्रभावित होती है।

२. विषयता, विषयिता, आधारता एवं आधेयता आदि का स्वतन्त्र-पदार्थत्वविषयक विचार

२.१ परम्परानुसार स्वरूपसम्बन्ध के रूप में विषयता, विषयितादि पदार्थ

न्यायवैशेषिक परम्परा में ज्ञान का सविषयत्व आधारभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत होने पर भी, नव्यन्याय काल से विषयता की तत्त्वमीमांसीय कोटि के विषय में मतभेद परिलक्षित होता है। परम्परावादी विचारक विषयता को स्वरूप सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करते हैं। धर्मधर्मिभेद पर आधारित तत्त्वमीमांसा के निर्माण में सम्बन्ध तत्त्व का महत्त्व स्वाभाविक है। धर्म, चाहे वह केवल एक ही पदार्थ में रहे अथवा अनेक पदार्थों में, अपने धर्मी रूपी आश्रय में अवश्य सम्बन्धविशेष से ही रहता है। अयुतसिद्धों के मध्य आधार-आधेय भाव के नियामक सम्बन्ध के रूप में समवाय एक स्वतन्त्र कोटि के पदार्थ के रूप में स्वीकृत है। परन्तु सम्बन्धतत्त्वों

---

१७. "न चाभावाधिकरणयोर्वैशिष्ट्यं सम्बन्धो वैशिष्ट्यवतोश्च स्वरूपसम्बन्ध इति प्रथमत एव स्वरूपसम्बन्धोऽस्त्विति तुल्यत्वात्।" पद्मनाभमिश्र, *सेतु*, पृ.५९-६०

१८. देखिये, *सेतु*, पृ. ७३-७४ एवं ५९-६१

के लिये कोई स्वतन्त्र पदार्थकोटि की व्यवस्था नहीं की गयी है। जो विशिष्ट ज्ञान का विषय होते हुए भी विशेष्य एवं विशेषण से भिन्न होता है, वह *सम्बन्ध* कहलाता है। प्रतीतिभेद विषयभेदजन्य होता है। नीलप्रतीति एवं पीतप्रतीतियों के परस्पर भेद, मधुररसानुभव एवं अम्लरसानुभव के परस्पर भेद, यथाक्रम ज्ञान के विषयरूपी नीलरूप एवं पीतरूप के परस्पर भेद तथा मधुर रस एवं अम्ल रस के परस्पर भेद के कारण ही सम्भव होते हैं।

ज्ञान में भासित विशेष्य-विशेषण भाव की प्रतीति सामान्यतया विशेष्य-विशेषण भाव के नियामक सम्बन्ध के उल्लेख के बिना ही सम्भव हो जाती है। 'झील पानी से लबालब है', 'टोकरी आमों से भरी है', 'राजनीति का क्षेत्र दुर्जनों से भरा है', 'मोगरे का फूल सफेद होता है', 'यह फूल लाल है', 'पलाश के फूल सुगन्धरहित होते हैं', 'नीम के पत्ते कटु होते हैं', 'वृक्ष निःस्पन्द है', 'पेड़ पर बन्दर नहीं है' इत्यादि वाक्यों में उल्लिखित न होने पर भी विशेष्य-विशेषण भाव के नियामक सम्बन्ध, विशिष्टज्ञान के सांसर्गिक विषय की भूमिका निभाते हैं। टोकरी में जब आम होता है, तो टोकरी के साथ आम का विशेष प्रकार का संयोग सम्बन्ध भी रहता है। यह सम्बन्ध टोकरी एवं आम में आश्रित होकर रहने पर भी उनसे भिन्न है। जब टोकरी में एक भी आम नहीं होता है, तब टोकरी आममात्र के अभाव से विशिष्ट होती है।

सम्बन्धियों से भिन्न संयोगसम्बन्ध का अस्तित्व परम्परावादी विचारकों को स्वीकार्य है। परन्तु टोकरी एवं आमों के अभाव के बीच एवं सामान्य रूप में अधिकरण एवं अभाव के बीच, विशेष्य-विशेषण भाव के नियामक सम्बन्ध के रूप में अभाव एवं अधिकरण से भिन्न वैशिष्ट्य सम्बन्ध, परम्परावादी विचारकों को स्वीकार्य नहीं है। 'यह वृक्ष है'— इस विशिष्ट ज्ञान में 'यह' पदवाच्य पदार्थ विशेष्य है जो वृक्षत्व जाति रूपी विशेषण से विशिष्ट होकर भासित होता है। यहाँ पर विशेष्य-विशेषण भाव के नियामक सम्बन्ध के रूप में समवाय स्वीकृत हुआ है। जिस प्रकार एकमात्रवृत्तिक सूर्यत्व, बुधग्रहत्व, शुक्रग्रहत्व, चैत्रत्व, मैत्रत्व, ब्रह्मपुत्रनदीत्व आदि धर्म, यथाक्रम सूर्य, बुध ग्रह, शुक्र ग्रह, चैत्र, मैत्र एवं ब्रह्मपुत्र नदी आदि के विशेषण हैं, उसी प्रकार वृक्षत्वत्व भी केवल वृक्षत्व जाति में रहने वाला एकमात्रवृत्तिक

धर्म है एवं उसका विशेषण है। परन्तु उपर्युक्त स्थलों में विशेष्य एवं विशेषणों से भिन्न विशेष्य-विशेषण भाव का नियामक सम्बन्ध स्वीकृत नहीं होता है, यद्यपि विशेष्य-विशेषण भाव अवश्य स्वीकार्य है। एक लाल फूल का लाल रङ्ग उस फूल में समवाय सम्बन्ध से रहता है। जिस प्रकार लाल रङ्ग फूल का विशेषण है, उसी प्रकार लाल रङ्ग का समवाय (रक्तरूप-प्रतियोगिक-समवाय) भी उस फूल का विशेषण है। परन्तु फूल के साथ लाल रङ्ग के समवाय के अन्य एक सम्बन्ध की कल्पना से अनवस्था का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। अतः वहाँ पर सम्बन्धियों से भिन्न सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जाती है। विशिष्ट ज्ञान में भासित विशेष्य-विशेषणभाव के नियामक सम्बन्ध के रूप में सर्वत्र विशेष्य एवं विशेषण से भिन्न, संयोग एवं समवाय की तरह विशिष्टज्ञान के स्वतन्त्र सांसर्गिक विषय स्वीकार करने पर अनवस्था का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। फलस्वरूप तत्त्वमीमांसीय व्यवस्था का निर्माण असम्भव हो जाता है।

कभी-कभी एक ही विशिष्टज्ञान में एक ही पदार्थ विशेष्य तथा विशेषण के रूप में भासित होता है। उदाहरणस्वरूप 'भूतल पर घट नहीं है' यह विशिष्टज्ञान कभी प्रमात्मक एवं कभी भ्रमात्मक होता है। परन्तु 'घटाभाव में घट नहीं है'– यह विशिष्टज्ञान स्वीय विषय के स्वरूप के कारण प्रमात्मक ही होता है, क्योंकि घट संयोगसम्बन्ध से केवल द्रव्य रूपी अधिकरण में ही रह सकता है। यहाँ पर घटाभाव रूपी पदार्थ ज्ञान में विशेष्य तथा विशेषण दोनों की भूमिका निभाता है। अतः विशेष्य-विशेषणभाव के नियामक सम्बन्ध के रूप में तादात्म्य से भिन्न सम्बन्ध स्वीकार्य नहीं है। धर्मधर्मिभेदविषयक सामान्य नियम का यह एक अपवाद है। अतः विशिष्टज्ञान में विशेष्य एवं विशेषण के रूप में भासित होने के आधार पर नियमतः विशेष्य एवं विशेषणों को परस्पर भिन्न स्वीकार करना अथवा उनके बीच उनसे भिन्न एक सम्बन्ध तत्त्व स्वीकार करना तत्त्वमीमांसीयव्यवस्थानिर्माण की दृष्टि से न केवल अवाञ्छनीय, अपितु मूलोच्छेदकारी भी है। तन्त्र की आन्तरिक सङ्गति तथा लाघव-गौरव विचार के आधार पर ही विशेष्य-विशेषणभाव के नियामक सम्बन्ध का सम्बन्धियों से भिन्न पदार्थ के रूप में स्वीकरणीयताविषयक निर्णय सम्भव है। इस प्रसङ्ग में विद्वानों के मध्य मतभेद अत्यन्त स्वाभाविक है, क्योंकि यहाँ पर पद्धतिमूलक मान्यताओं के विषय में स्पष्टता नहीं है।

सम्बन्धमूलक अनवस्था दोष का परिहार करते हुए विशिष्टज्ञान में भासित विशेष्य-विशेषणभाव के लिये नियामक सम्बन्ध की व्यवस्था उपलब्ध कराने की शास्त्रीय आवश्यकता के कारण ही स्वरूपसम्बन्ध की कल्पना की गई है। *स्वरूपसम्बन्ध* दो प्रकार के होते हैं– दैशिक एवं कालिक।[१९] दैशिक स्वरूपसम्बन्ध पुनश्च दो प्रकार के होते हैं– भावीय एवं अभावीय। भाव अर्थ में विहित 'त्व', 'तल्' आदि तद्धित प्रत्यय द्वारा, प्रातिपदिकों से प्राप्त पदों के द्वारा अभिहित जाति से भिन्न सभी धर्म अपने अधिकरण या अधिकरणों में स्वरूपसम्बन्ध से रहते हैं। उदाहरणस्वरूप तद्वृक्षत्व, सूर्यत्व, भावत्व, अभावत्व, प्रमेयत्व, प्रतियोगिता, अनुयोगिता, आधारता, आधेयतादि धर्म अपने अधिकरणों में भावीय स्वरूप सम्बन्ध से रहते हैं। घटाभाव, पटाभाव, रूपाभाव, स्पन्दाभाव आदि अभाव एवं सामान्य रूप में सभी अभाव अपने अधिकरणों में अभावीय स्वरूप सम्बन्ध से ही रहते हैं। 'सबेरे वृष्टि हुई', 'सायं काल में गाय घर वापस आई', 'इस समय धूप है' इत्यादि वाक्यों में काल क्रिया के अधिकरण के रूप में भासित होता है। अन्तिम वाक्य में देश विशेष में वर्तमान काल के साथ सूर्यरश्मियों का आधार-आधेयभाव के नियामक सम्बन्ध के रूप में कालिक विशेषणता (कालिक स्वरूप) सम्बन्ध स्वीकृत होता है। स्वरूपसम्बन्ध स्थल विशेष में अनुयोगिस्वरूप होता है एवं अन्यत्र प्रतियोगिस्वरूप होता है। कालिकविशेषणता रूपी स्वरूपसम्बन्ध अनुयोगि-स्वरूप होता है। सभी कालिक विशेषणता सम्बन्ध के अनुयोगी के रूप में लाघव के लिये एक महाकाल स्वीकृत है। द्रव्यत्वाभाव आदि स्थल में अभावीयस्वरूप सम्बन्ध प्रतियोगिस्वरूप है।[२०]

---

१९. देखिये, *भारतीयदर्शनकोश*, प्रथम खण्ड, पृ. १६७

२०. (क) "तथा च सम्बन्धप्रतियोग्यनुयोगिभिन्नत्वे सति नित्यत्वे सति सम्बन्धत्वं समवायलक्षणम्, अतः प्रतियोग्यनुयोग्यात्मकस्वरूपसम्बन्धे नाऽतिव्याप्तिः। अत्र च द्रव्यत्वाभावादीनां लाघवाद् द्रव्यत्वाभावादिरेक एव सम्बन्धः, घटादीनां महाकाले कालिकसम्बन्धो लाघवादेक एव महाकाल इति स्वरूपसम्बन्धस्य क्वचित् प्रतियोगिरूपता, क्वचिदनुयोगिरूपतेति विभागो बोध्यः।" *रामरुद्री*, पृ. ६६

(ख) न्यायकोशकार केवलस्वरूप एवं विशेषणता भेद से स्वरूपसम्बन्ध की दो कोटियाँ मानते हैं। आधेयता, प्रतियोगिता आदि केवल स्वरूप हैं। विशेषणता पुनश्च दैशिक, दिक्कृत एवं कालकृत भेद

न्यायवैशेषिक परम्परा में ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न एवं संस्कार– ये पाँच आत्मनिष्ठ सविषयक गुण के रूप में स्वीकृत हैं। ज्ञान, इच्छा आदि के सविषयत्वविषयक सिद्धान्त की आधारभूतता परम्परा में सर्वमान्य होने पर भी विषयता की तत्त्वमीमांसीय कोटिविषयक समस्या रघुनाथ शिरोमणि के पूर्ववर्तीकाल से ही विवादास्पद रही है।[२१] जिस प्रकार अनित्यता, निराकारत्व एवं परप्रकाशकत्व ज्ञान के स्वभावसिद्ध धर्म हैं, उसी प्रकार सविषयकत्व भी ज्ञान का स्वभावसिद्ध धर्म है। प्रमाणमीमांसा की दृष्टि से ज्ञानजनक सामग्री एवं ज्ञान का विषय इन दोनों का विचार अपरिहार्य है। विषयविषयिभाव ज्ञान का आगन्तुक धर्म नहीं है। विषय को प्रकाशित करने के लिये ज्ञान अपनी जनक सामग्री से अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता है।[२२] घटविषयक ज्ञान के स्थल में घट विषय है एवं ज्ञान विषयी है। विषयता ज्ञान का विषयनिष्ठ धर्म है एवं विषयिता ज्ञाननिष्ठ धर्म है। जिस प्रकार मातृत्व धर्म मातृनिष्ठ होता है एवं अन्य किसी व्यक्ति निष्ठ सन्तानत्व द्वारा निरूपित होकर उसका निरूपक भी होता है, उसी प्रकार विषयता रूपी विषयनिष्ठ धर्म ज्ञाननिष्ठविषयिता द्वारा निरूपित होकर उसका निरूपक भी होता है। 'कौशल्या राम की माँ है'– यहाँ पर मातृत्व सम्बन्ध के अनुयोगी एवं प्रतियोगी यथाक्रम कौशल्या एवं राम हैं।

से तीन प्रकार के हैं। अभाव के अधिकरण के साथ सम्बन्ध दैशिक स्वरूपसम्बन्ध हैं। दिक् अथवा काल रूपी अनुयोगी के साथ जन्य पदार्थ रूपी प्रतियोगी के सम्बन्ध यथाक्रम दिक्कृत एवं कालकृत स्वरूपसम्बन्ध है। देखिये, *न्यायकोश*, पृ. १०५७

२१. (क) "...विषयतातत्त्वादिवत् प्रतियोगित्वाधिकरणत्वतत्त्वसम्बन्धत्वादयोऽप्यतिरिक्ता एव पदार्था इत्येकदेशिनः।" *सिद्धान्तलक्षणदीधिति, सिद्धान्तलक्षण-तत्त्वालोकप्रकाश,* प्रथम भाग, पृ. ४९

(ख) रघुनाथ शिरोमणि समकालीन जानकीनाथ भट्टाचार्य भी विषयता के स्वतन्त्रपदार्थत्वविषयक मत का उल्लेख एकदेशी मत के रूप में करते हैं– "विषयता च विषयाकारप्रतीतिसाक्षिकः स्वरूपसम्बन्ध-विशेषः। पदार्थान्तरमिति एकदेशिनः।" *न्यायसिद्धान्तमञ्जरी,* पृ. २८

२२. "तथा हि, लक्ष्यस्तावदत्र विषयविषयिभावः। स च प्रकाशस्य सतस्तदीयतामात्ररूपः स्वभावविशेषः। स्वभावत्वादेव च नोपकारान्तरमपेक्षते, तन्मात्रीयत्वादेव च नान्यदीयः।" *आत्मतत्त्वविवेक*, बाह्यार्थभङ्गवाद, पृ. ५०८

विषयता सम्बन्ध के अनुयोगी एवं प्रतियोगी यथाक्रम विषय एवं ज्ञान हैं। 'घट ज्ञान का विषय है' एवं 'ज्ञान घटविषयक है' अर्थात् 'ज्ञान' घट रूपी विषय का प्रकाशक है। विषयिता या प्रकाशकत्व सम्बन्ध के अनुयोगी एवं प्रतियोगी यथाक्रम ज्ञान एवं विषय हैं। परम्परावादी मत के अनुसार विषयता एवं विषयिता, आधारता एवं आधेयता तथा अनुयोगिता एवं प्रतियोगिता आदि स्वरूपसम्बन्ध विशेष हैं न कि स्वतन्त्र पदार्थ।

२.२ रघुनाथ एवं गदाधर समर्थित विषयतादि का स्वतन्त्रपदार्थत्वविषयक मत

अनेक नव्यनैयायिकों के अनुसार विषयतादि का स्वरूपसम्बन्धविषयक परम्परावादी मत बहुविध अनुपपत्तिग्रस्त होने से अस्वीकार्य है। *सिद्धान्तलक्षणदीधिति* में एकदेशी मत के रूप में उल्लिखित विषयतादि का स्वतन्त्रपदार्थत्वविषयक मत रघुनाथ शिरोमणि के द्वारा बाद में अपनाया गया है।[२३] *आत्मतत्त्वविवेकदीधिति* में रघुनाथ इस मत के सपक्ष में युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं।[२४] भगीरथ ठक्कुर की *आत्मतत्त्वविवेकटीका* में भी इस विषय पर उपयोगी विचार उपलब्ध हैं।[२५] विषयविषयिभाव ज्ञान का 'तदीयमात्ररूपः स्वभावविशेषः' उदयन के इस मत में प्रतिपक्षियों के द्वारा उद्भावित अनुपपत्तियों का विचार करते हुए भगीरथ ठक्कुर लिखते हैं कि यदि ज्ञान का वह स्वभावविशेष रूपी विषयविषयिभाव ज्ञाननिष्ठ होता तब 'घट ज्ञान का विषय है' इस वाक्य से घटत्व एवं ज्ञानविषयत्व के सामानाधिकरण्य का ज्ञान नियतरूप में भ्रमात्मक ही होता। वस्तुतः ऐसा नहीं होता है। यदि वह विषयविषयिभाव विषयनिष्ठ होता तो 'चैत्र मैत्र को जानता है' इसके प्रमाण के रूप में चैत्र के मैत्रविषयक ज्ञान के ग्रहण के बिना ही केवल मैत्र को देखना मात्र ही पर्याप्त होता, जो कि वस्तुतः नहीं होता है। पुनश्च ज्ञान का स्वयं के प्रागभाव के साथ तथा आत्मा में समवेत होकर उत्पन्न होने से समवाय के साथ भी स्वरूप सम्बन्ध स्वीकृत है। अतः ज्ञान के प्रागभाव एवं ज्ञान के समवाय में भी ज्ञान की विषयता रह जानी चाहिये, जो कि वस्तुतः नहीं रहती है। विषयता यदि ज्ञान स्वरूप होती तो 'घट और पट'– इस आकार के समूहालम्बन ज्ञान में घटत्वप्रकारक घटविशेष्यक एवं

---

२३. "एतेन ज्ञानादिविषयता व्याख्याता।" *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ. ४७

२४. देखिये, *आत्मतत्त्वविवेक दीधिति*, पृ. ५१४-५१७

२५. देखिये, *आत्मतत्त्वविवेक*, पृ. ५१०-५१३

पटत्वप्रकारक पटविशेष्यक विषयभेद से समूहालम्बन ज्ञान का एकत्व बाधित हो जाता, क्योंकि उस ज्ञान में पटत्व-प्रकारक-विषयता से घटत्व-प्रकारक-विषयता का भेद अवश्य गृहीत होता है। प्रमात्मक एवं भ्रमात्मक समूहालम्बन ज्ञानों का भेद, घटत्वप्रकारक घटविशेष्यक एवं घटत्वप्रकारक पटविशेष्यक, पटत्वप्रकारक पटविशेष्यक एवं पटत्वप्रकारक घटविशेष्यक विषयता आदि में, परस्पर भेद की अपेक्षा रखता है। पुनश्च, यदि विषयविषयिभाव विषयनिष्ठ होता, तो जब वस्तुतः चैत्र मैत्र को जानता है एवं देवदत्त भी मैत्र को जानता है एवं केवल इतना ही जानता है कि चैत्र किसी एक व्यक्ति को जानता है, तो उस स्थिति में चैत्र मैत्र को जानता है या नहीं इस प्रकार का संशय देवदत्त में सम्भव नहीं होता। अतः ज्ञान के विशेषण के रूप में स्वतन्त्र विषयता रूपी पदार्थ स्वीकार्य है।[२६]

रघुनाथ शिरोमणि, हरिराम तर्कालङ्कार एवं गदाधर भट्टाचार्य के अनुसार भी विषयता यदि ज्ञान स्वरूप होती तो 'घट और पट' इस समूहालम्बन ज्ञान में भ्रमत्व की आपत्ति अनिवार्य हो जाती।[२७] सङ्क्षेप में विषयता को ज्ञानस्वरूप मान लेने पर ज्ञान के एकत्व के कारण उसकी विषयता

---

२६. ''तद् यदि ज्ञाननिष्ठम्, तदा घटो ज्ञान विषय इति सामानाधिकरण्यधीर्न स्यात्, अथ विषयनिष्ठमेव, तदा ज्ञानाग्रहेऽपि तद्ग्रहप्रसङ्गात्। अपि च ज्ञानेन तत्प्रागभावसमवाययोरपि स्वरूपसम्बन्धात्तयोरपि विषयत्वापत्तिः, घटपटोभय-विषयकसमूहालम्बने घटत्वेन घटो विषय न पटत्वेनेति पटत्वप्रकारकविषयतायां घटत्वप्रकारकविषयतया समं भेदग्रहादेकमेव ज्ञानं स्वतो भिद्येत, किञ्चैवं वस्तुतो घटविषयकज्ञानवत्येव किञ्चिदयं जानातीति ज्ञाने घटे च ज्ञाते घटविषयकज्ञानवानयं न वेति संशयो न स्यात्। ज्ञानघटस्वरूपयोर्निश्चयात्, अतो विषयताख्यं धर्मान्तरमेव ज्ञानविशेषणतारूपं स्वीकार्यम्।'' *आत्मतत्त्वविवेकप्रकाशिका*, पृ.५१०

२७. (क) ''यदि ज्ञानस्वरूपमेव विषयता, तदा घटपटाविति समूहालम्बनस्य पटत्व-घटत्वावच्छिन्नघटपटीयस्वात्मकविषयताशालित्वाद् भ्रमत्वापत्तिः।'' *आत्म-तत्त्वविवेकदीधिति,* पृ. ५१४

(ख) ''एवं घटपटावित्यादिसमूहालम्बनधियो भ्रमत्वापत्तिश्च, पटनिष्ठतज्ज्ञानरूप-विशेष्यताया घटनिष्ठघटत्वप्रकारतानिरूपिततज्ज्ञानरूपविशेष्यत्वाभिन्नतया तादृशज्ञानस्य घटत्वप्रकारतानिरूपितपटनिष्ठविशेष्यताशालित्वात्।'' हरिराम-तर्कालङ्कारकृत *विषयतावादवीचि*, *वादवारिधि* तृतीय खण्ड, वाराणसी १९४०, पृ. २५८

में विशेष्यता-प्रकारता-संसर्गतादि का भेद सम्भव नहीं हो पाता है। एवं फलतः 'खाट पर आदमी' एवं 'आदमी पर खाट' में अन्तर करना सम्भव न होने से सामान्य रूप में प्रमा एवं भ्रम के भेद का आधार नष्ट हो जाता है। विषयता को विषयस्वरूप मान लेने पर 'घटवद्भूतलम्' एवं 'घटभूतलसंयोगाः' में एवं सामान्य रूप में विशिष्टज्ञान एवं उसके विशेष्य-प्रकार-संसर्गरूपी समूहालम्बन ज्ञान के भेद का आधार नष्ट हो जाता है।[२८] गदाधर के अनुसार विषयता को विषयस्वरूप मान लेने पर घटनिष्ठ घटत्वप्रकारकप्रमानिरूपित-विषयता एवं घटनिष्ठ पटत्वप्रकारकभ्रमनिरूपित-विषयता अभिन्न होने से प्रमा एवं भ्रम में अन्तर करना भी सम्भव नहीं हो पायेगा।[२९]

परम्परागत न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में एक ही आत्मा में तद्विषयक ज्ञान की तद्विषयक इच्छा के प्रति कारणता तथा तद्विषयक इच्छा की तद्विषयक प्रयत्न के प्रति कारणता स्वीकृत हैं। रघुनाथ शिरोमणि के अनुसार इन कार्यकारण भावों की उपपत्ति के लिये विषयता को एक स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है।[३०] उनके अनुसार अनुयोगित्व, प्रतियोगित्व, आधारत्व आधेयत्वादि भी अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार्य हैं। विषयित्व भी स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार्य है, न कि विषयता

(ग) "एवं विषयताया ज्ञानस्वरूपत्वे घटपटावित्यादिसमूहालम्बनात्मकैकज्ञानीय-घटपटादिरूपनानाविषयनिष्ठविषयातानामेकतया तादृशज्ञानानां घटत्वपटत्वाद्य-वच्छिन्नपटघटादिनिष्ठविषयताकतया भ्रमत्वापत्तिः, तदवृत्तिधर्मावच्छिन्नतन्निष्ठ-विषयताशालिबुद्धेरेव भ्रमत्वात्।" गदाधर भट्टाचार्य, *विषयतावादवीचि*, *वही*, पृ. २६९

२८. "एवं घटवद्भूतलं घटभूतलसंयोगा इति ज्ञानयोरविशेषप्रसङ्गश्च, विषयाणां तदात्मकविषयातानाञ्च अविलक्षणत्वात्।" गदाधरभट्टाचार्य, *विषयतावादवीचि*, *वही*, पृ. २७०

२९. देखिये, *वही*, पृ. २७०

३०. "किं च यदि विषयता तत्त्वं वा नातिरिच्यते, तदा कथं तद्विषयकेच्छादिसामान्ये तद्विषयकज्ञानानां कारणत्वम् अननुगतत्वात्, सम्बन्धत्वेन च अनुगमेऽतद्विषयके तत्सम्बन्धान्तरशालिनि ज्ञानेऽतिप्रसङ्गः, तस्मादतिरिक्तैव विषयता, तद्विशेषास्तु प्रकारत्वादयः एवं विषयतात्वादिकमपि, एतेन प्रतियोगित्वाधिकरणत्वादयो व्याख्याताः। सप्तपदार्थीप्रवादस्तु वैशेषिकप्रसिद्धिमनुरुद्ध्यैव।" *आत्मतत्त्वविवेक-दीधिति*, पृ. ५१५

के प्रतियोगित्व के रूप में क्योंकि अनुरूप युक्ति से विषयित्व को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करके विषयता को भी विषयिता के प्रतियोगित्व के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अतः विनिगमना विरह से विषयता एवं विषयिता दोनों अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार्य हैं।[३१]

२.३ विषयता, विषयितादि के अतिरिक्तपदार्थत्वविषयक मत की समीक्षा

न्यायवैशेषिक मत में ज्ञान परप्रकाशक है अर्थात् ज्ञान के द्वारा प्रकाशित पदार्थ उस ज्ञान से अवश्य भिन्न होता है। ज्ञान के सविषयत्व एवं परप्रकाशकत्व से यह फलित होता है कि स्वभाव से ही ज्ञान स्वभिन्न प्रकाशित पदार्थरूपी विषय के साथ सम्बद्ध रहता है। ज्ञान अपने विषय से अवश्य भिन्न होता है। जिस प्रकार छेदन व्यापार स्वभिन्न छेद्य पदार्थ से सम्बद्ध रहने के लिये छेदन व्यापारजनक सामग्री के अतिरिक्त अन्य किसी पर आश्रित नहीं रहता है, उसी प्रकार स्वविषय के साथ सम्बद्ध रहने के लिये ज्ञान स्वजनक सामग्री के अतिरिक्त अन्य किसी पर आश्रित नहीं रहता है। छेदन क्रिया एवं सामान्य रूप में सकर्मक कायिक क्रियाओं के फलाश्रय के रूप में क्रियासमकालीन कर्म का अस्तित्व अपरिहार्य है। परन्तु ज्ञान का विषय नियमतः ज्ञान का समकालीन नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान का विषय अतीत, अनागत अथवा वर्तमान काल का हो सकता है। इसीलिये भाट्टमीमांसक सम्मत विषयनिष्ठ ज्ञातता रूपी धर्म स्वीकार्य नहीं होता है। ज्ञान विषय को प्रकाशित करते हुये उसमें अन्य कुछ धर्म उत्पन्न नहीं करता है, अपितु स्वजनक सामग्री से उत्पन्न होकर आत्मा में आश्रित रहता है। छेदनव्यापार से स्वतन्त्र छेद्यता रूपी सामान्य धर्म की कल्पना सार्थक होने पर भी ज्ञान के सविषयत्व से अतिरिक्त विषयनिष्ठ विषयता रूपी स्वतन्त्र पदार्थ की कल्पना सार्थक नहीं है। भ्रम एवं प्रमा में भेद के लिये विषयता को विशेष्यता, प्रकारता एवं संसर्गता के रूप में विश्लेषित करना आवश्यक है। परन्तु इस आवश्यकता से विषयता का पदार्थान्तरत्व सिद्ध नहीं होता है। ज्ञान के द्वारा प्रकाशित पदार्थों

---

३१. "विषयतावत् विषयित्वरूपज्ञानानुयोगिकविषयसम्बन्धोऽपि अतिरिक्त एव, न तु विषयताप्रतियोगित्वमेव विषयित्वम्, विषयित्वमेवातिरिक्तं तत्प्रतियोगित्वमेव विषयत्वमित्यस्यापि वक्तुं शक्यतया द्वयोरेवातिरिक्ततासिद्धेरिति।" गदाधरभट्टाचार्य, *विषयतावादवीचि*, *वादवारिधि*, खण्ड ३, पृ. २७२

की व्यूहबद्धता के स्वरूप निरूपण के लिये विशेष्य-प्रकार-संसर्ग रूपी मौलिक आकार पर आश्रित रहना पड़ता है। इस विश्लेषण की आवश्यकता भी भ्रम एवं प्रमा के भेद के लिये शास्त्रीय व्यवस्था निर्माण की अपरिहार्यता में निहित है। ज्ञाननिष्ठ प्रमात्व एवं भ्रमत्व का भेद वस्तुस्थिति पर आश्रित है, क्योंकि ज्ञान वस्तुतन्त्र है न कि पुरुषतन्त्र। प्रमितिविषयत्व ही पदार्थत्व है। ज्ञान स्वविषय का निर्माण नहीं करता है, केवल उसके घटक तत्त्वों को व्यूहबद्ध रूप में प्रकाशित करता है, क्योंकि ज्ञान स्वयं निराकार है एवं विषय का आकार धारण करता है। ज्ञान का निराकारत्व, सविषयत्व, वस्तुतन्त्रत्व तथा परप्रकाशकत्व स्वीकार करने पर विषयता रूपी स्वतन्त्र पदार्थ की शास्त्रीय आवश्यकता नहीं रह जाती है। यथार्थ ज्ञान का विषय होने की योग्यता पदार्थमात्र में रहने से पदार्थत्व विषयता-व्याप्य धर्म हो जाता है। परन्तु पदार्थत्व केवलान्वयी धर्म है। अतः विषयता भी केवलान्वयी धर्म है। फलस्वरूप, पदार्थत्व एवं विषयता समनियत धर्म के रूप में स्वीकार्य हैं, न कि स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में।

ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्नादि के कार्यकारण भाव की व्यवस्था के लिये भी विषयता को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इच्छा की पूर्ति एवं अपूर्ति में अन्तर करने के लिये तथा प्रयत्न की सफलता एवं असफलता में अन्तर करने के लिये इच्छा एवं प्रयत्न की विषयता का विश्लेषण, ज्ञान की विषयता के विश्लेषण के अनुरूप करना आवश्यक है। इसी दृष्टि से ही ज्ञान की विषयता मौलिक है, न कि केवल कार्यकारण सम्बन्ध की दृष्टि से। इच्छा का विषय एक वाञ्छित वस्तुस्थिति ही होती है। अनागत वस्तुस्थिति को धर्मी की उत्पत्ति अथवा विद्यमान धर्मी या धर्मियों में अविद्यमान धर्मों की उत्पत्ति के रूप में देखा जा सकता है। वस्तुस्थिति का स्वरूप विशेष्य-प्रकार-संसर्ग रूपी मौलिक आकार के द्वारा निरूपित होता है। उसी प्रकार प्रयत्न भी वस्तुस्थिति विशेष को उत्पन्न करने के लिये ही होता है। प्रयत्न के विषय रूपी वस्तुस्थिति के स्वरूप निरूपण के लिये विशेष्य-प्रकार-संसर्ग रूपी मौलिक आकार ही पर्याप्त है। इच्छा अवश्य ज्ञान की अपेक्षा रखती है एवं उसकी सविषयता ज्ञान की सविषयता के बिना कल्पनीय नहीं है।

सम्बन्ध मात्र ही स्वभाव से अनुयोगी एवं प्रतियोगी की अपेक्षा रखता है। सम्बन्ध जब वृत्तिनियामक होता है तब उसका अनुयोगी आधारतावान्

होता है एवं उसका प्रतियोगी आधेयतावान् होता है तथा उन आधारता एवं आधेयताओं में परस्पर निरूप्य-निरूपक भाव रहता है। सम्बन्ध का स्वरूप अनुयोगी एवं प्रतियोगी के बिना अकल्पनीय होने से अनुयोगिता एवं प्रतियोगिता वस्तुतः सम्बन्ध के स्वरूप में ही निहित है। पुनश्च, अनुयोगी एवं प्रतियोगी सम्बन्ध विशेष की अपेक्षा रखते हैं। आधारता एवं आधेयता वस्तुतः विशेष प्रकार की सांसर्गिक अनुयोगिता एवं प्रतियोगिता हैं। अभाव का स्वरूप, प्रतियोगिता के अवच्छेदक सम्बन्ध एवं प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म रूपी तत्त्व युगल द्वारा निरूपित होता है। अतः अभावीय प्रतियोगिता भी अभाव के स्वरूपनिरूपण की प्रक्रिया से उपलब्ध होती है। अतः अनुयोगिता, प्रतियोगिता, आधारता, आधेयतादि लाघव की दृष्टि से स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार्य नहीं हैं।

३. व्याप्यवृत्तित्व-अव्याप्यवृत्तित्वविषयक विचार

प्रशस्तपादाचार्य धर्म विशेषों की अपेक्षा से गुणकोटि के चौबीस पदार्थों के विभिन्न वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये वर्गीकरण जिन धर्मों पर आधारित हैं वे तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणस्वरूप कारणता सिद्धान्त की दृष्टि से केवल द्रव्यकोटि के पदार्थों में ही समवायिकारणता रह सकती है एवं गुणकोटि के पदार्थ केवल असमवायी अथवा निमित्त कारण की भूमिका ही निभा सकते हैं। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक है कि किन-किन गुणों में केवल असमवायिकारणता रहती है, किनमें केवल निमित्त कारणता रहती है एवं किनमें उभय प्रकार की कारणता रहती है। प्रशस्तपाद इसके आधार पर गुणों का एक वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं।[३२]

३.१ व्याप्यवृत्ति एवं अव्याप्यवृत्ति धर्मों का भेद

लेखन व्यापार लेखनी एवं कागज के भागविशेषों के संयोग से ही सम्भव होता है। दो मूर्त द्रव्यों का संयोग स्वभावतः उनके प्रदेशविशेषों की अपेक्षा से ही सम्भव होता है। मूर्त द्रव्य में प्रदेशभेद सावयवत्व की अपेक्षा नहीं रखता है, क्योंकि प्रदेशभेद अपर मूर्त द्रव्यों की अपेक्षा से भी सम्भव होता है। अवयवी में अवयवों के परस्पर भेद की अपेक्षा से प्रदेशभेद स्वभावसिद्ध है। वायुमण्डल के एक प्रदेश में शब्द रहने

---

३२. देखिये, *प्रशस्तपादभाष्य*, *न्यायकन्दली* सहित, पृ. २४४-२४६

पर भी उसी समय अन्य प्रदेशों में उसका अभाव रहता है, अन्यथा पृथिवी के वायुमण्डल के एक भाग में एक ध्वनि की उत्पत्ति होने पर वायुमण्डल के सभी प्रदेशों में उस ध्वनि का श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होने का प्रसङ्ग उठता है। न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के अनुसार आत्मा विभु अर्थात् सर्वव्यापी होने पर भी एक जन्मविशेष की अपेक्षा से उसके सुख-दुःखादि का साक्षात्कार एक शरीरविशेष के अवच्छेद से ही सम्भव होता है, न कि यादृच्छिक रूप में किसी भी मूर्तद्रव्य अथवा किसी भी प्राणवान् शरीर की अपेक्षा से।

प्रशस्तपाद आश्रयव्यापकत्व एवं आश्रय-अव्यापकत्व के आधार पर गुणों का अन्य एक वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं।[३३] संयोग, विभाग, शब्द, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार, सुख, दुःख, धर्म एवं अधर्म– ये बारह गुण *प्रदेशवृत्ति* हैं एवं शेष बारह गुण आश्रयव्यापी हैं। व्योमवतीकार प्रदेशवृत्तित्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि प्रदेश पद से धर्मी का प्रदेश या भाग विवक्षित नहीं है, अन्यथा निरवयव अमूर्त द्रव्यों के प्रदेशवृत्ति गुणों की बात असङ्गत हो जाती है। उनके मत में प्रदेशवृत्तित्व का अर्थ आश्रय-अव्यापकत्व है। जो धर्म धर्मी के सर्वतोमुखी रूप में व्यापक नहीं होता है वह *प्रदेशवृत्ति* कहलाता है।[३४] न्यायकन्दलीकार श्रीधर प्रदेशवृत्ति शब्द के पर्यायवाची के रूप में *अव्याप्यवृत्ति* पद का प्रयोग करते हैं।[३५] जो गुण अपेक्षा विशेष से अपने आश्रय रूपी द्रव्य में रहता है, परन्तु अन्य एक अपेक्षा से उस गुण का अभाव भी उस आश्रय रूपी द्रव्य में रहता है वह गुण प्रदेशवृत्ति या *अव्याप्यवृत्ति* कहलाता है। आपाततः एक धर्म तथा उसके अभाव का एक ही काल में एक ही पदार्थ में रहना सम्भव नहीं है। परन्तु अव्याप्यवृत्ति धर्म अनुभवसिद्ध है। उदाहरणस्वरूप, जब एक आदमी एक बड़े पेड़ के अग्रभाग पर पहुँच जाता है तब पेड़ के अग्र भाग की अपेक्षा से आदमी का संयोग

---

३३. "संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणानां प्रदेशवृत्तित्वम्। शेषाणामाश्रयव्यापित्वम्।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. २४७-२४९

३४. "प्रदेशवृत्तित्वमाश्रयाव्यापकत्वं विवक्षितम्। न तु प्रदेशेऽवयवे वृत्तिर्निष्प्रदेशानां तदभावप्रसङ्गात् एतेषामेवाश्रयाव्यापित्वमेतेषां प्रदेशवृत्तित्वमेव।" *व्योमवती,* पृ.४४०

३५. "प्रदेशवृत्तयोऽव्याप्यवृत्तयः स्वाश्रये वर्त्तन्ते, न वर्त्तन्ते चेत्यर्थः।" *न्यायकन्दली,* पृ.२४७

रहने पर भी उसी समय पेड़ के तने पर उस आदमी के संयोग का अभाव भी रहता है। भूतल के पूर्व भाग की अपेक्षा से एक घट का संयोग रहने पर भी उत्तर, दक्षिण एवं पश्चिम भाग की अपेक्षा से भूतल पर उस घट का अभाव भी रहता है। जब दो वर्तुलाकार वस्तुयें परस्पर स्पर्श करती हैं तब उनके सतह के केवल एक अति क्षुद्र अंश की अपेक्षा से उनके परस्पर संयोग रहने पर भी उनके सतह के शेष अंशों की अपेक्षा से परस्पर संयोग का अभाव रहता है। एक ही काल में एक द्रव्य का अपर द्रव्य के साथ प्रदेश विशेष की अपेक्षा से संयोग तथा अन्य प्रदेशों की अपेक्षा से उसके साथ संयोग के अभावविषयक ज्ञान को अप्रामाणिक कहना युक्तिसङ्गत नहीं है। अतः कुछ धर्मों का अव्याप्यवृत्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है।

यद्यपि प्रशस्तपाद केवल गुणों के वर्गीकरण के लिये अव्याप्यवृत्तित्व का सहारा लेते हैं, वस्तुतः इसके आधार पर सभी धर्मों को, न कि केवल गुणों को, दो कोटियों में वर्गीकृत करना सम्भव है। अपने अत्यन्ताभाव के साथ रहना ही धर्म का अव्याप्यवृत्तित्व है, अर्थात् जो धर्म अपने अत्यन्ताभाव के साथ एक ही धर्मी रूपी अधिकरण में रहता है वह *अव्याप्यवृत्ति* है।[३६] जो धर्म अपने अत्यन्ताभाव के साथ कभी एक ही धर्मी रूपी अधिकरण में नहीं रहता है, अर्थात् जो धर्म अपने अत्यन्ताभाव के साथ असमानाधिकरण होता है वह *व्याप्यवृत्ति* कहलाता है।[३७] उदाहरणस्वरूप गजत्व, अश्वत्व, गोत्व, वृक्षत्व, घटत्व, पटत्वादि जाति अपने-अपने व्यक्ति रूपी आश्रयों के व्यापक होते हैं। अपने आश्रयों के अवयव भेद से जाति के रहने अथवा न रहने का प्रश्न नहीं उठता है। जब तक

---

३६. (क) ''स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमव्याप्यवृत्तित्वम्।'' *तर्कसङ्ग्रहदीपिका*, पृ. २१२

(ख) ''स्वप्रतियोगित्वस्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेनाभाववत्त्वम्।'' *तर्कसङ्ग्रह-दीपिका* की *नीलकण्ठप्रकाशिका* टीका, पृ. २१२-२१३। यहाँ पर स्वपद से अव्याप्यवृत्ति धर्म का अभाव जैसा कि कपिसंयोगाभाव ग्राह्य है। लक्षण की सरल व्याख्या *न्यायकोश* का पृ. ९९ पर द्रष्टव्य है।

३७. (क) ''स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं व्याप्यवृत्तित्वम्।'' *भारतीयदर्शन-कोश*, पृ. १५१

(ख) ''अनवच्छिन्नाधारतावत्त्वम्।'' *न्यायकोश*, पृ. ८४७

द्रव्य, गुण अथवा कर्म कोटि का पदार्थ विद्यमान रहता है, तब तक तन्निष्ठ सभी जातियाँ भी उसमें समवेत होकर रहती हैं। अन्य शब्दों में, जाति अपने आश्रय रूपी व्यक्ति में उत्पत्ति से विनाश तक रहती है।

३.२ कालिक अव्याप्यवृत्तित्व एवं व्याप्यवृत्तित्व– अवयविसन्तानों की प्रत्यभिज्ञाविषयक समस्या

प्रशस्तपाद गुणों को *यावद्द्रव्यभावित्व* एवं *अयावद्द्रव्यभावित्व* भेद से दो कोटि में वर्गीकृत करते हैं।[३८] अपाकज रूप रसादियों का विनाश केवल उनके आश्रय विनाश से ही होता है, परन्तु पाकज रूप रसादि का विनाश आश्रय द्रव्यों के रहते हुये भी होता है। वस्तुतः इस विषय में रसायनशास्त्रीय प्रयोग तथा परिष्कृत पर्यवेक्षण के आधार पर ही तत्त्वमीमांसीय निर्णय सम्भव है, न कि स्थूल अनुभव के आधार पर। प्रशस्तपाद के अयावद्द्रव्यभावी गुणों को *कालिक-अव्याप्यवृत्ति* गुण नाम से अभिहित किया जा सकता है। जो धर्म अपने आश्रय में एक खण्डकाल में रहता है एवं अन्य एक खण्डकाल में नहीं रहता है, अर्थात् जो धर्म अपने प्रागभाव अथवा ध्वंस के साथ एक ही धर्मी में रहता है वह *कालिक-अव्याप्यवृत्ति या अयावद्धर्मिभावी धर्म* कहलाता है। एक जलपिण्ड को जल यौगिकाणुओं के परस्पर दैशिक संस्थान से विशिष्ट एक अवयवी के रूप में देखने पर वह जलपिण्ड, जलीय यौगिकाणुओं के परस्पर अभिघात से निरन्तर भिन्न-भिन्न संस्थान से विशिष्ट होता है। अतः वह वस्तुतः एक अवयवी सन्तान ही होता है। घनीभूत अवस्था में जल यौगिकाणुओं के परस्पर दैशिक अवस्थान तरलावस्था के दैशिक अवस्थान से भिन्न होता है। निरन्तर अपचय एवं उपचय विशिष्ट वृक्ष, लता एवं प्राणिशरीरादि, वस्तुतः कारणकार्यस्रोतापन्न अवयवियों का सन्तान हैं। वृक्ष, लता एवं प्राणिशरीरादि अवयविसन्तानों की लोकव्यवहारसिद्ध प्रत्यभिज्ञा के प्रामाणिकत्व की रक्षा करने के लिये अवयवि-सन्तानमूलक शास्त्रीय भेदाभेदव्यवस्था प्रस्तुत करना आवश्यक है। अद्रव्यवादी, सङ्घातवादी एवं सन्तानवादी बौद्ध तत्त्वमीमांसा में सङ्घातसन्तानों के लिये भेदाभेदव्यवस्था उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी धर्मधर्मिभेदमूलक काणादीय तत्त्वमीमांसा में अवयवि-सन्तानों के लिये भेदाभेदव्यवस्था। अवयवि-सन्तानों के लिये भेदाभेद व्यवस्था के बिना, न केवल सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध

---

३८. *प्रशस्तपादभाष्य*, पृ. २४९

सन्तानविषयक प्रत्यभिज्ञा की प्रामाणिकता दत्तजलाञ्जलि सदृश होती है, अपितु मानव व्यक्तिविषयक सिद्धान्तनिर्माण की सम्भावना भी विलुप्त हो जाती है। इस अत्यावश्यक भेदाभेदव्यवस्था के लिये अव्याप्यवृत्ति एवं व्याप्यवृत्ति धर्मों के भेद तथा दैशिक एवं कालिक अव्याप्यवृत्तित्व के भेद का महत्त्व सुस्पष्ट है।

आम का एक फल कच्ची अवस्था में खट्टा रहता है एवं पक जाने पर उसका खट्टापन नष्ट होकर उसमें मीठापन आ जाता है। एक कच्चा केला हरे रङ्ग का होता है एवं उस केले के पक जाने पर उसका हरा रङ्ग नष्ट होकर उसमें पीलापन आ जाता है। एक ही अवयवि-सन्तान रूपी आम में कालभेद से रसभेद होता है एवं एक ही अवयवि-सन्तानरूपी केले में कालभेद से रूपभेद होता है। अन्य शब्दों में अवयवि-सन्तानों में रूप, रसादि धर्मों के कालिक अव्याप्यवृत्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है।

प्रशस्तपाद ज्ञान, इच्छा प्रयत्नादि आत्म विशेष गुणों को दैशिक अव्याप्यवृत्ति धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके मत में आत्मा विभु अर्थात् सभी मूर्त द्रव्यों के साथ संयुक्त एक अमूर्त द्रव्य है एवं प्रत्येक आत्मा के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि गुणों की उत्पत्ति केवल उस आत्मा के अवच्छेदक रूपी एक शरीर विशेष की अपेक्षा से ही होती है। शरीरावयव अवच्छेद से स्पर्शानुभव होता है। परन्तु ४×५=२० – यह ज्ञान किसी शरीरावयव की अपेक्षा से उत्पन्न नहीं होता है। उसी प्रकार दन्त-वेदना, शिर-पीड़ा आदि दुःखानुभव शरीरावयव के अवच्छेद से होने पर भी मानसिक दुःखों का अनुभव शरीरावयव निरपेक्ष रूप में होता है। मानव व्यक्ति के वैधानिक एवं नैतिक कर्तृत्वादि धर्म कालिक अव्याप्य-वृत्तित्वविशिष्ट हैं। पाचकत्व, अध्यापकत्वादि उपाधि भी काल की दृष्टि से अव्याप्यवृत्ति हैं। परन्तु दम्पत्ति विशेष का सन्तान होना, स्थान विशेष में जन्म ग्रहण करना आदि कालिक व्याप्यवृत्ति धर्म हैं। एक व्यक्ति जन्म से पाचक अथवा अध्यापक नहीं होता है, परन्तु मातृपितृविशेष से जन्म लेना, स्थान एवं काल विशेष में जन्म ग्रहण करना आदि धर्म व्यक्ति के यावज्जीवनव्यापी अपरिवर्तनशील धर्म होते हैं। लोक व्यवहार में व्यक्ति की सामाजिक एवं वैधानिक पहचान सामान्यतया कालिक व्याप्यवृत्ति अथवा अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशील धर्मों के द्वारा ही की जाती है। एक व्यक्ति युवावस्था में धनवान् होने पर भी प्रौढ़ावस्था में धनहीन हो सकता

है; यौवन में सामाजिक अथवा राजनीतिक क्षेत्र में प्रभावशाली रहने पर भी प्रौढ़ावस्था में उस क्षेत्र में प्रभावहीन हो सकता है। अतः धनवत्ता प्रभाववत्ता आदि धर्म भी कालिक अव्याप्यवृत्ति हैं।

३.३ दैशिक एवं कालिक अवच्छेदकों पर अनाश्रित व्याप्यवृत्ति एवं अव्याप्यवृत्ति धर्म

किसी वृक्ष की एक शाखा के अवच्छेद से कपिसंयोग रहने पर भी उसकी जन्य एक शाखा के अवच्छेद से कपिसंयोग का अभाव रहता है। यहाँ पर शाखा रूपी अवयव भेद से वृक्ष कपिसंयोग तथा उसके अभाव से विशिष्ट होता है एवं अवयवी द्वारा अधिकृत देश के प्रदेश विशेष उसके भिन्न-भिन्न अवयवों द्वारा अवच्छिन्न होते हैं। परन्तु अव्याप्यवृत्तित्व सर्वत्र दैशिक अथवा कालिक अवच्छेदक की अपेक्षा नहीं रखता है। प्रत्येक विशिष्ट ज्ञान में एक मुख्य विशेष्य तथा एक मुख्य प्रकार होता है। उसके विषयों में मुख्य विशेष्य एवं मुख्य प्रकार से अतिरिक्त गौण विशेष्य एवं गौण प्रकार भी होते हैं एवं विशेष्यता-प्रकारता-युगल परस्पर निरूप्य-निरूपक भाव से सम्बद्ध रहते हैं। उदाहरणस्वरूप, 'रक्तदण्डवान् पुरुषः'– इस विशिष्ट ज्ञान में पुरुष मुख्य विशेष्य है एवं दण्ड मुख्य प्रकार है। पुरुषत्व, मुख्यविशेष्यनिष्ठ विशेष्यता का अवच्छेदक है। दण्डनिष्ठ-प्रकारता संयोग सम्बन्ध एवं दण्डत्व धर्म से अवच्छिन्न है। दण्डनिष्ठ-प्रकारता एवं पुरुषनिष्ठ-विशेष्यता में परस्पर निरूप्य-निरूपक भाव है। दण्ड के विशेषण के रूप में रक्तरूप भासित होता है। रक्तरूप में रहने वाली प्रकारता समवाय सम्बन्ध एवं रक्तत्व जाति के द्वारा अवच्छिन्न है। यह प्रकारता दण्ड में रहने वाली पुरुषनिष्ठ-विशेष्यता-निरूपित-प्रकारता की अपेक्षा से गौण है एवं यह गौण प्रकारता दण्ड में एक विशेष्यता को निरूपित करती है। दण्ड में मुख्य प्रकारता के साथ-साथ गौण विशेष्यता भी रहती है। विशिष्ट ज्ञान तब एवं केवल तब प्रमा होता है जब उसमें भासमान सभी विशेष्य-विशेषण-भाव तद्वति तत्प्रकारत्वविशिष्ट होते हैं, अर्थात् जब वे सभी यथार्थ या वस्त्वनुसारी होते हैं। अन्य शब्दों में, विशिष्ट ज्ञान का प्रमात्व रूपी धर्म विशेष्य-विशेषणभाव की अपेक्षा से व्याप्यवृत्ति है। परन्तु एक विशिष्टज्ञान को अप्रमा होने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसमें भासमान सभी विशेष्य-विशेषणभाव वस्तुस्थिति के विपरीत हों। उसके लिये केवल एक ही विशेष्य-विशेषणभाव का अयथार्थ होना पर्याप्त है। उदाहरणस्वरूप, जब वस्तुतः चैत्र छाता लेकर

आ रहा है एवं मैत्र चैत्र से भिन्न व्यक्ति है परन्तु देवदत्त 'मैत्र छाता लेकर आ रहा है' ऐसा सोचता है, तब देवदत्त का ज्ञान अप्रमा है क्योंकि मुख्य विशेष्य चैत्र में भासमान मैत्रत्व रूपी विशेष्यतावच्छेदकधर्म नहीं है। परन्तु, देवदत्त के विशिष्ट ज्ञान में भासमान अन्य सभी विशेष्य-विशेषणभाव वस्तुस्थिति के अनुरूप हैं। अन्य शब्दों में, ज्ञान का अप्रमात्व धर्म अव्याप्यवृत्ति है।

परम्परागत न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श व्याप्यवृत्ति धर्म के रूप में स्वीकृत हैं। शब्द, संयोग एवं विभाग स्पष्टतया अव्याप्यवृत्ति हैं। आत्मा के नौ विशेष गुणों में से धर्म, अधर्म एवं संस्कार को छोड़कर शेष छः मानसप्रत्यक्षग्राह्य हैं। आत्मा के सारे विशेष गुणों की उत्पत्ति तथा सुख, दुःख का अनुभव एक शरीर विशेष के अवच्छेद से होने के कारण उनको दैशिक अव्याप्यवृत्ति माना गया है। वस्तुतः ये कालिक अव्याप्यवृत्ति भी हैं। शारीरिक सुख एवं दुःख तथा स्पर्शादि का अनुभव शरीर के अवच्छेद विशेष से ही होता है, यद्यपि मानसिक दुःख, सुख आदि का अनुभव शरीरावयव विशेष से अवच्छिन्न नहीं होता है। बाह्येन्द्रियाँ वस्तुतः विशेष प्रकार के शरीरावयव ही हैं। न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के आत्मा, शरीर एवं इन्द्रियों के स्वरूप एवं परस्पर सम्बन्धविषयक सिद्धान्तों में भारतीय आध्यात्मिक परम्परा का एवं विशेष रूप में कर्मवाद एवं संसारवाद का प्रभाव दूरगामी तथा तलस्पर्शी है। कर्मवाद एवं संसारवाद की वस्तुनिष्ठता अस्वीकृत होने पर मानव व्यक्तिविषयक सिद्धान्त के निर्माण के लिये सम्बन्धित विज्ञान की शाखाओं के आनुषङ्गिक सिद्धान्तों पर आश्रित रहना यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय के अनुसार आवश्यक है।

३.४ अवयविसिद्धि के लिये रूपरसादि के व्याप्यवृत्तित्व एवं चित्ररूपरसादि की आवश्यकता

रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श का व्याप्यवृत्तित्वविषयक परम्परागत मत विवादास्पद है। जब नीले, पीले, लाल, काले एवं सफेद रङ्ग के तन्तुओं से एक साड़ी बुनी जाती है तब साड़ी रूपी अवयवी में एक रूप स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि परस्परागत मतानुसार द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिये उसमें उद्भूत अर्थात् प्रत्यक्षग्राह्य रूप का होना आवश्यक है।[३९]

---

३९. (क) "चित्ररूपस्यावयविनः प्रतीतेररूपस्य द्रव्यस्य प्रत्यक्षत्वाभावाच्च।" *न्यायकन्दली*, पृ. ७५

रूपहीन द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। नील-पीतादि नानावर्ण वाले अवयवों से आरब्ध अवयवी में एक चित्ररूप की प्रतीति होती है यह नकारा नहीं जा सकता है।[४०] यह भी कहना युक्तिसङ्गत नहीं है कि अवयवी का चाक्षुष प्रत्यक्ष अवयवों के रूप के कारण ही होता है, क्योंकि एक द्रव्य की रूपवत्ता के आधार पर उससे भिन्न अन्य एक द्रव्य का चाक्षुष-प्रत्यक्ष-विषयत्व स्वीकार्य नहीं होता है, अन्यथा पृथिवी की रूपवत्ता से वायु के चाक्षुष प्रत्यक्ष का प्रसङ्ग खड़ा होता है।[४१] अवयवी रूप, रसादि के असमवायिकारण यथाक्रम अवयवों के रूपरसादि होते हैं। अवयवों से भिन्न अवयवी के अस्तित्व की सिद्धि के लिये उसमें अवयव रूपरसादि से भिन्न रूपरसादि सिद्ध करना आवश्यक है। एक ही अवयवी में अनेक रूपरसादि की कल्पना, अवयवी के एकत्व एवं अपने अवयवों से भेद का बाधक है। अतः चित्ररूप का एकत्व अवश्य स्वीकार्य है यद्यपि चित्रशब्द के अर्थ से ही उसका अनेकविषयत्व स्पष्ट है। सजातीय रूप से विशिष्ट अवयवों से आरब्ध अवयवी का रूप, अवयव रूप का सजातीय होता है। परन्तु, विजातीय रूप विशिष्ट अवयवों से आरब्ध अवयवी का रूप अवयव रूप का सजातीय नहीं होता है।

३.५ पार्थसारथी एवं रघुनाथ द्वारा रूपरसादि के अव्याप्यवृत्तित्व की सिद्धि एवं चित्ररूप का खण्डन

उपर्युक्त कारणों से अवयवी की सिद्धि के सन्दर्भ में न्यायवैशेषिक

(ख) "ननु चित्रपटे अवयवरूपस्यैव प्रतीतिरिति चेन्न। रूपरहितत्वेन पटस्याप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। न च रूपवत्समवेतत्वं प्रत्यक्षप्रयोजकं गौरवात्। तस्मात् पटस्य प्रत्यक्षत्वान्यथानुपपत्त्या चित्ररूपसिद्धिः।" *तर्कसङ्ग्रहदीपिका*, पृ.२०४

(ग) "द्रव्यगुणकर्मसामान्यानां चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति उद्भूतरूपं कारणम्।" *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*, पृ. ३८०

४०. "पटस्य चित्रं रूपमित्यनुभव एवात्राबाधितः प्रमाणमिति भावः।" *न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका*, पृ. ६४५

४१. (क) "न तावदवयवरूपादवयविनो ग्रहणं युक्तमिति। न द्रव्यान्तररूपेण द्रव्यान्तरे चाक्षुषत्वं दृष्टं, न खलु पृथिव्यादिरूपेण वायुश्चाक्षुष इत्यर्थः।" *वही*, पृ. ६४६

(ख) देखिये, *न्यायवार्तिक*, पृ. ५११-५१२

दार्शनिकों को चित्ररूप नामक एक स्वतन्त्र रूप स्वीकार करना पड़ा था। परन्तु नील, पीत आदि अवयवों से आरब्ध अवयवी में एक चित्ररूप स्वीकार करने पर उसमें नीलत्व, पीतत्व आदि असमानाधिकरण जातियों का चित्ररूप में सामानाधिकरण्य स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। चित्ररूप के एकत्व एवं मौलिकत्व की रक्षा के लिये न्यायवैशेषिक दार्शनिक उपर्युक्त आपाततः असम्भव सामानाधिकरण्य को अनुभवसिद्ध के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।[४२] परन्तु वस्तुतः अवयवी सिद्धि एवं उसके एकत्व की सिद्धि के लिये चित्ररूप नामक एक स्वतन्त्र मौलिक कोटि लाघव के नाम पर स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। चित्ररूप की प्रतीति सर्वथा स्वीकार्य है। परन्तु चित्ररूप की प्रतीति से न तो चित्ररूप का एकत्व, न उसका मौलिक रूपकोटि में होना सिद्ध होता है। रूप के व्याप्यवृत्तित्व स्वीकार करके एक ही तथाकथित चित्ररूप में नीलत्व, पीतत्वादि परस्पर विरोधी रूपत्व की अवान्तर जातियों का समवाय मान लेना अनुभव एवं युक्ति विरुद्ध है। पुनश्च, विजातीय रूपों के दैशिक समावेश से एक ही प्रकार के रूप की उत्पत्ति नहीं होती है। नील एवं पीत तन्तुओं से आरब्ध पट के रूप, श्वेत एवं रक्त तन्तुओं से आरब्ध पट के रूप से अवश्य भिन्न है। वस्तुतः अवयवी में अवयवनिष्ठ भिन्न-भिन्न एवं परस्पर विजातीय रूप, अवयवरूपी प्रदेश भेद से समवेत हैं– यह स्वीकार करने पर प्रक्रियानिर्वाह सम्भव हो जाता है।[४३] अवयवी के एकत्व एवं

---

४२. (क) "नीलत्वादिजातीनां विरुद्धत्वादेकत्रसमवायो न युक्त इति चेत्, न; विरोधस्यासिद्धत्वात्। अन्यत्र सहादर्शनात् तत्सिद्धिरिति चेत्, न, नीलत्वोत्पलत्वयोरपि विरोधप्रसङ्गात्। तयोरेकत्रदर्शनादविरोध इति चेत्, समानमेतत्। युक्त्यापि भिन्नजातीयरूपारब्धस्यावयविरूपस्यानेकजात्याधिकरणत्वं सम्भाव्यते, अवयवरूपाणां नियमेनावयविनि समानजातीयरूपारम्भकत्वदर्शनादिति।" *न्यायभूषण*, पृ. ११३

(ख) देखिये, *न्यायकन्दली*, पृ. ७५-७६

(ग) देखिये, *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*, पृ. ३८६-३८८

४३. "ननु चित्रः पट इति प्रतीयते न तु शुक्लः पीत इति वा, तस्माच्चित्राख्यं रूपान्तरमत्रोत्पन्नम्। नैवम्। चित्रं नानारूपमित्यर्थः। चित्रशब्दो हि नानापर्यायो लौकिकानां प्रसिद्धः। ततश्चित्राख्यमेकमेव रूपं लोकविरोधादेवायुक्तमङ्गीकर्तुम्। नानारूपाणामपि चावयवभेदद्वारेणैकस्मिन्नपि पटे समवायो नानुपपन्नः।" *शास्त्रदीपिका*, प्रथमाध्याय, प्रथमपाद, पृ. १०८

उसकी अपने अवयवों से भेदसिद्धि के लिये उसमें एक मौलिक रूप स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। न्याय परम्परा में अवयवी की सिद्धि मूल रूप में रूप, रसादि के व्याप्यवृत्तित्व अथवा अवयविनिष्ठ रूप, रसादि गुणों के एकत्व पर आश्रित नहीं है। अवयवी की सिद्धि मूल रूप में स्थूल प्रत्यक्षग्राह्य पदार्थों की ज्ञानमीमांसीय अपरिहार्यता तथा प्रतिसन्धानमूलक युक्तियों पर आश्रित है।

सजातीय मौलिक रूप में केवल गहनत्व का भेद सम्भव है, न कि प्रकार भेद। मौलिक रूपों के विभिन्न अनुपात में मिश्रण से नानाविध सङ्कर रूप उत्पन्न होते हैं। नानाविध मौलिक रूपों के दैशिक संस्थान के रूप में ही चित्ररूप स्वीकार्य है। मौलिक रूपों के परस्पर दैशिक अवस्थान के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्ररूप सम्भव हैं। उदाहरणस्वरूप, परस्पर सटे हुए दो वर्गाकार क्षेत्र दिये जाने पर उन दो क्षेत्रों को छः मौलिक रूपों के आधार पर कुल ६×५=३० प्रकार के विजातीय चित्ररूपों के द्वारा चित्रित किया जा सकता है।

रूप, रस एवं स्पर्शादि का अव्याप्यवृत्तित्व सर्वलोक प्रतीतिसिद्ध है। नारियल का एक गोला ऊपर से सफेद नहीं है परन्तु अन्दर से सफेद है। एक ही आम ऊपरी भाग से मीठा होने पर भी नीचे के भाग से खट्टा हो सकता है। एक वृक्ष मूल भाग से कठिन स्पर्श विशिष्ट होने पर भी पुष्प पत्रादि भाग से कोमल होता है। अतः रूप, रस आदि का व्याप्यवृत्तित्वविषयक परम्परागत न्यायवैशेषिक मत प्रमाणसिद्ध नहीं कहा जा सकता है। रूप, रस आदि का अव्याप्यवृत्तित्व स्वीकार कर लेने पर चित्ररूप, चित्ररस आदि धर्मों को स्वीकार करने पर जो आपत्तियाँ उठती हैं वे भी अपने आप दूर रहती हैं।

शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथी की चित्ररूप खण्डन प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए रघुनाथ शिरोमणि चित्ररूप को एक ही अवयवी रूपी अधिकरण में समवेत विजातीय रूप समुदाय के रूप में स्वीकार करते हैं।[४४] एक अतिरिक्त युक्ति प्रस्तुत करते हुए रघुनाथ लिखते हैं कि रूप केवल सजातीय रूप का ही असमवायिकारण होता है, न कि विजातीय रूप का। अतः

---

४४. "चित्रमपि नातिरिक्तं रूपं समानाधिकरणविजातीयरूपसमुदायादेव तथाविधव्यवहारोपपत्तेः नीलादेर्नीलाद्यतिरिक्तरूपाजनकत्वाच्च।" *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ.१४

नील, पीतादि अवयवनिष्ठ रूपों से उत्पन्न अवयवी का चित्ररूप नील पीतादि सजातीय न होने से उनसे उत्पन्न नहीं हो सकता है। परन्तु विजातीय रूपों का दैशिक संस्थान रूपी समुदाय एक मौलिक रूप को उत्पन्न न करने पर भी अवस्तु नहीं है। रूपों का उपर्युक्त प्रकार का दैशिक संस्थान एक यौगिकरूप को उत्पन्न करता है।

देश विशेष में एक ही काल में विभिन्न गायकों द्वारा गाया गया गान सामूहिक गान कहलाता है। मेला एवं हाट आदि स्थलों में एकत्रित जनसङ्घात द्वारा उत्पन्न नानाविध ध्वनियों का सम्मिश्रण कोलाहल कहलाता है। पक्षियों का सामूहिक कूजन ध्वनि विशेष ही है। अनुक्रम विशेष में उच्चरित वर्ण शब्दविशेष को उत्पन्न करते हैं। सामूहिक गान कोलाहल एवं भाषा विशेष के शब्द, तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से ध्वनि कोटि के तत्त्व हैं। अनुरूप युक्ति से नानाविध मौलिक अथवा मिश्रित या सङ्कर रूपों के दैशिक सन्निवेश रूपी चित्ररूप समूहात्मक होने पर भी तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से रूपकोटि के पदार्थ हैं। मौलिक एवं मिश्रित या सङ्कर रूप व्याप्यवृत्ति होते हैं। एक ही अवयवी में अवयवभेद से भिन्न-भिन्न मौलिक अथवा सङ्कर रूपों के सन्निवेश के कारण ही रूप अव्याप्यवृत्ति होता है।

अवयवी खण्डन प्रसङ्ग में चित्ररूप का खण्डन एवं बाद में चित्ररूप को नाना रूपों के समुदाय के रूप में स्वीकरणीयता की पृष्ठभूमि में ही रघुनाथ चित्ररूप का खण्डन करते हैं एवं रूप का अव्याप्यवृत्तित्व सिद्ध करते हैं। अनुरूप युक्ति से स्पर्श, रस एवं गन्धों का अव्याप्यवृत्तित्व भी सिद्ध होता है। *पदार्थतत्त्वनिरूपण* में रघुनाथ शिरोमणि इन युक्तियों को सरल एवं सुस्पष्ट रूप में प्रस्तुत करते हैं। स्पर्श भी रूप की तरह अव्याप्यवृत्ति है, अन्यथा कोमल एवं कठोर अवयवों से उत्पन्न अवयवी के कोमल अवयव के स्पर्श से कठोर स्पर्श के अनुभव की आपत्ति तथा कठोर अवयव के स्पर्श से कोमल स्पर्शानुभव की आपत्ति होती। एक ही समय परस्पर विरुद्ध कोमल एवं कठोर स्पर्शानुभव सम्भव नहीं है। यह भी कहना युक्तिसङ्गत नहीं है कि कठोरता एवं कोमलता यथाक्रम त्रसरेणुओं के निविड़ एवं शिथिल संयोग मात्र ही हैं, क्योंकि तब उनके चक्षुरिन्द्रियग्राह्य होने की आपत्ति होती है। उसी प्रकार रस भी अव्याप्यवृत्ति है, अन्यथा कड़ुवे एवं मीठे अवयवों से उत्पन्न अवयवी के कड़ुवे अवयव के साथ रसनेन्द्रिय संयोग से मीठापन का अनुभव एवं मीठे अवयव के

साथ रसनेन्द्रिय संयोग से कड़ुवेपन के अनुभव की आपत्ति उठती। अनुरूप युक्ति से गन्ध का अव्याप्यवृत्तित्व भी स्वीकार्य होता है।[४५]

३.६ भासर्वज्ञ एवं रघुनाथ के द्वारा कर्म की अव्याप्यवृत्तित्वसिद्धि

अवयवी खण्डन के लिये बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा प्रस्तुत की गयी युक्तियों में से एक युक्ति यह है कि, यदि अवयवी एक एवं अपने अवयवों से भिन्न होता, तो उसके एक देश में स्पन्दन होने पर समग्र अवयवी भी स्पन्दित हो जाता, जो कि वस्तुतः नहीं होता है। अतः अवयवी को अवयवों से भिन्न एवं एक मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। इसका खण्डन करते हुए भासर्वज्ञ *न्यायभूषण* में कहते हैं कि ऐसा कोई व्याप्तिसम्बन्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि अवयवी के एक अवयव में स्पन्द रहने पर उसके अन्य सभी अवयवों में भी स्पन्द रहेगा। एक गाय की पूँछ और सिर हिलने पर भी उसकी पीठ स्थिर रह सकती है। उससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि पूँछ एवं सिर पीठ से भिन्न हैं। कभी-कभी गाय के सिर हिलने पर भी उसकी पूँछ स्थिर रहती है। उससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि गाय का सिर उसकी पूँछ से भिन्न है। अवयवी के किसी एक अवयव की अपेक्षा से स्पन्दन का होना एवं उसके अन्य अवयवों की अपेक्षा से उसमें स्पन्दन का अभाव रहना, अवयवी के एकत्व अथवा अवयवों से उसके भेद की अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं करता है। जब सम्पूर्ण अवयवी भूतलादि की अपेक्षा से गतिमान् होता है, तब अवयवी के कुछ अवयवों में अन्य अवयवों की अपेक्षा से गति का अभाव रहने पर भी अवयवी में गति रहती है। वस्तुतः अवयवी में गतिजनक सामग्री उसके अवयवों में गतिजनक सामग्री से भिन्न होती है। जिस कारणसामग्री से एक गाय के शरीर में स्थानान्तरणजनक गति उत्पन्न होती है वह गाय की केवल पूँछ में

---

४५. "स्पर्शोऽपि चाव्याप्यवृत्तिः। अन्यथा सुकुमारकठिनाभ्यामवयवाभ्यामारब्धेऽवयविनि सुकुमारावच्छेदेन त्वक्संयोगे काठिन्यस्याप्युपलम्भप्रसङ्गः। न च सुकुमारत्वकठिनत्वे संयोगविशेषौ चाक्षुषत्वप्रसङ्गात्। रसोऽपि चाव्याप्यवृत्तिः। अन्यथा तिक्त-मधुराभ्यामारब्धेऽवयविनि तिक्तावयवावच्छेदेन रसनासंयोगे माधुर्योपलम्भप्रसङ्गः नीरस एव वा तत्रावयवो। एतेन गन्धो व्याख्यातः।" *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ. १५

हिलना रूपी व्यापारजनक सामग्री से अवश्य भिन्न है।[४६] इसी सन्दर्भ में बौद्धों की उपर्युक्त युक्ति के खण्डन के लिये भासर्वज्ञ अन्य एक वैकल्पिक मार्ग भी दिखाते हैं। उनके मत में कर्म को संयोग जैसा अव्याप्यवृत्ति स्वीकार कर लेने पर बौद्धोद्भावित विरोधाभास का निराकरण हो जाता है।[४७] यदि यह कहा जाये कि दौड़ते हुए आदमी में गति व्याप्यवृत्ति धर्म के रूप में गृहीत होती है अतः कर्म व्याप्यवृत्ति है, तो पानी में बहुत देर तक अच्छी तरह भिगाये गये कपडे के सभी अवयवों के अवच्छेद से पानी का संयोग उपलब्ध होने से संयोग को भी व्याप्यवृत्ति धर्म के रूप में स्वीकार करना आवश्यक हो जायेगा। परन्तु संयोग का अव्याप्यवृत्तित्व निर्विवाद है।[४८] भासर्वज्ञ की उपर्युक्त उक्ति में व्याप्यवृत्तित्व एवं अव्याप्यवृत्तित्व के भेदविषयक उनके अन्तर्निहित विचार को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। एक धर्म का दैशिक व्याप्यवृत्तित्व सिद्ध करने के लिये यह सिद्ध करना आवश्यक है कि उस धर्म के किसी भी आश्रय के एक प्रदेश अथवा पक्ष की अपेक्षा से उस धर्म का रहना तथा साथ-साथ उस आश्रय के अन्य किसी प्रदेश अथवा पक्ष की अपेक्षा से उस धर्म का न रहना असम्भव है। परन्तु एक धर्म का अव्याप्यवृत्तित्व सिद्ध करने के लिये केवल इतना ही सिद्ध करना पर्याप्त है कि उस धर्म का कम से कम एक आश्रय है जिसके एक प्रदेश या पक्ष की अपेक्षा से वह धर्म रहता है एवं साथ-साथ उस आश्रय के अन्य एक प्रदेश या पक्ष की अपेक्षा से उस धर्म का अभाव

---

४६. ''नन्वेकावयवकम्पनेऽन्यावयवानामकम्पनादस्ति चलाचलत्वं, तेन भेदसिद्धिः। ततः किमनिष्टम्? यदि नामावयवानां चलाचलत्वेन भेदः ततोऽर्थान्तरस्यावयविनः किमायातम्? यदा खल्वयविनश्चलत्वमुत्पद्यते तदा अवयवस्य कस्यचिद-चलत्वेऽपि न तस्याचलत्वम्। यदा तु नोत्पद्यते तदा अवयवस्य चलत्वेऽपि नावयविनश्चलत्वम्। तयोरवयवावयविचलनयोर्भिन्नसामग्रीजन्यत्वेन युगपदुत्पत्ति-नियमायोगात्।'' *न्यायभूषण*, पृ. ११०

४७. ''अथवा संयोगवच्चलनस्यापि प्रदेशवृत्तित्वं तेनैकस्यापि चलाचलप्रत्ययविषयत्वं न विरुध्यते।'' *न्यायभूषण*, पृ. १११

४८. ''धावति पुरुषे चलनस्याप्रदेशवृत्तित्वोपलम्भादयुक्तमिति चेत्, एवं तर्हि वस्त्रोदकादिसंयोगस्याप्रदेशवृत्तित्वोपलम्भात् संयोगस्यापि प्रदेशवृत्तित्वमयुक्तम्।'' *वही,* पृ.१११

भी रहता है। एक अव्याप्यवृत्ति धर्म के लिये यह सम्भव है कि अपने कुछ आश्रयों के समस्त प्रदेश या पक्षों की अपेक्षा से वह धर्म उस आश्रय में रहता है। उदाहरणस्वरूप, यौगिकाणु घटक तत्त्वों का आयनिक बन्धन रूपी संयोग व्याप्यवृत्ति होता है। परन्तु परमाणुओं का कोवेलेन्ट बन्धन रूपी संयोग तथा घटपटादि स्थूल द्रव्यों के परस्पर संयोग प्रदेशवृत्ति होने के कारण संयोग का अव्याप्यवृत्तित्व मान्य होता है। परन्तु, परमाणु एवं यौगिकाणु में रहने वाली जातियाँ तथा सामान्य रूप में सभी जातियाँ स्वभावतः व्याप्यवृत्ति होती हैं। भासर्वज्ञप्रदर्शित मार्ग पर चलते हुए रघुनाथ शिरोमणि कर्म का अव्याप्यवृत्तित्व स्वीकार करते हैं।[४९]

इस प्रकरण पर विचार समाप्त करने के पहले स्पन्द एवं गति को लेकर उत्पन्न कुछ कठिनाइयों को दूर करना आवश्यक है। जब एक मूर्तद्रव्य एक प्रदेश से अन्य एक प्रदेश को स्थानान्तरित होता है तब उस स्थानान्तरण के कारण के रूप में मूर्तद्रव्य में गति रूपी कर्म का होना आवश्यक है। गति का ज्ञान पृथिवी जैसी एक पृष्ठभूमि की अपेक्षा से ही होता है। सौर मण्डल में पृथिवी स्वयं गतिशील होने पर भी पृथिवी की वह गति पृथिवी पर रह कर प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं होती है। आकाश में जब एक हवाई जहाज, जिसके सारे पर्दे खींचे हुये है, स्थिर गति से बिना किसी हलचल चलता है, तब उस जहाज एवं वहाँ बैठे हुए निश्चल यात्री पृथिवी की अपेक्षा से गतिशील होने पर भी उस गति का ज्ञान यात्रियों को प्रत्यक्ष से नहीं होता है। न तो वे जहाज की अथवा परस्पर की अपेक्षा से गतिमान् होते हैं। जब उन यात्रियों में से एक अपना स्थान छोड़कर जहाज के पीछे की तरफ चलता है, तब उसकी गति अन्य यात्रियों को प्रत्यक्षग्राह्य होती है। परन्तु जब एक यात्री अपने स्थान पर बैठा हुआ केवल अपना सिर या हाथ हिलाता है, तब वह यात्री जहाज की अपेक्षा अवश्य निश्चल होता है। उसके सिर एवं हाथ जहाज की अपेक्षा तथा उसके शरीर के अन्य

---

४९. "कर्मापि चाव्याप्यवृत्ति। चलन्तीषु सर्वासु शाखासु निश्चले वृक्षे चलतीति प्रत्ययात्। शाखा एव परं चलन्ति न पुनर्वृक्ष इत्यपि प्रत्ययोऽस्तीति चेत् तस्य सर्वावयवावच्छेदेन चलनाभावो न पुनः सर्वथैव चलनाभाव उक्तप्रत्ययविरोधात्। अत एव सदा सकम्पोऽश्वत्थ इति प्रसिद्धिरपि।" *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ.१७

स्थिर अवयवों की अपेक्षा निश्चल नहीं होते हैं। उस यात्री के पैर आदि अन्य अवयव जहाज की अपेक्षा निश्चल रहते हैं। अतः जब एक अवयवी पृथिवी की अपेक्षा से गतिमान् होता है, तब उसके सारे अवयव अवश्य पृथिवी की अपेक्षा से गतिमान् होते हैं। परन्तु जब एक अवयवी के गुरुत्व का केन्द्रबिन्दु पृथिवी की अपेक्षा से स्थिर रहता है, जैसा कि पृथिवी पर अभिलम्बित एक दण्ड के शीर्ष बिन्दु पर पृथिवी तल के साथ समानान्तर तल पर अवस्थित एक स्थिर घूर्णनशील चक्र के स्थल में होता है, तब उस अवयवी के सारे अवयव पृथिवी की अपेक्षा से गतिमान् होने पर भी वह अवयवी स्वयं पृथिवी की अपेक्षा से स्थिर रहता है।

४. पृथक्त्व का भेदस्वरूपत्वविषयक विचार

४.१ परम्परानुसार पृथक्त्व की स्वतन्त्रगुणत्वसिद्धि

जब घास के एक पत्ते पर दो ओस के बिन्दुओं का प्रत्यक्ष होता है, तब एक ओस बिन्दु का ग्रहण दूसरे से पृथक् होने के रूप में होता है। उपर्युक्त प्रकार का पृथक्त्वविषयक ज्ञान 'यह इससे पृथक् है'– इस आकार के वाक्य के द्वारा अभिलपित होता है। उपर्युक्त प्रकार के पृथक्त्वविषयक ज्ञान तथा उपर्युक्त आकार का वाक्यप्रयोग *अपोद्धार व्यवहार* नाम से जाना जाता है।[५०] सप्तर्षिमण्डल के वशिष्ठ तारे के समीप जब अरुन्धती तारका सप्तर्षिमण्डल में अन्तर्भूत न होने तथा मण्डल के ताराओं से पृथक् रूप में गृहीत होती है एवं उक्त विशिष्ट ज्ञान 'अरुन्धती

---

५०. (क) "पृथक्त्वमपोद्धारव्यवहारकारणम्।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. ३३२.

(ख) "अपोद्धारव्यवहार इदमस्मात् पृथगिति ज्ञानं व्यपदेशश्च, तस्य कारणं पृथक्त्वमिति।" *न्यायकन्दली, वही,* पृ. ३३२.

(ग) "व्यवहृतिर्व्यवहारो ज्ञानं व्यवह्रियते अनेनेति व्यवहारोऽभिधानं तयोर्हेतुः। हेतुःपृथक्त्वमित्युक्ते अतिप्रसङ्गस्तदर्थमपोद्धारग्रहणम्। अपोद्धरणमपोद्धारः पृथक्करणम्।" *व्योमवती*, पृ. ४८०

(घ) "'एतस्मादिदं पृथक्'। 'एतस्मादिदमितरद् अन्यत्, अर्थान्तरम्' इति ज्ञानमभिधानं च अपवृज्यापेक्ष्य चोद्धारो निर्द्धारणमपोद्धारः; स चासौ व्यवहारश्चेति, तस्य निमित्तं पृथक्त्वमिति पूर्ववत् प्रमाणलक्षणे स्याताम्।" *किरणावली*, पृ. १४१

सप्तर्षिमण्डल के ताराओं से पृथक् है'– इस वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, तब उक्त ज्ञान एवं शब्दप्रयोग अपोद्धार व्यवहार कहलाते हैं। जब आम के पेड़ों के मध्य कुछ नीम के पेड़ उन आम के पेड़ों से पृथक् होने के रूप में गृहीत होते है एवं 'ये नीम के पेड़ उन आमों के पेड़ों से पृथक् हैं'– इस वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है तब वह अपोद्धार व्यवहार है। सामान्य रूप में जब एक या एकाधिक द्रव्यव्यक्ति अन्य सजातीय अथवा विजातीय द्रव्यों से पृथक् होने के रूप में गृहीत होते हैं एवं उक्त विशिष्ट ज्ञान 'यह इससे (इनसे) पृथक् हैं' अथवा 'ये इससे (इनसे) पृथक् है' वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त होता है तब वह अपोद्धार कहलाता है।

व्योमशिवाचार्य प्रशस्तपाद की पृथक्त्वसिद्धिविषयक युक्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पृथक्त्वविषयक ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है एवं द्रव्य ही इस ज्ञान का विशेष्य होता है। विशिष्ट ज्ञान विशेषण रूपी पदार्थ के बिना सम्भव नहीं होता है। द्रव्य के विशेषण के रूप में भासित पृथक्त्व का विषय निश्चित रूप में द्रव्यनिष्ठ रूप, रस आदि धर्मों से भिन्न है, क्योंकि रूप रस आदि की उपलब्धि न होने पर भी द्रव्यनिष्ठ पृथक्त्व का ज्ञान होता है। अतः पृथक्त्व रूप, रस आदि से भिन्न द्रव्यनिष्ठ एक स्वतन्त्र गुण है। यह गुण द्रव्यों में पृथक्त्व-विषयक विशिष्ट ज्ञान का निमित्त कारण है।[५१] पृथक्त्व को जातिकोटि के पदार्थ के रूप में स्वीकार करने पर जातिसङ्कर दोष की आपत्ति होती है।[५२] वस्तुतः, नित्य द्रव्यों में पृथक्त्व गुण स्वीकार करने पर अन्त्यविशेष पदार्थ का शास्त्रीय प्रयोजन नहीं रहता है। मीमांसकों को यह अभीष्ट है।

४.२ भासर्वज्ञ के मत में पृथक्त्व का भेदस्वरूपत्व

न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ पृथक्त्व को स्वतन्त्र गुण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उनके मत में पृथक्त्व वस्तुतः भेदस्वरूप ही है। जब

---

५१. "अपोद्धारव्यवहारो हि विशेष्यव्यवहारः। स च नर्त्ते विशेषणाद् भवतीति रूपादिव्यवहारविलक्षणत्वाद्विलक्षणेनैव निमित्तेन भवितव्यम्, तथा रूपाद्यनुपलब्धौ पृथगिति व्यवहारदर्शनाच्च।" *व्योमवती*, पृ. ४८०

५२. "अस्तु तर्हि गोत्वादिवत् सामान्यविशेषः पृथक्त्वमित्यपि न वाच्यम्, जातिसङ्करप्रसङ्गात्। तस्माद् गुण एवैति स्थितम्।" *किरणावली*, पृ. १४२

एक पदार्थ अन्य पदार्थों से भिन्न रूप में प्रत्यक्ष से गृहीत होता है, तब 'वह पदार्थ उन पदार्थों से पृथक् है'– इस आकार की प्रतीति होती है। उसी प्रकार जब कोई व्यक्ति दो पदार्थों को किसी एक विलक्षण धर्म के आधार पर अन्य पदार्थों से भिन्न होने के रूप में ग्रहण करता है, तब उसको 'ये दोनों इनसे पृथक् है'– इस प्रकार की प्रतीति होती है। उसी प्रकार जब कोई प्रदेश विशेष में अवस्थान अथवा अन्य किसी सामान्य धर्म के आधार पर तीन या तीन से अधिक पदार्थों को अन्य पदार्थों से भिन्न होने के रूप में ग्रहण करता है, तब उसमें 'ये इनसे पृथक् हैं'– इस आकार की प्रतीति होती है। रूप, रसादि में उनके आश्रयों से भिन्न अर्थात् पृथक् होने की प्रतीति भी होती है। सामान्य रूप में, भेदप्रत्यायक धर्म के बिना पृथक्त्व की प्रतीति नहीं होती है।[५३] अतः पृथक्त्व वस्तुतः भेदस्वरूप होने से अभाव कोटि में अन्तर्भूत है।

सङ्क्षेप में भासर्वज्ञ के अनुसार यदि एक धर्म D पदार्थ $a_१$, $a_२$.., a_m में है परन्तु पदार्थ $b_१$, $b_२$.., b_n में नहीं है, जहाँ पर $m \geq १$, $n \geq १$ एवं $a_१$, $a_२$..., a_m परस्पर से भिन्न हैं तथा $b_१$, $b_२$..., b_n भी परस्पर से भिन्न हैं, तो पदार्थ $a_१$, $a_२$..., a_m पदार्थ $b_१$, $b_२$..., b_n से भिन्न या पृथक् कहे जा सकते हैं। यहाँ पर $a_१$, $a_२$..., a_m का $b_१$, $b_२$..., b_n से भेदज्ञापक धर्म D है। इस प्रकार के भेदज्ञापक धर्म के बिना पृथक्त्व प्रमाणसिद्ध नहीं हो सकता है। पृथक्त्व प्रमाणसिद्ध होने पर भेद भी प्रमाणसिद्ध हो जाता है। अन्य शब्दों में, a, b से पृथक् है यदि एवं केवल यदि a, b से भिन्न है।

४.३ भासर्वज्ञ मत की परम्परागत समालोचना

पृथक्त्व का भेदस्वरूपत्वविषयक मत व्योमशिवाचार्य, श्रीधर, उदयन

---

५३. "पृथक्त्वस्यापि गुणत्वमयुक्तम्। भिन्नत्वस्यैव पृथगिति व्यवहारहेतुत्वात्। यदा तावदेकं वस्त्वितरेभ्यो भिन्नं पश्यति तदैकं पृथगिति प्रतिपद्यते। यदा द्वे वस्तुनीतरेभ्यो विलक्षणैकधर्मयोगाद् भिन्ने पश्यति, तदा द्वे पृथगिति मन्यते। यदा तु एकदेशत्वादिना धर्मेणेतरेभ्यो बहूनि भिन्नानि पश्यति तदैतान्येतेभ्यः पृथगिति प्रतिपद्यते, यथा रूपादयो द्रव्यात् पृथगिति। एवं च भेदप्रत्यायकधर्मव्यतिरेकेण नान्यदस्ति पृथक्त्वम् ततश्च तत्प्रक्रियागहनमपि निस्तीर्णं भवतीति।" *न्यायभूषण*, पृ. १६०

एवं श्रीवल्लभ के द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में लिया गया है। इस मत को प्रस्तुत करते हुए व्योमवतीकार लिखते हैं– "तब इतरेतराभाव ही (पृथक्त्व प्रत्यय का) निमित्त है, क्योंकि 'यह यह नहीं है, यह इससे भिन्न (पृथक्, अर्थान्तर, विलक्षण) है' इस प्रकार का ज्ञान सर्वत्र भेदजन्य ही होता है।"[५४]

पृथक्त्व के भेदस्वरूपविषयक पूर्वपक्ष के खण्डन के रूप में न्यायकन्दलीकार लिखते हैं कि पृथक्त्व वस्तुतः इतरेतराभाव अर्थात् अन्योन्याभाव या भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि अभाव 'नहीं' आदि पद के बिना वाक्य में अभिव्यक्त नहीं होता है। पुनश्च, पृथक्-प्रत्यय स्पष्टतया विधिप्रत्यय के रूप में भासित होता है, न कि प्रतिषेधगर्भक प्रत्यय के रूप में।[५५] श्रीधराचार्य की उपर्युक्त युक्ति शब्दार्थ विचार के आधार पर स्वीकार योग्य नहीं है। अन्धकार के द्रव्यत्वखण्डन एवं उसके अभावस्वरूपत्व की सिद्धि के सन्दर्भ में उदयनाचार्य लिखते हैं कि एक पद में अव्यय 'नञ्' के अप्रयोग मात्र से उस पद की विधिरूपता एवं उस पद के द्वारा अभिहित अर्थ का भावस्वरूपत्व सिद्ध नहीं हो जाते हैं। उदाहरणस्वरूप प्रलय, विनाश एवं अवसानादि पदों में 'नञ्' पद का प्रयोग न होने पर भी वे पद

---

५४. (क) "अथेतरेतराभावस्तर्हि निमित्तं, तथाहि– इदमिदं न भवति, इदमस्माद् व्यावृत्तं पृथगर्थान्तरं विलक्षणमिति प्रत्ययाः सर्वत्र तन्निमित्ता एवेति।" *व्योमवती*, पृ. ४८१

(ख) "श्रीधर इस पूर्वपक्ष को सङ्क्षेप में प्रस्तुत करते हैं– "इतरेतराभावनिमित्तोऽयं व्यवहार इति चेत्" *न्यायकन्दली*, पृ. ३३२

(ग) उदयनाचार्य उक्त पूर्वपक्ष को निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं–"तर्कस्तु न स्यात्– इतरेतराभावेनैव गतार्थत्वात्। तथाहि यावदुक्तं भवति 'इदमिदं न भवति' तावदुक्तं भवति 'इदमस्मात् पृथगर्थान्तरम् इतरद् भिन्नम्' इति।" *किरणावली*, पृ. १४१

(घ) श्रीवल्लभाचार्य इस पूर्वपक्ष को निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं– "अथ पृथक्त्वे किं प्रमाणम्। पृथगिति प्रत्यय इति चेत्, न, तस्यान्योन्याभावावलम्बनत्वात्। अन्यथा गुणादौ तदनुपपत्तेः।" *न्यायलीलावती*, पृ. ३६८

५५. "इतरेतराभावनिमित्तोयं व्यवहार इति चेत् न, प्रतिषेधस्य विधिप्रत्यय-विषयत्वायोगात्।" *न्यायकन्दली*, पृ. ३३२

स्पष्टतया प्रतिषेधात्मक हैं एवं उनके द्वारा अभिहित अर्थ अभावकोटि के हैं।[५६] दारिद्र्य, अन्धत्व, बधिरत्व, वन्ध्यात्व आदि पद भी इसी कोटि के हैं। न्यायलीलावतीकार पृथक्त्व की विधिमुखता के खण्डन के लिये पूर्वपक्ष की ओर से दी गयी इस युक्ति का उल्लेख करते हुए 'सत्य' शब्द का उदाहरण देते है। इसकी व्याख्या में न्यायलीलावतीप्रकाशकार कहते हैं कि केवल नञ् के अप्रयोग से पद का विधिस्वरूपत्व सिद्ध नहीं होता है। जिस प्रकार सत्य पद की शक्ति केवल उसी ज्ञान में रहती है जिसमें विशेष्य में न रहने वाला कोई विशेषण भासित नहीं होता है, उसी प्रकार पृथक् शब्द की शक्ति भी अन्योन्याभावविशिष्ट अभाव में रहती है।[५७]

परम्परावादी वैशेषिक तत्त्वमीमांसकों को पृथक्त्व का भेदस्वरूपत्व स्वीकार्य नहीं है। उदयन एवं श्रीवल्लभ के अनुसार पृथक्त्व की प्रतीति अन्योन्याभाव की प्रतीति से निश्चित रूप में भिन्न है। यह प्रतीतिभेद ही पृथक्त्व का भेदस्वरूप न होने का प्रमाण है।[५८] न्यायलीलावतीकार के अनुसार अभाव का निरूपण प्रतियोगी के निरूपण की अपेक्षा रखता है, परन्तु पृथक्त्व अवधि के द्वारा निरूपित होता है। यह भी कहना ठीक नहीं है कि पञ्चम्यन्त पद के द्वारा अभिलपित अभाव का प्रतियोगी ही अवधि है, क्योंकि यदि अवधित्व एवं प्रतियोगित्व एक होते, तो जिस प्रकार 'घटः पटो न' (घट पट नहीं है)– इस आकार की प्रतीति होती है,

---

५६. "न हि नञोऽप्रयोग एव विधिः, प्रलयविनाशावसानादिषु व्यभिचारात्।" *किरणावली*, पृ. १३

५७. (क) "..., सत्यादि पदवदन्तर्भावितनञर्थ एव भावात्मनि पृथक्शब्दसङ्केतादुपपत्तेः।" *न्यायलीलावती*, पृ. ३६८

(ख) "विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्वज्ञाने यथा सत्यपदस्य शक्तिस्तथा पृथक्शब्दस्यापि अन्योन्याभावविशिष्टाऽभावे शक्तिर्न हि नञोऽप्रयोग इत्येव विधिरित्यर्थः।" *न्यायलीलावतीप्रकाश*, पृ. ३६८

५८. (क) "न हि 'घटात् पटः पृथक्' इति 'घटः पटो न भवति' इति वाक्यार्थः।" *किरणावली*, पृ. १४१

(ख) "घटः पटो न भवतीति प्रतीतेर्घटः पटात् पृथगिति विलक्षणा प्रतीति-रेवान्योन्याभावभेदे पृथक्त्वस्य प्रमाणमित्यर्थः।" *न्यायलीलावती-कण्ठाभरणम्*, पृ. ३६८-३६९

उसी प्रकार 'घटः पटात् न' (घट पट से नहीं है)– इस प्रकार की प्रतीति भी हो जानी चाहिये। पुनश्च पृथक्त्व की प्रतीति के स्थल में अवधि की प्रतीति व्याकरण शास्त्र के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखती है। पृथक्त्व की भेदस्वरूपता का खण्डन, पृथक्त्व एवं अन्योन्याभाव के प्रतीतिभेद एवं अभाव के प्रतियोगिनिरूप्यत्व तथा पृथक्त्व के अवधिनिरूप्यत्व पर आश्रित है। प्रतीतिभेद अर्थभेद की अपेक्षा रखता है। उदयन एवं श्रीवल्लभ के अनुसार 'घट पट नहीं है' एवं 'घट पट से पृथक् है'– ये दो वाक्य समानार्थक नहीं है। यहाँ पर निम्नोक्त पद्धतिमूलक प्रश्न स्वाभाविक रूप में उठता है– यदि उपर्युक्त वाक्यद्वय में अर्थभेद है क्या वह अर्थभेद पदार्थ व्यवस्था निर्माण की दृष्टि से वस्तुतः महत्त्वपूर्ण है?

४.४ शब्दों की अर्थगत समानता एवं असमानता– तत्त्वमीमांसीय व्यवस्थानिर्माण में एक पद्धतिमूलक समस्या

अष्टाध्यायी ग्रन्थ में महर्षि पाणिनि अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति का विधान करने के अनन्तर एक स्वतन्त्र सूत्र में अन्य, इतर आदि कुछ विशेष शब्दों का प्रयोग होने पर, जिससे भिन्नता विवक्षित है उसके वाचक शब्द में पञ्चमी का विधान करते हैं।[५९] *अष्टाध्यायी* के सूत्र २.३.२९ की व्याख्या करते हुए काशिकाकार कहते हैं कि सूत्र में केवल अन्य शब्द के योग से नहीं, अपितु उसके पर्याय कोई भी शब्द के योग से पञ्चमी का विधान विवक्षित है। काशिकाकार ने 'भिन्न', 'अर्थान्तर' एवं 'विलक्षण' ये तीन शब्द 'अन्य' के पर्याय के रूप में लिये हैं।[६०] 'अन्य' एवं 'इतर' शब्दों का अर्थगत सादृश्य रहने पर भी वे पर्याय के रूप में स्वीकृत नहीं हुए हैं। वैशेषिकतत्त्वमीमांसकों ने 'अन्य' एवं

---

५९. (क) "अपादाने पञ्चमी।" पाणिनि, *अष्टाध्यायी*, २.३.२८
(ख) "अन्यारादितरर्त्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते।" *अष्टाध्यायी*, २.३.२९ देखिये, पाणिनीय *अष्टाध्यायी सूत्रपाठ*, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा सम्पादित, रामलालकपूर ट्रष्ट, सोनीपत, १९७४

६०. "अन्य इत्यर्थग्रहणम्। तेन पर्याययोगेऽपि भवति। अन्यो देवदत्तात्। भिन्नो देवदत्तात्। अर्थान्तरं देवदत्तात्। विलक्षणो देवदत्तात्।" वामन-जयादित्य, *काशिकावृत्ति*, द्वितीय भाग, प्राच्यभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९६५, पृ.१८६-१८७

'इतर' शब्दों के प्रयोगगत वैषम्य[६१] को महत्त्वपूर्ण नहीं मानकर उनकी मूलभूत अर्थगत समानता को ही प्राधान्य दिया है। इसीलिये 'इतरेतराभाव' एवं 'अन्योन्याभाव' शब्द पर्यायवाचक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत भाषा में 'पृथक्', 'विना' एवं 'नाना' शब्दों के प्रयोग होने पर जिससे पृथक्त्व, जिसके बिना, एवं जिससे भेद विवक्षित है उस पदार्थ के वाचक शब्द में पञ्चमी अथवा तृतीया विभक्ति होती है।[६२] वस्तुतः संस्कृत भाषा का अव्यय शब्द 'पृथक्' केवल घटपटादि द्रव्यों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त नहीं होता है, अपितु क्रिया, गुण, जाति आदि के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त होता है। उदाहरणस्वरूप, 'पृथक्गोत्र', 'पृथक्कुल', 'पृथक्शक्ति', 'पृथक्भाव', 'पृथक्काम', 'पृथक्करण', 'पृथक्ध्वनि' इत्यादि समासों में तथा 'पृथक् करोति', 'पृथक् वर्तते' एवं 'पृथक् भवति' इत्यादि वाक्यों में 'पृथक्' शब्द 'भिन्न' शब्द के पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त होता है। अतः पृथक्त्व को केवल द्रव्य का विशेषण मानकर उसके लिये गुण कोटि में एक स्वतन्त्र स्थान का प्रावधान करना युक्तिसङ्गत नहीं है।

पृथक्त्व का भेदस्वरूपत्वविषयक भासर्वज्ञ का सिद्धान्त तत्त्वमीमांसीय व्यवस्था निर्माण में भाषा की भूमिका के बारे में एक सामान्य पद्धतिमूलक नियम पर आश्रित है। इस नियम को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। दो शब्दों के अर्थों में कुछ प्रयोगगत गौण वैषम्य उपलब्ध होने पर भी, यदि उनके अर्थों में मूलभूत समानता दिखाई देती है, तो तत्त्वमीमांसीय व्यवस्थानिर्माण के लिये उनकी अर्थगत समानता ही प्रमाण के रूप में स्वीकार्य होगी, न कि गौण वैषम्य। पदार्थव्यवस्थानिर्माण में लाघव के लिये उपर्युक्त पद्धतिमूलक नियम उपयोगी सिद्ध होता है। इस नियम को न्यायवैशेषिक परम्परा की स्वीकृति भी प्राप्त है। उदाहरणस्वरूप, 'नञ्', 'निर्' एवं 'निः' आदि अव्ययों के कुछ प्रयोग वैषम्य रहने पर भी सभी अभावार्थक हैं यह स्वीकार्य है। केवल अव्यय 'नञ्' के ही तत्-सादृश्य, तदभाव, तदन्यत्व, तदल्पता, अप्राशस्त्य एवं विरोध ये छः अर्थ स्वीकृत हैं। परन्तु पदार्थ व्यवस्था निर्माण के लिये केवल एक अभावरूपी

---

६१. उदाहरणस्वरूप संस्कृत में इतरजन शब्द साधारण जन के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

६२. ''पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्।'' *अष्टाध्यायी*, २.३.३२

अर्थ स्वीकृत हुआ है। उपर्युक्त पद्धतिमूलक नियम के अनुसार 'अन्य', 'भिन्न', 'अर्थान्तर', 'पृथक्', 'इतर' आदि शब्दों की मूलभूत अर्थसमानता के आधार पर अन्योन्याभाव से भिन्न गुणकोटि का पृथक्त्व पदार्थ स्वीकार करना अनावश्यक है।

रघुनाथ शिरोमणि इस विषय में पृथक्त्व की भेदस्वरूपता स्वीकार करते हुए परम्परासम्मत मत का खण्डन करते हैं।[६३] उनके मत में पृथक्त्व का अवधिनिरूप्यत्व प्रमाणसिद्ध नहीं है। 'घटः पटो न भवति' एवं 'घटः पटात् भिन्नः (अन्यः, अर्थान्तरम्, इतरः, पृथक्) भवति' समानार्थक वाक्य हैं। संस्कृत भाषा की व्याकरण के अनुसार 'पटात् न' शिष्ट प्रयुक्त नहीं होने से अशुद्ध है जबकि 'पटात् पृथक्', 'पटादन्यः' आदि शिष्टप्रयुक्त होने से शुद्ध हैं। 'पटो न'– इस वाक्यांश में पट के अन्योन्याभाव का प्रतियोगी पट, प्रथमान्त पद 'पटः' द्वारा अभिहित होता है एवं 'पटादन्यः' एवं 'पटात् पृथक्' आदि में पट के अन्योन्याभाव का प्रतियोगी पट, पञ्चम्यन्त 'पटात्' द्वारा अभिहित होता है। इतने मात्र से न तो पृथक्त्व प्रतीति का अवधि निरूप्यत्व, न पृथक्त्व का स्वतन्त्र गुणत्व सिद्ध होता है।

५. परत्व एवं अपरत्व के स्वतन्त्र गुणत्वविषयक विचार

५.१ परम्परागतमतानुसार स्वतन्त्र गुणों के रूप में परत्व एवं अपरत्व की सिद्धि

कणाद एवं प्रशस्तपाद परत्व एवं अपरत्व रूपी परस्पर सापेक्ष गुण कोटि के दो पदार्थ स्वीकार करते हैं। दिक् एवं पिण्ड के संयोगजन्य परत्व एवं अपरत्व दिक्कृत हैं तथा काल एवं पिण्ड के संयोगजन्य परत्व एवं अपरत्व कालकृत हैं।[६४] 'यह इससे सन्निकृष्ट (निकटवर्ती) है', 'वह इससे विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) है'– इस प्रकार के विशिष्टज्ञान तथा शब्द व्यवहार

---

६३. "पृथक्त्वमपि न गुणान्तरम्। अन्योन्याभावादेव पृथक्त्वव्यवहारोपपत्तेः। पृथक्त्वप्रतीतिस्तु न सावधिकत्वावलम्बना मानाभावात्। घटात् पटः पृथक् इतरोऽन्योभिन्नोऽर्थान्तरमित्यादौ च तत्तच्छब्दविशेषप्रयोगे पञ्चम्यानुशासनिकी।" *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ. १०

६४. (क) "एकदिक्कालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरम्।" *वैशेषिक सूत्र* ७.२.२५, "कारणपरत्वात् कारणापरत्वात्।" *वही,* ७.२.२६, बडौदा संस्करण, पृ.६०-६१

के निमित्त कारण के रूप में मूर्तद्रव्यनिष्ठ दैशिक अपरत्व एवं परत्व रूपी गुण स्वीकार्य हैं। उसी प्रकार, 'यह उससे अल्पवयस्क है' एवं 'वह इससे अधिक वयस्क है'– इस प्रकार की प्रतीति एवं शब्द व्यवहार के निमित्त कारण के रूप में मूर्तद्रव्यनिष्ठ कालिक अपरत्व एवं परत्व रूपी गुण भी स्वीकार्य हैं। द्रव्यनिष्ठ रूप, रस, गन्ध, सङ्ख्या, परिमाण आदि धर्म परत्व-अपरत्वविषयक अबाधित प्रत्यय एवं शब्द व्यवहार के निमित्त कारण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि परत्व एवं अपरत्वविषयक प्रत्यय रूप, रसादि से उत्पन्न प्रत्ययों से स्पष्टतः भिन्न हैं।[६५] अबाधित विशिष्ट ज्ञान, स्वयं के विशेष्य रूपी विषय में विशेषण रूपी निमित्त के बिना भी सम्भव नहीं होता है।

जब एक व्यक्ति v की एक ही दिशा में दो वस्तु a एवं b भिन्न-भिन्न दूरी पर रहती हैं एवं b की अपेक्षा से a, v के समीपवर्ती होता है, तब v में a को अवधि के रूप में लेकर 'a से b दूरवर्ती (पर, विप्रकृष्ट) है'– इस आकार की प्रतीति, अन्य अपेक्षित कारण उपस्थित रहने पर उत्पन्न होती है। उक्त प्रतीति के कारण, b में परत्व रूपी गुण की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार, b को अवधि के रूप में लेकर a में 'a, b की अपेक्षा समीपवर्ती (अपर, सन्निकृष्ट) है' ऐसी प्रतीति, अन्य अपेक्षित कारण उपस्थित रहने पर, उत्पन्न होती है। उक्त प्रतीति से, a में अपरत्व रूपी गुण की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार, जब एक व्यक्ति

(ख) "परत्वमपरत्वं च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तम्। तत्तु द्विविधं दिक्कृतं कालकृतं च। तत्र दिक्कृतं दिक्विशेषप्रत्यायकम्। कालकृतं च वयोभेदप्रत्यायकम्।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ.३९३-३९४

६५. (क) "तथा हि– परापराभिधानप्रत्ययो विशेषणपूर्वको, विशेष्याभिधानप्रत्ययत्वात् दण्डीति विशेष्याभिधानप्रत्ययवत्। न च रूपादिनामन्यतमं विशेषणम्, तद्व्यवहारविलक्षणत्वाद्। अबाध्यमानं च ज्ञानं निमित्तं विना न सम्भवत्येव।" *व्योमवती*, पृ. ५१५

(ख) "परमिति अभिधानस्य प्रत्ययस्य च निमित्तं परत्वम्। अपरमिति अभिधानप्रत्यययोर्निमित्तमपरत्वमिति कार्येण सत्तां प्रतिपादयति।" *न्यायकन्दली*, पृ. ३९३

(ग) "...विशिष्टप्रत्ययस्य कारणविशेषमन्तरेणोत्पत्त्यभावात्।" *न्यायकन्दली*, पृ.३९३-३९४

v एक बालक c एवं एक वृद्ध व्यक्ति d को साथ-साथ देखता है तब बालक a को अवधि के रूप में लेकर v में 'd, c से अधिक आयु वाला (वयोज्येष्ठ, पर) है', ऐसी प्रतीति होती है। v की उक्त प्रतीति, d में ज्येष्ठत्व रूपी गुण को उत्पन्न करती है। उसी प्रकार, वृद्ध d को अवधि के रूप में लेकर व्यक्ति v में 'c, d से कम आयु वाला (कनिष्ठ, अपर) है'– ऐसी प्रतीति होती है। v की उक्त प्रतीति, c में कालिक अपरत्व (कनिष्ठत्व) रूपी गुण को उत्पन्न करती है। व्यक्ति v की अपेक्षाबुद्धि से b (a) में जो दैशिक विप्रकृष्टत्व (सन्निकृष्टत्व) रूपी गुण उत्पन्न होता है उसका समवायिकारण b (a) है, v एवं b के मध्य, v एवं a की अपेक्षा से अधिकसङ्ख्यक संयुक्त संयोग (v एवं a के मध्य v एवं b की अपेक्षा से अल्पसङ्ख्यक संयुक्तसंयोग) उसका असमवायिकारण है एवं v की b-विशेष्यक, a-अवधिक विप्रकृष्टत्व (a- विशेष्यक b-अवधिक सन्निकृष्टत्व) विषयक अपेक्षाबुद्धि उसका निमित्तकारण हैं।[६६] कालिक परत्व अपरत्व की उत्पत्ति में वृद्ध (बाल) शरीर समवायिकारण, कालपिण्डसंयोग का अधिकत्व (अल्पत्व) असमवायिकारण एवं वृद्ध (बालक)-विशेष्यक ज्येष्ठत्व (कनिष्ठत्व)-प्रकारक अपेक्षा बुद्धि निमित्त कारण हैं।[६७] परत्व एवं अपरत्व रूपी गुणों का विनाश अपेक्षाबुद्धि के विनाश, द्रव्यविनाश आदि कारणों से होता है।[६८]

---

६६. (क) "पिण्डः समवायिकारणम्, दिक्पिण्डसंयोगोऽसमवायिकारणम्, विशिष्टा च बुद्धिर्निमित्तकारणमिति।" *व्योमवती*, पृ. ५१६

(ख) "एकस्यां दिशि प्राच्यां वा प्रतीच्यां वाऽवस्थितयोः पिण्डयोर्मध्ये एकस्य द्रष्टुः संयुक्तेन भूदेशेन सहापरस्य प्रदेशस्य संयोगः, तेनापि सममपरस्येति संयुक्तसंयोगानां बहुत्वे सति अल्पसंयोगवन्तं पिण्डं सन्निकृष्टमवधिं कृत्वा एतस्मात् पिण्डाद् विप्रकृष्टोऽयमिति संयोगभूयत्ववति भविष्यतः परत्वस्याधारे पिण्डे विप्रकृष्टा बुद्धिरुदेति। ततो विप्रकृष्टबुद्ध्युत्पत्त्यनन्तरं विप्रकृष्टां बुद्धिमपेक्ष्य परेण संयोगभूयत्ववता दिक्प्रदेशेन संयोगादसमवायिकारणाद् विप्रकृष्टे पिण्डे समवायिकारणभूते परत्वस्योत्पत्तिः।" *न्यायकन्दली*, पृ.३९५-३९६

६७. "सन्निकृष्टविप्रकृष्टपिण्डयोः समवायिकारणत्वम्, कालपिण्डसंयोगयोश्चासमवायिकारणत्वम्, सन्निकृष्टविप्रकृष्टबुद्ध्योश्च निमित्तकारणत्वमिति।" *व्योमवती*, पृ.५१६

६८. परत्व अपरत्व की उत्पत्ति एवं विनाशक्रम के विचार के लिये *न्यायकन्दली*, पृ. ३९५-४१० द्रष्टव्य है।

५.२ भासर्वज्ञ एवं रघुनाथ के द्वारा परत्व एवं अपरत्व के स्वतन्त्रगुणत्व का खण्डन

भासर्वज्ञ दैशिक एवं कालिक परत्व अपरत्वों को स्वतन्त्र गुणों के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार संयुक्तसंयोग रूपी परम्परासम्बन्ध के घटक संयोग सम्बन्धों की सङ्ख्या के न्यूनाधिकत्व के आधार पर दैशिक परत्व एवं अपरत्व रूपी मूर्तद्रव्यनिष्ठ धर्मों की तत्त्वमीमांसीय व्यवस्था सम्भव है। उसी प्रकार ज्येष्ठत्व एवं कनिष्ठत्व धर्मों की तत्त्वमीमांसीय व्यवस्था उनके आश्रयभूत जन्यपदार्थों की उत्पत्तियों के कालिक पूर्वापरभाव के आधार पर की जा सकती है।[६९] सङ्क्षेप में जब व्यक्ति v में स्वयं को अवधि के रूप में लेकर मूर्तद्रव्य a की अपेक्षा से मूर्तद्रव्य b के विप्रकृष्ट होने की अथवा b की अपेक्षा से a के सन्निकृष्ट होने की प्रतीति होती है तब वह ज्ञान प्रमात्मक होता है यदि एवं केवल यदि v एवं a की दूरी v एवं b की दूरी से कम होती है, अन्यथा वह ज्ञान अप्रमा होता है। सामान्य रूप में मूर्तद्रव्य c से, a की अपेक्षा b विप्रकृष्ट (b की अपेक्षा a सन्निकृष्ट) है यदि एवं केवल यदि c एवं a की दूरी c एवं b की दूरी से कम है। उसी प्रकार जन्य पदार्थ d की अपेक्षा से जन्य पदार्थ e ज्येष्ठ (जन्य पदार्थ e की अपेक्षा से जन्य पदार्थ d कनिष्ठ) है यदि एवं केवल यदि e की उत्पत्ति d की उत्पत्ति से पहले हुई है। भासर्वज्ञ के मत में विप्रकृष्ट एवं सन्निकृष्ट बुद्धि को निमित्त कारण के रूप में लेकर परत्व एवं अपरत्व रूपी तथाकथित गुणों का कार्यकारण विश्लेषण करना असङ्गत है, क्योंकि वस्तुतः 'विप्रकृष्ट' एवं 'पर' पर्यायवाचक हैं तथा 'सन्निकृष्ट' एवं 'अपर' पर्यायवाचक हैं। जिस प्रकार घटविषयक बुद्धि से कलश की उत्पत्ति की कल्पना हास्यास्पद है, उसी प्रकार विप्रकृष्ट एवं सन्निकृष्टविषयक बुद्धि से परत्व अपरत्व रूपी गुणों की उत्पत्ति की कल्पना भी हास्यास्पद एवं असङ्गत है।[७०]

---

६९. "नापि परत्वापरत्वे, संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वभूयस्त्वयोः पूर्वोत्तरजन्मनोश्च परापरव्यवहारहेतुत्वात्।" *न्यायभूषण*, पृ. १६२

७०. "विप्रकृष्टं परमिति वा अनयोर्भेदं न पश्यामः तथा सन्निकृष्टमपरमिति वानयोरप्येकार्थत्वम्। तस्माद् विप्रकृष्टसन्निकृष्टबुद्धिभ्यां परत्वापरत्वयोरुत्पत्तिरित्यपि न युक्तम्, न हि घटबुद्धिमपेक्ष्य कुम्भ उत्पद्यत इति युक्तम्।" *न्यायभूषण*, पृ. १६२

५.३ दैशिक परत्व एवं अपरत्व की वस्तुनिष्ठता– अपेक्षाबुद्धिजन्यधर्मकल्पना की विसङ्गतता

कालिक परत्व एवं अपरत्व दो जन्य पदार्थों के पूर्वापरभाव मात्र ही हैं। जिस प्रकार दो पूर्ण सङ्ख्या a, b दिये जाने पर प्रमातृनिरपेक्ष रूप में $a < b$ या $a=b$ या $a > b$ सत्य होता है, उसी प्रकार, दो जन्य पदार्थ d, e दिये जाने पर प्रमातृनिरपेक्ष रूप में यह सत्य होता है कि या तो d की उत्पत्तिक्षण e के उत्पत्तिक्षण का पूर्ववर्ती है या d एवं e के उत्पत्तिक्षण एक है या d का उत्पत्तिक्षण e के उत्पत्तिक्षण के परवर्ती है। प्रशस्तपाद दैशिक सन्निकृष्टत्व एवं विप्रकृष्टत्व धर्मों को प्रमातृसापेक्ष धर्मों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। परन्तु ऐसा करना न केवल अनावश्यक है, अपितु पद्धतिमूलक दृष्टि से अग्राह्य भी है। एक प्रमाता के चाक्षुष प्रत्यक्ष के क्षेत्र में अवस्थित परस्पर भिन्न तीन मूर्त द्रव्य a, b एवं c यदि एक ही सरल रेखा पर अवस्थित हैं तो उनमें से केवल एक ही मूर्त द्रव्य शेष दोनों के मध्यवर्ती होता है। मान लिया जाये कि b, a एवं c के मध्यवर्ती है। तब a से, b की अपेक्षा c दूरवर्ती (विप्रकृष्ट) है एवं c की अपेक्षा b समीपवर्ती (सन्निकृष्ट) है, क्योंकि a एवं c की दूरी a एवं b की दूरी तथा b एवं c की दूरी के योगफल है। स्मर्तव्य है कि परस्पर भिन्न बिन्दुओं की दूरी को एक धनात्मक परिमाणमापक सङ्ख्या एवं एक निश्चित दूरत्वमापक इकाई के द्वारा अभिव्यक्त करना आवश्यक है। दो मूर्तद्रव्यों की दूरी का परिमाण उनके क्रम पर आश्रित नहीं होता है। अतः b, a एवं c के मध्यवर्ती होने पर, c से b की अपेक्षा a दूरवर्ती (विप्रकृष्ट) है एवं a की अपेक्षा b समीपवर्ती हैं। पुनश्च यदि मूर्त द्रव्य a, b, c एक ही सरल रेखा पर अवस्थित नहीं हैं, तो प्रमाता के चाक्षुष प्रत्यक्ष के क्षेत्र में वे एक त्रिभुज के तीन शीर्ष बिन्दुओं को निरूपित करते हैं। तब a से b की अपेक्षा c या तो समीपवर्ती या दूरवर्ती हो सकता है अथवा b एवं c, a से समान दूरवर्ती हो सकते हैं। उसी प्रकार a के स्थान पर b या c को लेने पर b, a द्वारा निरूपित खण्ड रेखा एवं b, c द्वारा निरूपित खण्ड रेखाओं की दूरत्वतुलना के आधार पर अथवा c, a द्वारा निरूपित एवं c, b द्वारा निरूपित खण्ड रेखाओं की दूरत्वतुलना के आधार पर उन बिन्दुओं के परस्पर सन्निकृष्टत्व विप्रकृष्टत्व धर्म सिद्ध होते हैं। उपर्युक्त

सम्भावनाओं में मूर्तद्रव्य a, b, c के परस्पर सापेक्ष सन्निकृष्टत्व विप्रकृष्टत्व रूपी धर्म उनके परस्पर की अपेक्षा से दैशिक अवस्थान मात्र पर आश्रित हैं, न कि किसी प्रमाता के चाक्षुष प्रत्यक्ष के क्षेत्र में होने या न होने पर। a, b, c के प्रमाता विशेष के चाक्षुष प्रत्यक्ष के क्षेत्र में होना केवल उस प्रमाता में a, b, c के परस्पर सापेक्ष सन्निकृष्टत्व एवं विप्रकृष्टत्व धर्मविषयक चाक्षुष ज्ञान की उत्पत्ति की दृष्टि से ही प्रासङ्गिक है, न कि उन धर्मों की उत्पत्ति की दृष्टि से। यदि a, b, c द्वारा निरूपित त्रिभुज को समानुपात से सङ्कुचित अथवा प्रसारित किया जाता है तो उनके परस्पर की अपेक्षा से सन्निकृष्टत्व विप्रकृष्टत्व धर्म अवश्य अपरिवर्तित रहते हैं। इससे उन धर्मों की वस्तुनिष्ठता एवं प्रमातृनिरपेक्षता सिद्ध होती है।

परत्व अपरत्व के अपेक्षाबुद्धिजन्यत्व एवं सामान्यतया किसी भी धर्म के अपेक्षाबुद्धिजन्यत्व स्वीकार करने पर ज्ञान विषय का प्रकाशक न रहकर जनक की भूमिका भी निभाने लगता है। अपने अधिकरण में सुख, दुःख, इच्छा आदि की जनकता ज्ञान में स्वीकृत है। परन्तु अपने अधिकरण से भिन्न धर्मी में ज्ञान की धर्मजनक-योग्यता स्वीकार करने पर न्यायवैशेषिक दर्शन का प्रमेयस्वातन्त्र्यवाद (बाह्यार्थवाद) बाधित होने लगता है। भासर्वज्ञ के सङ्ख्या, परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व, एकपृथक्त्व द्वि-पृथक्त्व आदिविषयक विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, वे न्यायवैशेषिक पदार्थ व्यवस्था में अपेक्षाबुद्धिजन्य तत्त्वों को स्थान देने के पक्ष में नहीं थे। उन्हीं समस्याओं पर रघुनाथ शिरोमणि के विचारों से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि अपेक्षाबुद्धिजन्य तत्त्वों की अस्वीकार्यता के विषय में वे भासर्वज्ञ का समर्थन करते हैं।

पदार्थतत्त्वनिरूपण में रघुनाथ शिरोमणि का परत्व एवं अपरत्वविषयक विचार भासर्वज्ञ मत का पूर्णतया अनुगमन करता है।[७१]

५.४ परत्व एवं अपरत्व के गुणत्वखण्डनपक्ष में कतिपय अतिरिक्त युक्तियाँ

भासर्वज्ञ एवं रघुनाथ के द्वारा परत्व अपरत्व के स्वतन्त्र गुणत्व

---

७१. "परत्वापरत्वे अपि न गुणान्तरे। विप्रकृष्टसन्निकृष्टाभ्यां ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वाभ्यां च तथाविधव्यवहारोपपत्तेः। अत्राद्ये तृतीयमपेक्षते। अन्त्ये तु परस्पराश्रयमिति विवेकः।" *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ. ११

खण्डन के समर्थन में निम्नोक्त युक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के अनुसार गुण केवल द्रव्याश्रित होकर ही रहता है एवं जन्यभाव पदार्थ का विनाश अवश्यम्भावी है। जिस प्रकार सभी जन्यभाव पदार्थों की उत्पत्ति एक साथ नहीं होती है, उसी प्रकार उनके ध्वंस भी एक साथ नहीं होते हैं। अन्य शब्दों में जन्यभाव पदार्थों की उत्पत्ति एवं उनके ध्वंस कालिक पूर्वापरभावयुक्त होते हैं। उदाहरणस्वरूप, अवयवसंयोग रूपी असमवायिकारण के विनाश से अवयवी का विनाश अवश्यम्भावी है। पटावयवय तन्तुओं के संयोग रूपी पट के असमवायिकारण के विनाश से पट का भी विनाश होता है। अतः न्यायवैशेषिक दर्शन के कारणतासिद्धान्त के अनुसार एक पदार्थ के ध्वंस में अपर पदार्थ के ध्वंस की निमित्तकारणता रहने से ध्वंसरूपी पदार्थों का कालिक पूर्वापरभाव अवश्य स्वीकार्य है। जिस प्रकार कुम्भकार द्वारा चक्र के घूर्णन एवं उस घूर्णनव्यापार से उत्पन्न घट रूपी दो भाव पदार्थों के मध्य कारणकार्यसम्बन्ध एवं फलतः कालिक पूर्वापरभाव रहता है, उसी प्रकार घट का प्रागभाव एवं घट के मध्य तथा मुद्गर के घट पर अभिघात रूपी संयोग एवं घट के ध्वंस के मध्य भी कारण-कार्य सम्बन्ध एवं फलतः कालिक पूर्वापरभाव रहता है। अतः एक अभाव पदार्थ में अन्य भाव अथवा अभाव पदार्थ की अपेक्षा से कालिक परत्व एवं अपरत्व रूपी धर्म स्वीकार करना आवश्यक है। परन्तु गुण कभी अभाव पदार्थ में नहीं रह सकता है। अतः प्रागभाव एवं ध्वंस रूपी अनित्य अभाव के कालिक परत्व एवं अपरत्व प्रमाणसिद्ध होने से एवं गुण केवल द्रव्यसमवेत होने से कालिक परत्व एवं अपरत्व का गुणत्व अनुमान प्रमाण से बाधित है।

न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में क्रियाओं के मध्य साक्षात् कारण-कार्य भाव स्वीकृत न होने पर भी क्रियाओं के मध्य कालिक पूर्वापरभाव स्वीकृत है। जब पत्थर फैंककर पेड़ से एक आम गिराया जाता है तब पत्थर फैंकना रूपी क्रिया एवं आम का पेड़ से जमीन पर गिरना रूपी क्रिया के मध्य कालिक पूर्वापरभाव स्वीकार करना आवश्यक है। सामान्यतया क्रियाओं में परस्पर की अपेक्षा से कालिक परत्व एवं अपरत्व एवं यौगपद्य आदि धर्म प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। परन्तु गुण द्रव्यसमवेत होने से एवं कालिक परत्व अपरत्व क्रियानिष्ठ धर्म होने से, यह सिद्ध हो जाता है कि कालिक परत्व अपरत्व गुण कोटि में अन्तर्भूत नहीं किये जा सकते हैं।

पुनश्च परत्व एवं अपरत्व के अपेक्षाबुद्धिजन्यत्व स्वीकार करने पर जब भी साक्षात् अथवा परम्परा सम्बन्ध से दोनों पदार्थों के मध्य धर्म विशेष की अपेक्षा से तुलनात्मक न्यूनाधिकत्वभाव प्रत्यक्षग्राह्य होता है, तब उन पदार्थों में परस्पर की अपेक्षा से अपेक्षाबुद्धिजन्य सासंर्गिक धर्मों की उत्पत्ति स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरणस्वरूप, जब दो बालक दौड़ रहे हैं एवं उनमें से एक दूसरे की अपेक्षा अधिक तेजी से दौड़ रहा है, तब उस दौड़ के प्रत्यक्ष ज्ञान से उन दोनों बालकों में आश्रित दौड़ना रूपी क्रियासन्तानों में परत्व अपरत्व के अनुरूप दो अपेक्षाबुद्धिजन्य सांसर्गिक धर्मों की उत्पत्ति स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है।[७२] उक्त प्रकार के सांसर्गिक धर्मों की उत्पत्ति एवं विनाश वस्तुनिष्ठ एवं प्रमाणसिद्ध होने पर भी उनका अपेक्षाबुद्धिजन्यत्व न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत मान्यताओं के साथ विसङ्गत होने से सर्वथा अस्वीकार्य है। पुनश्च, कालिक परत्व एवं अपरत्वविषयक ज्ञान केवल वर्तमान काल के मूर्तद्रव्यविषयक न होकर अनुमान प्रमाण के द्वारा अतीत एवं अनागत पदार्थविषयक भी होता है। परन्तु विनष्ट अथवा अनुत्पन्न पदार्थों में वर्तमान काल के ज्ञान से अपेक्षाबुद्धिजन्य कालिक परत्व एवं अपरत्व रूपी धर्मों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। उदाहरणस्वरूप, *किरणावली* में भूषणकार के सिद्धान्तों की आलोचना से अनुमान प्रमाण द्वारा भासर्वज्ञ का उदयनाचार्य की अपेक्षा से कालिक परत्व एवं उदयन में भासर्वज्ञ की अपेक्षा से

---

७२. (क) न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में वेग, भावना एवं स्थितिस्थापक भेद से तीन प्रकार के संस्कार रूपी गुण स्वीकृत हैं। वेग क्रियाजन्य होते हुए क्रिया का जनक भी होता है। वेग केवल मूर्तद्रव्याश्रित होता है एवं स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगविशेष से नष्ट होता है। स्थितिस्थापकत्व रूपी संस्कार भी स्पर्शवद्द्रव्यनिष्ठ गुण है। वेग एवं स्थितिस्थापक रूपी संस्कार बल विशेष (फोर्स) के रूप में लिये जा सकते हैं। देखिये, *व्योमवती*, पृ. ६३४-६३७

(ख) भासर्वज्ञ वेग को संस्कार के अवान्तर भेदविशेष के रूप में नहीं लेकर उसके क्रियास्वरूपत्व पक्ष में युक्ति प्रस्तुत करते हैं। परन्तु भौतिक शास्त्र की गतिविज्ञान नामक शाखा के तत्त्वमीमांसीय आधार की दृष्टि से उनके मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। देखिये, *न्यायभूषण*, पृ. १६२

कालिक अपरत्व का ज्ञान होता है। परन्तु इस प्रकार के ज्ञान से भासर्वज्ञ एवं उदयन में किसी धर्म की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

६. सत्ता, अनुभवत्व एवं गुणत्व जातिविषयक विचार

वैदिक नित्यवाद की काणादीय धारा के तत्त्वमीमांसीय तन्त्रों में सामान्य रूपी पदार्थों के लिये एक स्वतन्त्र कोटि का प्रावधान किये जाने पर भी सामान्य एवं उसके आश्रय के मध्य सम्बन्ध के स्वरूप पर तथा कुछ विशिष्ट सामान्यों की स्वीकरणीयता के विषय पर मतभेद रहा है। प्रस्तुत परिच्छेद में जातिविषयक कुछ समस्याओं पर तथा सत्ता, अनुभवत्व एवं गुणत्व के जातित्वविषयक विचार किया गया है। महर्षि गौतम अनुवृत्तिप्रत्यय के निमित्तकारण के रूप में जाति तत्त्व को स्वीकार करते हैं।[७३] वार्त्तिककार उद्द्योतकर जाति तथा जाति से भिन्न, अनुवृत्तिप्रत्यय के कारण रूपी उपाधि नामक सामान्यों में अन्तर करते हैं।[७४] जाति एवं उपाधि के भेद की तत्त्वमीमांसीय आधारविषयक समस्या, काणादीय धारा के दार्शनिकों के लिये एक चुनौती रही है। इस समस्या के समाधान के बिना जातिविषयक तत्त्वमीमांसीय विचार असम्पूर्ण रह जाता है। परन्तु काणादीय धारा के दार्शनिक तत्त्वमीमांसा में जाति को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्थान देने के लिये जाति एवं उपाधि भेद समस्या के स्वीकारयोग्य समाधान को आवश्यक मानते प्रतीत नहीं होते हैं। यह कहना कि जाति व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से रहती है, जबकि उपाधि व्यक्ति में स्वरूप सम्बन्ध से रहती है, उपर्युक्त समस्या के समाधान के रूप में स्वीकारयोग्य नहीं है, क्योंकि समवाय एवं स्वरूपसम्बन्ध में भेद की तत्त्वमीमांसीय आवश्यकता स्वयं विवादास्पद है। विषयभेद के बिना ज्ञान में प्रतिभासभेद सम्भव नहीं है एवं विषयगत समानता के बिना ज्ञान में समानप्रतिभास भी सम्भव नहीं है। इतना स्वीकार न करने पर जगत् में आकस्मिकता का प्रसङ्ग

---

७३. "समानप्रसवात्मिका जातिः।" *न्यायसूत्र*, २.२.६८, पृ. १८८

७४. (क) "जातिमन्तरेणापि सामान्यप्रत्ययो दृष्टः, यथा पाचकादिषु।" *न्यायसूत्र* २.२.७० के रूप में परिगणित उपर्युक्त सूत्र पर *न्यायवार्त्तिक*, पृ.३३६

(ख) "प्रसूत इति प्रसवः समानबुद्धेर्भिन्नेषु प्रसोत्री या जातिः साऽवश्यं समानप्रत्ययं प्रसूते न पुनर्या समानप्रत्ययं प्रसूते सा जातिः। पाचकादिषु व्यभिचारादिति।" *न्यायसूत्र* २.२.६८ पर *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका*, पृ.४९५

उठता है। शास्त्र तथा लोकव्यवहार की आकस्मिकता मूलोच्छेदकारी है। न्यायवैशेषिक परम्परा के नव्य युग में कारणता के अवच्छेदक धर्म में लाघव के आधार पर जातिसिद्धि प्रक्रिया, प्रस्तुत समस्या के समाधान की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।[७५]

६.१ जाति का स्वरूप एवं जाति-उपाधिभेद

कणाद एक ही पदार्थ में कुछ पदार्थों की अपेक्षा से अनुवृत्तिप्रत्यय की कारणता तथा अन्य पदार्थों की अपेक्षा से व्यावृत्तिप्रत्यय की कारणता स्वीकार करते हैं।[७६] वनस्पतित्व, वृक्षत्व एवं पीपलवृक्षत्व इन तीनों को क्रमानुसार लेने पर, पूर्व की अपेक्षा से पर विशेष है एवं पर की अपेक्षा से पूर्व सामान्य है। न्यायसूत्रकार का अनुसरण करते हुए प्रशस्तपाद अनुवृत्ति प्रत्यय का निमित्त कारण के रूप में सामान्य को स्वीकार करते हैं।[७७] व्योमशिवाचार्य सामान्य का लक्षण देते हुए लिखते हैं– 'जो नित्य पदार्थ एक होते हुए भी अनेक में समवेत रहता है वह *सामान्य* है'।[७८] उदयनाचार्य जाति को व्यक्ति के बहुवृत्तिक, अनागन्तुक (स्वाभाविक) धर्म के रूप में देखते हैं।[७९]

जाति एवं उपाधि के भेद के लिये उदयनकृत आगन्तुक, अनागन्तुक धर्मों के भेद की उपादेयता विचारणीय है। व्यक्ति के सभी अनागन्तुक

---

७५. देखिये *क्रिटिक ऑफ इण्डियन रियलिज़्म*, पृ. ३१९-३२३। ग्रन्थकार की आपत्तियाँ युक्तिसङ्गत होने पर भी कारणता अवच्छेदक धर्म के लाघवगौरव के आधार पर जातिसिद्धि प्रक्रिया का पद्धतिमूलक महत्त्व उनके द्वारा उपेक्षित रहा है।

७६. ''सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्।'' *वैशेषिक सूत्र*, १.२.३ बड़ौदा संस्करण, पृ.८

७७. ''स्वविषयसर्वगतमभिन्नात्मकमनेकवृत्ति एकद्विबहुष्वात्मस्वरूपानुगमप्रत्ययकारि स्वरूपाभेदेनाधारेषु प्रबन्धेन वर्तमानमनुवृत्तिप्रत्ययकारणम्।'' *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. ७४१-७४२

७८. ''तस्मादेकत्वे नित्यत्वे च सति समवायेन अनेकत्र वर्त्तमानत्वात् सामान्यमितरस्मात् भिद्यते।'' *व्योमवती*, पृ. ६७९

७९. ''समानानां भावः स्वाभाविकोऽनागन्तुको बहूनां धर्मो सामान्यमित्यर्थः। तथा च धर्मिणां बहुत्वे धर्मस्य चानागन्तुकत्वे विवक्षिते 'नित्यमेकमनेकवृत्ति सामान्यम्' इति लक्षणं सूचितम्।'' *किरणावली*, पृ. १५

धर्म जाति नहीं होते हैं। उदाहरणस्वरूप किसी एक व्यक्ति का अपने पिता एवं माता की सन्तान होने का धर्म अनागन्तुक होने पर भी वह धर्म जाति नहीं है। गङ्गेशोपाध्याय का पुत्र होना, वर्धमानोपाध्याय का अनागन्तुक धर्म होने पर भी गङ्गेशोपाध्यायपुत्रत्व रूपी धर्म जाति नहीं है। अपने द्विगुण के साथ समान होने का धर्म, जाति न होने पर भी शून्य सङ्ख्या का अनागन्तुक तथा स्वरूपव्यावर्तक धर्म है। दो परस्पर भिन्न पीपल के पेड़ों का भेद, जाति से भिन्न अनागन्तुक अथवा आगन्तुक धर्मों के बिना सिद्ध नहीं किया जा सकता है। समान अर्धव्यास विशिष्ट परस्पर प्रतिलिपि स्वरूप दो भिन्न वृत्तों के भेद की सिद्धि केवल जाति से भिन्न आगन्तुक धर्मों के द्वारा ही सम्भव हो पाती है। परन्तु आगन्तुकत्व एवं अनागन्तुकत्व का भेद, जाति एवं उपाधि भेद की अपेक्षा से सहज बोधगम्य प्रतीत होने पर भी उसके परिष्कृत स्वरूप निरूपण की समस्या कम चुनौतीपूर्ण नहीं है।

६.२ साक्षाद्व्याप्यत्वसम्बन्ध से व्यूहबद्ध जातिसङ्घात का वंशावलीतरुस्वरूप

कणाद एवं प्रशस्तपाद पर तथा अपर भेद से दो कोटि के सामान्य स्वीकार करते हैं।[८०] व्याप्य-व्यापकभाव ही इस भेद का आधार है। द्रव्य, गुण एवं कर्म कोटि के सभी पदार्थों में समवेत होकर रहने वाली सत्ता, परसामान्य है। केवल द्रव्यों में समवेत द्रव्यत्व, केवल गुणों में समवेत गुणत्व, एवं केवल कर्मों में समवेत कर्मत्व अपर सामान्य कहलाते हैं। अनुवृत्तिप्रत्यय-जनकत्व एवं व्यावृत्तिप्रत्यय-जनकत्व के भेद पर आधारित सामान्य-विशेष का भेद, व्यापक-व्याप्य भाव की अपेक्षा से पर एवं अपर सामान्यों के भेद के रूप में उपस्थित होता है। जिस सामान्य का साक्षाद्-व्याप्य

---

८०. (क) "भावः सामान्यमेव।" *वैशेषिक सूत्र*, १.२.४, बडौदा संस्करण, पृ.८
"द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च।" *वही,* १.२.५
"अन्यत्र अन्त्येभ्यः विशेष्येभ्यः।" *वही,* १.२.६
"सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु।" *वही,* १.२.८
"द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता।" *वही,* १.२.८

(ख) "सामान्यं द्विविधं परमपरञ्चानुवृत्तिप्रत्ययकारणम्। तत्र परं सत्ता महाविषयत्वात्। सा चानुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव। द्रव्यत्वादि अपरम्, अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद्विशेषाख्यामपि लभते।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ.२९-३०

सामान्य नहीं होता है वह *अन्त्यसामान्य* कहा जा सकता है। जो सामान्य सभी सामान्यों का व्यापक है वह *परसामान्य* है। समनियत अर्थात् अन्योन्यव्याप्य सामान्यों को अभिन्न मानने पर स्वभावतः एकाधिक परसामान्य सम्भव नहीं है। सत्ता ही वह विशिष्ट सामान्य है। द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व परस्पर असमानाधिकरण सत्ता-साक्षाद्-व्याप्य-सामान्य हैं। जो सामान्य न तो परसामान्य है न अन्त्यसामान्य, वह *परापरसामान्य* कहलाता है। द्रव्यत्व, पृथिवीत्वादि परापरसामान्य हैं। दो समानाधिकरण सामान्य जब परस्पर अत्यन्ताभाव के साथ भी समानाधिकरण होते हैं, तब वे *साङ्कर्यग्रस्त* कहलाते हैं।

न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के सामान्यविषयक सिद्धान्त की विकास प्रक्रिया में यह क्रमशः स्पष्ट होने लगा है कि सभी अनुवृत्तिप्रत्ययों के कारणों को एक कोटि के पदार्थ के रूप में स्वीकार करने पर सामान्य रूपी पदार्थ अपना तत्त्वमीमांसीय महत्त्व खो बैठता है। न्यायवार्त्तिककार के सामने जाति एवं उपाधि का भेद शास्त्रीय आवश्यकता के रूप में उपस्थित हुआ था। अनुवृत्तिप्रत्यय के निमित्तकारण के रूप में स्वीकृत सामान्य रूपी धर्म को जातिकोटि के पदार्थों में स्थान प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि उस धर्म का प्रवेश द्वार किसी जातिबाधक के द्वारा अवरुद्ध नहीं हो। अनवस्थिति, तुल्यत्व, सङ्कर, रूपहानि एवं असम्बन्ध रूपी जातिबाधकों की व्यवस्था वस्तुतः जातिकोटि में लाघव प्राप्त करने के साथ-साथ तन्त्र की सङ्गति की रक्षा का प्रयास है। न्यायवैशेषिक परम्परा में जातिबाधक व्यवस्था जातिसिद्धान्त के निरतिशय शास्त्रीय महत्त्व की ही परिचायक है।

जातिबाधक तुल्यत्व एवं सङ्कर के कारण दो परस्पर भिन्न जातियाँ, या तो असमानाधिकरण होती हैं अथवा उनमें से केवल एक अपर की व्यापक होती है। तन्त्र में स्वीकृत जातियों का सङ्घात, साक्षाद्-व्यापकत्व सम्बन्ध के द्वारा व्यूहबद्ध होकर एक वंशावली तरु का रूप धारण करता है। इस तरु की मूलगाँठ सत्ताजाति है एवं इसकी सभी अन्तिम गाँठें अन्त्यसामान्य रूपी जाति हैं। इस वंशावली तरु की मूल गाँठ सत्ता जाति के द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व रूपी कुल तीन साक्षाद्– उत्तरवर्तीगाँठ (पर्वसन्धि) हैं। द्रव्यत्व रूपी गाँठ की पृथिवीत्व, जलत्व, वायुत्व, तेजस्त्व, आत्मत्व एवं मनस्त्व रूपी कुल छः साक्षाद् उत्तरवर्ती गाँठें हैं। परम्परागत मतानुसार परार्ध बृहत्तम सङ्ख्या होने से जातियों का सङ्घात भी परिमित

है एवं इसलिये जातियों का वंशावली तरु भी परिमित है। परन्तु परम्परागत न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा के जातिसङ्घात के साक्षाद्-व्यापकत्व सम्बन्ध के आधार पर प्राप्त उपर्युक्त वंशावली तरु, सङ्कर को जाति बाधक के रूप में स्वीकार न करने पर अथवा सत्तारूपी परा जाति को स्वीकार न करने पर सम्भव नहीं होता है।

जातिबाधक के रूप में सङ्कर विवादास्पद है। एक धनात्मक पूर्ण सङ्ख्या आणविक या मौलिक कही जाती है यदि एवं केवल यदि, वह १ से बृहत्तर है तथा सङ्ख्या एक एवं स्वयं के अतिरिक्त उसका अन्य कोई भाजक नहीं होता है। उदाहरणस्वरूप २, ३, ५, ७, ११, १३, १७, १९, २३, २९, ३१, ३७, ४१, ४३, ४७, ५३, ..., आदि आणविक सङ्ख्या हैं। एक धनात्मक पूर्णसङ्ख्या सम कहलाती है, यदि वह २ से भाज्य है, अन्यथा वह विषम कहलाती है। परन्तु आणविकत्व एवं विषमत्व साङ्कर्यग्रस्त हैं एवं आणविकत्व तथा समत्व भी साङ्कर्यग्रस्त हैं, क्योंकि २ में विषमत्व का अभाव आणविकत्व के साथ रहता है; ३, ५, ७, ११, ..., आदि में आणविकत्व एवं विषमत्व दोनों धर्म रहते हैं एवं ९, १५, २१, २५,..., आदि में आणविकत्व का अभाव विषमत्व के साथ रहता है। उसी प्रकार समत्व के अभाव के साथ आणविकत्व धर्म, ३, ५, ७,..., आदि में रहता है। सङ्ख्या २ में समत्व एवं आणविकत्व दोनों धर्म रहते हैं तथा ४, ६, ८, ..., आदि में आणविकत्व का अभाव समत्व के साथ रहता है। तीस के भाजक होने का धर्म एवं आणविकत्व धर्म के सङ्ख्याशास्त्रीय महत्त्व स्पष्टतया भिन्न होने पर भी तत्त्वमीमांसीय जाति एवं उपाधि भेद की सङ्ख्याशास्त्रीय उपादेयता स्पष्ट नहीं है। उसी प्रकार त्रिभुजादि रेखागणितीय तत्त्वों का रेखागणित की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण अनेक प्रकार से सम्भव है। समद्विभुजत्व एवं एकसमकोण-विशिष्टत्व धर्म साङ्कर्यग्रस्त हैं। जिस त्रिभुज का एक कोण समकोण है तथा शेष दो अर्धसमकोण हैं, उनमें एवं केवल तत्समानाकार-त्रिभुजों में उपर्युक्त दोनों धर्म रहते हैं। जिस त्रिभुज के दो कोण ७५ डिग्री के हैं उसमें समद्विभुजत्व, समकोण-विशिष्टत्व के अभाव के साथ रहता है। जिस त्रिभुज में तीन कोण यथाक्रम ९० डिग्री, ६० डिग्री एवं ३० डिग्री के हैं उसमें एकसमकोण-विशिष्टत्व, समद्विभुजत्व के अभाव के साथ रहता है। सभी रेखागणितीय धर्मों का शास्त्रीय महत्त्व

स्पष्ट रूप में समान न होने पर भी जाति एवं उपाधिभेद की उपादेयता अस्पष्ट है। परन्तु रेखागणितीय सिद्धि-प्रक्रिया में अनागन्तुक एवं आगन्तुक धर्मों का भेद ज्ञानमीमांसीय महत्त्व रखता है। जब सिद्धि-प्रक्रिया में एक रेखागणितीय तत्त्व केवल त्रिभुजत्व धर्म से विशिष्ट होकर उपस्थित होता है, तब त्रिभुज के त्रिभुजत्व के व्यापक धर्मों के अतिरिक्त अन्य सभी विशेष धर्म उस सिद्धि के प्रसङ्ग में आगन्तुक धर्म माने जाते हैं।

६.३ सत्ताजातिखण्डन की समीक्षा

प्राभाकर मीमांसकों के द्वारा जाति एक स्वतन्त्र कोटि के पदार्थ के रूप में स्वीकृत हुई है।[८१] जाति व्यक्ति से भिन्न है, उसमें समवाय सम्बन्ध से रहती है एवं प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। परन्तु न्यायवैशेषिक सम्मत सभी द्रव्य, गुण एवं कर्म व्यक्तियों में समवेत सत्ता रूपी परा जाति प्रभाकर के अनुयायियों के द्वारा स्वीकृत नहीं हुई है। शालिकनाथ सत्ता जाति का खण्डन करते हुए प्रमाणसम्बन्ध-योग्यता को ही 'सत्' शब्द के प्रयोग के आधार के रूप में मानते हैं।[८२] द्रव्य, गुण, कर्मादि में समानाकार प्रतीति के विषय रूप में सत्ता रूपी जाति अनुभवसिद्ध नहीं है। केवल समान शब्द प्रयोग के आधार पर जाति की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि 'पाचक', 'मीमांसक', एवं 'अध्यापक' आदि सामान्य शब्दों के प्रयोग होने पर भी पाचकत्व, मीमांसकत्व एवं अध्यापकत्वादि जातियाँ स्वीकार्य नहीं होती हैं। यह अवश्य सत्य है कि सामान्य-शब्द के प्रयोग के आधार रूप में 'सामान्य' शब्द के अर्थ में कुछ समानता अपेक्षित है। परन्तु वह अर्थनिष्ठ समानता जाति ही हो यह आवश्यक नहीं है। शालिकनाथ के मत में 'सत्' शब्द के प्रयोग का आधार केवल पदार्थ की स्वरूपसत्तारूपी 'प्रमाणसम्बन्धयोग्यता' ही है, न कि

---

८१. "जातिराश्रयतो भिन्ना प्रत्यक्षज्ञानगोचरः।
पूर्वाकारावमर्शेन प्रभाकरगुरोर्मता॥" *प्रकरणपञ्चिका, जातिनिर्णय*, २, पृ.६४

८२. "पूर्वरूपानुकारिणी यदि धीरुदीयते, ततोऽभ्युपेयेतैव जातिः। न च नानाजातीयेषु सर्षपमहीधरादिषु, गुणेषु गन्धरसादिषु वा समानाकारानुभवो भवति। केवलं तु सत्सदिति शब्दमात्रमेव प्रयुज्यते। भवति च विनापि जात्या पाचकमीमांसकादि-शब्दप्रवृत्तिः। नन्वेवं शब्दप्रवृत्तिरपि नैकनिबन्धनमन्तरेणोपपद्यते। सत्यम्, अस्त्येवोपाधिरेकः प्रमाणसम्बन्धयोग्यता नाम।" *प्रकरणपञ्चिका*, पृ. ९७

पदार्थनिष्ठ समानाकार प्रतीति की विषयभूत कोई जाति।[८३] न्यायकन्दलीकार, शालिकनाथकृत सत्ताजातित्वखण्डन के प्रत्युत्तर में कहते हैं कि अनुरूप युक्ति से पृथिवीत्वादि जाति भी असिद्ध हो जाती हैं। अर्थनिष्ठ जाति रूपी सामान्य धर्म की उपलब्धि, कुछ स्थलों में स्फुटतर एवं अन्य स्थलों में अस्फुट होती है।[८४] कोयला एवं हीरा सजातीय द्रव्य होने पर भी उनका सजातीयत्व दो सुवर्ण पिण्डों के सजातीयत्व जैसा स्फुटावभासित नहीं होता है। वस्तुतः प्रमाणसम्बन्धयोग्यता एवं ज्ञेयत्व एक ही धर्म को अभिहित करते हैं। प्रशस्तपाद अस्तित्व, अभिधेयत्व एवं ज्ञेयत्वों को छः पदार्थों के सामान्य धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं।[८५]

प्राभाकरमत का अनुसरण करते हुए रघुनाथ शिरोमणि न्यायवैशेषिक सम्मत प्रत्यक्षसिद्ध सत्ता जाति का खण्डन करते हैं। उनके मत में जाति तभी प्रत्यक्ष सिद्ध हो सकती है, जब उसके सारे आश्रय भी प्रत्यक्ष के विषय होते हैं, अन्यथा नहीं। परन्तु आत्मा के धर्म, अधर्म, संस्कार तथा पृथिव्यादिनिष्ठ गुरुत्वादि गुण प्रत्यक्षग्राह्य नहीं है। अतः सभी द्रव्य, गुण एवं कर्मनिष्ठ प्रत्यक्षग्राह्य सत्ता जाति असिद्ध है। पुनश्च जात्यादि पदार्थ के स्थल में भी 'सत्' शब्द प्रयोग होता है। 'घटे जलमस्ति' ('घड़े में पानी है')– यहाँ पर 'अस्' धातु का प्रयोग वर्तमानत्व को ही अभिव्यक्त करता है। 'घटः सन्' ('घड़ा है'), 'पटः सन्' ('पट है')– इत्यादि में घट, पटादि की वर्तमानता प्रकार के रूप में भासित होती है। रघुनाथ के मत में सत्ता भावत्व-स्वरूप है। अभावत्व रूपी अखण्डोपाधि को स्वीकार करने पर अभाव से भिन्न होने के धर्म को भावत्व के रूप में ग्रहण किया जा सकता है अथवा भावत्व को भी एक अखण्डोपाधि के रूप में लिया जा सकता है। जिस प्रकार 'घटाभाव घटाभावविशिष्ट है', 'ज्ञेयत्व ज्ञेय है' सत्य होने से घटाभाव एवं ज्ञेयत्व स्ववृत्ति धर्म हैं, उसी प्रकार 'भावत्व भाव पदार्थ है' इस वाक्य की सत्यता से भावत्व भी स्ववृत्ति धर्म के रूप में स्वीकार्य है।[८६]

---

८३. "तेन स्वरूपसत्तैव प्रमाणसम्बन्धयोग्यता।" *वही*, पृ. ९९

८४. देखिये, *न्यायकन्दली*, पृ. ३२-३३

८५. "षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि।" *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. ४१

८६. "सत्ता च न द्रव्यगुणकर्मवृत्तिरेका प्रत्यक्षसिद्धा जातिः। धर्मादीनामतीन्द्रियत्वेन

शालिकनाथ एवं रघुनाथ के सत्ता जाति खण्डन में स्पष्ट अन्तर है। प्राभाकरमीमांसकों के द्वारा अभाव पदार्थ अस्वीकृत होने से उनके तन्त्र में अस्तित्व, भावत्व एवं प्रमाणसम्बन्धयोग्यता समनियत धर्म हैं। कणाद एवं प्रशस्तपाद द्वारा दी गई पदार्थव्यवस्था में द्रव्य, गुण एवं कर्म की भूमिका एवं सामान्य, विशेष तथा समवाय की भूमिका में स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता है। कणाद एवं प्रशस्तपाद 'अर्थ' एवं 'पदार्थ' को पर्यायवाचक शब्द के रूप में नहीं लेते हैं। वैशेषिकों का पारिभाषिक 'अर्थ' शब्द केवल द्रव्य, गुण एवं कर्मों को अभिहित करता है। कणाद एवं प्रशस्तपाद के दृष्टिकोण से पदार्थ व्यवस्था के निर्माण में सम्बन्धित शास्त्रप्रक्रिया निर्वाह के लिये ही सामान्य, समवाय एवं अन्त्यविशेष रूपी अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार करना आवश्यक होता है। जिन घटपटादि स्थूल प्रत्यक्षग्राह्य पदार्थों के एकत्व एवं वस्तुनिष्ठत्व को उनमें आश्रित गुण एवं कर्मादि प्रत्यक्षग्राह्य धर्मों के आधार पर समझने के लिये पदार्थ व्यवस्था का निर्माण किया जाता है, उस व्यवस्था में उन स्थूल प्रत्यक्षग्राह्य द्रव्य तथा उनके गुण एवं कर्मादि के लिये विशिष्ट स्थान अपेक्षित है। प्रशस्तपाद के अनुसार समवाय सम्बन्ध से सत्ता का अधिकरण होना परापर-सामान्यवान् होना, वैशेषिक शास्त्र के पारिभाषिक 'अर्थ' शब्द से अभिहित होना तथा धर्म एवं अधर्म की उत्पत्ति का कारण होना, ये तीनों द्रव्य, गुण एवं कर्म के साधारण धर्म हैं।[८७] स्वात्मसत्त्व अर्थात् सत्ता के साथ सम्बन्ध के बिना स्वरूपमात्रेण भासित होना, बुद्धिलक्षणत्व अर्थात् अनुवृत्तिप्रत्यय, व्यावृत्तिप्रत्यय, अथवा इह-प्रत्यय (अर्थात् यहाँ यह समवेत है इस आकार का प्रत्यय)– इन तीन प्रकार के प्रत्ययों से किसी एक के द्वारा सिद्ध होना, होने

तत्र प्रत्यक्षायोगात्, जात्यादावपि सद्व्यवहाराच्च। घटादौ सद्व्यवहारश्च वर्तमानत्वनिबन्धनः। किन्तु भावत्वं तत्। तच्चाभावान्यत्वम्। अभावत्वमैव वानुगतप्रत्ययसिद्धोऽखण्डोपाधिः। भावत्वं वाऽखण्डोपाधिः। तच्च ज्ञेयत्वादिवत् घटाभावादिवच्च स्ववृत्त्यपि।'' *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ.२६

८७. (क) ''द्रव्यादीनां त्रयाणामपि सत्तासम्बन्धः, सामान्यविशेष्यवत्त्वम्, स्वसमयार्थ-शब्दाभिधेयत्वम्, धर्माधर्मकर्तृत्वञ्च।'' *प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. ४३-४४

(ख) ''अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु।'' *वैशेषिक सूत्र*, ८.१४, बड़ौदा संस्करण, पृ. ६४

के लिये कोई कारण सामग्री पर आश्रित न रहना, समवायिकारण अथवा असमवायिकारण की भूमिका न निभाना, समवाय सम्बन्ध से सामान्य का अधिकरण न होना, नित्यत्व तथा 'अर्थ' शब्द के द्वारा अभिहित न होना– ये सब सामान्य, विशेष एवं समवाय के साधारण धर्म हैं।[८८] लोकव्यवहारयोग्य पदार्थ एवं शास्त्रप्रक्रिया के निर्वाह के लिये आवश्यक पदार्थों में प्रकार-भेद, अन्तर्बोधगम्य होने पर भी तत्त्वमीमांसा में इस भेद का परिष्कृत लक्षण देना सहजसाध्य नहीं है। सम्भवतः कणाद एवं प्रशस्तपाद, पदार्थ व्यवस्था में सत्ता जाति को स्थान देकर इस भेद के तत्त्वमीमांसीय महत्त्व को औपचारिक रूप में स्वीकार करना चाहते हैं।

न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में पद्धतिमूलक दृष्टि से जातिबाधक न रहने पर कारणता के अवच्छेदक धर्म के द्वारा जाति की सिद्धिप्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है। महादेव भट्ट ध्वंस की कारणता के अवच्छेदक धर्म के रूप में सत्ता का जातित्व सिद्ध करते हैं।[८९] जिनमें प्रतियोगिता सम्बन्ध से ध्वंस की उत्पत्ति होती है अर्थात् जिन भाव पदार्थों का ध्वंस होता है वे सारे भाव पदार्थ अवश्य जातिविशेष से अवच्छिन्न हैं। सत्ता ही वह जाति है। ध्वंस का केवल निमित्तकारण ही सम्भव है। जिस भावपदार्थ का ध्वंस होता है उसके लिये उसके ध्वंस के अनन्तर यह कहना अवश्य सत्य है कि 'वह था परन्तु अब नहीं है'। परम्परागत वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में नित्यद्रव्य एवं नित्यगुण स्वीकृत हैं। अतः सभी सत्तावान् पदार्थ विनाशी नहीं होते हैं; यद्यपि सभी विनाशी भावपदार्थ सत्तावान् होते हैं। सभी जन्य भाव पदार्थ विनाशी हैं। परम्परागत मत में सामान्य विशेष एवं समवाय के नित्यत्व स्वीकृत है। अतः केवल जन्यद्रव्य, जन्यगुण एवं कर्म ही विनाशी पदार्थ होते हैं। इसके अतिरिक्त अपाकज रूप, रसादि उत्पत्तिमान्

---

८८. (क) "सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं, बुद्धिलक्षणत्वम्, अकार्यत्वं, अकारणत्वं, असामान्यविशेषवत्त्वं, नित्यत्वम्, अर्थशब्दानभिधेयत्वं चेति।" *प्रशस्तपाद-भाष्य, न्यायकन्दली* सहित, पृ. ४९

(ख) ऊपर उद्धृत भाष्य में 'बुद्धिलक्षणत्वम्' पद की व्याख्या के लिये *किरणावली* का पृ. २१ द्रष्टव्य है।

८९. "ध्वंसकारणतावच्छेदकतया सत्ताजातिसिद्धेः। यत्र प्रतियोगितासम्बन्धेन ध्वंसोत्पत्तिस्तत्रैव तादात्म्यसम्बन्धेन सदिति सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्त्या कार्यकारणभावात्।" *दिनकरी,* पृ. ६०

न होने पर भी उनका विनाश स्वीकृत है। परन्तु नित्य द्रव्य स्वीकृत न होने पर उत्पत्तिरहित गुण भी स्वतः अस्वीकृत होते हैं। कर्म की उत्पत्तिमत्ता एवं विनाशशालित्व विवादास्पद नहीं है। अतः ध्वंस की प्रतियोगिता सभी व्यक्तिभूत द्रव्य, गुण कर्म पदार्थ में रहती है। समुच्चय रूपी पदार्थ स्वीकृत होने पर उत्पन्न-विनाशशील पदार्थों के समुच्चयों की उत्पत्तिमत्ता एवं विनाशशालिता स्वीकार्य होती हैं। फलतः इस प्रकार के समुच्चयों में ध्वंसप्रतियोगिता भी स्वीकार्य होती है। अनित्य समुच्चय में सत्ता का पर्याप्ति सम्बन्ध स्वीकार करना, कणाद एवं प्रशस्तपाद के दृष्टिकोण का प्रतिगामी नहीं है। केवल नित्यसदस्यघटित समुच्चयों में पर्याप्ति सम्बन्ध से रहने वाला सङ्ख्या रूपी शुद्ध परिमाण भी नित्य है। समवाय का नानात्व, उत्पत्तिमत्ता एवं विनाशशालिता स्वीकृत होने से समवाय में भी ध्वंसप्रतियोगिता रहती है। परन्तु समवाय शास्त्रीय पदार्थ होने से उसमें सत्ता का आश्रयत्व स्वीकार्य नहीं है। क्षण स्वतः उत्पन्न-विनाशशील है। परन्तु वह शास्त्रीय पदार्थ है। अतः उसमें ध्वंसप्रतियोगिता रहने पर भी सत्तासमवायित्व स्वीकार्य नहीं है। अतः ध्वंसप्रतियोगितावान् समवाय एवं क्षण से भिन्न भाव पदार्थ होना एवं सत्तावान् होना समनियत धर्म हैं।

भाट्टमीमांसक आकृति को ही जाति के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु उनके अनुसार, आकृति अवयवों का संस्थान नहीं है। जिस तत्त्व से व्यक्ति आक्रियमाण होती है एवं जो अनुवृत्ति प्रत्यय के विषय के रूप में भासित होती है वह *आकृति* है।[९०] उनके मत में जाति व्यक्ति में भेदाभेद सम्बन्ध से रहती है, नित्य है एवं प्रत्यक्ष का विषय है।[९१] द्रव्य, गुण, कर्म तथा जाति पदार्थों में 'सत्' प्रत्यय तथा शब्दव्यवहार प्रसिद्ध होने से सत्ता जाति प्रमाणसिद्ध है।[९२] मानमेयोदय के प्रमेय खण्ड

---

९०. ''जातिमेवाकृतिं प्राहुर्व्यक्तिराक्रियते यया।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम्॥''
मीमांसाश्लोकवार्त्तिक, आकृतिवाद, ३, पृ. ६५३

९१. ''जातिर्व्यक्तिगता नित्या प्रत्यक्षज्ञानगोचरा।
भिन्नाभिन्ना च सा व्यक्तेः कुमारिलमते मता॥''
मानमेयोदय, प्रमेय खण्ड, ३५, पृ. २१९

९२. ततः पृथिवीसलिलादिषु द्रव्येषु गोत्वादिषु जातिषु रूपरसादिषु गुणेषु गमनादिषु कर्मसु च सत् सदितिप्रतीतिशब्दप्रयोगयोर्दर्शनाद् द्रव्यादिचतुष्टयवर्ति सत्त्वं नाम महासामान्यमाश्रयणीयम्।'' *मानमेयोदय*, प्रमेय खण्ड, पृ. २२५

के रचयिता नारायण पण्डित के अनुसार जाति को केवल स्वयं का आश्रय मानने पर ही अनवस्था प्रसङ्ग उठता है, न कि जाति में जाति स्वीकार करने मात्र से।[९३] गोत्वादि में सत्ता की प्रतीति तथा सत् शब्द का प्रयोग अप्रामाणिक नहीं है। पुनश्च सत्ता को पाचकत्वादि जैसे उपाधि के रूप में भी स्वीकार करना युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि उपाधिविशिष्टबुद्धि उपाधिज्ञान की अपेक्षा रखती है एवं द्रव्यादि में सत्ता की प्रतीति, शालिकनाथसम्मत प्रमाण-सम्बन्ध-योग्यता रूपी उपाधि के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखती है। परन्तु नारायण पण्डित के अनवस्थादोष का परिहारविषयक मत युक्तिसङ्गत नहीं है। यदि द्रव्य, गुण, कर्म एवं जाति– इन चारों कोटियों के पदार्थों में रहने वाले सत्त्व रूपी महासामान्य को स्वीकार किया जाता है एवं महासामान्य को जाति के रूप में स्वीकार किया जाता है, तो सत्त्व रूपी जाति को स्वनिष्ठ स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है। परन्तु उनके अनुसार स्वनिष्ठ-जाति स्वीकार करने पर अनवस्था दोष होता है। अतः इस प्रसङ्ग में कणाद एवं प्रशस्तपाद के लोकव्यवहार योग्य पदार्थ एवं शुद्ध शास्त्रीय पदार्थों के भेद के आधार पर सत्ता जाति को स्वीकार करना ही अधिक युक्तिसङ्गत है।

६.४ परम्परासम्मत अनुभवत्व जाति का खण्डन

न्यायवैशेषिक परम्परा में अनुभव एवं स्मृति रूपी ज्ञान की दो कोटियाँ स्वीकृत हैं।[९४] संस्कारजन्यज्ञान स्मृति कहलाती है एवं स्मृतभिन्नज्ञान अनुभव कहलाता है। यथार्थ एवं अयथार्थ भेद से अनुभव दो प्रकार का होता है। प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शाब्दज्ञान के भेद से, अनुभव चार प्रकार का होता है। अयथार्थ-अनुभव, संशय, विपर्यय एवं तर्क के भेद

---

९३. "तार्किकास्तु, सामान्यस्य सामान्यान्तराश्रयणेऽनवस्थाप्रसङ्गाद् द्रव्यगुणकर्मगतमेव सत्त्वं न तु जातिगतमित्याहुः। तद्युक्तम्, यदि द्रव्यत्वस्य द्रव्यत्वान्तरं गोत्वस्य वा गोत्वान्तरमाश्रयामहे, तर्हि स्यादेवानवस्था। सत्त्वाश्रयणे न काचिदनवस्था इति नोक्तदोषानुषङ्गः।" *वही,* पृ. २२५

९४. (क) "सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः। सा द्विविधा। स्मृतिरनुभवश्चेति। संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः। यथार्थोऽयथार्थश्चेति।" *तर्कसङ्ग्रह, न्यायबोधिनी* आदि सहित, पृ. ३२-३३

(ख) "अयथार्थानुभवस्त्रिविधः– संशयविपर्ययतर्कभेदात्।" *वही,* पृ. ६९

से तीन प्रकार का होता है। परम्परागत मत के अनुसार 'अनुभव कर रहा हूँ'– इस आकार की अनुगत प्रतीति एवं जातिबाधक न रहने के कारण अनुभवत्व रूपी जाति स्वीकार्य है।[९५] यह सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध एवं निर्विवाद तथ्य है कि पर का अर्थात् अपने से भिन्न व्यक्तियों के सुखदुःखादि का ज्ञान अनुमान अथवा शब्द प्रमाण से ही होता है । परन्तु परसुखदुःखादि का ज्ञान परनिष्ठसुखदुःखों का अनुभव नहीं कहा जा सकता है। एक चिकित्सक को अपने रोगियों की शारीरिक पीड़ाओं का ज्ञान, अनुमान अथवा रोगियों के द्वारा किये गये वर्णन से अर्थात् शब्द प्रमाण से ही होता है। परन्तु चिकित्सक को स्वयं की शारीरिक पीड़ा की तरह अपने रोगियों की पीड़ाओं का अनुभव नहीं हो सकता है। अतः वस्तुतः साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष ही अनुभव है। साक्षात्कारत्व जाति ही अनुभवत्व है। साक्षात्कार संशय या विपर्ययरूपी हो सकता है। प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शाब्दज्ञान आदि के स्थलों में 'अनुभव कर रहा हूँ'– इस आकार की तथाकथित अनुगत प्रतीति का आधार केवल स्मृतिभिन्नज्ञानत्व ही है न कि साक्षात्कारत्व रूपी प्रत्यक्षज्ञाननिष्ठ जाति। रघुनाथ शिरोमणि, उपर्युक्त युक्ति के आधार पर अनुभवत्व जाति का खण्डन करते हैं।[९६] वस्तुतः 'अनुभव' शब्द न्यायवैशेषिक दार्शनिक साहित्य में एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है, व्यापक अर्थ में 'अनुभव' शब्द के प्रयोग तथा 'साक्षात्कार' अर्थ में अनुभव शब्द के प्रयोग में अन्तर अवश्य स्वीकार्य है।

---

९५. "स्मृतिभिन्नज्ञानत्वमनुभवत्वं जातिविशेषो वा। अनुभवामीत्यनुगतप्रतीतेर्बाधकं विना जातिविषयकत्वात्।" *न्यायसिद्धान्तमञ्जरी*, पृ. १२

९६. (क) "शाब्दादिज्ञाने अनुभवव्यवहारश्च स्मृत्यन्यज्ञाननिबन्धनः। जातिस्त्वनुभवत्वं साक्षात्कारित्वमेव। साक्षात्कारिणि ज्ञान एव तत् प्रत्ययात्। सत्यपि चानुमानिकादि सुखादिनिश्चये सुखादिकमनुभवामीति प्रत्ययाभादिति।" *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ. २९

(ख) रघुनाथशिरोमणि द्वारा किये गये अनुभवत्वजाति-खण्डन के समर्थन हेतु नीलकण्ठ दीक्षितकृत *न्यायसिद्धान्तमञ्जरी* की *तर्कप्रकाशिका* टीका पृ. १३ द्रष्टव्य है।

६.५ रघुनाथ के गुणत्वजातिखण्डन की समीक्षा

न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में सत्ता-साक्षाद्-व्याप्य-जाति के रूप में द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व स्वीकृत हुए हैं। परम्परागत मत में ये तीन जातियाँ तथा सत्ता जाति प्रत्यक्षसिद्ध हैं। रघुनाथशिरोमणि के मत में जाति को प्रत्यक्षसिद्ध मानने के लिये यह आवश्यक है कि उसके सारे आश्रय प्रत्यक्षग्राह्य हों। परन्तु धर्म, अधर्म, संस्कारादि गुण प्रत्यक्षग्राह्य नहीं हैं। अतः प्रत्यक्षसिद्ध जाति के रूप में गुणत्व जाति को स्वीकारा नहीं जा सकता। उत्कर्ष एवं अपकर्ष अर्थ में गुण एवं दोष शब्दों के प्रयोग होने के आधार पर भी गुणत्व को जाति के रूप में माना नहीं जा सकता है। कारणता के अवच्छेदक धर्म एवं कार्यता के अवच्छेदक धर्म के रूप में जाति की सिद्धि अवश्य होती है। कारणता एवं कार्यता परस्पर की निरूपक होती हैं एवं परस्पर द्वारा निरूपित भी होती हैं। अतः कारणता के अवच्छेदकधर्म के आधार पर गुणत्व जाति की सिद्धि के लिये एक कार्यता का अवच्छेदकधर्म भी अपेक्षित है। परन्तु गुणत्व के स्थल में अपेक्षित कार्यता का अवच्छेदकधर्म उपलब्ध नहीं है।[९७]

विश्वनाथ न्यायपञ्चानन के अनुसार, द्रव्य एवं कर्म से भिन्न जाति की सभी आश्रयों में रहने वाली कारणता अवश्य धर्मविशेष से अवच्छिन्न है, क्योंकि वह कारणता है एवं निरवच्छिन्न कारणता की कल्पना सम्भव नहीं है।[९८] उनके अनुसार इस युक्ति से गुणत्व जाति की सिद्धि होती है। दिनकर भट्ट इस पर आपत्ति उठाते हैं कि चतुर्विंशतिगुणनिष्ठ एक साधारण कारणता प्रमाणसिद्ध न होने से उसके अवच्छेदक धर्म के रूप में गुणत्व जाति की सिद्धि नहीं की जा सकती है। प्रत्येक गुणनिष्ठ कारणता को पक्ष के रूप में लेकर गुणत्व जाति को सिद्ध करने पर द्रव्य, कर्म एवं रूप से भिन्न जाति की आश्रयों में रहने वाली कारणता

---

९७. "एवं गुणत्वमपि न रूपादिचतुर्विंशतावेका प्रत्यक्षसिद्धा जातिः। अतीन्द्रिये प्रत्यक्षायोगात्। तुरगादेरुत्कृष्टगतिमत्त्वे ब्राह्मणादेश्च दोषाद्यभावेऽपि गुणव्यवहाराच्च। एकस्य कार्यतावच्छेदकस्य विरहेऽपि येन केनापि रूपेण कारणत्वाद्यनुगमय्य जातिकल्पने चातिप्रसङ्गो जातिसङ्करप्रसङ्गश्चेति दिक्।" *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, पृ.२७

९८. "द्रव्यकर्मभिन्ने सामान्यवति या कारणता साकिञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् निरवच्छिन्नकारणताया असम्भवात्।" *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*, पृ. ३३३

के अवच्छेदक धर्म के रूप में शेष गुणों में जाति की सिद्धि का प्रसङ्ग उठता है।[९९]

गुणत्व जाति अस्वीकार्य होने पर भी सामान्य रूप में अनुगत प्रतीति के आधार पर जाति के प्रत्यक्षग्राह्यत्व सिद्ध करने के लिये उसके सारे आश्रयों का प्रत्यक्षग्राह्यत्व सिद्ध करना आवश्यक नहीं है। उदाहरणस्वरूप, एक वर्तुलाकार मूर्त द्रव्य अति सूक्ष्म होने पर तन्निष्ठ वर्तुलाकृति एवं उस वर्तुलाकृतिनिष्ठ वर्तुलाकारत्व जाति प्रत्यक्षग्राह्य नहीं होती है। परन्तु वर्तुलाकारत्व जाति का प्रत्यक्षसिद्धत्व अवश्य स्वीकार्य है।

***

---

९९. देखिये, *दिनकरी*, पृ. ३३५

ग्रन्थ सूची

[१] अन्नम्भट्ट, *तर्कसङ्ग्रह*, स्वोपज्ञ व्याख्या *तर्कसङ्ग्रहदीपिका* सहित तथा *तर्कसङ्ग्रह* पर गोवर्धनमिश्रकृत *न्यायबोधिनी*, मेरुशास्त्रिकृत *वाक्यवृत्ति*, जगन्नाथशास्त्रिकृत *निरुक्ति*, पट्टाभिरामशास्त्रिकृत *टिप्पणी* एवं *तर्कसङ्ग्रहदीपिका* पर रामरुद्रकृत *रामरुद्रीय*, रायनरसिंहकृत *नृसिंहप्रकाशिका*, नीलकण्ठशास्त्रिकृत *नीलकण्ठप्रकाशिका*, पट्टाभिरामशास्त्रिकृत *पट्टाभिरामप्रकाशिका* संवलित, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला– १८७, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७६

[२] अन्नम्भट्ट, *तर्कसङ्ग्रहदीपिका, तर्कसङ्ग्रह* की स्वोपज्ञ व्याख्या, [१] द्रष्टव्य

[३] अमृतानन्द, *समयव्याख्या*, [१९] द्रष्टव्य

[४] ईश्वरकृष्ण, *साङ्ख्यकारिका*, वाचस्पतिमिश्रविरचित *साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी* तथा हरिरामशुक्लकृत *साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी* व्याख्या *सुषमा* संवलित, जयकृष्णदास-हरिदासगुप्त प्रकाशन, वाराणसी, सं. १९९३

[५] उदयनाचार्य, *आत्मतत्त्वविवेक*, शङ्करमिश्रप्रणीत *आत्मतत्त्वविवेककल्पलता* भगीरथठक्कुरप्रणीत *आत्मतत्त्वविवेकप्रकाशिका*, रघुनाथशिरोमणिप्रणीत *आत्म-तत्त्वविवेकदीधिति* एवं मथुरानाथकृत *आत्मतत्त्वविवेकरहस्य* का प्रारम्भांश संवलित, विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी एवं राजेश्वर शास्त्री द्राविड़ द्वारा सम्पादित, एसियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९८६

[६] उदयनाचार्य, *किरणावली*, [५२] द्रष्टव्य

[७] उदयनाचार्य, *न्यायकुसुमाञ्जलि*, दुर्गाधरझाकृत हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या संवलित, गङ्गानाथ झा ग्रन्थमाला: ६, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७३

[८] उदयनाचार्य, *न्यायकुसुमाञ्जलि*, उत्तमुर ति. वीरराघवाचार्यकृत *कुसुमाञ्जलिविस्तर* संस्कृत व्याख्या संवलित, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ ग्रन्थमाला– ३१, तिरुपति, १९८०

[९] उद्द्योतकर, *न्यायवार्त्तिक*, विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित, ईष्टर्न बुक लिङ्कर्स द्वारा पुनर्मुद्रित, दिल्ली, १९८६

[१०] एड्विन इ. मयस, *एलिमेन्टेरी ज्योमेट्रि फ्रम एन एडवान्स्ड ष्टेन्डपयन्ट*, एडिसन-वेस्लि पब्लिशिंग कम्पनी एवं बि. आइ. पब्लिकेशंस, मुम्बई, १९७०

[११] एब्राहम ए. फ्रेन्केल, *एवष्ट्राक्ट् सेट थ्योरी*, नॉर्थहालैण्ड पब्लिशिंग कम्पनी, एमष्टरडेम, १९६१

[१२] एब्राहम ए. फ्रेन्केल एवं योशुऑ बारहिल्लेल, *फाउण्डेशन्स ऑफ सेट थ्योरी*, नॉर्थहालैण्ड पब्लिशिंग कम्पनी, एमष्टरडम, १९५८

[१३] एलेक्ज्वेन्डर एबियन, *द थ्योरी ऑफ सेट्स एण्ड ट्रान्सफाइनाइट एरिथ्मेटिक्*, डब्ल्यु. बि. सण्डर्स कम्पनी, लण्डन, १९६५

[१४] एन.एल. ग्लिङ्का, *जॅनरल केमेष्ट्री*, दो भागों में, जि. लाइब् द्वारा अङ्ग्रेजी अनुवाद, मिर पब्लिशर्स, मॉस्को, १९९०

[१५] एन.एस. आख्मेटोव, *जॅनरल एण्ड इनऑर्गनिक केमेस्ट्री*, मीर पब्लिशर्स, मॉस्को, १९८७

[१६] कणाद, *वैशेषिकसूत्र*, चन्द्रानन्दविरचित *वृत्ति* संवलित, जम्बुविजयजी द्वारा सम्पादित, गायकवाड प्राच्यग्रन्थमाला– १३६, प्राच्यविद्या संस्थान, बड़ोदा, १९८२

[१७] कणाद, *वैशेषिक दर्शन*, अविज्ञातकर्तृक *व्याख्या* संवलित, अनन्तलाल ठक्कुर द्वारा सम्पादित, मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन, दरभङ्गा, १९५७

[१८] कालिपद तर्काचार्य, *सुप्रभा*, महेश चन्द्र न्यायरत्नकृत *नव्यन्यायभाषाप्रदीप* की बङ्ग भाषा में व्याख्या, [६३] द्रष्टव्य

[१९] कुन्दकुन्दाचार्य, *पञ्चास्तिकायसङ्ग्रह*, अमृतानन्द विरचित *समयव्याख्या* एवं मगनलालजैनकृत हिन्दी अनुवाद संवलित, दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा

ट्रष्ट के साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग द्वारा प्रकाशित, जयपुर, १९८४

[२०] कुमारिल भट्ट, *मीमांसाश्लोकवार्त्तिक*, दुर्गाधरझाकृत *हिन्दीव्याख्या* संवलित, कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, १९७९

[२१] कुमारिल भट्ट, *मीमांसाश्लोकवार्त्तिक* (शून्यवादान्त) सुचरितमिश्रविरचित *काशिकाटीका* संवलित, के. साम्बशिवशास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला– २३, २९, ३१, चेन्नई, १९१३, सि.वि.एच पब्लिशर्स द्वारा पुनर्मुद्रित, चेन्नई, १९९०

[२२] केशव मिश्र, *तर्कभाषा*, हिन्दी व्याख्याकार डॉ. गजाननशास्त्री 'मुसलगाँवकर', चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९९०

[२३] खड्गनाथमिश्र, *सिद्धान्तलक्षणतत्त्वालोकप्रकाश*, प्रथम भाग, *तत्त्वचिन्तामणि* का सिद्धान्तलक्षण तथा तदुपरि रघुनाथशिरोमणिकृत *दीधिति*, जगदीशकृत *जागदीशी*, धर्मदत्तझाकृत *तत्त्वालोक* संवलित, राजस्थान विश्वविद्यालय भारतीय दर्शन अध्ययन ग्रन्थमाला– २, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, जयपुर, १९९६

[२४] गङ्गानाथ झा, *पूर्वमीमांसा इन इटस् सोर्सेस्*, उमेशमिश्रकृत परिशिष्टात्मक *क्रिटिकल बिब्लियोग्रॉफी* संवलित, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९६४

[२५] गङ्गेशोपाध्याय, *तत्त्वचिन्तामणि*, चार खण्डों में, *प्रत्यक्ष खण्ड*, मथुरानाथ-कृत *रहस्य*, जयदेवकृत *आलोक* सहित, ए. कामाख्यानाथ तर्कवागीश द्वारा सम्पादित, एसियाटिक सोसायटी, कलकत्ता के मूल संस्करण से चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान द्वारा पुनर्मुद्रित, वाराणसी, १९९०

[२६] गदाधर भट्टाचार्य एवं अन्य पण्डितगण *वादवारिधि*, तीन खण्डों में, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९४०

[२७] गदाधर भट्टाचार्य, *विषयतावादवीचि, वादवारिधि*, तृतीय भाग, पृ.२६८-२८८, [२६] द्रष्टव्य

[२८] गदाधर भट्टाचार्य, *कारणतावादवीचि, वादवारिधि*, तृतीय भाग, पृ.२०२-२०८, [२६] द्रष्टव्य

[२९] गृद्धपिच्छाचार्य, *तत्त्वार्थसूत्र*, पूज्यपादाचार्यविरचित *सर्वार्थसिद्धि* नामक *तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति* एवं फूलचन्द्र शास्त्री द्वारा हिन्दी अनुवाद, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९१

[३०] गोवर्धन मिश्र, *न्यायबोधिनी, तर्कसङ्ग्रह* व्याख्या, [१] द्रष्टव्य

[३१] गौतम, *न्यायसूत्र*, वात्स्यायनकृत *भाष्य* एवं विश्वनाथभट्टाचार्यकृत *वृत्ति* सहित, दिगम्बरशास्त्रिसम्पादित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलीः ९१, पुणे, १९२३

[३२] चन्द्रानन्द, *वैशेषिकसूत्रवृत्ति*, [१६] द्रष्टव्य

[३३] जगदीश तर्कालङ्कार, *अवच्छेदकत्वनिरुक्तिजागदीशी*, [६६] द्रष्टव्य

[३४] जगदीशतर्कालङ्कार, *सिद्धान्तलक्षणजागदीशी*, [२३] द्रष्टव्य

[३५] जगदीश तर्कालङ्कार, *सूक्ति*, द्रव्यखण्डान्त *प्रशस्तपादभाष्य* की टीका, [५३] द्रष्टव्य

[३६] जगन्नाथ शास्त्री, *निरुक्ति*, *तर्कसङ्ग्रह* व्याख्या, [१] द्रष्टव्य

[३७] जयन्त भट्ट, *न्यायमञ्जरी*, तीन भागों में, चक्रधरकृत *ग्रन्थिभङ्ग* व्याख्या संवलित, गौरीनाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम भाग-१९८२, द्वितीय भाग-१९८३, तृतीय भाग-१९८४

[३८] जयपुरिनारायणभट्ट, *न्यायसिद्धि*, *प्रकरणपञ्चिका* की व्याख्या, [९२] द्रष्टव्य

[३९] जानकीनाथ भट्टाचार्य, *न्यायसिद्धान्तमञ्जरी*, नीलकण्ठदीक्षितकृत *तर्कप्रकाशिका* संवलित, वाराणसी, सं. १९४१

[४०] जि.एस्. लेण्डवर्ग सम्पादित *ए. टेक्स्ट बुक ऑफ एलिमेण्टरी फिजिक्स्* तीन भागों में, ए. ट्रालिस्कि द्वारा रूसी भाषा से अङ्ग्रेजी में अनुवाद, मिर पब्लिशर्स, मॉस्को, १९७२

[४१] दिनकर भट्ट एवं महादेव भट्ट, *दिनकरी (प्रकाश)*, *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली* की व्याख्या, [८४] द्रष्टव्य

[४२] धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, *क्रिटिक् ऑफ इण्डियन रियलिज़्म*, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी एवं दिल्ली, १९६८

[४३] नारायण चन्द्र गोस्वामी, *अध्यापना* अन्नम्भट्टकृत *तर्कसङ्ग्रह* एवं *तर्कसङ्ग्रहदीपिका* की बङ्ग भाषा में विस्तृत व्याख्या, कल्याणी दासगुप्त द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, प्रकाशन वर्ष अनुपलब्ध

[४४] नारायण भट्ट एवं नारायण पण्डित, *मानमेयोदय* (नारायणभट्टकृत *प्रमाण खण्ड* एवं नारायणपण्डितकृत *प्रमेय खण्ड*), स्वामी योगीन्द्रानन्दकृत हिन्दी व्याख्या संवलित, षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठान, वाराणसी, १९७८

[४५] नीलकण्ठ दीक्षित, *तर्कप्रकाशिका, न्यायसिद्धान्तमञ्जरी* व्याख्या, [३९] द्रष्टव्य

[४६] नीलकण्ठ शास्त्री, *नीलकण्ठप्रकाशिका, तर्कसङ्ग्रहदीपिका* की व्याख्या, [१] द्रष्टव्य

[४७] पतञ्जलि, *पातञ्जलदर्शन*, पतञ्जलिविरचित *योगसूत्र*, व्यासप्रणीत भाष्य, वाचस्पतिमिश्रकृत *तत्त्ववैशारदी*, विज्ञान भिक्षुकृत *योगवार्त्तिक*, हरिहरानन्दकृत *भास्वती* एवं राघवानन्दसरस्वतीकृत *पातञ्जल रहस्य* संवलित, दामोदरशास्त्रि-सम्पादित, चौखम्बा संस्कृत संस्थान द्वारा पुनर्मुद्रण, वाराणसी, १९९०

[४८] पद्मनाभ मिश्र, *सेतु*, द्रव्यखण्डान्त *प्रशस्तपादभाष्य* की व्याख्या, [५३] द्रष्टव्य

[४९] पाणिनि, *अष्टाध्यायीसूत्रपाठ*, ब्रह्मदत्तजिज्ञासु द्वारा सम्पादित, रामलाल कपूर ट्रष्ट द्वारा प्रकाशित, सोनीपत-हरियाणा, १९७४

[५०] पार्थसारथिमिश्र, *शास्त्रदीपिका*, तर्कपादान्त रामकृष्णप्रणीत *युक्तिस्नेह-प्रपूरणीसिद्धान्तचन्द्रिका* एवं प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से अन्त तक सोमनाथप्रणीत *मयूखमालिका* व्याख्या संवलित, धर्मदत्तझा द्वारा सम्पादित, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९८८

[५१] पूज्यपादाचार्य, *सर्वार्थसिद्धि*, *तत्त्वार्थसूत्र* की वृत्ति, [२९] द्रष्टव्य

[५२] प्रशस्तपादाचार्य, *प्रशस्तपादभाष्य*, उदयनाचार्यकृत *किरणावली* संवलित, जितेन्द्र एस्. जेटली द्वारा सम्पादित, गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थमाला: १५४, प्राच्यविद्यासंस्थान, बडोदा, १९७१

[५३] प्रशस्तपादाचार्य, *प्रशस्तपादभाष्य*, व्योमशिवाचार्यविरचित *व्योमवती*, जगदीशतर्कालङ्कारप्रणीत *सूक्ति* एवं पद्मनाभमिश्रविरचित *सेतु* संवलित, गोपीनाथ कविराज एवं ढुण्डिराज शास्त्री द्वारा सम्पादित, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९८३

[५४] प्रशस्तपादाचार्य, *प्रशस्तपादभाष्य (पदार्थधर्मसङ्ग्रह)*, श्रीधरभट्टप्रणीत *न्यायकन्दली* संवलित, दुर्गाधरझा द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद सहित, गङ्गानाथझा ग्रन्थमाला: १, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७७

[५५] बृहदारण्यक उपनिषद्, शङ्करभाष्य तथा मूल एवं भाष्य के हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. २०५०

[५६] भगीरथ ठक्कुर, *आत्मतत्त्वविवेकप्रकाशिका*, [५] द्रष्टव्य

[५७] भगीरथ ठक्कुर, *न्यायलीलावतीप्रकाशविवृति*, [९६] द्रष्टव्य

[५८] भर्तृहरि, *वाक्यपदीय*, तृतीय काण्ड का द्वितीय भाग, हेलाराजकृत *प्रकीर्णकप्रकाश* सहित, ए. सुब्रमण्य अय्यर द्वारा सम्पादित, पूना, १९७३

[५९] भासर्वज्ञाचार्य, *न्यायभूषण, न्यायसार* पर स्वोपज्ञ व्याख्या, स्वामी योगीन्द्रानन्द सम्पादित, षड्दर्शनप्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९६८

[६०] भास्कराचार्य, *लीलावती*, दामोदरमिश्रकृत *वासना* संवलित, मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन, दरभङ्गा, १९५६

[६१] भीमाचार्य झलकिकर एवं वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, *न्यायकोश*, भण्डारकर प्राच्यविद्याशोधसंस्थान, पुना, १९२८

[६२] महादेव भट्ट एवं दिनकर भट्ट, *दिनकरी (प्रकाश)*, [८४] द्रष्टव्य

[६३] महेश चन्द्र न्यायरत्न, *नव्यन्यायभाषाप्रदीप*, कालिपदतर्काचार्यकृत बङ्गानुवाद तथा *सुप्रभा* बङ्गीय व्याख्या संवलित, कलकत्ता संस्कृत कालेज अनुसन्धान ग्रन्थमालाः ७९, संस्कृत कॉलेज प्रकाशन, कलकत्ता, १९७३

[६४] मेरुशास्त्री, *वाक्यवृत्ति, तर्कसङ्ग्रह* व्याख्या, [१] द्रष्टव्य

[६५] रघुदेव न्यायालङ्कार, *पदार्थतत्त्वनिरूपणटीका*, [६८] द्रष्टव्य

[६६] रघुनाथ शिरोमणि, *अवच्छेदकत्व निरुक्ति दीधिति*, जगदीश तर्कालङ्कारकृत *अवच्छेदकत्वनिरुक्तिजागदीशी* एवं उसकी दत्तात्रेयशास्त्रिप्रणीत *लक्ष्मी* व्याख्या संवलित, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला– २०३, चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष अनुपलब्ध

[६७] रघुनाथ शिरोमणि, *आत्मतत्त्वविवेकदीधिति*, [५] द्रष्टव्य

[६८] रघुनाथ शिरोमणि, *पदार्थतत्त्वनिरूपण*, मधुसूदन भट्टाचार्यकृत बङ्गानुवाद एवं *विवृति* तथा रघुदेवप्रणीत *पदार्थतत्त्वनिरूपणटीका* संवलित, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय प्रकाशन, कलकत्ता, १९७६

[६९] रघुनाथ शिरोमणि, *पदार्थतत्त्वनिरूपण,* विश्वम्भर पाहि एवं कुसुम जैन द्वारा प्रस्तुत हिन्दी भावानुवाद तथा रामभद्र सार्वभौम द्वारा विरचित *पदार्थतत्त्वविवेचनप्रकाश* संवलित, राजस्थान विश्वविद्यालय भारतीय दर्शन अध्ययन ग्रन्थमाला–५, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, जयपुर, १९९७

[७०] रघुनाथ शिरोमणि, *सिद्धान्तलक्षणदीधिति*, [२३] द्रष्टव्य

[७१] रॉबर्ट थोर्न्टोन मोरिसन एवं रबर्ट नीलसन बयड, *ऑर्गनिक केमेष्ट्रि*, प्रेन्टिसहल ऑफ इन्डिया प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, १९९४

[७२] रॉबर्ट रेसनिक् एवं डेविड हाल्लिडे, *फिजिक्स*, दो भागों में, वाइलि ईष्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली, कलकत्ता, १९९०

[७३] रॉबर्ट एस्. वुडवर्थ एवं हेरल्ड स्लोस्बर्ग, *एक्सपेरिमेन्टल साइकोलोजी*, ऑक्सफोर्ड एण्ड आइ.बि.एच. पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, १९७६

[७४] राजेश्वर शास्त्री एवं रामरुद्र भट्टाचार्य, *रामरुद्री, सिद्धान्तमुक्तावली* की टीका *दिनकरी* की व्याख्या, [८४] द्रष्टव्य

[७५] रामभद्र सार्वभौम, *पदार्थतत्त्वविवेचनप्रकाश*, पदार्थतत्त्वनिरूपण की टीका, [६९] द्रष्टव्य

[७६] रामरुद्र, *रामरुद्रीय, तर्कसङ्ग्रहदीपिका* की व्याख्या, [१] द्रष्टव्य

[७७] रामरुद्र भट्टाचार्य एवं राजेश्वर शास्त्री, *रामरुद्री (तरङ्गिणी), दिनकरी* व्याख्या, [८४] द्रष्टव्य

[७८] रायनरसिंह, *नृसिंहप्रकाशिका, तर्कसङ्ग्रहदीपिका* की व्याख्या, [१] द्रष्टव्य

[७९] वर्धमानोपाध्याय, *न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश*, लक्ष्मणशास्त्री द्राविड द्वारा सम्पादित, चौखम्बा, वाराणसी, १९१२

[८०] वर्धमानोपाध्याय, *न्यायलीलावतीप्रकाश*, [९६] द्रष्टव्य

[८१] वाचस्पतिमिश्र, *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका*, राजेश्वरशास्त्री द्राविड़ द्वारा सम्पादित, काशी संस्कृत ग्रन्थमालाः २४, जयकृष्णदास-हरिदास गुप्त प्रकाशन, वाराणसी, १९२५

[८२] वात्स्यायन, *न्यायभाष्य*, [३१] द्रष्टव्य

[८३] वामन एवं जयादित्य, *काशिकावृत्ति*, द्वितीय भाग, जिनेन्द्रबुद्धिकृत *न्यास* एवं हरदत्तमिश्रकृत *पदमञ्जरी* संवलित, प्राच्य भारती प्रकाशन, वाराणसी, १९६५

[८४] विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य, *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिकावली* सहित तथा महादेव भट्ट एवं दिनकर भट्ट द्वारा प्रणीत *दिनकरी (प्रकाश)* व्याख्या एवं रामरुद्र भट्टाचार्य तथा राजेश्वरशास्त्रिप्रणीत *दिनकरी* की व्याख्या *रामरुद्री (तरङ्गिणी)* संवलित, हरिरामशुक्लसम्पादित, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमालाः ६, वाराणसी, १९७२

[८५] विश्वनाथ भट्टाचार्य, *न्यायसूत्रवृत्ति, न्यायसूत्र* व्याख्या, [३१] द्रष्टव्य

[८६] वेणीमाधव शास्त्री, *परिष्कार दर्पण*, राजनारायणशुक्लकृत टिप्पणी संवलित, वाराणसी, सं. १९९१

[८७] व्यासदेव, *श्रीमद्भगवद्गीता*, शङ्करभाष्य एवं श्री हरिकृष्णदास गोयन्दकाकृत हिन्दी अनुवाद, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०१०

[८८] व्योमशिवाचार्य, *व्योमवती, प्रशस्तपादभाष्य* की व्याख्या, [५३] द्रष्टव्य

[८९] शङ्कर मिश्र, *आत्मतत्त्वविवेककल्पलता*, [५] द्रष्टव्य

[९०] शङ्कर मिश्र, *न्यायलीलावतीकण्ठाभरण*, [९६] द्रष्टव्य

[९१] शङ्कराचार्य, *ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य*, गोविन्दानन्दप्रणीत *रत्नप्रभा* एवं पूर्णानन्दप्रणीत पूर्णानन्दीय व्याख्या संवलित, जयकृष्णदास-हरिदासगुप्त प्रकाशन, वाराणसी, सं. १९८६

[९२] शालिकनाथ मिश्र, *प्रकरणपञ्चिका*, जयपुरिनारायणभट्टविरचित *न्यायसिद्धि* संवलित, अ. सुब्रमण्य शास्त्री द्वारा सम्पादित, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय ग्रन्थमाला–४, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६१

[९३] शालिकनाथ मिश्र, *ऋजुविमला*, जैमिनीय *मीमांसासूत्र* की प्रभाकरमिश्रकृत *बृहती* टीका की व्याख्या, चिन्नस्वामी द्वारा सम्पादित, तर्कपाद, वाराणसी, १९२९

[९४] श्रीधरभट्ट, *न्यायकन्दली*, दुर्गाधरझाकृत हिन्दी अनुवाद सहित, [५४] द्रष्टव्य

[९५] श्रीमोहन भट्टाचार्य एवं दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य, *भारतीय दर्शन कोष* (प्राचीनन्याय, नव्यन्याय एवं वैशेषिक दर्शन), प्रथम खण्ड, कलकत्ता संस्कृत कालेज अनुसन्धान ग्रन्थमाला– ११८, संस्कृत कालेज प्रकाशन, कलकत्ता, १९७८

[९६] श्रीवल्लभाचार्य, *न्यायलीलावती*, शङ्करमिश्रकृत *न्यायलीलावतीकण्ठाभरण*, वर्धमानोपाध्यायकृत *न्यायलीलावतीप्रकाश* एवं भगीरथठक्कुरकृत *न्याय-लीलावतीप्रकाशविवृति* संवलित, हरिरामशास्त्रीसम्पादित, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला– ६४, चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, १९९१

[९७] सुचरित मिश्र, *काशिका, मीमांसाश्लोकवार्त्तिक* की टीका, [२१] द्रष्टव्य

[९८] हरिराम तर्कालङ्कार, *विषयतावादवीचि, वादवारिधि*, तृतीय भाग, पृ.२५८-२६७, [२६] द्रष्टव्य

***

विशिष्टविषयों की अनुक्रमणिका

अकृताभ्यागम ६२-६३, ६४, ७०
अतिव्याप्ति दोष २३
अतीतत्व १५९
अत्यन्ताभाव १२२-१२३
अदृष्ट ६८, ७४-७५
अदृष्टकारणतावादखण्डन ७५-७६
अनवस्था १९,२६२,२७०-२७१,२७५
अनागतत्व (भविष्यत्त्व) १५९
अनागन्तुक (स्वभावसिद्ध, नैसर्गिक)-
धर्म ५२, ११५-११६, १३५,
२५६-२५७, ३३४-३३५
सम्बन्ध २५६-२५९
अनुभवत्वजातिखण्डन ३४३-३४४
अनुयोगी (सम्बन्ध का) १०८-१०९,
२१०, २२१-२२२, २५४
अन्त्यविशेष ११७-११८, २७४-२७७
अन्त्यविशेषपदार्थखण्डन २७७-२८३
अन्तर्बोध १३६
अन्यथा-अनुपपत्तिन्याय १४
अन्यथासिद्ध १८६-१८९
अन्योन्याभाव (भेद) १२२
अन्वय व्यभिचार १६८
अन्वय सहचार १६७
– अपरत्व
कालिक ३२६-३२७
दैशिक ३२५-३२७
अपेक्षाबुद्धि २०८, २१८
अपेक्षाबुद्धिजन्यधर्मकल्पना की विसङ्गतता
२१४-२१७, ३२९-३३०
अपोद्धार व्यवहार ३१८-३१९
अप्रमा ४०-४१
अभाव ११९
अभावीय विशेषणता १२१-१२२,
२८७-२८८
अयुतसिद्धता २५६-२५९
– अवच्छेदक धर्म/सम्बन्ध
अभावीय प्रतियोगिता का १२०
कारणता का १७४-१७५
कार्यता का १७४-१७५, २६०
प्रकारता का २७
विशेष्यता का २७
अवयव-अवयविधारा १०४-१०५, १६१
अवयविसिद्धि १९५-१९६
अवयवी (जन्यद्रव्य) ५६, १०४, १६०
अव्यवहितपरवर्तित्व १५८
अव्यवहितपूर्ववर्तित्व १५८
अव्याप्तिदोष २३
– अव्याप्यवृत्ति(प्रदेशवृत्ति)धर्म ५१-५२,
३०५-३१०
कालिक (अयावद्धर्मिभावी)
३०७-३०९
दैशिक ३०८
असत्कार्यवाद (आरम्भवाद) ५६-५८,
१६७
असमवायिकारण १७५-१७६
असम्भवदोष २३
आइसोमेरिज़्म (isomerism)- १९७
एवं अवयविसिद्धि १९६-२००
आइसोमोर्स (isomores) १९७
आकस्मिकत्व ५७, १६६, ३३४-३३५
आकस्मिकत्वप्रसङ्ग ५६, ५७, २०३
आकारमूलकव्याघात (विरोध) १५-१६
आकृति १४१-१४३
आकाशपदार्थखण्डन १३२-१३४
आगन्तुक —
धर्म ५२, ११५-११६,
२५६-२५७
सम्बन्ध २५८
सिद्धान्त (३)-(५)

आधार (अधिकरण) १०५, २५५
आधार-आधेयभाव (आश्रय-आश्रयिभाव) १०५, २५५
– आधारभूतसिद्धान्त (३)-(५), ७-८
ज्ञानमीमांसीय २४-४४
तत्त्वमीमांसीय ४५-५९
पद्धतिमूलक १०-२४
आधेय १०५, २५५
आधेयता (वृत्तिता) २५५
आयन (ion) १७९
आयोनिक बन्धन १८०-१८१
आर्किमिडीज़ का नियम २५१-२५२
इन्द्रियार्थसन्निकर्ष २८६-२८७
इलेक्ट्रान (electron) १६४
ईश्वर ९७-९९
– उत्तरदायित्व ९०-९३
क्रियामीमांसीय ९३-९४
ज्ञानमीमांसीय ९३-९४
उद्देश २०-२१, २४
उपाधि ११३-११४, ११५
एनायन (anion) १७९
करण ४१-४२
कर्म (स्पन्द) १०६-१०८
कर्मयोनि ८९-९०
कर्मवाद – ६१-७१
एवं पुरुषार्थसिद्धान्त ६३
एवं संसारवाद ६४-६५
का खण्डन ६५-६९
का पुनर्निर्माण ७०-७१
की विशेष पूर्वमान्यतायें ६४
कादाचित्कत्व २०३-२०४
– कारण ५६, १७१-१७२
असमवायी ५६, १७५-१७६
असाधारण १७२
निमित्त ५६, १८३-१८४
समवायी ५६, १७४-१७५
साधारण ७५, १७२
कारणगुणोत्पन्न १८२-१८३
कार्य ५६, १७१
काल – १४४-१४५, १५५-१५७
एवं क्रियासन्तान १४५-१४६
का क्रियाश्रितत्व १४७-१४८
का द्रव्यत्वखण्डन १४७
कृतप्रणाश (कृतहानि) ६२-६३, ६४, ७०, ८२, ८५
केटायन (cation) १७९
क्रम – १४९
की प्रत्यक्षग्राह्यता १४९-१५०
क्रमनियामक सम्वन्ध १५७-१५९, २४२-२४३
– क्रिया १४६
कायिक ८८
मानसिक ८८
वाचिक ८८
क्षण १५२, १५४-१५५
गणनाप्रक्रिया २०९-२१२
गुण १०६
गौरवदोष १८, १२६, १८८
जाति १०९-११०, ११३-११५
जातिबाधक ११६
ज्ञातता (प्राकट्य) ४२, २१६
ज्ञान (का/की) – २४
अनित्यता २४-२५
उत्पत्तिपक्ष ३९-४०
निराकारता २६-२८
परप्रकाशकत्व २९-३२
फलस्वरूपत्व २५
विषयपक्ष ३९
सविषयता २६
वस्तुतन्त्रत्व २८, ८८
– तरुप्रारूप
अवयविसंरचना का १०४-१०५
जातिसङ्घात का ११६
ज्ञान में भासित विषयाकार का २७
पदार्थों के उद्देश, लक्षण एवं विभाजन का २२
दिक् – १३४-१४४
का द्रव्यत्वखण्डन १४०-१४१

दिशायें १३७-१३९
– दुःख ७१-७४
अनर्जित ७२
अर्जित ७२
भूतकल्याणकारी (लोकोत्तर) ७१-७२
लौकिक ७२-७४
दूरी १३५-१३६, १३७
द्रव्य १०५
– धर्म ४५-४६
अनागन्तुक ५२, ११५, १३५, २५८-२५९
अनेकवृत्तिक ११२, ११३
अप्रसिद्ध ११०-१११
अव्याप्यवृत्ति ५१-५२, ३०५-३०६
आगन्तुक ५२, ११५, २५८-२५९
एकवृत्तिक १११-११३
प्रसिद्ध १११
व्याप्यवृत्ति ५१-५२, ३०५-३०६
धर्मधर्मिभेद – ४५-४७
का अपवाद २९६
धर्मधर्मिभेदसिद्धिपद्धति २४५-२४६
धर्मी ४५-४६
निरवच्छिन्न भान २७-२८
पदार्थत्व ५८
– परिमाण २४४-२५२
उपादाननिरपेक्ष (शुद्ध) २३७-२३८
उपादानसापेक्ष २३८
दिशा-अस्पृष्ट २४८
दिशायुक्त २४८-२४९
मौलिक २४९
यौगिक २४९
परिमाण का गुणत्वखण्डन २४४-२५०
परिमाण का स्वतन्त्रपदार्थत्व २४६,२५०
परीक्षा २२-२४
पुरुष(मानव व्यक्ति) का/की – ८५-८६
उत्तरदायित्ववत्ता ८९, ९१-९३
कर्तृत्व ८७-८८
ज्ञातृत्व ८७-८८
ज्ञानमीमांसीय स्वातन्त्र्य ९५
तत्त्वमीमांसीय स्वरूप ९५-९७
नियमनियन्त्रितता ८९
भोक्तृत्व ८७
नैसर्गिक वाक्शक्ति ९०-९३
सङ्कल्पस्वातन्त्र्य ९०
स्व-अस्तित्वविषयक ज्ञान ८६-८७
पुरुषत्व ८८-९०
पुरुषार्थ ९९-१०१
पूर्वजन्म ६६-६७
प्रकार २७
– प्रकारता/विशेष्यता
गौण/मुख्य २७, ३०९
– प्रतियोगिता १२०
अभावीय १२०
सांसर्गिक १२०
प्रतिसन्धाता ७९-८२
प्रत्यभिज्ञा ७७-७८
प्रदेशाणु (बिन्दु) १३६
प्रध्वंसाभाव १२२-१२३
प्रमा ४०-४१
प्रमाणों की सङ्ख्या ४०
प्रमाणव्यवस्था ३३
प्रमाणसम्प्लव ३२-३६
प्रयोजनवत्ता १४-१५
प्रवृत्ति (यत्न) ९९-१००
प्रागभाव १२२-१२३
फल ४१-४२
बौद्धिकता १४-२०
भाक्तप्रधानन्याय ३५-३९, ७८
– भेदाभेदव्यवस्था ४७-५३
अत्यन्ताभावों की १२०-१२१
जातियों की ११६-११७
व्यक्तिभूतपदार्थों की ५०-५१
समुच्चयों की २३०-२३१
भोक्तृत्व ८७
भोगयोनि ८९-९०

मूर्त १०६
यथोपलब्धिव्यवस्थान्याय १३-१४, ६९, १३२, १४२, १६३-१६४, १७३, २८६, ३१०
युतसिद्ध (पृथकसिद्ध) २५६-२५७
– रासायनिक बन्धन १७७-१८२
आयोनिक (ionic) १८०-१८२
कोवेलेन्ट (covalent) १७७-१७९
लक्षण २१
लक्षणदोष २३
लक्ष्य २१
लक्ष्यता-अवच्छेदक धर्म २१
लाघव १८, १८८
लोकप्रतीति एवं शास्त्र १०-११
वर्तमानत्व १५९
वाक्शक्ति ८९, ९०-९१
– विचारस्वातन्त्र्य (१)-(३), ५-७
तन्त्रकेन्द्रित (१), ६
विचारककेन्द्रित (२), ६
वीचीसन्तानन्याय १२८-१२९
विधिनिषेधव्यवस्थाओं की साधारण पूर्वमान्यतायें ६१-६३
विनिगमनाविरह १९
विभाजन २१-२२
विरोध ४९
– विशिष्टाभाव २६८-२६९
उभयाभावप्रयुक्त २६८
विशेषणाभावप्रयुक्त २६८
विशेष्याभावप्रयुक्त २६८
विशेषाभाव १२०
– विषयता २७
प्रकारता रूपी २७
विशेष्यता रूपी २७
संसर्गता रूपी २७
व्यवस्था-अनुपपत्तिन्याय (५)
– व्याघात
आकारमूलक १५-१६, ११७
स्वक्रिया का १७
स्ववचन का १६, १६१
शब्द का –
नित्यत्वखण्डन १२६-१२८
सञ्चरण १२८-१३१
स्पन्दस्वरूपत्व १३२-१३३
शास्त्रनिर्माणपद्धति २०-२४
सङ्कर १९-२०, ११६
सङ्ख्या २०२-२०४
का गुणत्वखण्डन २०५-२०७
का शुद्धपरिमाणस्वरूपत्व २३८
सत्ताजातिखण्डनसमीक्षा ५९, ३३८-३४३
संसर्गाभाव १२२
समवाय – १०८, २५७, २५९-२६३
की नानात्वसिद्धि २६६-२७०
समवायत्व रूपी उपाधि २७०-२७१
समानाधिकरण धर्म १९
– समुच्चय (समुदाय, सङ्घात) २२१
अपरिमित २१२, २४१-२४२
परिमित २१२, २४१-२४२
सदृश (तुल्य) २३९-२४०
समुच्चय की स्वतन्त्रपदार्थत्वसिद्धि २२३-२२७
– समुच्चयनिरूपण २२८
अवच्छेदकपद्धति से २३१-२३२
माल्यग्रन्थनपद्धति से २३१-२३२
सामग्री १६८-१६९
सामान्य १०९, ३३४
सामान्याभाव १२०
सम्बन्ध २५४
का अनुयोगी १०८-१०९, २५४
का प्रतियोगी १०८-१०९, २५४
के धर्म २३५-२३६
वृत्तिनियामक २५५-२५६
वृत्त्यनियामक २५५
स्वरूपसम्बन्ध १२२, २६२-२६३, २९७

विशिष्टग्रन्थकारों की नामानुक्रमणिका

अन्नम्भट्ट (तर्कसङ्ग्रहकार तथा तर्कसङ्ग्रहदीपिकाकार) ४३, १७१, १८८, २५८, ३०६, ३११, ३४३

उदयनाचार्य (किरणावलीकार) (१२), १६, १७, ४६, ४७, ४९, ५०, ५७, ७५, ७६, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, १०७, ११३, ११६, ११७, ११९, १२९, १३९, १६१, १६२, १६८, १६९, १७३, १८३, १९०, २०३, २०६, २०८, २४५-२४६, २५६, २७५, २७६, २८८, २९०, २९८, ३१८, ३१९, ३२१, ३२२, ३३४, ३४१

उद्द्योतकर (न्यायवार्त्तिककार) १२-१३, १६, १७, ३३, ३४, ३७, ३८, ५३, ५४, ५६, ७७, १००, ११५, १९५, २५५, २८६, ३११, ३३३

कणाद (वैशेषिकसूत्रकार) ३-४, ७६, १२७, १३२, १३५, १४४, १४९, १५०, २५७, ३२५, ३३४, ३३५, ३४०

कालिपदतर्काचार्य ११४

कुमारिल भट्ट (श्लोकवार्त्तिककार) २६३, ३४२

केशवमिश्र २६१

गङ्गेशोपाध्याय (तत्त्वचिन्तामणिकार) २६३, २६५, २९०, २९१, २९२

गदाधरभट्टाचार्य ३०१, ३०२

गोवर्धनमिश्र (न्यायबोधिनीकार) २१, २३, ४१, ४३, १७१, १७२, १७४, १७५, १७६, १८३, १९३, २७६

गौतम (न्यायसूत्रकार) (५), ५, ११, १३, १४, १७, २०, ६७, ७१, ७९, ८०, ८२, ८५, ८६, १००, १०९, १४१, १५०, १५३, १६०, १९५, ३३३

चन्द्राचार्य २०६

जगदीशतर्कालङ्कार (सूक्तिकार) १७३, २५४, २७६

जयन्तभट्ट (न्यायमञ्जरीकार) १५, १६, २५, २८, ३०, ३२, ३३, ३८-३९, ५३, ५४, ५५, ५७, ६८, ७८, ७९, ८०, ८४, १३२, १४१, १४७, १४९, १६६, २६२

जयपुरिनारायणभट्ट (न्यायसिद्धिकार) ५०, १५७, २०५, २२७, २६७

जानकीनाथ भट्टाचार्य २९८, ३४४

दिनकरभट्ट १४५, १७६, १८२, १८८, २६०, ३४१, ३४६

दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य (भारतीयदर्शन-कोशकार) १६८, २९७, ३०६

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री (१०)-(११), २, १६२, १६७, २६०, ३३४

नारायण पण्डित १८, ३१, १२६, १२८, १४९, १६२, १६९, २०५, २१६, २६४, २८२, २८८, ३४२, ३४३

नीलकण्ठ शास्त्री (नीलकण्ठ-प्रकाशिकाकार) १८६, १८९, ३०६

पद्मनाभमिश्र (सेतुकार) २०, २९४

पाणिनि १११, ३२३, ३२४

पार्थसारथि मिश्र २६४, ३१२

पूज्यपादाचार्य १४०

प्रशस्तपादाचार्य ८३, ८४, १३४, १३५, १३९, १४४, १४५, १४९, २०२, २०३, २१३, २१५, २१८, २२३, २२९, २४४, २५७, २६०, २६१, २७४-२७५, २७६, ३०४, ३०५, ३०७, ३०८, ३१८, ३२६, ३३४, ३३५, ३३९, ३४०, ३४१

भगीरथ ठक्कुर २८, २९९-३००
भर्तृहरि १४६
भासर्वज्ञ (न्यायभूषणकार) (२), ६, ११, १३, १६, १७, ३१, ७९, १०७, १३३, १४१, १४७, १४८, १५०, १५२, १५३, १६१, २०२, २०६, २१८-२२०, २४६-२४७, २५१, ३१२, ३१५-३१६, ३२०, ३२४, ३२८, ३३२
भीमाचार्य झलकिकर (न्यायकोशकार) २१, १६८, २२६, २९७-२९८, ३०६
मेरुशास्त्री (वाक्यवृत्तिकार) ७५, १७२, २७६
रघुदेवन्यायालङ्कार २६९-२७०
रघुनाथ शिरोमणि (२), २०, ४६, १३४, १४३-१४४, १५३, १५४, १५५, १६३, २०६, २०८, २२६, २६७, २७१, २८२, २८३, २८८-२८९, २९३, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३१३, ३१४-३१५, ३१७, ३२५, ३३०, ३३९-३४०, ३४४, ३४५
राजेश्वरशास्त्री (रामरूद्रीकार) २१४, २६२, २९७
रामरुद्र १७०
रायनरसिंह (नृसिंहप्रकाशिकाकार) २२, १७०, १८९
वर्धमानोपाध्याय (प्रकाशकार) ५६, १५७, १६७, १७१, १८९, २०७, २६९, २८९, २९२, ३२२
वाचस्पतिमिश्र (न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीकाकार) ११, १२, १५, २८, ४७, ५३, ५७, ६६, ६९, ७८, ९७, ११५, १६६, १६९, १७२, १९५, ३११, ३३३
वात्स्यायन (न्यायभाष्यकार) ५, ११, १३, १४, १७, २०, २५, २६, ३०, ३२, ३५, ३६, ३७, ६७, ६८, ७१, ७७, ७९, ८०, ८१, ८२, ८४, ८५, ८६, १०३, १३०, १४१, १४५, १४६, १५३, १६०, १९५, २२४
वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर (न्यायकोशकार) २१, १६८, २२६, २९७-२९८, ३०६
विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य (न्याय-सिद्धान्तमुक्तावलीकार) ४३, ११०, ११३, १४२, १५९, १६२, १७२, १७४, १७६, १८४, १८६-१८८, २०७, २५९-२६०, २७१, २८७, २९२-२९३, ३११, ३१२, ३४५
व्यासदेव ९८, १००
व्योमशिवाचार्य (व्योमवतीकार) १२८, १२९, १३०, १३३, १३९, १६१, १९५-१९६, २१३, २४४, २५८, २७५, २८८, ३०५, ३१८, ३१९, ३२१, ३२६, ३२७, ३३२, ३३४
शङ्करमिश्र (न्यायलीलावती-कण्ठाभरणकार) २६९, २९०, ३२२
शालिकनाथमिश्र (प्रकरणपञ्चिकाकार) १२, ४८, १२६, १२८, १४९, १६९, २६७, ३३८, ३३९
श्रीधरभट्ट (न्यायकन्दलीकार) ४५, ४६, ४८, ५३, ५५, १०५, १०९, ११७, १२८-१२९, १३३, १३९, १४९, १७१, २०४, २०७-२०८, २१४-२१५, २१७, २४४, २४५, २५०-२५१, २५७, २५८, २५९, २६०, २६१, ३०५, ३१०, ३१२, ३१८, ३२१, ३२६, ३२७, ३३९
श्रीवल्लभाचार्य (न्यायलीलावतीकार) ३८, २०६, २६१, २८९, २९०, ३२१, ३२२
श्रीमोहनभट्टाचार्य (भारतीयदर्शनकोशकार) १६८, २९७, ३०६
सुचरित मिश्र २६३
हरिरामतर्कालङ्कार ३००

***

About the work

The development of a philosophical system calls for harmony of philosophers' commitment to tradition and freedom of thought sustained by their creative insights. The history of Nyāya-Vaiśeṣika (NV) system is a witness to the fact of blind loyalty to tradition denying to even thinkers of the calibre of Bhāsarvajña and Raghunātha Śiromaṇi the right to set one's metaphysical house in order.

The present work prepares the ground for a sharp confrontation with the brute force of tradition by undertaking the identification and justification of the body of fundamental methodological, epistemological, ontological and value-theoretic propositions on which the NV system is based. This exercise is instrumental to the work's basic goal of characterizing *Commitment to Tradition* by giving it palpable form and discernible content.

A number of inherited metaphysical views are subjected to critical analysis and are either rejected on the ground of inconsistency with the non-negotiable ground-level postulates of the system or are required to undergo reconstruction. This is necessary for achieving the work's larger goal of facilitating the natural development of the NV system by either dismantling or rebuilding the inherited positions which have stood in its way.

It is hoped that the present work will further the long-launched but seldom remembered campaign of Bhāsarvajña to win for philosophers in the system-centric scene of Indian Philosophy the right to think in consonance with their intellectual conscience.

About the Author

Biswambhar Pahi received his basic training in Philosophy at the Universities of Utkal and Allahabad before doing graduate work in Formal Logic at Yale University, U.S.A. to earn his Master's and Ph.D. degrees. He taught at Central Washington State College and University of Notre Dame in U.S.A. He worked as *Professor of Logic and Philosophy of Science* in the Department of Philosophy, University of Rajasthan from 1979 to 1996. He has been working there as the Co-ordinator of UGC's Special Assistance Programme in Philosophy since 1984. His research papers in Formal Logic have appeared in several international journals. His *Studies in Formal Logic* appeared in 1993. He has maintained a deep research interest in the foundational and methodological issues in Indian Philosophy.

दर्शन विभाग द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ

राजस्थानविश्वविद्यालयभारतीयदर्शनाध्ययनमाला :

1. **बौद्धार्थबाह्यार्थपर्यालोचनम्** 225.00
   राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
2. **सिद्धान्तलक्षणतत्त्वालोकप्रकाशः** – प्रथमो भागः 400.00
4. " द्वितीयो भागः 400.00
- " तृतीयो भागः (यन्त्रस्थ)
   पं. खड्गनाथमिश्रः (सिद्धान्तलक्षणजागदीशी पर धर्मदत्त झा कृत तत्त्वालोक की संस्कृत व्याख्या)
3. **न्यायलीलावती** – प्रथम भाग 400.00
   श्रीवल्लभाचार्य (दुर्गाधर झा कृत शाम्भवी एवं चन्द्रकान्त दवे कृत चन्द्रकान्ति हिन्दी व्याख्या द्वय संवलित)
5. **पदार्थतत्त्वनिरूपणम्** 125.00
   श्रीरघुनाथशिरोमणि (हिन्दी भावानुवाद एवं संस्कृत टीका सहित)
6. **वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श** 350.00
   विश्वम्भर पाहि
7. **तत्त्वसंग्रहः** 150.00
   शब्दार्थ परीक्षा खण्ड – शान्तरक्षित, रमेशचन्द्र शर्मा कृत हिन्दी व्याख्या सहित (यन्त्रस्थ)

University of Rajasthan Philosophy Series :

1. **The Nietzschean Vision of Man** 200.00
   Shirley Jethmalani
2. **The Burden of Poetic Consciousness** 125.00
   Edited by Shirley Jethmalani & P.C. Kar

University of Rajasthan Foundational Studies :

1. **Studies in Formal Logic** 250.00
   Biswambhar Pahi

Journal of Foundational Research :

1. **भारतीय काव्यमीमांसा विशेषाङ्क** 200.00
   Vol.IV.1-2, 1996 (सजिल्द)

ISBN 81-86027-10-6 Price : Rs. 350.00